संत चरनदास

[संत चरनदास के युग, दार्शनिक विचार तथा आध्यात्मिक साधना का संक्षिप्त आलोचनात्मक अध्ययन]

त्रिलोकी नारायण दीक्षित
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, डी० लिट
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति १९६१
मूल्य १०)

मुद्रक
सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

स्वर्गीय रावराजा

डॉ० शुकदेव बिहारी मिश्र

की

पुण्य-स्मृति में

प्रकाशकीय

हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में उत्तर भारत की सन्त परम्परा से जो योगदान मिला है, उससे सभी लोग भली-भाँति परिचित हैं। कबीर, दादू तथा दरिया साहब आदि सन्तों ने अपनी अटपटी-वाणी द्वारा ब्रह्मानन्द की जो अभिव्यक्ति की है, वह अपूर्व अथ च अप्रतिम है। 'चरनदास' का नाम भी हिन्दी के सन्त-साहित्य में महत्त्व का स्थान रखता है। सन्तों की जीवित परम्परा में चरनदास का 'चरनदासी सम्प्रदाय' ब्रह्मोपासना के क्षेत्र में आज भी आकर्षण का केन्द्र है। इस ग्रन्थ में डाक्टर त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने 'चरनदास' के जीवन, सम्प्रदाय, दर्शन एवं कृतित्व का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया है। डाक्टर दीक्षित को इस ग्रन्थ पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि देकर सम्मानित किया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को इस ग्रन्थ का प्रकाशन करने में हर्ष है। आशा है, सन्त साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वानों, साधारण पाठकों एवं विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ हर प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

प्रमाण सिद्धान्त विरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तम् मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाध्याय विशोधयन्तु ॥

जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

गोस्वामी तुलसीदास

प्राक्कथन

सत चरनदास का व्यक्तित्व तीन दृष्टिकोणो से महत्त्वपूर्ण है :—

(क) आध्यात्मिक साधक,

(ख) धर्म तथा समाज सुधारक तथा

(ग) कवि

प्रस्तुत-ग्रन्थ मे इन तीनों दृष्टियों से उदारचेता मनस्वी महाकवि का परिचयात्मक विवरण तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सत चरनदास का व्यक्तित्व हिन्दी के सत कवियों मे विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनकी काव्य-कला, योग-साधना तथा स्वरोदय-विज्ञान की त्रिवेणी किसी भी पाठक के मन को आकर्षित कर लेती है। हठयोग का जितना गंभीर ज्ञान इस कवि को था, उतना व्यापक ज्ञान सत सुन्दरदास के अतिरिक्त सम्भवत. अन्य किसी कवि को नहीं था। कवि के सन्देश अनुभूति, साम्य भावना तथा ज्ञान से ओत-प्रोत होने के कारण आज भी उत्तरी भारत तथा राजस्थान के कोने-कोने मे प्रतिध्वनित हो रहे हैं। उनके द्वारा सस्थापित सप्रदाय आज भी समाज की विषमताओ को दूर करने मे समर्थ हैं। सबसे महान् कार्य जो हमारे कवि ने किया था, वह साम्य भावना की स्थापना तथा स्वस्थ्य समाज के निर्माण का प्रयत्न। इस दृष्टि से सतो के साहित्य तथा सदेशों की आज भी आवश्यकता प्रतीत हो रही है। सतो का साहित्य तथा अमर सन्देशों का अध्ययन आज इस भौतिकता से अभिशप्त युग में विशेष महत्त्व रखता है।

सत-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए 'संत चरनदास' मेरी पचम रचना है। इससे पूर्व तीन रचनाएँ, 'सन्त दर्शन', 'सुन्दरदर्शन', तथा 'परिचयीसाहित्य' साहित्य प्रेमियों के समक्ष आ चुकी है।

लेखक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जी के प्रति कृतज्ञ है कि उन्होंने प्रस्तुत-ग्रन्थ 'चरन दास' को हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित कराने का प्रबन्ध कर दिया। उन्हीं की कृपा से यह ग्रन्थ पाठकों तक पहुँच रहा है। सन्त चरनदास के ग्रन्थों की पाण्डुलिपि प्राप्त करने मे लेखक को अपनी छात्रा श्रीमती उर्मिला भार्गव एम० ए०, महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेशदत्त मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०, से बड़ी सहायता मिली। लेखक के शिष्य श्री ब्रजेन्द्र सेंगर, एम० ए० ने नामानुक्रमणिका प्रस्तुत करने मे परिश्रम किया। लेखक इन सभी के प्रति कृतज्ञ है।

मौराबा, उन्नाव
२६ जून, १६६१

त्रिलोकी नारायण दीक्षित

विषय-सूची

उपक्रम

भारतवर्ष का अधिकाश साहित्य धार्मिकता के आधार पर विरचित हुआ है। मानव जीवन की जितनी भी आधारभूत वा प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके मध्य धार्मिकता की भावना प्रमुख एव श्रेष्ठ है। धर्म चिरकाल से मानवीय जीवन का मुख्य अंग रहा है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा के हेतु अन्न-जल आवश्यक तत्व रहे है, उसी प्रकार आत्मा, चित्त एव मन की शान्ति के लिए धर्म भी अनिवार्य तत्व रहा है। धर्म शब्द का अर्थ ही है 'धारण करना' या 'पालन करना'। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है। वैशेषिक शास्त्र के रचयिता कणाद मुनि का कथन है कि जिसके माध्यम से लोक-परलोक में सुख सम्प्राप्त हो, वही धर्म है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः"। धर्म सत्कर्म एव परोपकार का स्रोत अथवा आधारशिला है। धर्म नित्य एव शाश्वत है तथा सासारिक दुःख-सुख अनित्य। अतः भगवान मनु का आदेश है कि लौकिक सुखो के हेतु धर्म का परित्याग करना अपेक्षित नहीं है। धर्म से निकट सम्बन्ध रखने वाला जीव नित्य है। उसके समस्त हेतु अनित्य हैं :—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
धर्मो नित्यः सुख-दुःख त्वनित्यं।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्ये॥—मनुस्मृति

मनु जी के अनुसार धर्म के दश लक्षण होते है :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्

उपर्युक्त धर्म के दश लक्षण ही धर्म के आवश्यक तत्व है। शरीर से प्राण-शक्ति के विलग हो जाने पर समस्त वैभव तथा ऐश्वर्य यहीं शेष रह जाते हैं, केवल अर्जित पुण्य तथा सुकृत या धर्म ही साथ देता है :—

मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसम क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

धर्म मानव की बहुमूल्य थाती है। उसको विनष्ट करने के लिए उद्योगशील मानव स्वतः नष्ट हो जाता है। मनु जी के शब्दों में :—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽब्रवीत् ॥

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।" अतः मानव के लिए यह अपेक्षित है कि वह सदैव धर्म में रत रहे :—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो ।
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ॥
सदा ही धर्मस्य क्रियैव शोभना ।
सदाऽमरा मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥

वास्तव में धर्म ही मानव का जीवन है :—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ :—मनुस्मृति

इस प्रकार समाज, संस्कृति, नीति और व्यक्ति सभी धर्म के अंग हैं । धर्म इन समस्त का प्रेरक है । आधुनिक संस्कृति तथा वर्तमान समाज के विकसित होने से बहुत पूर्व धर्म की स्थिति सुनिश्चित हो चुकी थी और वह अपने कल्याणकारी अस्तित्व के माध्यम से मानव समाज को सद्-असद् कल्याण एवं चिरन्तन सत्य की ओर उन्मुख करता रहा है । इसी धर्म ने समाज को स्वस्थ तथा उन्नत अवस्था की ओर प्रेरित किया । धर्म पूर्ण श्रद्धा के आधार पर ही तिष्ठित है । धर्म सामाजिक जीवन को सुसंस्कृत तथा अनुशासन-सम्पन्न बना देता है । धर्म कर्तव्य क्षेत्र की ओर प्रोत्साहित करता है ।

धर्म की साधना के लिये अनेक साधन तथा मार्ग हैं । धर्म सत्याचरण से भी सिद्ध होता है और इन्द्रिय संयम से भी । धर्म साधन के समस्त मार्गों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा मर्यादित साधन है भक्ति । भक्ति, धर्म साधना का अमोघ अस्त्र तथा साधन है । भक्ति के विकास पर प्रकाश डालते हुये आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—"शब्दावलम्बी शासनपक्षदर्शी शुष्क धार्मिक के लिए धर्म राजा है जिसके सामने वह प्रजा की तरह बड़े अदब-कायदे के साथ नियम और विधि के पूरे पालन के

साथ डरता जाता है, बुद्धि पक्षदर्शी के लिए धर्मगुरु या आचार्य है जिसके सामने वह विनीत शिष्य के रूप में शका-समाधान करता पाया जाता है; पर भक्ति धार्मिक के लिए धर्म प्यार से पुकारने वाला पिता है। उसके सामने वह भोले-भाले छोटे बच्चे की तरह जाता है, कभी उसके ऊपर लोटता है, कभी सिर पर चढता है—वह धर्म को प्यार करता है, धर्म उसे अच्छा लगता है। उसका आनन्द लोक भी शुष्क मार्मिकों के स्वर्ग के ऊपर है। वह प्रिय या उपास्य का सामीप्य है।"

वैदिक युग से बहुत पूर्व द्राविड़ सभ्यता काल मे भी भक्ति के द्वारा धर्म-साधना की प्रथा या प्रचलन का उल्लेख सम्प्राप्त होता है। द्राविड़ सभ्यता मे शक्ति उपासना का विधान विद्यमान था। उस युग की पूजा विधान की प्रेरणा बौद्धिक या हार्दिक नहीं थी, वरन् वह बाह्य या भय-प्रेरित थी। वैदिक युग की उपासना भी बहुत कुछ भयजनित ही थी। भय से असतुष्ट, आतक से प्रपीड़ित, कल्याण का प्रार्थी तत्कालीन मानव-समाज अनिष्ट निवारणार्थ अज्ञान महाशक्ति के प्राप्ति विनम्र या प्रार्थी बन में रहता था। उस युग का मानव प्राकृतिक शक्तियो का प्रकोप देखकर प्रकपित हो उठता था, और अपनी समस्त श्रद्धा के उस महती शक्ति के अर्पणो मे समर्पित करके स्वय तथा पर कल्याण की कामना करता था। उस युग की उपासना में चार मनोवैज्ञानिक तत्व समन्वित थे—भय, श्रद्धा, लाभ तथा कृतज्ञता की भावना। यह भक्ति द्रव्य यज्ञ के रूप में प्रचलित थी। इस भक्ति में उपादानों का प्रचुर प्रचलन था। इस प्रकार की भक्ति मे तत्कालीन समाज अपने कल्याण की सिद्धि के दर्शन करता था। मूलतः यह बाह्य साधना थी। क्रमशः इस साधना या भक्ति में हृदय-पक्ष का भी संयोग हुआ। इस समस्त साधनों मे बाह्य शिष्टाचार, तथा प्रदर्शन के साथ ही साथ प्रेम भावना का भी सचार होने लगा। प्रदर्शन के स्थान पर हृदय पक्ष का भी सचार हुआ। शनैः शनैः वैदिक युग के प्राणी के हृदय मे भावुकता का भी सचार होने लगा। 'उषा-स्तुति' मे उस युग के भक्ति साधना में अनुरक्त प्राणियों की भावुकता, मननशीलता तथा श्रद्धालु होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद में भगवान की पुरुष रूप में प्रतिष्ठा मिलती है। पुरुष-सूक्त इसका सुदृढ़ प्रमाण है। भारतीय धर्मों में सर्वाधिक प्राचीन तथा व्यापक हिन्दू-धर्म की ऐतिहासिक परम्पराओं का श्री गणेश वैदिक-काल से माना जाता है। वैदिक-काल का स्थूल वर्गीकरण तीन प्रकार से सम्भावित है :—(क) कर्म प्रधान वैदिक काल, (ख) ज्ञान-प्रधान उपनिषद् काल तथा (ग) भक्ति-प्रधान पौराणिक काल।

वेद साहित्य के भी चार प्रमुख अंग हैं :—(१) सहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक (४) उपनिषद्।

हिन्दुओं की भक्तिभावना का प्रारम्भिक रूप या विकासमूत्र वैदिक-साहित्य मे उपलब्ध होता है। वेदों मे भक्ति-भावना के प्रारम्भिक किन्तु परिपक्व बीज उपलब्ध होते हैं। अतः अब हम यहाँ पर किंचित् विस्तार के साथ वेदों तथा उसके प्रमुख चार अगो मे प्राप्त भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। वेद यज्ञ-प्रधान होते हुये भी भक्ति भावना से सम्बन्धित है। सर्वप्रथम हम संहिता मे व्यक्त भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

संहिता-साहित्य में भक्ति भावना का स्वरूप—संहिता-साहित्य मे प्रमुख रूप से कर्मों की विविधता वर्णित है। कर्मों की विविधता के साथ अनेकानेक स्तुतियों मे तत्कालीन साधको की भक्तिभावना के दर्शन होते हैं। तप रिक्त प्रार्थनाओं एव स्तुतियो मे अनुरागात्मिका भावना भी उपलब्ध होती है। संहिता-साहित्य मे अग्नि, सूर्य, इद्र, वरुण तथा वायु जैसे प्रत्यक्ष देवताओं की वन्दना की गई है। इन प्रार्थनाओं मे भक्त के सम्बन्ध भावना तथा भक्ति की भावना के प्रत्यक्ष रूप से दर्शन होते हैं। इन ग्रथों मे अभिव्यक्त वन्दनाओं मे परमात्मा के स्तुत्य तथा गरिमा से पूर्ण महत्व की ओर सकेत किया गया है। अग्नि, सूर्य, इद्र, वरुण तथा वायु के स्वरूप मे स्तुति लेखक वा प्रार्थी को परब्रह्म का महत्त्व दृष्टिगत हुआ। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद मे अग्नि की स्तुति से सबन्धित निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य है। इस उदाहरण में कहा गया है कि हे अग्ने! हे परमात्मन! तू इद्र अथवा अनन्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। अतः तू सज्जनों के हेतु वृषभ है। तू विष्णु है, द्विगुण व्यापक है अतः तू आगण्य है। तू वदनीय तथा नमस्कार्य है। हे ब्रह्म (यावेद के पति) तू ब्रह्म है तथा राय है। हे विधायक सर्वाधार तू पुरन्धि है :—

> त्वमग्नि इद्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरूरूगायो नमस्यः।
> त्व ब्रह्मारयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरध्या ॥

प्रस्तुत उदाहरण मे अग्नि की अनन्त शक्ति तथा ब्रह्मस्वरूप होने का भाव व्यक्त हुआ है। साथ ही इस उदाहरण मे भक्त के हृदय की श्रद्धा एव तन्मयता के दर्शन होते हैं। सहिता मे अभिव्यक्त प्रार्थनाओं मे अनन्त शक्ति ब्रह्म की भक्त-वत्सलता का भी उल्लेख मिलता है। निम्नलिखित उदाहरण मे यथा गाय ग्राम की ओर शीघ्रता से जाती है, यथा शूर अपने बैठने के हेतु अग्रसर होते हैं, यथा स्नेह-पूरित मनवाली, बहुत दुग्ध देने वाली गाय बछड़े के पास शीघ्रता से गमन करती है, यथा पति अपनी सुन्दर पत्नी के पास मिलन के लिये गमन करता है, उसी प्रकार अखिल विश्व द्वारा वरण करने योग्य अतिशय चिरन्तन आनन्ददायक सविता भगवान् हम शरणागतों के समीप आता है:—

ऊ गाव इव ग्राम यूयुधिरिवाश्वान् वाश्रेव वत्स सुमना दुहाना ।
पतिरिव जाया अभिनों नयतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥

उपुर्यक्त उभय उदाहरणो के मनन से सुस्पष्ट हो जाता है कि संहिता-साहित्य मे भक्ति-भावना तथा भगवान की भक्त-वत्सलता के साथ ही साथ महान् शक्ति सर्वात्मा के स्वरूप वर्णन करने की चेष्टा भी की गई है:—

"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्तत्यग्नि यम मातरिश्वानमाहुः"

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक सत्य तत्त्व को अनेक रूपों मे वर्णन करते हैं। वे उसे कभी अग्नि, कभी यम कभी मातीश्वर कहते हैं।

संहिता-साहित्य मे भक्ति भावना सेर्वाधिक करू-सूत्रो मे उपलब्ध होती है। वैदिक साहित्य मे अर्चित-वदित देवताओं मे करुण का स्थान इस प्रकार से मूर्धन्य है। ऐसा दिव्य शक्ति से सम्पन्न करुण दिव्यचक्षु है, धृतव्रत है, सुक्रत तथा सम्रुष्ट है और सर्वज्ञ है। वह अनतरिक्ष मे उड्डीयमान् पक्षियो का मार्ग उसी प्रकार जानता है यथा वह समुद्र मे सतरित नौकाओं का मार्ग जानता है। इन समस्त स्तुतियो मे श्रोता को देया तथा करुणादि गुणों का आग्रह मानता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे भक्ति भावना—सहिता साहित्य मे भक्ति भावना का पर्यालोचन कर लेने के अनन्तर अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों मे भक्ति भावना का स्वरूप अंकित करने की चेष्टा करेंगे। सर्व प्रथम ब्राह्मण शब्द ही स्वतः विचारणीय है। ब्राह्मण शब्द की व्युत्पति 'ब्रह्मणों यरिति ब्राह्मण' है। जिसका तात्पर्य है जो वेदो से ब्रह्म से सम्बन्धित है, वह ब्राह्मण है। वेदो की प्रत्येक ऋचा, मत्र प्रार्थना, जो देवताओं के चरणो मे सादर समर्पित है, वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण काल मे यज्ञ अनुष्ठान मे जटिलता का समावेश हो गया था और यज्ञ ही धर्म का एक सुदृढ स्वरूप बन गया था। यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी उस समय भक्ति भावना का अभाव नहीं था। उस काल मे श्रद्धा के साथ ही साथ हृदय की रागात्मिक भावना का विकास भी स्वाभाविक रूप से होता गया। इस समय तक विष्णु समस्त प्रकार की भक्ति के केन्द्र बिन्दु बन चुके थे। इन ग्रन्थो में विष्णु को 'सोम' का प्रतिनिधि माना गया है। सोम में पोषक तत्त्व होते हैं और उसी प्रकार विष्णु में भी अनन्त पोषक भावना विद्यमान थी। ब्राह्मण ग्रन्थो में रूद्र को अग्नि का प्रतिनिधि माना गया है '—

अग्निर्वैयु देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः। पशूना पती रूद्रो तान्यस्य अशान्तरन्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततम्—शतपथ १।७।३।८

आरण्यक में भक्तिभावना—आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों की गणना ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत ही होती है। विषय की दृष्टि से ब्राह्मणों के अनन्तर ही आरण्यक की परिगणना होती है। आरण्यक का वर्ण्य-विषय धार्मिक एवं दार्शनिक है जब कि इसका सम्बन्ध बन से विशेष रूपेण है। अरण्य मे प्रोक्त व्याख्यानों को आरण्यक कहा गया और उनकी परिगणना उत्कृष्ट कोटि के आध्यात्मिक साहित्य मे हुई। वानप्रस्थ प्राप्त व्यक्ति इनका विशेष अध्ययन करते थे। इनका वर्ण्य-विषय है याज्ञिक क्रियायें तथा वानप्रस्थ प्राप्त व्यक्तियों के कर्तव्य। इनमें बहिर्यज्ञ की अपेक्षा अन्तर्यज्ञ पर अधिक बल दिया गया है। इस काल में योग विशेष प्रकार था। अतः आरण्यको मे भी आन्तरिक साधना पर बल दिया गया है। फलतः साधक, भक्ति की ओर स्वतः आकर्षित हुए। अन्तर्यज्ञ भी भक्ति की ही पृष्ठभूमि है। आन्तरिक विरोध के अनन्तर ही मानव बहिरंग वृत्तियों का विरोध कर सकता है। अतः इस युग में भक्ति का विकास बड़े स्वाभाविक रूप में हुआ। आरण्यक में जिस भक्ति का प्रतिपादन हुआ है, वह स्वाभाविक है तथा उसके पाठकों के अनुरूप एवं अनुकूल है।

उपनिषद्-साहित्य में भक्तिभावना—संहिता साहित्य, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा आरण्यक-साहित्य में भक्ति भावना का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उपनिषद् साहित्य मे उपलब्ध भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। उपनिषद्-युग ज्ञान के प्रकाश से आलोकित युग था। यदि इसे हम भारतीय दर्शन तथा आध्यात्मिक साधना का स्वर्णयुग कहें तो अत्युक्ति नहीं है। यह ज्ञान-प्रधान काल था। उपनिषद् ज्ञान के प्रतीक तथा आधार हैं। इनमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति की अद्भुत सम्बन्धित चर्चा है। उपनिषद् साहित्य मे बड़े विस्मय तथा गांभीर्य्य के साथ उपासना के महत्व, उपास्य के स्वरूप तथा उपासक के लक्षणों के उल्लेख मिलते हैं। कठोपनिषद् म उपास्य के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित रूप में है—आत्मा अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् है। यह आत्मा प्राणी की हृदय-गुहा मे स्थान करती है। उसके दर्शन मात्र से भी साधक में सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है तथा शोक से उत्तीर्ण हो जाता है:—

> अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
> तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥
>
> —कठोपनिषद् १।२।२०

केनोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि भजनीय होने के कारण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए :—

> तद्वनमित्युपासितव्यम्—केनोपनिषद् ४।६

कठोपनिषद् मे एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यह आत्मा उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यान के द्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता, मेधा के द्वारा नहीं प्राप्त होता और बहु पाण्डित्य के द्वारा भी नहीं प्राप्त होता है। यह जिसको वरण करता है उसी को सम्प्राप्त होता है। उसी के समक्ष यह आत्मा का स्वरूप व्यक्त करता है। इस उल्लेख मे प्राप्त तत्व के प्रति भक्ति भावना की चर्चा की गई है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् ॥
—कठोपनिषद् १।२।२३

इसी प्रकार मुडक उपनिषद् मे ब्रह्म के प्रति सख्यभाव की उपासना का प्रतिपादन हुआ है। यह उल्लेख प्रतीक के माध्यम से हुआ है। कहा गया है कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी सखा के समान एक ही हैं। उनमें से एक पक्षी स्वादुफल का आहार करता है और दूसरा फल देखता रहता है, आहार नहीं करता है :—

सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षे परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्य नरननन्यो अभिचाकशीति ॥
—मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

उपनिषद् से ब्रह्म की शक्ति तथा स्वरूप का विस्तार मानव के अतिरिक्त अन्न, प्राण, मन, ज्ञान, आनन आदि अन्तर्बाह्य रूपों मे परिव्याप्त माना गया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषद् काल में उपासना का स्वरूप भी विस्तृत होता गया। ब्रह्म के अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापी रूप भी पूर्णत: या सर्वत: स्वीकृत किये गए।

उपनिषद्काल में विष्णु की उपासना और भक्ति साकार ब्रह्म के रूप मे हुई। इस युग में पालक एव रक्षक के रूप में विष्णु की उपासना की गई। इसी काल मे बुद्धि, योग एव भावयोग का समन्वय हुआ। ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले विरक्त साधक, रहस्य के प्रति जिज्ञासा प्रशांत करने के हेतु निष्काम कर्मयोग में अनुरक्त हुए। विष्णु के सगुण रूप की उपासना तथा श्रमण के साथ-साथ भक्ति मार्ग परिष्कृत होते गये। इस समय निष्काम कर्म पर विशेष बल दिया गया। कर्म तथा उपासना, भक्ति के स्थायी रूप के स्तभ के रूप मे ग्रहीत हुए। इसी समय में अहिंसा भावना, संतवाद की प्रवृत्ति, और लोकरञ्जनकारी तथा शैतल्य प्रदायिनी भूतियों ने उस युग की जनता के हृदय मे भक्ति के ऐसे कल्पतरु को विकसित किया जो आज भी सजीव तथा पल्लवित है।

सूत्र-ग्रन्थ-साहित्य में भक्ति—सूत्र-ग्रन्थों मे ब्रह्म साधना तथा इन दुरूह

विषयों का समाहार तथा व्यापक एव गम्भीर विवेचन सूत्रात्मक पद्धति से सम्पन्न हुआ। कर्म-काण्ड विषयक सूत्र तीन प्रकार के थे—(क) श्रौत-सूत्र, (ख) गृह्य-सूत्र, (ग) धर्म-सूत्र।

कर्मकाड सम्बन्धी इन सूत्रों मे विधि-विधानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं सूत्रों मे वैधी-भक्ति का स्वरूप उपलब्ध होता है। गृह्यसूत्रों में चरम विराट की उपासना के तत्व सम्प्राप्त होते हैं। गृह्य-सूत्रों मे पच महायज्ञ का भी विवरण प्राप्त होता है। इन सूत्र-ग्रन्थो को हम सरलता से भक्ति का पृष्ठभूमि निर्माता साहित्य कह सकते हैं।

वेदाग तथा उपवेदों मे भक्ति—वेदाग के ६ अग मान्य हुए हैं—(क) शिक्षा, (ख) कल्प, (ग) व्याकरण, (घ) निरुक्त, (ङ) छन्द एवं ज्योतिष। इन षट् अगो के कल्प विशेष ध्यान देने योग्य हैं। कल्प में श्रौत, गृह्य, राजनीति एव सामाजिक कार्यों की विधियों का उल्लेख मिलता है। शेष पचांगों में वैदिक साहित्य के कला-पक्ष तथा अन्य अनेक विषयों की व्याख्या की गई है। वेदों के अन्तर्गत उपवेदों का भी वर्णन कहा गया है—"उपगतः वेदम् इति उपवेदः।" ऋग्वेद के अन्तर्गत आयुर्वेद, यजुर्वेद के अन्तर्गत धनुर्वेद, सामवेद के अन्तगत गान्धर्व वेद का भक्ति से निकट सम्बन्ध है। स्थापत्य उपवेद के माध्यम से ब्रह्म सम्बन्धी प्रतीकों का निर्माण हुआ और गान्धर्ववेद ने कीर्तन तथा भक्ति सम्बन्धी गीतों के निर्माण मे सहायता प्रदान की। भगवान ने गीता मे कहा भी है।

नाह वसामि वैकुण्ठे योगिना हृदये न च।
मद्भक्ता यम् गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

अब हम वेदोपांगों में भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

वेदोपांग में भक्ति का स्वरूप—वेदोंपांग भक्ति का स्रोत तथा सूत्र है। वेदोपांग ही षड् दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। षड् दर्शन हैं:—(क) सांख्य, (ख) वैशेषिक, (ग) पूर्व मीमांसा, (घ) न्याय (च) उत्तर मीमांसा। इन समस्त वेदोंपांगों का लक्ष्य है आत्म-दर्शन। इनका लक्ष्य है अज्ञान के अधकार में अभीभूत [illegible] भटकाये हुए मानव को कल्याण मार्ग पर अग्रसर करना। इन [illegible] ने अपने-अपने ढग से मानव समाज की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा को प्रशांत करने की चेष्टा की। इन्होंने मानव की सहज रागात्मिक-वृत्ति को प्रबुद्ध किया और विशुद्ध प्रेम तथा भक्ति भावना को जाग्रत किया। इनमें कोरे ज्ञान की चर्चा नहीं हुई है वरन् भक्ति के तत्व भी उपलब्ध होते हैं। भक्ति मार्ग के प्राथमिक रूप तथा विकसित चिन्तन के दर्शन इस साहित्य में निरन्तर होते हैं।

तंत्र-साहित्य में भक्ति के स्वरूप—वैदिक साहित्य के समान ही तंत्र साहित्य प्राचीन है। इस साहित्य मे शक्ति सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। इसमे सर्वशक्तिमान् की आराधना पिता के रूप में नहीं वरन् माता के रूप मे करने का उपदेश दिया गया। भक्तिमार्ग में इन ग्रन्थों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। देवीसूत्र को तो वैदिक साहित्य तक मे स्थान प्राप्त हुआ। शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्ता की रचना तथा उद्भव इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय के पाचरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। तन्त्र-साहित्य मे भक्ति का बड़ा तीव्र, उज्ज्वल तथा महत्वपूर्ण रूप व्यक्त हुआ है। इस साहित्य में भक्त के चरित्र, साधना पद्धति तथा आचार-विचार का भी सविस्तार उल्लेख मिलता है। तन्त्र-साधना मे भक्ति का स्वरूप बड़ा स्पष्ट है।

पांचरात्र—सात्वतों से लेकर गुप्त सम्राटो के उत्कर्षकाल मे वैष्णव धर्म तथा भागवत धर्म का अभ्युदय हुआ। गुप्त सम्राटो ने वैष्णव धर्म को राष्ट्रधर्म के पद पर प्रतिष्ठित किया। इसी समय पाचरात्र संहिता का प्रणयन हुआ। ब्रह्म के भक्तों को भागवत कहा गया और इसी कारण यह धर्म भागवत धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। भागवत धर्म ही पाचरात्र-मत के नाम से प्रसिद्ध है। इसका सात्वत-मत नाम भी है। यह अतिम नाम इसलिये प्रसिद्ध हुआ कि सात्वत नरेशों ने इस मत के प्रचार में विशेष उद्योग किया था। पाचरात्र शब्द का निर्माण पाच तथा रात्र शब्दों से हुआ है। रात्र शब्द ज्ञान का पर्दा है। पाचरात्र साहित्य मे परमतत्व मुक्तियोग तथा सत्सग की विवेचना की गई है। चारो वेद तथा योग के सिद्धान्तों का निरूपण होने के कारण भी यह साहित्य पाचरात्र के नाम से प्रख्यात हुआ :—

इद महोपनिषद तेन पचरात्रान्नुशाब्दितम्।
नारायणमुखोद्गीत नारदै श्रावयत् पुनः॥

—महा०, शाति पर्व, अध्याय ३३९

प्रस्तुत तत्र अतीव अर्वाचीन एव बहुदेवोपासना का समर्थक है। पांचरात्र साहित्य के अनुसार पच व्यापारो के माध्यम से भक्त भगवान को प्रसन्न करता है :—

(क) **आर्यगमनकाय**—काया, वाक् एव मन अवहित करके देवगृह के लिए प्रस्थान
(ख) **उपादान**—पूजा द्रव्य-अर्जन या सग्रह
(ग) **इज्या**—पूजा
(घ) **स्वाध्याय**—मन्त्रों का जप, दार्शनिक ग्रन्थों का सग्रह, अवलोकन
(ङ) **योग**—ध्यान

पांचरात्र साहित्य मे ब्रह्म, जीवन, जगत् तथा मायादि के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। इसमें ईश्वर के उभय रूपो—निर्गुण एव सगुण का विश्लेषण एवं प्रतिपादन हुआ है। जीव के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वह अनादि चिरानदघन तथा ब्रह्म प्रेरित है। यह जीव ब्रह्म निग्रह शक्तिमाया के कारण भ्रम में पड़ जाता है। वह ब्रह्म की शक्ति से ही पुनः मुक्ति प्राप्त करता है। पांचरात्र साहित्य में वाह्य सात्वत विधियों से अर्चना करने का आदेश है और इसके साथ ही साधक को ब्रह्म की शरण मे जाने या प्रपत्ति मार्ग पर अग्रसर होने का आदेश दिये गये हैं। शरणागति के भी षट् प्रकार हैं:—

(क) अनुकूलस्य संकल्पः —ईश्वर से अनुकूल होने का दृढ निश्चय
(ख) प्रतिकूलस्य वर्जनम् —ईश्वर के प्रतिकूल वस्तुओं का परिहार
(ग) रक्षिष्यतीति विश्वासः —ईश्वर के रक्षकत्व पर अटल विश्वास
(घ) गोपप्तृत्व वरणम् —प्रभुकारेक्षक मानकर
(ङ) आत्मनिक्षेपः —आत्म समर्पण
(च) कार्पण्यम् —दैन्य भाव

पांचरात्र साहित्य मे मोक्ष-तत्व भी विवेचित है। इसके अन्तर्गत मोक्ष का अर्थ है—"ब्रह्मभावापत्ते" अपुनर्भवता।" ब्रह्म की कृपा से सभी के साथ एकात्मकता संस्थापित हो जाना ही मोक्ष है।

नारदपांचरात्र भक्ति—भक्ति के मार्ग में देवनारद कृत भक्ति-सूत्रों का व्यापक तथा अत्यन्त उत्कृष्ट महत्व है। भक्ति सम्प्रदाय की प्रत्येक जड़ इन सूत्रों के मधुर रस से सिंचित तथा पोषित है। भक्ति की क्षेत्र यात्रा, रूपरेखा, आवश्यक तत्व, घातक तत्व, श्रेष्ठता आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है (स्वरूप की भक्ति सूत्र—२,३)। भक्ति को प्राप्त भक्त समस्त मनोविचारों से रहित होकर आत्माराम हो जाता है (सूत्र ६)। भक्ति की वास्तविक स्थिति है प्रभुत्वाकरण मे अत्यन्त आकुलता की विद्यमानता (वही, १६)। भक्ति कर्म तथा ज्ञान से भी श्रेष्ठतर है (वही, सूत्र-२५)। ब्रह्म की अनुकपा तथा सज्जनों की कृपा से प्रेमाभक्ति उपलब्ध होती है (वही, सूत्र—३८)। भक्त के लिए कुसगति त्याज्य है (वही, सूत्र-४३)। ग्यारह प्रकार की आसक्तियों में भक्ति श्रेष्ठ है (वही, सूत्र-८२)। इन समस्त विवेचनों को दृष्टि में रखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्र-मत को इस बात का श्रेय सम्प्राप्त है कि उसने भक्ति के उन्नयन में आशातीत सहायता प्रदान की।

पुराणों में भक्ति का स्वरूप—भक्ति-सूत्र के सदृश ही पुराण भी भक्ति भावना के अमूल्य मणि, सुदृढ़ स्तम्भ तथा कल्याणकारी तत्वों से सुसम्पन्न है। मानव जीवन के लिए पीयूष-वर्षी जिन तत्वों को वेदों ने गूढ़ बनाये रखा उन्हें पुराणों ने

सौन्दर्य शिरोमणि रूप प्रेम का रूप प्रदान किया। भक्तिसाधना के जो बीज वेदों की संहिताओं में सन्निहित हैं, वे ही क्रम विकास के पथ पर अग्रसर होकर उपनिषदों मे अंकुरित एव पल्लवित हुए तथा पुराणों में वह शाखा-प्रशाखा युक्त होकर फूल-फल से सुसम्पन्न होकर वृक्ष के रूप में परिणत होते गये। समस्त १८ पुराणों मे से अधिकांश वैष्णव-धर्म के निकट हैं। ब्रह्म वैवर्तपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण विष्णु के स्वरूप, महत्व निरूपण तथा भक्ति निरूपण की दृष्टि से विशेष अध्ययनीय हैं। प्रायः इन सभी पुराणो में श्रीमद्भागवत की महिमा वर्णित है। श्रीमद्भागवत भक्ति का श्रोत, भक्ति का शास्त्र तथा भक्ति का आधार है। इस ग्रन्थ में ब्रह्म ने अपना तात्विक निरूपण ब्रह्म से किया है।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परा।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥—भा० २।६।३२

स्पष्ट है कि ब्रह्म सगुण-निर्गुण दोनों है। जगत् भी वही है, ससार उसी का विवर्त्त रूप है। भागवत में उल्लेख है कि भक्तों पर विशेष अनुग्रह करने के हेतु भगवान सगुण रूप धारण करता है। उसकी लीलाओं के रसात्मक स्वरूप में जीव तन्मय होकर रसमग्न हो जाता है। भागवत मे ब्रह्म के स्वरूप, महत्व तथा दिव्य प्रभाव का विस्तृत विवेचन हुआ है। ब्रह्म के निर्गुणात्मक रूपधारण कर्ता विष्णु, ब्रह्म तथा महेश के स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ दशमस्कंध में विशुद्ध सत्व रूप परात्पर ब्रह्म परम विष्णु का स्वरूप भी वर्णित है। भागवत में ब्रह्म की अनन्य सत्ता के वर्णन के साथ ही साथ उसके विविध अवतारों एवं प्रमुख शक्तियों का भी वर्णन है। ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ है :—

(१) स्वरूप शक्ति—चिच्छक्ति या अन्तरंग शक्ति
(२) मायाशक्ति—जड़ शक्ति या बहिरग शक्ति
(३) जीव शक्ति—मध्य शक्ति या तटस्थ शक्ति।

भागवत मे भक्ति के स्वरूप तथा साधना का भी उल्लेख निम्नलिखित रूप में सम्पन्न हुआ है .—

श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरण पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवदेनम्॥
इति पुसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥—भागवत ७।५।२३-२४

इस भक्ति में ज्ञान एव वैराग्य के समावेश स्पृहणीय तथा अपेक्षित हैं :—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिविरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति व भागवतस्य राजैस्ततः परा शांतिमुपैति साक्षात्॥
—भागवत ११।२।४३

कपिल मुनि के मत से भक्ति दो प्रकार की है—सगुण भक्ति तथा निर्गुण-भक्ति। निर्गुणभक्ति का पर्याय है अहेतुकी भक्ति। यही सर्वश्रेष्ठ प्रेम है :—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनी भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसा भावो विभिद्यते ॥
अभिसन्धाय यो हिंसा दम्भमात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्न दृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
आचार्यादावर्चयद्यो मा पृथग्भावः स राजसः ॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथाभावः स सात्त्विकः ॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहेतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः ॥—भागवत ३।२६।७-१३

भक्ति के उच्चासन तक पहुँचने के हेतु सात्विकी वृत्ति को ग्रहण करना चाहिये। इसके अन्तर्गत भक्त कर्मजन्य वासनात्मक प्रवृत्ति की निवृत्ति के हेतु भक्ति योग का अवलम्ब ग्रहण करता है तथा भगवत् कृपा से तत्वज्ञान सम्प्राप्त कर भगवदर्पण भाव से कर्मानुष्ठान करता है। इस कोटि की भावना से देह, मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि पवित्र होती है तथा आत्म रूप उज्ज्वल भाव में प्रतिभासित होता है। तदन्तर भगवत्प्रेम सम्पन्न ही साध्य बन जाता है। भागवत में सर्वोत्तम भक्त के लक्षणों का उल्लेख निम्नांकित रूप में हुआ है :—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥—भागवत ११।२।४५

भागवत भक्तितत्व का अपार सागर है। इसमें भक्ति के आलम्बन भगवान के तत्वों का विशद तथा विस्तृत विश्लेषण हुआ है। इस महासागर में भक्ति की जो विविध प्रकार की उर्मियां उठती हैं, सर्वोपरि हैं। निष्काम भक्ति प्रेमा-भक्ति की तरंग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रेमाभक्ति के समक्ष अन्य समस्त साधन व्यर्थ हैं। ज्ञान भी उसकी समता नहीं कर पाता है। भागवत का परम लक्ष्य है भगवत के चरणारविन्द में अहर्निश भ्रमरवत अपने मन को आयोजित रखना।

भागवत के अनन्तर भक्ति के स्रोत मे विष्णु पुराण का उल्लेख करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत आध्यात्मिक तत्वो की व्यापक विवेचना हुई है। इस महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ मे ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय योग तथा स्वाध्याय निर्धारित किये गये हैं। इस ग्रन्थ मे योग एव भक्ति के अद्भुत समन्वय के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर सकेत किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे भक्ति के विविध पक्षों पर विस्तार के साथ विचार करने के साथ ही ब्रह्म शक्ति राधा के चरित्र एव रहस्य की उत्कृष्ट विवेचना की गई है।

पौराणिक युग में विष्णु की महत्ता सस्थापित, करने के लिये विशेष उद्योग किए गये। 'विष्णु पुराण', 'नारद पुराण', 'गरुडपुराण', 'पद्मपुराण', 'ब्रह्म वैवर्त-पुराण', 'भागवत पुराण', आदि मे विष्णु की भक्ति का प्रचार तथा प्रसार करने का प्रयत्न हुआ, है। इन प्रयत्नों मे विष्णु के साथ ही साथ दिव्यशक्तियों से समलकृत अन्य देवताओ का भी अभ्युदय हुआ है। शिव, शक्ति सूर एव गणेश से सम्बन्धित पुराणो में इन सभी देवताओ की महत्ता का वर्णन है। शैव पुराण मे भी देव कृपा को ही भक्ति का साधन निर्धारित किया गया है :—

> प्रसादात् देवता भक्तिः प्रसादो भक्ति सभवः।
> यथाङकुरतो बीज बीजतो वा यथाङ्कुरः ॥—शिव-पुराण १।१४

शक्ति पुराण में भी भक्ति की महिमा का गान हुआ है। भक्ति की महत्ता, प्रकार, रूप-स्वरूप, प्रक्रिया आदि के वर्णन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत सबसे महत्वपूर्ण तथा अनुपम ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ भक्ति का समुज्ज्वल, स्निग्ध, शीतल तथा मधुर प्रकाश-स्तम्भ है। यह ग्रन्थ समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों का आधार है। उपनिषद्, गीता या ब्रह्म-सूत्र के समकक्ष वह ग्रन्थ शतशः वर्षों से भारतीय भक्त-जनता को उचित मार्ग की ओर अग्रसर कर रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सरस गीतों में, सरस एव ललित भाषा के अन्तर्गत आध्यात्मिकता से परिप्लावित भक्ति रस भक्त-वृन्द को आनन्द-जलधि मे आप्यायित कर तृप्त कर देता है।

दक्षिण भारत मे भक्ति का विकास तथा आलवार संतो मे भक्ति भावना का स्वरूप—पुराण-काल के अनन्तर दक्षिण भारत भक्ति के विकास, प्रसार-प्रचार एव समृद्धि का केन्द्र बना। द्राविण देश मे प्रवाहित भक्ति मदाकिनी मे अवगाहन करके दूसरो को पथ-प्रदर्शित करने वाले आलवार संत दो प्रकार के थे। इनमे से प्रथम थे शैव-सत तथा द्वितीय थे वैष्णव-सत। तामिल के आलवार शब्द का अर्थ ही होता है भगवद् भक्ति में लीन व्यक्ति। इस समय (पुराणकाल के अनन्तर)

आलवार संतो ने मधुर, सरस एव पावन पदों में भक्ति भावना को भरकर जनता के कल्याणार्थ प्रसाद रूप में वितरित किया। बाह्य आलवार संतों ने भक्ति के क्षेत्र को रस-परिप्लावित करके उसके प्रसार में आशातीत सफलता प्राप्त की। इन संतों ने भक्ति को शास्त्रीय पद्धति पर आरूढ़ किया। आलवारों की भक्ति उस पावन सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के सदृश है, जो स्वयमेव जन-कल्याण के हेतु उद्वेलित होकर प्रखर गति से प्रवहमान रहती है और असारतत्वों को दूर फेंक देने मे हर प्रकार से समर्थ है। आर्यों की यह भक्ति-धारा मदाकिनी के सदृश विशुद्ध तथा पवित्र है। उन संतों के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था विशुद्ध भक्ति तथा मञ्जुल समन्वय। आलवारों मे हृदय पक्ष की प्रबलता थी तो आचार्यों में बुद्धि पक्ष की दृढ़ता। शैव आलवारों की सख्या थी ६४ तथा वैष्णव आलवारो की सख्या १२ थी। वैष्णव संतों के नाम थे—पोयगे अलवार (सरो योगी), भूतत्तालवार (भूतयोगी), पेयालवार (महतयोगी), भक्तिसार तिरूमझिसै आलवार, शठकोप नामालवार (पैरांकुश मुनि), मधुर कवि, कुलशेखर आलवार, विष्णु चित्त (परिआलवार), गोदा आडाल (रगनायकी), विप्रनारायण (भक्तपदरेणु), ञोडाडिप्पोलि, मुनिवाहक (योगवाह), तिरूप्पन तथा नीला (पाकाल), तिरूमगैयालवार। शैव संतों के दो ग्रन्थ 'देवाम्' तथा 'तिरूवाचकम्' भक्ति शाखा के अत्यन्त प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वैष्णव संतों के 'पराकासग्रह' नाला या प्रबध के नाम से प्रसिद्ध है। आलवारों की भक्ति-धारा के सभी जाति, वर्ग तथा वर्ण के भक्तों ने अलक हल किया। उनमें कोई भेदभाव नहीं था।

वैष्णव आलवारों की भक्ति भावना—आलवार वैष्णवो ने विधि-विधानों से युक्त करके भक्ति को कर्म एवं ज्ञान से समन्वित किया। इन्हें इस बात का श्रेय प्राप्त है कि इन्होंने वेदों एव आलवार संतों के भक्तिग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। दोनों के मध्य सम्बन्ध सस्थापित करके भक्ति को शास्त्रीय पद प्रदान किया। इसी आधार पर इन्हें उभय वेदान्ती भी कहते हैं। इन आचार्यों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय थे :—रंगनाथ मुनि, श्री रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य। अब हम इन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

श्री रंगनाथ मुनि—श्री रगनाथ का अभ्युदय शठकोपचार्य की शिष्य-परम्परा में हुआ। इन्होने तामिल भक्ति काव्य के उद्धार का महत्वपूर्ण कार्य किया है। ये विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक तथा गम्भीर विचारक थे। मुनि जी ने न्याय तत्व तथा योग रहस्य ग्रन्थों की दार्शनिक व्याख्या की है।

श्रीरामानुजाचार्य की भक्ति भावना—नाथ मुनि द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो को उनकी शिष्य-परम्परा में अवतरित यामुनाचार्य ने, विकसित

करने का प्रयत्न किया किन्तु रामानुज ने इस सम्प्रदाय के मूल को स्वचिन्तन-जल से सिंचित कर कवि सजीवनी शक्ति प्रदान की। श्री रामानुजाचार्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं वेदान्त सग्रह, वेदांत सार, वेदात दीप, गद्य-त्रयः गोता भाष्य आदि। गद्यत्रय के अन्तर्गत भगवान एवं प्रपत्ति विषयक तत्वों की सम्यक् विवेचना सम्पन्न हुई है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों की कुछ विशेषतायें हैं। ससार मे तीन ही तत्व हैं चित्, अचित्, तथा 'ईश्वर'। चित् ब्रह्मवाचक है, अचित् जगत् का वाचक है, तथा ईश्वर से अभिप्राय है अणु-अणु व्यापी परब्रह्म। परब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। माया उसकी प्रमुख शक्ति है। अचित् जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है। जीवन, जगत् उसका शरीर है और वह उसकी आत्मा है। ब्रह्म का स्वरूप ५ प्रकार का है—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव (४) अन्तर्यामी तथा (५) अर्चा। ब्रह्म का वाह्य रूप है जगत्। जगत् भी माया है। जीव भी ब्रह्म का ही शरीर है। अंतर यह है कि ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है, ईश्वर कारण है और जीव कार्य है, जीव कर्ता एव भोक्ता है। वह उपाधियो के कारण सासारिक लोगों में सलिप्त रहता है। ब्रह्म के सदृश जीव भी पाँच प्रकार का है—(१) नित्य, (२) मुक्त, (३) केवल, (४) मुमुक्षु तथा (५) बद्ध। ब्रह्म की सेवा ही मुक्ति है। मुक्ति भी पाँच प्रकार का है—(१) कर्मयोग, (२) ज्ञानयोग, (३) प्रपत्ति योग, (४) आचर्य्याभिमान योग आदि। साधक वा भक्ति स्ववेदना, ध्यान तथा उपासना के माध्यम से ही अपनी भक्ति उस प्रभु के प्रति व्यक्त करता है। प्रभु के प्रति सर्वस्व न्यास से ही प्रपत्ति है। ब्रह्म के प्रति पूर्ण समपर्ण ही भगवत् प्रसन्नता का प्रमुख साधन है। भक्त एव प्रयत्न मे भावना का अंतर है। ब्रह्म के चरणों मे अपने को हर प्रकार से समर्पित कर देना ही प्रयत्न का प्रमुख लक्षण है। भक्त भगवान को केवल अपना ही मानता है तथा अपने को भगवान का मानता है, उसका जो कुछ है वह भगवान का है। भक्त एवं प्रपन्न में वही अन्तर है जो सेवक और पत्नी में है। सेवक स्वामी के आदेशानुसार कैंकर्य करता है परन्तु पत्नी का पति सर्वस्व है। स्वामी के छूट जाने पर सेवक अन्यत्र आजीविका खोज लेता है परन्तु पति के परित्याग कर देने पर पत्नी के लिए कहाँ स्थान है, पति ही पत्नी का उपाय तथा अवलम्ब है। तथैव प्रपन्न का आश्रय, बुद्धि तथा उपाय एक मात्र ब्रह्म है। प्रपन्न सदा अपने को अपराधी तथा आर्त मानता है। प्रपत्ति भाव के अन्तर्गत अर्थ पचक का ज्ञान अनन्य शेषत्व, अनन्यशरणत्व तथा अनन्य योग्यता आवश्यक है। साधन समष्टि के अन्तर्गत प्रपत्ति मार्ग का विशेष स्थान है। व्यावहारिक क्षेत्र में यह सबसे सुगम तथा सरल साधन है। विशिष्टाद्वैत में गुरु-महत्व को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त है। गुरु की अनुकम्पा से पुरस्कृत जीव से ही भगवान ग्रहण करते हैं। इस सम्प्रदाय मे विष्णु या नारायण की उपासना को

प्रधानता दी गई है। ब्रह्म का सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप वैकुण्ठाधिपति श्री भगवान है जिसमे वे श्री-देवी से सम्पन्न हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं, अन्तर्यामी तथा वहिर्यामी। उसके उभय रूपों के अन्तर्गत उसका कैंकर्य-परिपालन वाञ्छित है।

मध्वाचार्य की भक्ति भावना—मध्वाचार्य के द्वारा सस्थापित मत माध्वमत, भेदाभेदी द्वैतवादी या ब्रह्म-सम्प्रदाय नामो से प्रसिद्ध है। इसका विकास-केन्द्र महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग था। इस सम्प्रदाय के प्रमुख तत्व हैं—श्री विष्णु परम सत्य है। जगत् सत्य है। उसमे भेद वास्तविक है। समस्त जीवो मे एक तारतम्य है। समस्त जीव ब्रह्म के सेवक हैं। वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति के अनेक प्रकार हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग तथा भोग (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य)। मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है 'अहैतुकी भक्ति' या 'अनन्या भक्ति'। मध्वाचार्य की भक्ति का समाहार निम्नलिखित श्लोक में हुआ है :—

श्री मन्मध्वमते हरिः परतरः सत्य जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभाव गताः॥
मुक्तिनैंजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन।
लक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

—भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २२३-२२४

प्रस्तुत श्लोकों में निम्न प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है :—

ससार सत्य है। भेद वास्तविक है। समस्त जीव भगवनाधीन है। जीवों मे कर्मानुसार उच्च-नीच भाव होता है। वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति का सर्वोत्तम साधन निर्दोष भक्ति है।

तीन प्रमुख प्रमाण है :—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। वेदों मे प्रमुख वर्णतत्व विष्णु ही हैं। मध्वाचार्य ने भक्ति को मुक्ति का साधन माना है :—

(१) बिना ज्ञान कुतो भक्तिः कुतो भक्ति विना च तत्।
(२) अतो विष्णोः पराभक्तिस्तद्भक्तेषु रमादिषु।
तारतम्येन कर्तव्या पुरुषार्थमभीप्सता॥

—ब्रह्मसूत्रानुख्यान, भक्ति अंक, पृ० १८९

मध्वाचार्य की भक्तिभावना की उर्वरा भूमि पर दक्षिण तथा उत्तर भारत मे भक्ति आन्दोलन का विशाल वृक्ष विकसित हुआ। दक्षिण भारत की भक्ति प्रबलता ही ने १५वी शताब्दी मे उत्तरी भारत ने प्रबलता का रूप ग्रहण किया। १५वीं शताब्दी के भक्ति साहित्य ने हिन्दी साहित्य को अनेक सूर्य तथा चन्द्र भेंट किये जिन्होने अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दिया।

उत्तर भारत में भक्ति भावना—भक्ति का तृतीय उत्थान पन्द्रहवीं शताब्दी मे माना जाता है। इस समय भक्ति-सरिता की दो अविरल धारायें प्रवाहित हुईं, एक पूर्ण रसाप्लावित श्याममयी कालिन्दी के रूप मे, तथा द्वितीय शिव एव सत्य समन्वित राम गगा के रूप मे । इन उभय धाराओं ने भक्ति के दोनों पुलिनो को रसमय बनाने के साथ ही साथ साहित्य भडार की भी अभिवृद्धि की तथा उत्तर भारत मे इन धाराओ के अतिरिक्त एक और धारा की भी अभिवृद्धि की। उत्तर भारत में इन धाराओं के अतिरिक्त जो एक और धारा प्रवाहित हुई वह ज्ञानाश्रयी धारा के नाम से विख्यात है। उत्तर भारत मे रामभक्ति तथा ज्ञानाश्रयी धारा के उद्भव के मूल श्रोत हैं युग प्रवर्तक रामनन्द, रामानन्द का व्यक्तित्व धार्मिक एव सामाजिक क्रान्ति से निखार पाकर रोचक तथा व्यापक बन गया था। रामानन्द अत्यधिक उदार, क्रान्तिकारी, प्रगतिशील तथा चिन्तनशील प्राणी थे। मध्ययुग मे जन साधारण के मध्य सुलभ तथा सरल रूप मे भक्ति का प्रचार करने का श्रेय युग-प्रवर्तक रामानन्द को ही है। रामानन्द ने अपने गुरु रामानुजाचार्य के आदेशो को ग्रहण करके एक अभिनव सुधार आन्दोलन के माध्यम से सर्वसाधारण में भक्ति भावना का प्रचार एव प्रसार किया। रामानन्द ने लोकसग्रहवर्ण राम की उपासना का मधुर सदेश जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उन्होंने विष्णु के समस्त रूपों में लोक कल्याणकारी रूप का प्रचार किया। रामानन्द बडे उदार व्यक्ति थे। उन्होने भक्ति का विशाल द्वार सभी जातियों, वर्णों तथा वर्गों के लिये उन्मुक्त कर दिया। जो भक्ति चिरकाल से ब्राह्मणों के एकाधिकार सत्व की वस्तु बनी हुई थी, अब जनसाधारण के लिये भी सुलभ तथा उपलब्ध हो गई। कबीर, रैदास, सेन रग-बस आदि का अविर्भाव इसी परम्परा मे हुआ। उत्तर भारत मे विष्णु भक्ति के जनान्दोलन के वास्तविक आग्रह तथा राम भेद के प्रकार का राघवानन्द जी के शिष्य स्वामी रामानन्द के विशाल व्यापक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व एव कार्यावली ने उन्हें महत्वपूर्ण व्यक्ति बना दिया। कृष्ण भक्ति के विकास मे जो स्थान वल्लभाचार्य का है, राम भक्ति के विकास मे वही स्थान रामानन्द का माना जाता है। इनकी भक्तिधारा, समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल है। रामानन्द ने भगवत् भक्ति से अनुप्राणित होकर भक्ति के उज्ज्वलभावमणि निर्मित रत्नजटित-सोपान निर्मित किया, जिन पर आरूढ होकर जनता ब्रह्मानर के साथ-साथ परमानन्द भी प्राप्त कर सकी। रामानन्द साँध्ययुगीन स्वाधीन-चिन्ता के सद्गुरु हैं। उन्होंने नायकशेषशायी विष्णु के स्थान पर राम के उस रूप की प्रतिष्ठा की जो तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति करने मे समर्थ था। उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने वाले अन्यायियों तथा लोक-प्रपीड़कों के आंतक से अभिशप्त भारतीय राम

२

के इस लोक रजनरागी, भवभयभंजनकारी तथा जनमनरजनकारी रूप को (रामानन्द के उपदेशो में) प्राप्त कर आनन्द की भावना से सुसम्पन्न हुए। भारतीय जनता में आशा की किरण सचारित हुई। आशा ने निराशा का स्थान ग्रहण किया। अब तक विष्णु या राम भक्ति के ग्रन्थों की रचना देववाणी की दुरूह शब्दावली में सम्पन्न होती आ रही थी, परन्तु रामानन्द ने काल की कठोर आवश्यकता को ध्यान देकर लोकभाषा के माध्यम से भक्ति के सन्देशो को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। रामानन्द ने भक्ति को हर प्रकार से सुलभ बनाने की चेष्टा की। जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जनहित के लिये ग्रन्थों की रचना होने लगी। भक्ति के द्वार सबके लिये उन्मुक्त हुए। जाँति-पाँति की शृंखलाएँ विच्छिन्न हुई और रामानन्द ने प्रचारित किया कि "जाति पाँति पूछे ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" तथा "ब्राह्मण सोई जो ब्रह्म पिछाने, आन भाव का कबहु न आनै"। इस प्रकार भक्ति के प्रभाव ब्राह्मणो के सकीर्ण मार्ग तथा गलियों के ही नही, वरन् जनता के राजपथ पर भी सम्पन्न हुआ।

राम भक्ति के विकास में रामानन्द कृत 'वैष्णवमताब्जभाष्कर' का विशेष स्थान है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाश में विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धान्तो का सम्यक् अनुशीलन किया जा सकता है। रामानन्द-भक्ति तत्वों को आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से समन्वित करने की चेष्टा की गई है। रामानन्द ने गोरखनाथ के योग को अपने मत तथा सिद्धान्तो में स्थान देकर ज्ञान, योग एवं भक्ति की ऐसी जन-कल्याण धारा प्रवाहित की कि इसकी शैतल्य प्रदायिनी धारा ने अनेकानेक अभिशापों को विदीर्ण कर दिया। रामानन्द ने अपने सिद्धान्तों—तत्वत्रय पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने चिद्चिद् विशिष्ट समस्त रूपों में एक ही माना परन्तु नाम एवं पदार्थ भेद से उनके तीन प्रकार माने—(क) चित् (चेतन) जीव, (ख) अचित् (अचेतन) प्रकृति, (ग) ईश्वर।

ब्रह्म, चित्-अचित् उभय का कारण कार्य रूप है। ब्रह्म से भिन्न चित् या अचित् की कोई सत्ता नही है। वह विशिष्ट रूप से उभय दशाओं मे एक ही है। विशिष्टाद्वैत का यही मूल तत्व है। तत्वमय के दार्शनिक तत्वों को आधार मानकर रामानन्द ने भगवान राम को परमपुरुष का स्वरूप प्रदान किया। राम के इस रूप की आराधना रामानन्द ने बड़े ही मनोयोग एव निष्ठा के साथ प्रचलित की। इसीलिये रामानन्द का सम्प्रदाय 'वैष्णव रामावत् सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रामानन्द के तत्वत्रय के समान ही रहस्यत्रय भी भक्ति-धारा तथा भक्ति-सिद्धात के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। राम-मत्र राम भक्ति के मूल तत्व हैं। राम-मंत्र तीन रूपों मे है :—

(क) मूलमन्त्र—श्री रां रामाय नमः (पचविंशत्यक्षर मंत्र)

(ख) द्वयमत्र—मद्रामचन्द्रचरणौ शरण प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नमः (पचविंशत्यक्षर मत्र)

(ग) चरम मत्र—सुकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ॥

त्रि-तत्वो के समान ही त्रिमूर्ति का ध्यान भी आवश्यक है। त्रिमूर्ति के अन्तर्गत श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की पूजा का विधान किया गया है। इसमे राम ईश्वर के प्रतिरूप, लक्ष्मण जीव रूप, तथा सीता प्रकृति स्थानीया हैं। इस त्रिमूर्ति का ध्यान करना, मुक्ति के द्वार की ओर अग्रसर होना है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' मे उल्लेख है कि :—

सा तैलधारा समनित्यसस्मृति सन्तानरूपदेश परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकससजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङगा ॥

—वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक, ६५

विशिष्टाद्वैत मत के अन्तर्गत अविच्छिन्न-भक्तिधारा प्रवाह के मूल स्रोत सात उल्लेखित हुए हैं :—

(क) विवेक—(विवेचन शक्ति), (ख) विमोक—(काम में अनासक्ति), (ग) अभ्यास—(राम का सततशीलन), (घ) क्रिया—(पच महायज्ञों का अनुष्ठान), (ङ) कल्याण—(सत्य, आर्जव, दान, दयादि), (च) अनवसाद—(सतत सोत्साह), (छ) अनुद्दष—(सासारिक सुखों की अपेक्षा आनन्दातिरेक)।

स्वामी रामानन्द की दृष्टि में समस्त भक्ति का उद्देश्य है भगवान राम की शरण में पहुँचकर मुक्ति सम्प्राप्त करना। भगवान राम अशरण-शरण, दीनानाथ तथा दीनवत्सल हैं। इस महाशक्ति की शरण मे मानव तब तक नहीं पहुँच सकता, जब तक सद्गुरु की असीम अनुम्कपा न हो। सद्गुरु की कृपा से साधक स्वकर्मों का न्यास करके बधन विमुक्त हो जाता है और ऊर्ध्व पद को प्राप्त करता है, तथा जीवन से मुक्त होने पर वैकुण्ठरूप साकेत धाम में पहुँच जाता है। इस प्रकार भगवान की महती कृपा से सम्यक् सायुज्य लाभ करता है तथा आवागमन से मुक्त हो जाता है :—

सीमान्त सिन्धवालुप्त एव धन्यो,
गत्वा परब्रह्म सुवीक्षितो निशाम्।
प्राप्यं महानन्द महाब्धिमग्नो
नावर्तते जातु ततः पुनः सः ॥

—वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक १८७

रामानन्द की भक्ति का क्या स्वरूप था, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। रामानुज द्वारा प्रतिपादित प्रपत्तिमार्ग के सदृश ही रामानन्द ने 'वैरागी' नामक विरक्त दल का सगठन किया। रामानन्द का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने सस्कृत आचार्यों की नियमबद्ध वैधीभक्ति जो सर्वसाधारण के लिए दुर्गम, दुरूह तथा दुष्प्राप्य थी, उसे प्रेमाभक्ति के रूप में परिवर्तित करके जनता के प्रत्येक वर्ग के लिये सुलभ किया। रामानन्द ने नवधा भक्ति के साथ-साथ दशधा भक्ति का प्रतिपादन किया।

रामानन्द की शिष्य परम्परा मे भक्ति का स्वरूप :—रामानन्द की भक्ति भावना तथा साधनात्मक दृष्टिकोण का सम्यक् प्रचार तथा प्रसार उनके १२ शिष्यों द्वारा सम्पन्न हुआ। ये बारह शिष्य—(१) सेननाई, (२) कबीर, (३) पीपा, (४) धन्ना भगत, (५) सुरसरानद, (६) योगानद, (७) भवानन्द, (८) रैदास, (९) अनन्तानंद, (१०) नरहरियानद, (११) सुखानद, (१२) गालवानन्द थे।

रामानन्द के इन शिष्यो मे से सगुणोपासक तथा निर्गुण भक्तों का अद्भुत समन्वय है। उभयवर्गों मे ईश्वर की प्रेमभक्ति के प्रति विशेष बल दिया गया। यह सत्य है कि रामानन्द जी खुले हुए विश्व के बीच भगवान की कला की भावना करने वाले विशुद्ध भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और इसी मे जनता का कल्याण मानने वाले आचार्य थे। परन्तु फिर भी यदि उन्होंने कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्म की चर्चा तथा योग-साधना की प्रतिक्रिया का निर्देश किया है, तो यह उक्त मार्ग से नितान्त विरुद्ध नहीं पड़ता। रामानन्द का भारतीय धर्म मे यही एक विलक्षण वैशिष्ट्य है। (रामावत्-सम्प्रदाय—पृष्ठ २८४)। रामानन्द के द्वारा दीक्षित दोनों प्रकार के भक्तो मे भक्ति दो भिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है। निर्गुणोपासको के राम, दशरथनन्दन राम नहीं हैं, वरन् वे अखिल सृष्टि मे निराकार रूप में व्याप्त रहने वाले अनन्त, अनादि, अनाम, अजाति, अवर्ण, निर्गुण, निराकार, निर्विकार राम हैं। यह ब्रह्म पूर्णतया अद्वैत हैं। रामानन्द के निर्गुणोपासक शिष्यों में कबीर का व्यक्तित्व बड़ा असामान्य, असाधारण तथा अद्वितीय था। कबीरदास का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वथा मौलिक, सर्वथा प्रभावशाली तथा सर्वथा अत्यन्त प्रगतिशील है। परम्परागत समस्त मान्यताओं को विनष्ट, विध्वस, विभग तथा विच्छेद करके उसने स्वस्थ्य तथा जनकल्याणकारी आदेशों की जिन भित्तियों की स्थापना की, वे आज भी अपनी शीतल-छाया में मानवता की रक्षा करने में सम्पूर्ण रूप से समर्थ है। कबीर ने शोषण, अपहरण, वाह्याडम्बर तथा विघटन के विरुद्ध उच्च-स्वर में विरोधी भावनाओं को अभिव्यक्ति कर सकीर्णता की भावना को स्पष्ट शब्दों मे खुलकर आलोचना

की। जातिवर्ण तथा वर्ग-विषयक मिथ्या भावनाओं की कबीर ने भर्त्सना की। कबीर की दृष्टि मे भक्ति और साधना के भव्य प्रासाद का द्वार सबके लिए उन्मुक्त रहना चाहिये। कबीर सच्चे जनवादी धार्मिक नेता तथा कवि थे। भाषा, भाव, छन्द, अलकार, प्रतीक, किसी भी दृष्टि से कबीर को देखने की चेष्टा कीजिये, उनका व्यक्तित्व एक हजार वर्ष के हिन्दी साहित्य के इतिहास मे सर्वोच्च, सर्वाधिक मौलिक तथा अत्यन्त स्पृहणीय है। वह चतुर्दिक क्रांति का अग्रदूत अत्यन्त भावुक महा कवि था। जीवन के जिस क्षेत्र में भी कबीर ने पदार्पण किया वहीं पर अपनी कल्पना के माध्यम से तथा तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार नये-नये शब्द-चित्र अंकित किये जो अपनी उपयोगिता के कारण कभी पुराने नहीं पड़ेंगे।

रामानन्द के अभ्युदय काल से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के स्थापना काल तक अनेक सत कवि हुए। इन सतों में विशेष उल्लेखनीय हैं—कबीर, रैदास, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, हरिया द्वै, गरीबदास, पलटू साहब, बुल्ला साहब, धानी दास, सहजोबाई, दयाबाई, तुलसी साहब, तथा चरनदास आदि। इन समस्त कवियों मे कबीरदास, नानक, सुन्दरदास, गरीबदास, पलटू साहब तथा चरनदास विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके काव्य में सन्देहों की पुष्टता के अतिरिक्त काव्यतत्व तथा उक्ति वैचित्र्य भी उपलब्ध है। ये सभी कवि उत्कृष्ट रहस्यवादी तथा उत्कृष्ट तत्व ज्ञानी थे। ये सभी संतों के नाम से अभिहित हैं। मराठी साहित्य में सत, भक्त और सज्जन पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु हिन्दी साहित्य मे निर्गुणी तथा ज्ञानमार्गी साधुओं को ही सत कहने की रूढ़ि है। कबीर ने कहा है, "संतन जात न पूजो निर्गुनियॉ तथा "जानसि नहि कस कथसि अयाना। हम निरगुन तुम सरगुन जाना।" इनका काव्य भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। भक्ति के सम्बन्ध मे इनमें से प्रत्येक की अपनी धारणाएँ हैं। इनमे से सर्वप्रथम कबीर की भक्ति विषयक धारणाओं को देखिये। कबीर निष्काम भक्ति के समर्थक हैं। जब तक भक्ति है तब तक सेवा निष्फल है।

> जब लागे भक्ति सकाम है, तब लागे निष्फल सेव।
> कह कबीर वह क्यों मिलै, निःवासी निज देव॥
>
> —सतवानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १४

भक्ति-मुक्ति सीढ़ी है, निशानी है:—

> भक्ति निसैनी मुक्ति की, सत चढे सब धाय।
> जिन जिन मन आलस किया, जन्म जन्म पछिताय॥
>
> —सतवानी सग्रह, भाग १, पृ० १४

हर प्रकार का अभाव पड़ने पर भी भक्ति बीज नष्ट नहीं होता है :—

सत्त नाम हल जोतिया, सुमिरन बीज नहिं जाय।
खड ब्रह्माड सूखा पड़े, भक्ति बीज नहिं जाय॥

—वही, भाग १, पृ० १४

सत दादू के मत से भक्ति का भाव निम्नलिखित हैं :—

जोग समाधि सुख सुरति सों, सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का, इहै भगति का भाव॥

—वही, भाग १, पृ० ८०

भक्ति के बिना सशय दूर नही होता और मानव एक तीर्थ से दूसरे में भटकता फिरता है। सत गरीब दास के मत से :—

बिना भगति क्या होत है, कासी करवत लेह।
मिटै नहीं मन वासना, बहुविधि भरम सदेह॥
भगति बिना क्या होत है, भरम रहा ससार।
रत्ती कंचन पाय नहिं, रावन चलती बार॥

—वही, भाग १, पृ० १८७

सत गरीब दास के मत मे भक्ति अधम-उधारन है :—

अधम उधारन भगति है, अधम उधारन नाथ।
अधम उधारन सत है, जिनके मैं बलि जाव॥

—वही, भाग १, पृ० १८७

देवर्षि नारद ने भक्तिसूत्र के अंतर्गत भक्ति के निम्नांकित भेदों का वर्णन किया है :—

"गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति संख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।"

अर्थात् यह प्रेम-रूपाभक्ति एक होकर भी गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति इस प्रकार की होती है। भक्ति प्रवर प्रह्लाद ने भक्ति के नौ प्रकारों का उपदेश दिया है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥—श्रीमद्भागवत ७।५।२३

माध्वसिद्धात के अन्तर्गत भी नवधा-भक्ति को मान्यता दी गई है। नारद-पांचरात्र, शाडिल्य सूत्र, तथा भक्ति तरगिणी, ग्रन्थों मे भी नवधाभक्ति का प्रतिपादन हुआ है। भक्ति की विवेचन करते हुये सतों ने भी नवधाभक्ति का प्रतिपादन किया है। मलूकदास के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की होती है—
(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चना (६) वन्दन (७) सख्य (८) आत्मनिवेदन तथा (६) दास्य।

सवन सुजस हरि को कहव होई कीरतन सोई।
सुमिरन जो हरि सुमिरिये स्वांस स्वांस प्रति होई॥
पदसेवा अरचन, बन्दना ही भगतन की सेवा।
भगतन को भगवत सो कहौ अभवे गुरुदेवा॥
सो दासत्व सखत्व कहो श्रीमुख आप मुरारि।
निज तन हरि हित दीजिए काम निवेदन सोई।—ज्ञान बोध

नवधा भक्ति के प्रभाव प्रत्यक्ष तथा प्रमाणित हैं। राजा परिक्षित श्रवण से, शुक कीर्तन से, प्रह्लाद स्मरण से, लक्ष्मी पादसेवन से, पृथु अर्चन से, हनुमान दास्य से, अर्जुन सख्य से, बलि आत्मनिवेदन से तथा अक्रूर हरिवंदन से तर गए:—

श्रवन परीछित तरो सुक कीर्तन के कारन।
सुमिरन ते प्रहलाद तरो लक्ष्मी पद सेवन॥
अर्चन सो पृथु तरो तरो अक्रूर सो बन्दन।
दासत्व कार्य तरो सख्यहि तरो अर्जुन॥
बलि किया कायनिवेदन अजहूँ हरि वा के द्वार॥—ज्ञान बोध

मलूकदास के अनुसार हृदय-क्षेत्र मे श्रवण बीज पड़ने से तर गया। वृक्ष का जन्म होता है "बीजसवन को श्रवन है तरु वैराग्य अनूप"—(ज्ञा० बो०)। ससार मे वैराग्य रूपी इस वृक्ष का पुष्प भक्ति है। अर्थात् दार्शनिक एव आध्यात्मिक विषय के श्रवण से हृदय मे ससार से विरक्ति उत्पन्न होती है और उससे भक्ति का विकास होता है। भक्ति सत्सग से समृद्धि को प्राप्त होती है और दुराशा तथा खेद से विनष्ट हो जाती है—"सो बारे सत्सग तै मिटै दुराशा खेद"। चाहे पश्चिम में सूर्य का उदय हो परन्तु भक्ति के अभाव मे क्लेश नहीं मिटते हैं। मलूकदास का कथन है—"भगति बिना नहि मिटै कलेसा, पश्चिम जाये जो उड़ै दिनेसा।" राम भजन के बिना मुक्ति नही होती है चाहे मानव कितना परिश्रम कर ले—"राम भजन बिनु मुक्ति न होई, कोटि उपाय करै जो कोई।" भक्ति-विहीन नर नरक के अधिकारी होते हैं "भक्ति हीन भये राम न चीन्हा, ताते सबहि नरक जम दीन्हा।" सत कवियों में सुन्दरदास ने भक्ति के सम्बन्ध में सविस्तार विचारों को व्यक्त किया

है। ज्ञान समुद्र के द्वितीय उल्लास मे कवि ने विभिन्न योगों में भक्तियोग को सर्व-प्रथम स्थान प्रदान किया है। भक्तियोग का यह विवेचन ५६ छन्दो में सम्पन्न हुआ है। इन छन्दों में भक्ति का महत्त्व, प्रकार, नवधाभक्ति, प्रेम लक्षण, भक्ति का महत्त्व, परमभक्ति, भक्ति की विविध सिद्धियाँ, उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ट भक्तियोग आदि विषयों पर सविस्तार विचार प्रकट किये गये हैं। सुन्दर ग्रन्थावली के सम्पादक श्री हरिनारायण पुरोहित का अनुमान है कि नवधा भक्ति और प्रेम लक्षण का वर्णन स्वामी जी ने किन ग्रन्थों के आधार पर किया है, प्रकट नहीं होता है। परन्तु इनके वर्णन से यह अटकल लगाई जा सकती है कि ये नारद पचरात्र, शांडिल्य सूत्र, भक्ति तरगिणी आदि ग्रन्था से लिये गए होंगे। सुन्दरदास ने भक्तियोग के सम्बन्ध मे अपने विचारों का उल्लेख करते हुये कही पर भी आधार-ग्रन्थों को नहीं अंकित किया। सुन्दरदास ने भक्ति को भी एक योग माना है। भक्ति के साथ योग शब्द का जोड़ा जाना गीता का अनुकरण प्रतीत होता है। ब्रह्म मे मन को नियोजित करने की विशेष प्रक्रिया या पद्धति ही योग है। यहाँ पर भक्तियोग से कवि का तात्पर्य है भक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप मे मन को नियोजित करने की प्रक्रिया या भक्ति की जिस क्रिया के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप मे मन नियोजित किया जाय, वही भक्ति योग है। भक्ति शब्द को सुनते ही हमारे मस्तिष्क में सगुण ब्रह्म की उपासना का ध्यान आ जाता है। वस्तुतः तथ्य भिन्न हो, पर सुन्दरदास की निम्नलिखित उक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि इनमे निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का ही उपदेश दिया गया है :—

> शिष तोहि कहौ श्रुति वानी। सब सतनि साषि वषांनी ॥
> द्वै रूप ब्रह्म के जाने। निर्गुण अरु सगुन छिपाने ॥
> निर्गुण निज रूप नियारा। पुनि सगुन अवतारा ॥
> निर्गुण की भक्ति सुमन सो। सतन की मन अरु तन सो ॥
> एकाग्रहिं चित्त जु राषै। हरिगुन सुनि सुनि रस चापै ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १०।११-२३

सुन्दरदास ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया :—

> सुनि शिष नवधा भक्ति विधान। श्रवण कीर्तन स्मरण जान ॥
> पाद सेवन अर्चन वदन। दास भाव सख्यत्व समर्प्पन ॥

—ज्ञानसमुद्र-द्वितीयोल्लास १८।१

सुन्दरदास लिखित नवधा भक्ति तथा शास्त्र भक्ति की नवधा भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। भक्ति के अन्तिम प्रकार के विषय में कतिपय शाब्दिक भेद हैं,

पर तात्विक दृष्टि से दोनों ही शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। सुन्दरदास ने भक्ति के नवम प्रकार को समर्पण कहा है और भक्ति शास्त्र के अनुसार यही नवम प्रकार आत्म-निवेदन है। वस्तुतः समर्पण तथा आत्म-निवेदन में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है।

भक्ति के दो प्रधान भेद हैं :—(१) साधन रूप—वैध या नवधा भक्ति, (२) साध्य रूप—प्रेम लक्षणा भक्ति। भक्ति के इन दोनों प्रकारों में सेवा साधन रूप है तथा प्रेम साध्य है। ब्रह्म जिस आचरण से प्रसन्न हो, उसी भाव से भावित होकर कार्य करना ही सेवा है। धर्मशास्त्र में सेवा के अनेक लक्षण उल्लिखित हैं। नवधा-भक्ति का सर्वप्रथम अंग है श्रवण। सुन्दरदास के शब्दों में श्रवण की परिभाषा तथा विवेचन निम्नलिखित है :—

शिव तोहि कहौ श्रुति बानी। सब संतनि साखि बखानी॥
द्वै रूप ब्रह्म कै जानै। निर्गुन अरु सगुन पिछानै॥
निर्गुण निज रूप नियारा। पुनि सगुन संत अवतारा॥
निर्गुन की भक्ति सुमन सो। संतन की मन अरु तन सो॥
एकाग्रहि चित्त जु राखै। हरिगुन सुनि रस चाखै॥
पुनि सुनै संत कै बैना। यह श्रवन भक्ति मन चैना॥

—ज्ञानसमुद्र, पृ० १६।११-१२

कीर्तन नवधा भक्ति का द्वितीय अंग है। कीर्तन भक्ति के लिए सत्संग की महती आवश्यकता है। सुन्दरदास ने निम्नलिखित शब्दों में कीर्तन भक्ति का उल्लेख किया है :—

हरिगुन रसना सुख गावै, अति सै करि प्रेम बढ़ावै।
यह भक्ति की रतन कहिये, पुनि गुरु प्रसाद ते लहिये॥

—ज्ञानसमुद्र, पृ० १६।४४

ब्रह्म के नाम, रूप, गुण, एवं रहस्यों का श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्तन एवं मनन ही स्मरण है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है। यही परब्रह्म, इसी ओंकार रूप ब्रह्म की उपासना करके मानव मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करता है :—

एतदेवाक्षर ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

—कठोपनिषद् १।२।१६

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि जो व्यक्ति समस्त क्रियाओं को सम्पादित करता हुआ, ब्रह्म के कल्याणकारी रूप एवं नामों का श्रवण, रक्षा, स्मरण एवं चिन्तन करता है, वह आवागमन से उन्मुक्त हो जाता है :—

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् ।
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते ।।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो ।
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ।।

—श्रीमद्भागवत १०।२।३७

संत सुन्दरदास ने स्मरण दो प्रकार का माना है—प्रथम कीर्तन के रूप में होता है और द्वितीय हृदय के अन्तर्गत स्मरण होता है :—

अब समरन दोई प्रकारा । एक रसना नाम उच्चारा ।।
इक हृदय नाम ठहरावै । यह समरू भक्ति कहावै ।।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १६।१५

नवधा भक्ति का चतुर्थ प्रकार है पाद-सेवन । भगवान के दिव्य मंगलमय मूर्ति का दर्शन, चिन्तन, पूजन एवं सेवन करना पाद-सेवन है । श्रीमद्भागवत में भी ब्रह्म के चरणों का बड़ा गुणगान हुआ है :—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धिर्नपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ।।

सुन्दरदास ने ब्रह्म के चरणों में लोटना, उनको सहलाना तथा दबाना आदि पाद-सेवन माना है :—

नित चरन कमल महि लोटै । मनसा करि पाव पलोटै ।।
यह भक्ति चरन की सेवा । समुझावत है हे गुरुदेवा ।।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १६।१६

अर्चना, नवधा भक्ति का पंचम प्रकार है । मानस-पटल में कल्पना विनिर्मित मूर्ति की उपासना करना अथवा सम्पूर्ण भूतों में ब्रह्म उपस्थिति की कल्पना करके उसके तत्व, रहस्यादि को समझना आदि अर्चन-भक्ति है । श्रीमद्भागवत १०।८१।१६ तथा गीता १८।४६, ४६।१६ में अर्चन के महत्त्व पर बारम्बार विचार प्रकट किया गया है । सुन्दरदास ने अर्चना का रोचक वर्णन किया है । कवि के अनुसार

भाव का मन्दिर बनाकर, भाव का मूर्ति स्थापित करके, भाव के कलश मे भाव जल भर के ब्रह्म को नहला करके, भाव का बन्दन लगाकर, भाव के पुष्प चढाकर, भाव का भाग लगाकर, भाव के दीपक की आरती कर तथा भाव के घण्टे-घड़ियाल बजाकर ब्रह्मोपासना करना ही अर्चन है :—

अब अरचना को भेद, सुनि शिष देउ तोहि बताइ ।
आरोपिकै तहं भाव अपनौ सेइये मन लाइ ॥
रचि भाव को मंदिर अनूपम सकल मूर्ति मांहि ।
निजभाव की तहं करै पूजा बैठि सनमुख दास ॥
निज भाव की सब सौज आनै नित्य स्वामी पास ।
पुष्प भाव ही को कलस भरि धरि भाव नीर न्हवाइ ।
करि भाव ही कै वसन बहुविधि अंग अंग बनाइ ॥
तह भाव चन्दन भाव केशारि भाव करि घसिलेहु ।
पुनि भाव ही करि चरचि स्वामी तिलक मस्तक देहु ॥
लै भाव ही के पुष्प उत्तम गुहै माल अनूप ।
पहिराइ प्रभु कौ निरषि नखशिख भाव षेवे धूप्र ॥
तह भाव ही वैधरै भाव लावै भोग ।
पुनि भाव ही करिकै समर्प-सकल प्रभु कै योग ॥
तह भाव ही की घट झालिरि सष ताल मृदंग ।
तह भाव ही कै शब्द नाना रहै अतिसै रग ॥
यह भाव ही कै आरती करि करै बहुत प्रनाम ।
तब स्तुति बहु विधि उच्चरै धुनि सहित लै लै नाम ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २१।१७-२१

नवधा भक्ति मे अर्चन के अनन्तर वन्दना का स्थान है । यह नवधा भक्ति का सप्तम अग है । भगवत्स्वरूप नाम, मानसपटल पर अकित चित्र तथा सर्वभूत को ब्रह्म का ही अग मानकर उसकी सेवा करना तथा श्रद्धापूर्वक ब्रह्म का गुणगान करना ही वदन है । गीता (११।४०) तथा भागवत (११-२-४१) में वन्दन का महत्त्व वर्णित है । भीष्म-स्तवराज मे उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को किया गया एक भी प्रणाम दशाश्वमेध यज्ञ से श्रेष्ठ है ।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो ।
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ॥
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म ।
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।—भीष्मस्तव, राजश्लोक ६१

सुन्दरदास के मत से वन्दना दो प्रकार की होती है—१. तन से २. मन से। तन से दण्डाकार प्रणाम एव मन से ब्रह्म का ध्यान करना ही वन्दना है। कवि के शब्दों में वन्दना का भेद पढ़िये:—

वन्दन दोइ प्रकार कही शिष समलिय। दंड समान करे तन सो तन दंड दिय।
त्यों मन सौ तन मध्य प्रभू का कर पाइ परै। या विधि दोइ प्रकार सु नन्दन भक्ति करै॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २२।३१

दास्यत्व नवधा भक्ति का सप्तम प्रकार है। भगवान के गुण, तत्व रहस्यादि का परिज्ञान सम्प्राप्त करके उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना ही दास्य-भक्ति है। सत्संग एवं सदाचरण दास्य-भक्ति मे प्राप्त होते हैं। भगवान के कृत्या को अनुसरण करना दास्य-भक्ति का प्रमुख लक्षण है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो भी कर्मों का अनुसरण करो। कर्मों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है :—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरोभव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥—गीता १२।१०

सुन्दरदास के मत से भक्त का भय, प्रेम एव श्रद्धापूर्वक पतिव्रता स्त्री के समान ब्रह्म की सेवा करते रहना और आज्ञा का पालन करना ही दास्यत्व भक्ति है। दास्यत्व में कवि आत्महीनता को भी आवश्यक मानता है। सुन्दरदास के शब्दों में दास्यत्व भक्ति निम्नलिखित है :—

नित्य भय सो रहै हस्त जोरैं कहै, कहा प्रभु मोहि आज्ञासु होई।
पलक पतिव्रता पति बचन खंडै नहि, भक्ति दास्यत्व शिव जो निसोई॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १३।३२

सख्य भक्ति नवधा भक्ति का अष्टम प्रकार है। विभीषण, उद्धव, अर्जुन, सुदामादि इसी कोटि के भक्त हैं। श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से कहा कि मुझे जितने प्रिय तुम हो उतने प्रिय न ब्रह्म हैं, न शकर, न लक्ष्मी और न आत्मा ही।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न् शंकरः।
न च सकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ —श्रीमद्भागवत ४१।१४।१५

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म का सदैव साहचर्य्य तथा दृढ निकट प्रेम रखना ही सख्य भक्ति है :—

सुनि शिष्य सखापन तोहि कहो हरि आतम कै नित संग रहै।
पलु छाडत नांहि समीप सदा जितही जितको यह जीव बहै॥

ऊवत् फिरी बै हरि सों हित राषहि होई सखा दृढ भावग है।
इस सुन्दर मित्र न मित्र तजै यह भक्ति सखापन वेद कहै॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २३।३३

आत्म-निवेदन नवधा भक्ति का अंतिम भेद है। ब्रह्म के तत्व रहस्य एव प्रभावादि का परिज्ञान प्राप्त करके मनसा, वाचा, कर्मणा तथा तन-मन-धन से श्रद्धा-पूर्वक अपने को समर्पित कर देना ही आत्म-निवेदन है। गीता मे भगवान ने बारम्बार कहा है "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज"। सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म के प्रति तन, मन, धन सम्पत्ति समर्पण कर देना ही आत्म-निवेदन है।

प्रथम समर्पन मन करै, दुतिय समर्पन देह।
तृतीय समर्पन धन करै चतु. समर्पन गेह॥
गेह दारा धन, दास दासी जन। बाज हाथी गनं, सर्व दै यौ मन॥
और जे मैमन, है प्रभू तै तन। शिष्य वानी सुन, आतमा अर्पन॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २३।३४

नवधा भक्ति को कनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है। कनिष्ठा भक्ति के अनन्तर प्रेम लक्षण भक्ति या मध्यमा भक्ति है। प्रेमलक्षण भक्ति के अनन्तर परमभक्ति का विधान है। कनिष्ठा भक्ति के विवेचन के अनन्तर "ज्ञान समुद्र" मे कवि ने प्रेम लक्षण भक्ति के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं।

प्रेम-लक्षण भक्ति के विवेचन मे कवि ने कतिपय छन्द प्रेमलक्षण भक्ति के महत्त्व पर दिये हैं। भगवान के प्रति प्रेम और भक्ति प्रगाढ होते ही माया के बधन क्षीण पड़ जाते हैं—

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सां तब भूलि गयौ सब ही घरबारा।
ज्यौ उन भक्त फिरे जित ही तित नैकु रहो न शरीर संमारा॥

प्रेम की भूमिका मे पहुँच जाने पर, प्रेमाधिक्य के कारण साधक, रोमाच पुलक तथा उल्लास का अनुभव करता है। वह भक्ति को शास्त्रीय पद्धति, नवधा भक्ति को बिसर कर सीधे अपने हृदय के प्रेम के द्वारा ब्रह्म के नैकट्य को प्राप्त कर लेता है :—

स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधाविधि छाकि पर्यौ रस पी मतवारा॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २५।३८

साधक की इन्द्रियाँ ब्रह्माकार में स्वतः समाहित हो जाती हैं और स्वामी के पाद-

कमल से उसका ध्यान एक क्षण के लिये भी नही हटता। ससार का भ्रम साधक को इसी स्थान पर जाकर स्पष्ट हो जाता है—साधक का चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है, लौकिक या वैदिक साधना उससे नही हो पाती। सुन्दरदास जी ने भक्त की इसी दशा का यहाँ वर्णन निम्नलिखित शब्दों मे किया गया है :—

न लाज कानि लोक की न वेद को कह्यो करै,
नशंक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरै।
सुनै न कान और की दृशे न और अक्षणा,
कहै न मुक्ख और बात भक्ति प्रेम लक्षणा ॥

सुन्दरदास के अनुसार प्रेम लक्षण भक्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :—

निशिदिन हरि सौ चित्तासक्ती सदा ठग्यौ सो रहिये।
कोउ न जान सकै यह भक्ती प्रेम लक्षणा कहिये।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २५।३६

भक्त प्रेम और ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए निरन्तर उसी प्रकार दुःखी रहता है, यथा:—

नीर बिनु मीन दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसे,
परि जाकै औषध बिनु कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यौं स्वाति बूद चंद कौ चकोर जैसे,
चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है ॥
निर्धन ज्यौं धन चाहै कामिनी ज्यौ कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौ कछु न सुहात है।
प्रेम कौ प्रभाव ऐसौ प्रेम तहां नेक कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है ॥

प्रेमलक्षण भक्ति जिसके हृदय में ठदय होती है उसे कुछ भी अधिकार नहीं प्रतीत होता है। तृषा, भूख, निद्रा तथा अन्य अभाव उसे नहीं पीड़ित करते हैं :—

यह प्रेम भक्ति जाके घट होई, ताहि कछू न सुहायै।
पुनि भूख तृषा नहिं लागे वाकौ, निशदिन नींद न आवै ॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैनहुँ नीझर लायौ।
ये प्रकट चिन्ह दीसत है ताके, प्रेम न दुरै दुरायौ ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २६।४३

पराभक्ति के क्षेत्र में पहुँचने के अनन्तर साधक तथा साध्य में शारीरिक भेद

होते हुए भी भाव के क्षेत्र मे उभय भेद रहित हो जाते हैं। भक्ति की उन्नत अवस्था में इसी अभिन्नता के भाव को सुन्दरदास ने प्रस्तुत छन्द में व्यक्त किया है :—

सेवक सेव्य मिल्यौ रसपीवत भिन्न नहीं अरु भिन्न सदा ही।
ज्यों जल बीच धर्यौ जल पिड सु पिंड सनीर छुरे कछु नाही।।
ज्यो द्दग में पुतरी द्दग येक नही कछु भिन्न सु भिन्न दिखाहीं।
सुन्दर सेवक भाव सदा यह भक्ति परा परमातम माही।।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २८।४६

पराभक्ति की साधना की अंतिम अवस्था सेवक-स्वामी का एकत्व या एकात्मकता है। कवि ने निम्नलिखित पक्तियों मे स्वामी और सेवक की एकात्मकता चित्रित की है :—

हरी में हरिदास विलास करै। हरि सो कबहूँ न विछोह परै।।
हरि अक्षय त्यों हरिदास सदा। रस पीवन कौ यह भाव जुदा।।
तेजोमय सेवक तहं सेवकहूँ तेजोमय। तेजोमय चरन को तेज सिर नावई।।
तेजमात्र ब्रह्म की प्रशसा करे तेज मुख। तेज ही की रसना गुनानुवाद गावई।।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २८।४०

संत सुन्दरदास की भक्ति विषयक विचारधारा का यहाँ सक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। हिन्दी के सत कवियां मे भक्ति के सम्बन्ध में जितनी स्पष्ट, वैज्ञानिक तथा गंभीर विचारधारा संत-सुन्दरदास के साहित्य मे उपलब्ध होती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

चरनदास ने 'भक्तिपदार्थ' मे नवधा भक्ति का उल्लेख अत्यन्त सक्षेप में किया है :—

नवधा भक्ति सभारि अग नौ जानिले।
श्रवण निगत और कीर्तन मानिले।।
सुमिरन्त्रा वन्दन ध्यान और पूजा करो।
प्रभु सो प्रीति लगाय सुरति चरणान धरो।।
होकरि दासहि भाव साध संगति रलो।
भक्त न कींकर सेव यही मत है भलो।।
प्रेम भक्ति का तात पात तीनौ नसै।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष तामे बसै।।

—भक्ति सागर, पृ० १८०

इस प्रकार हिन्दी संत कवियों की भक्ति विषयक विचारधारा का संक्षेप में विवेचन कर लेने के अनन्तर उनकी भक्ति के लक्ष्य ब्रह्म पर विचार करेंगे। चिरकाल से मानव एक अलौकिक शक्ति में, सामाजिक जीवन सत्ता का पोषक, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों भावनाओं का एकीकरण मान कर उस अलौकिक शक्ति पर अपने पूर्ण मनोयोग से मनन एवं चिन्तन करता आया है। इसी अलौकिक शक्ति को 'ईश्वर' के नाम से संबोधित किया गया है जिसके हेतु अथर्ववेद में उल्लेख है कि "वदन्ती यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मण महत् ।" इसी अजर अमर, अनन्तर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर का विषय ईश्वरवाद है। यही अनादिकाल से भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता हुआ मानव का चिन्तन-तत्व रहा। ईश्वरवाद के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय मानव-समाज की चिन्तना का लक्ष्य नहीं बन पाया।

शैशवावस्था से लेकर जीवन पर्यन्त मनुष्य 'ईश्वर' शब्द का मधुर उच्चारण सुनता ही रहता है। ईश्वर तो धार्मिक-जीवन की आधार-शिला है। क्षीण हो जाने पर भी जब आत्मा को शान्ति एवं सुख दृष्टिगोचर नहीं होता, तो मनुष्य की अतृप्त एवं अशान्ति आत्मा ईश्वर की ओर सन्मुख होती है। इस संसार-सागर भवसागर में जिस क्षण मानव को अपनी निरावलम्बता का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह माया-तृष्णा तथा सांसारिक सुख एवं मृगतृष्णा से परे वास्तविक शान्ति की खोज में अनन्त शक्ति ईश्वर का आश्रय ग्रहण करता है, और ईश्वर के आश्रय में अनिर्वचनीय सुख की उसे सम्प्राप्ति होती है। यह दुर्लभ अनिर्वचनीय सुख का स्रोत ईश्वर, संसार में सारतत्व है, वह नित्य है। उससे परे तो सब कुछ नष्ट-प्राय है। उल्लेख मिलता है :—"महत्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति"।

मानव मन का ईश्वर से अभिन्न सम्बन्ध है। मानव मस्तिष्क की शोभा भी ईश्वरवाद है। धर्म एवं दर्शन का प्रतिपाद्य भी ईश्वर है। समस्त धार्मिक और दार्शनिक गूढ़ विवेचन एवं गवेषणार्थ भी ईश्वरवाद के ही रहस्योद्घाटन में लीन दृष्टिगत होते हैं। दार्शनिकों और धर्मवेत्ताओं का विषय भी ईश्वरवाद ही रहा है। समस्त मतों एवं धर्मों के आदेश इसी एक नित्यपूर्ण अक्षर ईश्वर की आराधना एवं उपासना करना है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव जीवन का वास्तविक ध्येय, सत्य लक्ष्य यही ईश्वर है। इसी भावना का अथर्ववेद में उल्लेख है कि "तं संप्रश्नं भुवना यान्ति सर्वा"।

कोई भी व्याख्या ईश्वर के रहस्य को स्पष्ट करने में असमर्थ नहीं है। कारण यह है कि ईश्वर परिभाषा एवं व्याख्याओं की परिसीमा में कभी भी निबद्ध नहीं हो पाया। आस्तिकों और नास्तिकों के तर्क-वितर्कों, विवेचनों, व्याख्याओं के अन्तर्गत

से अग्रसर पथ-प्रशस्त करता हुआ ईश्वरवाद इस युग में भी चिन्तन का विषय है। ईश्वरवाद की सत्ता सभी समाजों मे आज भी विद्यमान हैं। विज्ञान ने उसके सत्य को अधिकाधिक आलोकित कर दिया है। जुलियन हक्सले का कथन है कि "विज्ञान ने एक नया धर्म उपस्थित कर दिया है। अब ईश्वर का प्रभाव मानव चिन्तन से अलग होता जा रहा है।" परन्तु सत्य तो यह है कि विज्ञान एव ईश्वरवाद एक-दूसरे के पोषक हैं। ईश्वरवाद, विज्ञान चिन्तन के हेतु विषय प्रस्तुत किया करता है। ईश्वरवाद का सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मिक और प्राकृतिक दोनों, जगत्-प्रिय ऐक्य का उत्पादक है। ईश्वरवाद सम्बन्धी विचार ही विज्ञान के आविष्कारो के मूल रूप हैं। वैज्ञानिक आविष्कार मनुष्य का वैयक्तिक शक्ति से अधिक कार्य करके सुख प्राप्ति के योग्य बनाता है, तथा ईश्वर संबधिनी धारणायें उनकी नग्नता और बर्बरता का दमन कर मानव को आचारात्मक शिक्षा प्रदान कर वास्तविक सुख देना चाहती है। इस प्रकार ईश्वरवाद आध्यात्मिक सुखों का सोपान है और विज्ञान उसका आश्रित है।

विज्ञानवाद के कारण ईश्वरवाद को किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पहुँचती, वरन् विज्ञानवाद सृष्टि-अभिज्ञ तथ्यो को उद्भासित करके ईश्वर की महत्ता को प्रमाणित करता है। विज्ञानवाद से ईश्वरवाद का एक अग सम्पन्न होता है। आलीवर लाज का कथन है कि "दि रीजन आफ रिलीजन ऐन्ड दि रीजन आफ कम्पलीटेड साइन्स आर वन।" तात्पर्य यह है कि धर्म क्षेत्र पूर्ण एव ज्ञान-क्षेत्र एक हैं। विज्ञानप्रेमियों के लिये भी ईश्वरवाद एक शान्तिप्रदायिनी चर्चा है। ईश्वर सुन्दरम् है, अतः ईश्वरवाद से अधिक सुन्दर अन्य विषय मानव चिन्तन के हेतु अद्भुत आनन्द की प्राप्त होती है। ईश्वरवाद का अद्भुत अनुभव मनन एव चिन्तनीय है। कारण यह है कि ईश्वरवाद के रसास्वादन की मनोवृत्ति अमर होती है जैसाकि अथर्ववेद मे कहा गया है—देवस्य पश्य काव्य न ममार जीर्यति।

इतिहास बताता है कि ईश्वरवाद के नाम पर अत्याचारियो ने अनेक प्रकार के अनाचार किये है। परन्तु अन्ततोगत्वा उन धर्म और ईश्वर के नाम पर अनाचार का प्रसार करने वालों की स्वार्थपरता का अन्त भी ईश्वरवाद द्वारा ही किया जा सका।

आदिकाल से भारतवर्ष, ईश्वरवाद का रसपान करता आया है। आस्तिक बुद्धि ने भारतीयों को ईश्वर के प्रति आदिकाल से दार्शनिक, आचारवान् और अहिंसा-प्रिय बनाये रखा है। इस ससार में ईश्वरवाद मानव-जीवन का एक अमर मन्त्र है। यह वह दिव्य शक्ति है जो मानव को ससार की नित्य विकासमान एवं परिवर्तनशील गति के अनुकूल रखती है। ईश्वरवाद ही सत्य एव नित्य विश्वात्मक

का सहधर्मी बनाने की प्रभावशाली शिक्षा दिया करता है। ईश्वरवाद के द्वारा ही भारतीयों ने व्यावहारिक रूप में मनुष्य को ईश्वरत्व प्रदान कर यह सिद्ध कर दिया कि "ब्रह्मज्ञाता को ब्रह्मत्व की प्राप्ति पर, ब्रह्म के समान ही अमरत्व की उपलब्धि हो जाती है और वह ब्रह्म के समान ही अमर बन जाता है।" ईश्वरवाद ही मानव-जीवन का एक प्रकार से आधार है।

वेदों में ब्रह्म—भारतवर्ष में ब्रह्म के सम्बन्ध मे चिरकाल से चिन्तन होता आ रहा है। प्रारम्भ से लेकर अब तक अनेक दार्शनिको ने ब्रह्म को विभिन्न नामो से सम्बोधित किया तथा विभिन्न स्वरूपों में उसकी कल्पना की। ससार के अणु-अणु में परिव्याप्त अनन्त सत्ता को ही अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म आदि नामों द्वारा अभिहित किया है। ईश्वर का वेदो में विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हुए ऋग्वेद मे कहा गया है :—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विगम्। होतारं रत्नधातमम्॥

एक अन्य प्रसग में उसे 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया गया है :—

तमीशान जगतस्तस्थुषस्पतिधिय जिन्वमवसेहमहे वयम्।
पूषानो यथा वेदसामसद्वृध रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

अर्थात् हे सर्वाधिस्वामिन् आप ही चर और अचर जगत् के ईशान हैं, आप ही सर्व विद्यामय विज्ञान स्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करने वाले प्रेरणीय स्वरूप सबके पोषक हैं। आपको हम अपनी रक्षा के हेतु आवाहन करते हैं, जिस प्रकार से आप विद्या तथा अन्य धर्मों की वृद्धि के हेतु निरालस रक्षा करने में तत्पर रहे हैं, तथैव कृपा करके आप हमारे सद्स्वास्थ्य के हेतु सतत रक्षक रहें। आपसे परि-पालित होकर हम लोग सदैव उत्कृष्ट कर्मों में उन्नति और आनन्द प्राप्त करें। एफ॰ पी॰ प्रस्तुत स्तुतिमन्त्र से प्रत्यक्ष है कि लेखक ने ईश्वर के रचयिता रूप के कारण 'ईशान' शब्द द्वारा प्रार्थना की है।

ब्रह्म को पिता कहने की परम्परा आज भी प्रचलित है। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद से प्रारम्भ होती है। ऋग्वेद में ईश्वर को 'पिता' रूप कहा गया है :—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ —ऋग्वेद १।६।१६।१०

इसी प्रकार से ऋग्वेद में उसे 'इन्द्र' सबोधन भी दिया गया है :—

पराणुदस्व मघवन्नमिज्ञान्सुवेदा नो वसू कृधि।
अस्माक बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम्॥

ऋग्वेद में ईश्वर को सूर्य के समान प्रकाशवान् कहा गया है :—

देवो नयः पृथिवि विश्वधाया उपेक्षेतिहितमित्रो न राजा।
पुरवदः शर्मसदो न वीरा अनन्या पितजुष्टेव नारी॥

वेदों के स्तुति-मन्त्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों—इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि, सूर्य, आदि का उल्लेख है। ये सब ब्रह्म के ही पर्याय हैं। साधकों की दृष्टि मे ये देवता अभिन्न थे। इन्हें भेदपूर्ण समझने की प्रवृत्ति कालान्तर में विकसित हुई। वैदिक देवताओं की स्तुतियों का लक्ष्य एक ही सत्ता है। वेद में संपूर्ण जगत् को एक रूप में चित्रित किया गया है, अनेकत्व में एकत्व की स्थापना मानी गई है। समस्त सृष्टि एक ही पुरुष में परिव्याप्त है। उससे वाह्य भी, संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ तथा जड़-चेतन विश्व-लोक आदि उसी के अंग हैं। वह एक पुरुष अमर है, ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में अद्वैत-भावना उपलब्ध होती है।

सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठाद्दशांगुलम् ॥१॥
पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायेश्च पूरुषः॥
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ॥३॥ ऋग्वेद-पुरुष-सूक्त

उपनिषदों मे ब्रह्म—उपनिषदों (प्रतिपाद्य-मन्त्रों) मे ईश्वर की सर्वत्र विद्यमानता प्रतिपादित की गई है:—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यविद्धनम्॥

ईशोपनिषद् के चतुर्थ मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन मनोरम शब्दों में सम्पन्न हुआ है:—

अनेजदेकं मनसो जवीयो, नैनद् देवा आप्नुवन्पर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यान्त्येति तिष्ठ, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

इन पंक्तियों में उस ब्रह्म को इन्द्रियातीत व्यक्त किया गया है। ईशोपनिषद् में उसे जगत्-उत्पादक तथा निराकार बताया गया है:—

सपर्यगा च्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविर शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

ईशोपनिषद्—८

अर्थात् वह ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, जगदुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, पवित्र-पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि, वर्तमान, स्वयंसिद्ध, अनादि, प्रजा के लिये ठीक-ठीक कर्म-फल का

विधान करता है। उपनिषद्-साहित्य के एक मन्त्र में ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप भी कहा गया है और उसे प्रकाश स्वरूप भी कहा गया है :—

अग्ने नयसुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भुयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेय॥
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

उपनिषद् साहित्य में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव लय के कारण को ब्रह्म बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में तो समस्त विश्व को ही ब्रह्म कहा गया है :—

"सर्वं खल्वमिद् ब्रह्म"

बृहदारण्यक उपनिषद् के ब्रह्म को अपूर्व, अद्वितीय, अनन्तर व अवाह्य रूप में उल्लेख किया गया है :—

"तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमपरमनन्तरमवाह्यम्"—बृह० उप० २।५।१६

उपनिषदों में ब्रह्म को बृहत् और सूक्ष्म एक साथ कहा गया है :—

बृहच्चतादिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतर विभाति।
दूरात्सुदूर तदिहन्तिके च पश्यत्स्विहेव निहित गुहायाम्॥—मुडक ७।५०

वह ब्रह्म, या परमात्मा अनन्त एव निराकार है :—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्तस्तु त पश्यति निष्कलध्यायमान॥ —मुडक ८।५१

कठोपनिषद् में उसे अव्यक्त से भी सूक्ष्म बताया गया है :—

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

बृहदारण्यक में उसे अस्थूल, अह्रस्व तथा अदीर्घ माना गया है :—

"अस्थूलमह्रस्वमदीर्घम्"

कठोपनिषद् के अनुसार परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

ब्रह्म निराकार, अगोचर, तथा आकार-रहित है :—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमोयथैत-दनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे॥३॥

ओम् अक्षर को सृष्टि के प्रारम्भ से लोग 'परम अक्षर' प्रभु का सर्वश्रेष्ठ नाम कहते चले आये हैं। कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को इसी 'ओम्' शब्द

के विषय में बताया गया है कि वास्तव में ओम् अविनाशी ब्रह्म के समान सबसे महान् एव सर्व व्यापक है। यही अक्षर सर्वश्रेष्ठ है :—

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतदेवाक्षर परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ —कठो० मन्त्र १६

एक अन्य सन्दर्भ में नचिकेता को उपदेश करते हुए यमाचार्य ने कहा है कि जीवात्मा और चेतन जीवात्मा अन्य नहीं है, इनका कोई उपादान कारण नहीं :—

न जायते म्रियते वः विपश्चिन्नात्ये कुतश्चित्र वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतो ये पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —कठो० १८

पुराणों में ईश्वर—पुराणों में ईश्वर सम्बन्धी भावना के विषय मे यह भ्रमपूर्ण धारणा है कि उसके अन्तर्गत अभिव्यक्त ईश्वर सम्बन्धी विवेचन में एकता तथा तारतम्य नही है। जिसकी यत्किंचित् जनता में मान्यता थी, उसमें से अधिकांश मे देवताओ की स्तुति या उपलब्धि होती है। उनमे ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, मित्र और मातरिश्वा आदि प्रधान देवताओ का उल्लेख है। किन्तु इन देवताओं का जो स्थान वेदों मे है, वही पुराणों में है। इन उपर्युक्त विभिन्न देवताओं मे एक सत्तात्मक शक्ति के केन्द्रीभूत रूप की परिकल्पना की गई है। पुराणों के अन्तर्गत उपासना मे व्यक्तिगत अभिरुचि को प्रमुखता प्रदान की गई है। इसमें गीता की यही भावना लक्षित होती है :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥—गीता ४।११

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, लोग चाहे जिस रूप में मेरी उपासना करें और चाहे जिस नाम से मुझे पुकारें, उनकी उपासना और पुकार मुझे ही पहुँचती है क्योंकि मेरे सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।

पुराणों के अन्तर्गत भी अद्वैत की यही उच्च एव समुन्नत भावना सन्निहित है। वायु पुराण मे ईश्वर के प्रति भेद-बुद्धि रखने को अपराध कहा गया है, तथा अभेद बुद्धि वाले व्यक्ति को ही वास्तविक ज्ञानी बताया गया है। पुराणों में 'नारायण' शब्द का जहाँ पर भी प्रयोग हुआ है वह वैष्णव-सम्प्रदाय के उपास्य-देव के अर्थ के अतिरिक्त ईश्वर अथवा योगीश्वर एवं निर्गुण-ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। समस्त देवता उस एक परमात्मा के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं, जिसे नारायण, ईश्वर, महेश्वर, परब्रह्म, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी आदि नामों से जाना जाता है। पुराणों के मत मे प्रत्येक वस्तु उस सर्वमय का ही रूप वा अंश है। वास्तव में सभी पुराणों का एक ही ईश्वर में विश्वास है, जिसे हम नारायण या ईश्वर कहते हैं।

पुराणों में ईश्वर विषयक भावना की प्रचुरता है। तारामंडल मंडित, अनेक

चमत्कार वेष्ठित, गिरि गगनालकृत, सरित्सरस्समुद्र परिवृत, अतर्क्य विस्तार, अतुल प्रसार, अनेक कोटि ब्रह्मांड, पुराण-पुरुष श्री भगवान के एक-एक रोम में उसी प्रकार अहर्निश अप्रमत्त रूप से विचरण कर रहे हैं, जिस प्रकार किसी विशाल कलेवर वातायन में होकर अगण्य परमाणु-पुञ्ज भ्रमण करते हों। यजुर्वेद के—तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा—में जो सन्निहित भाव है, वही हमें श्री ब्रह्मदेव की इस बाल-गोपाल स्तुति मे प्रतिभासित होता है :—

काहं तमोमहदहंखचराग्निवर्भू स्सवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
केदृगविधा विगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्यचते महित्वम् ॥

पुराणों में ईश्वर के सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारक रूप की अभिव्यक्ति हुई है :—

आत्ममाया समाविश्य सोऽहं गुणमयी द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वे दध्रे संज्ञा क्रियोचिताम् ॥

प्रस्तुत भाव वैदिक है। आचार्य बादरायण ने इसी विचार को आधार बनाकर, 'जन्माद्यस्य यतः' की रचना की और श्रीमद्भागवत पुराण भी 'जन्माद्यस्य यतः' से प्रारम्भ होता है। पुराणों को ईश्वर की सर्व व्यापकता तथा 'अन्तर्यामित्व' अभीष्ट है। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि :—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

श्रुति में भी ईश्वर को अन्तर्यामी कहा गया है :—

"यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"—बृहदारण्यक

बृहदारण्यक के अन्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मण में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि आत्मा के लिए संसार की समस्त वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। उसी आत्मा का दर्शन, श्रवण और ध्यान करना अपेक्षित है :—

आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रिय भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य जी ने 'वाक्यान्वयात्' सूत्र पर लिखे भाष्य में स्पष्ट लिखा है :—

विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित परमात्मेति । ....परमात्मोपदेश एवायम् ।

पुराणों में भी परमात्मा के लिये ही, सांसारिक भोगों की प्रियता का उपदेश दिया गया है :—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मां यथा ॥ —भागवत

पातजल-दर्शन मे ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है—'तत्रनिरतिशय सर्वज्ञ बीजम्' । पुराणों मे प्रतिपादित ईश्वर भी सर्वज्ञ है :—

क्वाप्यदृष्टवान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वविधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥

पुराणोक्त ईश्वर निस्सन्देह 'महतो महीयान्' है । सलिलान्तर्गत झषमकरादि जीव-निकाय जिस प्रकार समुद्र-पद से बोधित हो जाते हैं, उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड भगवदन्तर्गत होने के कारण ईश्वर पद से विदित हो जाते हैं । 'यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्म भाति यथा' तथा प्राकृतिक गुणजाल से परे होने के कारण ईश्वर अगुण अथवा निर्गुण कहे जाते हैं :—

तथापि भूमन् महिमा गुणस्य ते, विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥

परन्तु भक्तवत्सलता प्रभृति गुणग्राम से अलकृत होने से तथा भक्त मनोरथानुसार प्राकृतिक गुणत्रय से सर्ग करने के कारण ये सगुण भी हैं :—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातु, हितावतीर्णस्य क ईसिरेऽस्य ।
कालेजयैर्वा विमितासुकल्पै भूपासवः खेमिहिकाद्युभासः ॥

पुराणों मे ईश्वर के अनेक रूपों का वर्णन है । वैसे एक समय में अनेक रूप धारण कर लेने पर भी उनका पारमार्थिक एकत्व अव्याहत ही रहता है । पुराणों मे प्रधान रूप से ईश्वर के पांच प्रधान रूप व्यक्त किए गये हैं—

१—मूषवाहन, विघ्नविनाशक सकट मोचन श्री गणपति ।
२—त्रिशूलधारी वृषभ वाहन, गंगाधारी श्री सदाशिव ।
३—तेजवान, एक चक्र रथ वाहक, तमोविनाशक श्री सूर्यदेव ।
४—श्रीवत्सपदांकित, गरुणवाहन, अज्ञानविध्वंसक भक्तपति श्रीमन्नारायण ।
५—वराभयकरा, सिंहवाहिनी, मधुरमूर्ति जगदम्बिका श्री दुर्गादेवी ।

वस्तुतः ये पाचों अभिन्न हैं । वास्तव में एक ही ईश्वर का ईश्वरत्व इनमें व्याप्त है । ईश्वर एक है । एक समय में अनेक रूप धारण करने पर भी उनका पारमार्थिक एकत्व विद्यमान ही रहता है ।

दर्शनों मे ईश्वर—ईश्वर की व्यापक अद्वितीय सत्ता के विषय में भारतीय-दर्शनों ने भी बहुत कुछ कहा है । प्रत्येक दर्शन ने अपनी ज्ञान-भूमि के आधार पर

परमेश्वर की इस सत्ता को व्यक्त करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम हम न्याय-दर्शन पर विचार करेंगे।

न्याय दर्शन—ईश्वर सर्वस्व है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीव के सभी कर्म निष्फल हैं। इसी से नैयायिकगण यज्ञयागादि कर्म मे ईश्वरनिष्ठ हैं। योग-मार्ग में ईश्वर निरत है, भक्ति मार्ग मे ईश्वर परायण है, और ज्ञान मार्ग मे ईश्वर तत्पर है। न्याय-दर्शन मे कर्म फल के साथ ईश्वर को निमित्त कारणता का सम्बन्ध बताया गया है और परोक्ष रूप से सृष्टि के साथ ईश्वर का सम्पर्क भी बताया गया है—

"ईश्वरः कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।"

महर्षि वात्स्यायन ने इसके भाष्य मे कहा है —

परांधीन पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीत स ईश्वरः। तस्मात् ईश्वरः कारणम्।

अर्थात् जीव का पराधीन कर्मफल जिसके आधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव के कर्मफल दाता है। इस भाँति जड़ कर्म के चेतन प्रेरक रूप से ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्पर्क घोषित किया गया है। न्यायवृतिकार विश्वनाथ जी ने भी 'किं क्षित्यादिके सकर्तृक कार्यत्वाद् घटवत्' सूत्रवृत्ति द्वारा ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपन्न की है। कार्य ब्रह्म जगत् को देखने से उसके सृष्टिकर्ता निमित्तकारण रूप ईश्वर का अनुमान होता है।

अनेक नैयायिकों के सेव्य ईश्वर, शिव रूप होने पर भी त्रिमूर्ति हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों ही ईश्वर की मूर्ति हैं और त्रिमूर्ति होने पर भी वे स्वरूपतः निराकार हैं। एक अन्य सूत्र में कहा गया है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुष्य के कर्म न करने पर उसे फल की प्राप्ति नहीं होती—न पुरुषकर्माभावेरफलानिष्पत्ते। इसके अनुसार कर्म ही फल प्राप्ति का हेतु है, ईश्वर नहीं। किन्तु उस पुरुषार्थ या कर्म के मूल में भी ईश्वर है, पुरुषार्थ के अनुग्राहक ईश्वर है, फल प्राप्ति ईश्वर द्वारा ही होती है, ईश्वर एक मात्र कारण न होने पर भी कर्म सापेक्ष निमित्त कारण है—तत्कारितत्वाद् हेतुः।

गौतम सूत्र के ४. १. १९ से २१ तक में ईश्वरवाद का स्पष्ट वर्णन है। न्याय-सूत्र के षोडश पदार्थ निर्देश के मूल में भी ईश्वरवाद वर्तमान है, ईश्वर ही न्याय-दर्शन का प्राण-स्वरूप है।

ईश्वर स्वरूप के विषय में भाष्यकार ने आलोचना करते हुए कहा है, जीवात्मा में अधर्म, मिथ्या-ज्ञान और प्रमाद है। जिस आत्मा में यह सब नहीं है बल्कि धर्म-ज्ञान समाधि पूर्ण रूप से अवस्थित है, वैसी ही आत्मा ईश्वर है। उसकी

धर्म समाधि का फल अणिमादि ऐश्वर्य है। प्रत्येक जीवात्मा का धर्माधर्म और पृथिव्यादि भूतों की प्रवृत्ति उन्हीं के प्रभाव से होती है। सन्तान के लिये जिस प्रकार पिता यथार्थवादी हितैषी दया एव करुणा से सिक्त है, ईश्वर भी सब भूतों के लिए वैसे ही पितृतुल्य है :—

अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्याधर्मज्ञानसमाधिसपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्म समाधिफलमणिमाद्यष्टैश्वर्यसकल्पानुविधायी वास्य धर्म प्रत्यात्मवृतीन् धर्माधर्मसचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति।'''आपकल्पश्चाय यथा पिता पत्याना तथा पितृवत ईश्वरो भूतानाम्।

यहाँ ईश्वर को पितृस्वरूप एव ज्ञानरूप अंकित किया गया है। नैयायिकों का यह मत है कि ईश्वर मे नित्य सर्वज्ञता, नित्य इच्छा एव नित्य यत्न आदि है, कोई विशेष गुण नहीं है। जयन्त भट्ट ने न्याय-मजरी के आह्निक ईश्वर प्रकरण में कहा है कि जिस प्रकार जीवात्मा निराकार होकर भी सब का सचालक है, उसी प्रकार ईश्वर भी निराकार होकर सर्व-सचालक तथा सर्वव्यवस्थापक हो सकता है।

नैयायिक-दार्शनिक सिद्धान्तो मे ब्रह्म निराकार, सर्वज्ञ, जीव का अदृष्ट फल-दाता, नित्य-प्रयत्न और नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न है। वह परम कारुणिक, समस्त जगत् का पितृस्थानीय है। वह यज्ञादि कर्म-मार्ग, योग मार्ग, भक्ति मार्ग तथा ज्ञानमार्ग से उपास्य है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन एव दर्शन भी उसी ब्रह्म की उपासना है। साधक या भक्त की सिद्धि के हेतु शिव रूप में वह आविर्भूत होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनो उसी के रूप हैं।

सांख्य-दर्शन मे ब्रह्म का स्वरूप—सांख्य-दर्शन मे अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता द्वारा ईश्वर के अस्तित्व मानने का आदेश है। साख्यीय मुक्ति भूमि मे प्रकृति की व्यापक सत्ता अक्षुण्ण रहती है। ईश्वर की व्यापक सत्ता अगम्य है। स्वशरीरस्थ ईश्वर का चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। प्रत्येक शरीर मे पुरुष की भिन्न-भिन्न बहुत सत्ता की कल्पना करना, प्रकृति को चिरन्तर मानना तथा मुक्ति के हेतु ईश्वर की सत्ता मानना, साख्य-दर्शन भूमि के अनुसार ठीक है। इतना होने पर भी सांख्य ने ईश्वर के अस्तित्व को अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता द्वारा माना है। सांख्य में कहा गया है कि योगी गण अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, तत्वों को भी अनुभव कर लेते हैं, यथा, ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष का अगोचर है। सांख्य दार्शनिक ज्ञानभूमि के अनुसार असिद्ध होने पर भी अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा जान लेते हैं—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः।
लीनवस्तुकवद्धातिशय सम्बन्धाद्वा दोषः॥

लौकिक-विचार से सांख्य-भूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होते। कारण कि ईश्वर न तो मुक्त हो सकता है, और न बद्ध ही। मुक्त होने पर उनमें अभिमान भाव से सृष्टि कर्तृत्व नहीं आ सकेगा। बद्ध होने पर उनमें सृष्टि की शक्ति ही नहीं आ सकेगी। अतः स्पष्ट है कि लौकिक प्रत्यक्ष विचार द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता—'ईश्वरासिद्धे'—मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।

सांख्य दर्शन में एक अन्य स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्म पुरुषगण और सिद्ध पुरुषगण बारम्बार शास्त्र मे ईश्वर की स्तुति कर गये हैं। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे सन्देह नही करना चाहिये—उभयथाप्यसत्करत्वम्, मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा॥

लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषो की अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति के द्वारा उपलब्ध होता है। सांख्य-दर्शनानुसार प्रकृति पर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है। यह जीव देहावच्छेद से ईश्वर की सत्ता है। उसी परमात्मा ने जीव रूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विकार उत्पन्न कर दिया। वेदव्यास जी ने 'ईश्वर प्रणिधान' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर प्रणिधान का अर्थ परम गुरु ईश्वर में समस्त कर्मों का समर्पण अथवा कर्म फल त्याग है—'ईश्वरप्रणिधान, सर्वक्रियाणा परमगुरौ अर्पणा तत्फलसन्यासो वा'।

इस प्रकार योगदर्शन मे क्लेश, कम, विपाक और आशय इन चारों से निर्लिप्त जो पुरुष विशेष है, वही ईश्वर माना गया है। उसे पुरुष से विलक्षण निर्धारित किया गया है। पुरुष जीव को भी कहते हैं और ईश्वर को भी। शरीर-रूपी पुर का स्वामी होने से जीव पुरुष कहलाता है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियों मे लिप्त है, तो दूसरा सबसे पूर्णतया निर्लिप्त। 'निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' कहकर ईश्वर को ज्ञान स्वरूप बताया गया है। वह काल मे निबद्ध नहीं है, वह अनादि है, अनन्त है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन ने न्याय-दर्शन की भाँति अनुमान प्रमाण की सहायता से जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की निमित कारणता प्रतिपादित की है:—

संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्।
प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः॥

इन सूत्रों के उपस्कार में शंकर मिश्र जी ने लिखा है कि संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप आदि कार्य से दो लौकिक मनुष्य से विशेषतः ईश्वर, महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। घट-पट आदि नाम से जो तत्तत्पदार्थों

का बोध हो जाता है, उसमें ईश्वर सकेत ही कारण है। क्षिति, अप आदि जब कार्य हैं, तो इनका कर्त्ता भी कोई अवश्य होगा, वही कर्ता ईश्वर है—

सज्ञानामकर्म-कार्यक्षित्यादि तदुभयमस्मद् विशिष्टानां ईश्वरमहर्षीणा सत्वोऽपि लिंगम्। घटपदादिसज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसकेताधीनमेव। यः शब्दो यत्र ईश्वरेण सकेतितः स तत्र साधु तथा च सिद्ध संज्ञाया ईश्वरलिंगत्वम्। तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृक कार्यत्वात्घटवत् इति।

पदार्थ समूहों के तत्त्व ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानते हुए वैशेषिक-दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपदाचार्य जी कहते हैं, तत्वज्ञान ईश्वर प्रेरणाजनित धर्म से उत्पन्न होता है—'त च ईश्वरेनदोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव।'

वैशेषिक-दर्शन मे अनुमान प्रमाण की सहायता से ईश्वर सत्ता की विशेष सिद्धि है, और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणों के साथ भी ईश्वर का सम्बन्ध निर्णय किया गया है।

मीमांसा का ब्रह्म—मीमासा दर्शनों की भूमिका में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभाव की पूर्णतया सिद्धि की गई है। ऐश्वर्य भाव मे परमात्मा या ईश्वर अदृष्ट के विधाता, पुण्य के फलदाता, पापियों के प्रशासनकर्ता और धर्म के प्रतिष्ठाता सर्व शक्तिमान् ब्रह्म है। यज्ञ उसका स्वरूप है। वेद उसकी वाणी है। विभिन्न नामधारी देवता उसकी ही दैवी विभूति के स्वरूप हैं :—

आमायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मनदर्थानाम्, यजते स्वर्गकामः; यजते यजातिम-पूर्वम्, अपामसोमं अमृता अभूम। अलक्षय इव चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति। सर्वान् लोकान् जयति मृत्यु तरति पाप्मान तरति, ब्रह्महत्या तरति योऽश्वमेधेन यजते।

इन पक्तियों में यज्ञ की महिमा बताकर प्रकारान्तर से कर्मप्रेरक देवताओं की महिमा एव यज्ञ रूप भगवान विष्णु की महिमा और यज्ञक्रिया बताने वाले वेद-कर्त्ता ईश्वर की महिमा का उल्लेख किया गया है।

भक्ति-मीमासा मे ईश्वर के माधुर्य भाव का स्पष्टीकरण करते हुये, उसको दयामय, स्नेहमय प्रभु के रूप में चित्रित किया गया है। इस मधुर-भाव में भगवान् वात्सल्य प्रभु है, करुणामय स्वामी है, स्नेहमय पुत्र है और प्रेममय कान्त है। इस भाव की अलौकिक मधुरता से भक्ति-मीमांसा ओत-प्रोत है। प्रह्लाद से क्षमा मांगते हुए कहा है :—

केदं वपुः के च वयः सुकुमार तेन, क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोकित विषमेतदभूतपूर्वं, क्षन्तव्यमंग यदि मे समये विलम्बाः॥

वैदिक मत्रों में इसी भाव का प्रतिपादन स्पष्ट लक्षित होता है :—

रसो वै सः। आनन्दरूपं परम यद्विभाति। रस ह्वाय लब्ध्वा नन्दी भवति। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन्।

ब्रह्म-मीमांसा दर्शन में ईश्वर के अन्यान्य भावों के साथ उनके ज्ञान-भाव की सम्यक सिद्धि की गई है। ब्रह्म मीमांसा मे ब्रह्म के माया से अतीत अध्यात्मभाव की मीमांसा की गई है। इसमें ईश्वर को जगत् का निमित्त एव उपादान कारण माना गया है। वेदान्त-दर्शन मे निमित्त कारणता के सम्बन्ध में अनेक सूत्र हैं। सगुण ब्रह्म ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय होती है। ईश्वर समस्त जगत् का कर्त्ता है—जन्माद्यस्य यतः 'ज॰द्वाचत्वात्' तथा 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाद्दष्टान्तानुरोधात् तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, तथान्यप्रतिषेधात्। इन सूत्रों द्वारा ब्रह्म की उपादान कारणता प्रतिपन्न होती है। 'तस्माद्ब्रह्मकार्यमित्यादि सिद्धम्' में आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वर का ही कार्य है। वेदान्त दर्शन भूमि के अनुसार ईश्वर की उभय कारणता प्रतिपादित होती है।

ईश्वर के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप के विषय में ब्रह्मसूत्र मे निम्नलिखित वर्णन हैं:—

"न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिगं सर्वत्र हि"

अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र उभयलिंग है, ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। ब्रह्म निराकार है, उपाधि सम्बन्ध होने पर भी साकार नहीं होते—अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।

निराकार ब्रह्म का वास्तव मे कोई रूप नहीं। वह उपाधि द्वारा नाना प्रकार के रूप प्रतीत होते हैं। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों स्वरूप अनत हैं—'अतोऽनन्तेन तथा हि लिंगम्'। प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में सगुण-निर्गुण भेद केवल उपाधि भेद है, स्वरूपगत भेद नहीं 'प्रकाशाश्रयद्वा तेजसत्वात्'।

ईश्वर सत्ता के रूप के विषय मे वेदान्त दर्शन कहता है—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। ईश्वर की वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है। वैदिक दर्शनों ने अपनी-अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार ईश्वर सत्ता को प्रतिपादित किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता का ईश्वर—गीता में ईश्वर शब्द का प्रयोग कई स्थलों मे हुआ है, उदाहरणार्थ १६।१४ में ईश्वर शब्द का अर्थ मानिक है—'ईश्वरोऽहमहं भोगी'। अर्थात् मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ आदि। ईश्वर को अन्य एक स्थान पर सर्वव्यापी कहा गया है—सर्वत्र समवस्थितम् (गीता १३।२८)।

ईश्वर ही भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में स्थित रहकर तथा उनको नियन्त्रण में रखकर विषयों को उपभोग करता है—विषयानुपसेवते—गीता १५।८ और शरीर

का त्याग अथवा ग्रहण करते समय इनको साथ लिये हुए जाता है—'गृहीत्वैतानि संयाति'। गीता में ब्रह्म को व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप मे वर्णन किया गया है। किसी भी इन्द्रिय के न रहते हुए भी उसमे समस्त इन्द्रियों का आभास होता है। यद्यपि वह सर्वातीत है, तथापि सबका पालन करता है। यद्यपि वह निर्गुण है, फिर भी वह गुणों का उपभोग करता है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणगुणभोक्तृ च॥ —गीता अध्याय १३

गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि मै अव्यक्त हूँ तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त अर्थात् मनुष्य देहधारी मानते हैं। किन्तु मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है।

अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यते माम् बुद्धयः।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

गीता मे ब्रह्म को ज्ञेय, अव्यय, शाश्वत तथा धर्म का ज्ञाता एवं सनातन-पुरुष कहा गया है :—

त्वमक्षर परम वेदितव्य त्वमस्य विश्वस्य परं निधान।
त्वमव्यय शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे॥
—गीता १२।१८

ब्रह्म को सूक्ष्म व अवज्ञेय भी कहा गया है :—

वहिरतश्च भूतानामचरचरमेव च।
सूक्ष्मत्वातदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्॥—गीता १३।१५

वह अनादि भी है तथा अव्यक्त भी :—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौतेय न करोति न लिप्यते॥—गीता १३।३१

वह सर्वव्यापी होने पर भी सबसे अलग है और अपनी शक्ति द्वारा सबका सचालन करता है :—

ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

इस प्रकार गीता मे वर्णित ब्रह्म अव्यक्त, व्यक्त, निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, अविज्ञेय तथा सूक्ष्म है।

बौद्ध-धर्म में ईश्वर—सामान्यतया बौद्ध धर्म मे ईश्वर या ब्रह्म विषयक कोई भी धारणा उपलब्ध नहीं, फिर भी उनके यहाँ जगत् के अनन्त और नाना प्रकार के दृश्य एक ही तत्त्व से उत्पन्न माने गये हैं, वह तत्व देश और काल से

अपरिच्छिन्न है। बौद्ध धर्म में प्रचलित सिद्धान्त समता के द्वारा किसी अंश मे ईश्वर की समानता और नानात्व के द्वारा व्यक्तिगत को जीव की समानता दी जा सकती है। बौद्ध धर्म ईश्वर अर्थात् समता के सिद्धान्त को जगत् मे अन्तस्थ मानता है परन्तु ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं करता, ईश्वर के पर्यायरूप से बौद्ध धर्म धर्मकाय शब्द का व्यवहार करता है। यद्यपि बौद्ध-धर्म दृश्य-जगत् की यथार्थता और नानात्व को मानता है, तथापि उसका विश्वास है कि जो पदार्थ हमारे चतुर्दिक् दीख पड़ते हैं, वह सब एक अन्तिम कारण से उत्पन्न होते हैं, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है।

नागार्जुन ने अपनी महायान-शाखा के अन्तर्गत शून्य सत्ता स्वीकार की है। उनके मतानुसार वह सत्-असत् से परे है, वह न यह दोनों है और न इन दोनों से पृथक् है। इन चारों से अद्‌भुत विचित्र एक अन्य ही तत्व है। माध्यमिकों द्वारा वर्णित परमतत्व यही है—

न सन् नासनन् सदासनन् चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वमाध्यमिका विदुः ॥—माध्यमिक कारिका, १,७

बौद्ध धर्म में परमार्थ सत्य को निर्वाण समान घोषित किया गया है। वह वाणी, मन तथा शरीर द्वारा गम्य नहीं, ज्ञेय नहीं। वह वाणी से परे अकथनीय है, अवर्णनीय है। वह अज्ञेय, अवचनीय है, ज्ञानियों को अनुभूति गम्य है:—

सर्वधर्माणां, निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिधर्मधातुरिति पर्यायाः। सर्वस्य हि प्रतीत्य समुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकरूपम्।

—बोधि०, पृ० ३५४

बौद्धों का परमार्थ सत्य वैदिक ब्रह्म के समान ही वर्णित है। यद्यपि बौद्धों ने स्पष्ट रूप से ब्रह्म या ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कहा। बौद्ध मत में शून्यवाद और परमतत्ववाद की ही महत्ता है। किन्तु उनके इस शून्यवाद और परमतत्ववाद में वास्तव में वैदिक ब्रह्मवाद की ही आभा झलकती है। बौद्धों के शून्य तथा परमतत्ववाद पर ब्रह्मवाद का प्रभाव किन्हीं अंशों में अवश्य रहा है।

ब्रह्म-विषयक विभिन्न सांप्रदायिक धारणायें—माया से क्षुद्र जीवात्मा के लिये अपरिच्छिन्न समष्टि चेतन अथवा ब्रह्म के स्वरूप को यथार्थरूप में समझ लेना, दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव है। महर्षि व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर विभिन्न भाष्य लिखे गये तथा प्रत्येक ने ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णन किया, वह एक-दूसरे से सर्वथा पृथक-सा दृष्टिगोचर होता है। श्रुतियों के प्रमाणों को आधार बनाकर प्रत्येक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। श्रुतियों में निहित ज्ञान प्राचीनतत्ववेत्ता

महर्षियों के साक्षात् अनुभव का फल व परिणाम है। श्रुति में वर्णित ब्रह्म स्वरूप को ध्यान में रखने पर वस्तु-स्थिति स्पष्ट हो जाती है:—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं, शिवं प्रशान्तममृत ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं, विभु चिदानदमरूपमद्भुतम्॥

अर्थात् वह ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्ति स्वरूप, अविनाशी, अखिल सृष्टि का कारण, अद्वितीय, सर्वव्यापक, चिदानन्द स्वरूप, आदि, मध्य एव अन्त से रहित अलक्ष्य तथा अद्भुत है।

जगत्प्रसिद्ध महान् दार्शनिक स्वामी शकराचार्य द्वारा निरूपित अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म का स्वरूप मायातीत अर्थात् शुद्ध बताया गया है। अद्वैत के अनुसार दृश्यमान् जगत् से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, और ब्रह्म के जिस अश में माया है वह मायातीत अश के अपेक्षा तुच्छ है। उनके मतानुसार ब्रह्म कभी बाधित नहीं होता। वह ब्रह्म निर्गुण, निर्लिप्त, निर्विशेष, शाश्वत व अनन्त है।

यथापिस्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदर्शनः नानादिकार्यमवृत तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम् प्रतिबुद्धस्यापि अबाध्यमात्वात्।—शंकर भाष्य २।१।१४

अद्वैतवाद मे ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य कहा गया है। पारमार्थिक सत्ता की व्याख्या देते हुए आचार्य शंकर ने शकर भाष्य में कहा है कि 'एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः सः परमार्थः'—अर्थात् पारमार्थिक सत्ता वही है जिसका स्वरूप सदैव अखण्ड रूप मे एक समान ही रहे। वह ब्रह्म त्रिकाल बाधित है, अतः वही सत्य है जगत् मिथ्या है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

विशिष्टाद्वैत मत मे रामानुजाचार्य जी तीन पदार्थ मानते हैं—चित्, अचित् और ईश्वर, अर्थात् उनका ब्रह्म चित् और अचित् तत्वों से युक्त है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर सर्वान्तर्यामी है। परन्तु जीव तथा प्रकृति भी नित्य और स्वतन्त्र है, इसके मतानुसार उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ब्रह्म ही है। सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को कारणस्थ ब्रह्म तथा सृष्टिकाल के स्थूल रूप को कार्यावस्थ ब्रह्म कहते हैं।

शुद्धाद्वैत मत के अनुसार यदि एक मात्र तत्व कोई है, तो वह तत्व ब्रह्म ही है। उसमें ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द, निराकार तथा सर्वशक्तिमान् है। अक्षर ब्रह्म ही प्रकृति और पुरुष का भी कारण है—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पुरा।
तद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते॥—प्रस्थान रत्नाकर, पृ० ५६

असत्, अव्यक्त आदि ब्रह्म के ही विभिन्न नाम हैं। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत में ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनों रूपों को माना है। जीव नियम्य और ईश्वर नियन्ता है। निम्बार्क मत में ईश्वर के सगुण रूप का ही प्रतिपादन है और भक्ति को

महत्ता प्रदान की गई है। वे ब्रह्म के मायातीत और माया विशिष्ट दोनों रूपों को दृष्टिभेद से ठीक मानते हैं। द्वैताद्वैत मे ब्रह्म, पुरुषोत्तम, परमात्मा भगवान् आदि नाम ब्रह्म के ही पर्याय हैं।

द्वैतमत के अनुसार ईश्वर अनन्त एव असीम गुणों का आधार है। द्वैत मत का ब्रह्म-सगुण है तथा अपने भक्तजनो के हेतु वह अवतार ग्रहण करता है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचार-धाराओं के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म विश्व का मूल तत्व है। वेदो मे ही नही, उपनिषदों का भी प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही रहा है। गीता मे भी इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। वह अव्यक्त, निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय, सर्वशक्तिमान् एव सर्वज्ञ है। वही सृष्टिकर्त्ता, भर्त्ता, सहारक है।

ब्रह्म के विषय में यही परम्परा हमे अपने सत भक्तों में भी यथाविध प्राप्त होती है। सभी सतो ने ब्रह्म को ही अपना इष्ट व लक्ष्य माना है। उन्होने भक्ति और मुक्ति द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का बारम्बार उपदेश दिया है। उन्होने जगत की असारता का निर्देशन कराकर ज्ञान, भक्ति एव प्रेम द्वारा निर्गुण, निराकार ब्रह्म की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य घोषित किया है। सन्त-मत के समुज्ज्वल रत्न महात्मा कबीर बारम्बार उसी निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना के हेतु कहते हैं—'निर्गुण राम जपो रे भाई।' उसी निर्गुण राम को जो अविगत, अकल और अनुपम है, जो वाणी से परे है—'अविगत, अकल अनुपम देखा कहता कहा न जाई।' वह निराकार ब्रह्म इन्द्रियों से परे अनुभूति का ही विषय है, वह अनिर्वचनीय एव अनुभव बोधगम्य है। कबीर का ब्रह्म पूर्णतया निर्गुण तथा निराकार है। वह मुख माया विहीन है—

> जाके मुह माया नही, नहीं रूपक रूप।
> पुहुप वास तै पतला, ऐसा तत्त अनूप ॥—क० सा० ४ पृ० ६०

वह ब्रह्म अविकल, अकल, अनुपम है। वह वर्णनातीत तथा शब्दातीत है। कबीर के शब्दों मे—

> अविगत-अकल-अनुपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
> सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ॥

कबीर के सदृश मलूकदास भी अद्वैत ब्रह्म के उपासक हैं। मलूकदास अवतारवाद के विरुद्ध हैं। जो ब्रह्म आवागमन के क्रम में बँधता है, सो कैसे उपासनीय हो सकता है—'अवधू आवै जाय सो माया।' वही ब्रह्म समस्त सृष्टि का रचयिता है, जगन्नाथ है, और सर्वशक्तिमान् है। मलूकदास के शब्दों में—

> सर्वव्यापी एक कोहारा। जाकी महिमा अपरम्पारा ॥
> हिन्दू तुरुक का एकै करता। एकै ब्रह्म सबन का भरता ॥

कबीर अद्वैत ब्रह्म में विश्वास रखते हैं, वे कहते हैं—

एक जगत का एकै करता, दोसर ब्रह्म कहा है रहता।

× × ×

मन्दिर मस्जिद एक बसत है तामै भावन दूजा।

मलूकदास अवतारवाद का विरोध करते हुए कहते हैं :—

अवधू याही करो विचार।
दस अवतार कहाँ तै आये, किन रे गढे करतार।
केति उपदेस भये तुम जोगी, केहि विधि आतमजारा॥
थोथे बाँट बाँधि के मोदू, येहि विधि जाव न पारा।
ऋद्धि सिद्धि मे बूड़ि मरोगे, पकड़ो खेवन हारा॥
अगल बगल पैडा पकड़ा रे, दिन दिन चढता मारा।
कहत मलूक सुनो रे मोदू, अविगत मूल बिसारा॥

—मलूकदास की बानी १५।६

राम नाम अज्ञात रूप से उसी प्रकार शरीर में विकास करता है, जैसे घृत, दुग्ध में था जल, पृथ्वी में। मलूकदास के शब्दों में :—

राम नाम दोउ बसै सरीरा, जैसे घृत रहै मध्य छीरा।
जैसे रहै तिल में तेला, तैसे राम सकल घट खेला॥
जैसे सुमन मा रहै खुसबोई, तैसे राम सकल घट पोई।
जैसे धरती के बिच पानी, तैसे राम सकल घट जानी।
जैसे दरपन में परछाईं, तैसे राम सकल घट माहीं।

—भक्ति विवेक

× × ×

जग हरि मे हरि हैं जगमाहीं, कहत सुनत को बहुविधि आही।
कंचन आदि अन्त हूँ कंच, भूखन भ्रम मधि हूँ कचन।

—ज्ञानबोध

मलूकदास का ब्रह्म क्षुधा, निद्रा, जागरण आदि विकारों से परे है :—

हमरे गुरु की अद्भुत लीला न कुछ खाय न पीवै।
ना वह सोवै ना वह जागै ना वह मरै न जीवै॥
बिन पखन उड़ि जाय अकासे बिन पंखन उड़ि आवै।
बिन पायन सब जग फिरि आवै सो मेरा गुरु भाई॥

—मलूकदास की बानी, पृ० १।२

सुन्दरदास का ब्रह्म कबीर के ब्रह्म के समान ही निरामय, निर्गुन, नित्य, निरञ्जन तथा अखण्डित है—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासे।
ब्रह्म अखण्डित औ अचराचर बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासे॥

—सुन्दर ग्रन्थावली ६५१।२०

यथा सागर में उठती हुई उत्ताल तरंगों को देखकर मानव उन्हें सागर से भिन्न मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्रह्म को ससार से भिन्न मानता है—

एक शरीर मे अंग भये बहु, एक धरा पर धाम अनेका।
एक शिला महि कोरि किये, सब चित्र बनाइ धरे ठिक ठेका॥
एक समुद्र तरग अनेकनि, कैसे के कीजिए भिन्न विवेका।
द्वैत कछू नहि देषिये सुन्दर, ब्रह्म अखण्डित एक को एका॥

—सुन्दर ग्रन्थावली २, ६४६।५

वेदान्त एवं उपनिषदो के चरम सत्य एव अद्वैतभाव की अभिव्यंजना सुन्दरदास ने सरल तथा स्पष्ट शैली में की है—

ईश्वर एक और नहि कोई। ईश शीश पर राखहु साई॥

× × ×

तामैं जाति वर्ण है नाही। द्वैत ताहि फिर कहाँ समाही॥

× × ×

प्रीतम मेरा एक है सुन्दर और न कोई।

सुन्दरदास का ब्रह्म गणना, गुण तथा आकार काल की सीमा से परे है :—

कोई वार कहै कोई पार कहै, उसका कहूँ वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै, उसके कहू मूद न डार है रे॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै, वह सून्य हूँ थूल निराल है रे।
कोई एक कहै कोई दोई कहै, नहिं सुन्दर द्वन्द्व लगाम है रे॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० २६८

× × × ×

एक कि दोइ न एक न दोइ, उही कि इहीं न उहीं न इहीं है।
शून्य कि थूल न शून्य न थूल, जिहीं कि तहीं न जहीं न तहीं है॥
मूल कि डाल न मूल न डाल, वहीं कि महीं न वही न मही है।
जीव कि ब्रह्म न जीव न ब्रह्म, तौ है किन्हीं कछू है न नहीं है॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, २।६१६

सुन्दरदास का ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है—

व्यापिन व्यापिक व्यापि हु व्यापक आतम एक अखंडित जानो।
ज्यों पृथ्वी नहि व्यापिन व्यापक भाजन व्यापिहु व्यापक मानो॥
कंचन व्यापि न व्यापक दीसत भूषन व्यापि हु व्यापक ठानो।
सुन्दर कारण व्यापि न व्यापक कारण व्यापि हु व्यापक आनो॥

—सुन्दर ग्रन्थावली २।६५९

सुन्दरदास का ब्रह्म वर्णनातीत, अव्यक्त, अगम तथा आदि अन्त रहित है —

निराकार है नित्य स्वरूप, अचल अभेद्य छांह नहिं धूप।
अव्यक्त पुरुष अगम अपारा, कैसे कै करिये निर्धारा॥
आदि अंत कछु जाइ न जानी, मध्य चरित्र अकथ कहानी॥

—सुन्दर ग्रन्थावली १।६६-१००

चरनदास की ब्रह्म-विषयक विचारधारा गीता से बहुत अंशों में प्रभावित है। कवि के ही शब्दों में :—

माया जीव दोउ ते न्यारा, सो निज कहिये पीव हमारा।
क्षर अक्षर निह अक्षर तीनों, गीता पढि सुनि इनको चिन्हो॥
गीता अक्षर जीव बतावै, क्षर माया सोई दृष्टि दिखावै।
निह अक्षर है पुरुष अपारा, ज्ञानी पंडित ल्योह विचारा॥

कबीर के ब्रह्म के सदृश चरनदास का ब्रह्म भी निर्गुण-सगुण से परे है :—

निर्गुण ना सर्गुण नहीं, उपजै या मिट जाय।
सब कछु हैं अरु कछु नहीं, सदा ब्रह्म थिर थाय॥

चरनदास का ब्रह्म हृदय तथा बेहद दोंनो की सीमाओं से परे है :—

हद कहूँ तो है नहीं, बेहद कहो तो नाहि।
हद बेहद दोनो नहीं, चरनदास भी नाहि॥

विगत पृष्ठो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि संतो की भक्ति तथा भक्ति के लक्ष्य ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रचुर-मत-साम्य है। इनमे आश्चर्यजनक भाव-साम्य तथा अभिव्यक्ति-साम्य है। इनकी कल्पना शक्ति, प्रतीक योजना तथा अप्रस्तुत-योजना में अद्भुत साम्य है। संत दादूदयाल का कथन बहुत सत्य है कि :—

जे पहुँचे ते कहि गए तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात॥

प्रथम अध्याय

चरनदास का युग

किसी देश के निवासियों पर उनके देश, समाज एव समय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। वातावरण के प्रभाव से दूर रहना मनुष्य के लिए कठिन है। किसी घटना के मूल मे तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष भाग होता है। चरनदास के जीवन की घटनाएँ भी उस समय की परिस्थितियो से प्रभावित थीं। चरनदास का लक्ष्य था पथभ्रष्ट जनता को मार्ग पर लाना, अंधकार के गर्त की ओर अग्रसर मानव को प्रकाश प्रदर्शित करना, विश्वकल्याण के हेतु विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना तथा क्षमा, दया, त्याग आदि मानवोचित गुणो का व्यवहार जनता में बढ़ाना। उनके इस लक्ष्य के मूल में अनेक कारण निहित थे। इन कारणों से प्रेरित कार्यों को सम्यक् रूप से समझने तथा उन पर विचार करने के हेतु चरनदास के आविर्भाव तथा उत्कर्ष काल की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कवि ने अपनी रचनाओं मे तत्कालीन राजनीतिक दशाओं का चित्रण कहीं भी नहीं किया है परन्तु धार्मिक एव सामाजिक परिस्थितियों की ओर स्थान-स्थान पर सकेत किया गया है। इसका कारण यह है कि उन्होने अपने ग्रन्थो की रचना 'जनहिताय' तथा 'स्वांतः सुखाय' की थी, ऐतिहासिक घटनाओ को सुरक्षित रखने के हेतु नही। तत्कालीन परिस्थितियो पर अन्तःसाक्ष्य प्रमाण के अभाव मे वहिस्साक्ष्य प्रमाणो के ही आश्रित होना पड़ता है। परवर्ती इतिहासकारो की ऐतिहासिक रचनाओ से उनके समय का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

सामान्यतया चरनदास की जन्म-तिथि सन् १७०३ ई० और मृत्यु-तिथि १७८२ ई० मानी जाती है। हमारे कवि ने ७६ वर्ष का पवित्र एवं निष्कलक जीवन व्यतीत किया, जिसका एक मात्र लक्ष्य था अन्तस्साधना। चरनदास का आविर्भाव उस समय हुआ जब कि भारतवर्ष मे औरंगजेब के रूप में मुगल साम्राज्य का दीपक अपने समस्त आलोक एव वैभव को प्रकाशित करने के अनन्तर विनाश के अन्धकार में समाहित होने जा रहा था। सन् १७५६ में शाह आलम सिंहासनासीन हुआ। चरनदास जी शाह आलम के राज्य-काल में ही दिवगत हुए। उनका महाप्रस्थान उस समय हुआ, जब देश में मुगल राज्य प्रायः

निःशेष हो चुका था और उसके स्थान पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा आदि प्रान्तों में दीवानी के अधिकार अंगरेजों के अधीन हो गये थे। इस समय ईस्टइंडिया कम्पनी के अधिकार दृढ़तर होते जा रहे थे और वारेन हेस्टिंग्ज भारतवर्ष के गवर्नर जनरल पद पर आसीन था।

चरनदास के जन्म (सन् १७०३ ई०) के समय देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी विषम थी। इस समय देश पर औरंगजेब का राज्य था। औरंगजेब की संकीर्ण धार्मिक नीति का इतिहास बड़ा दुखद है। उसकी धार्मिक नीति अपने पूर्वजों बाबर, हुमायूं, अकबर जहांगीर और शाहजहां से नितांत भिन्न थी। हिन्दुओं के प्रति उसके हृदय में कहीं औदार्य, दया अथवा संवेदना का स्पर्श भी नहीं हो पाया था। औरंगजेब इस्लाम का बहुत ही कट्टर अनुयायी था।[1] वह कुरान के कथित नियमों के अनुसार आचरण करता था[2]। इसी कारण उसने राज्यारोहण के पश्चात् राज्य में प्रचलित हिन्दू प्रथाओं और राज्य पदों के लिए हिन्दुओं की नियुक्ति बन्द कर दी थी[3]। सन् १७०२ ई० में उसने फौज से भी हिन्दुओं को हटा दिया था[4]।

औरंगजेब अपने को 'इस्लाम के धार्मिकराज (Islamic-Church-State), का अध्यक्ष मानता था। इस धर्म में धार्मिक सहिष्णुता महान् पाप समझी जाती

---

१. शाहजहां सुत औरंगजेबा : चले स्वपथ कुरान कथा :

परिचयी ले० सुथरादास पृष्ठ १६

नोट : सुथरादास के इस कथन का समर्थन इतिहासकार श्रीराम शर्मा के निम्नलिखित कथन से भी होता है :

He was Muslim King and it seemed to him unreasonable not to govern country according to his interpretations of injunctions of Quran and Traditions...

The Religious Policy of Moughal Emperors by Sri Ram Sharma, page 152.

The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 120.

In 1671 an ordinance was issued that the rent collectors.... must be Muslims and all Viceroys and Taluqdars were ordered to dismiss their Hindu head clerks. ....and accountants and replaced them by Muslims.

History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III, Ch. XXXIV, Page 277.

Religious Policy of Moughal Emperors, Page 135.

थी[१]। इस्लाम के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों को इस प्रकार के राज्य में रहने की आज्ञा नहीं थी। परन्तु कठिनाई यह थी कि हिन्दू जाति भारतवर्ष से समूल उखाड़ी नहीं जा सकती थी। अतः हिन्दू खिराज-गुजार की हैसियत से देश में रहते थे। मुहम्मद साहब की आज्ञानुसार[२] औरंगजेब ने सन् १६७६ ई० में हिन्दुओं पर जजिया लगाया[3]। जजिया कर लगाये जाने का स्थान-स्थान पर विरोध किया गया पर कोई भी प्रयत्न फलीभूत न हुआ। जज़िया से राज्य की आय बढ़ गई[४]। दूसरा फल यह हुआ कि अनेक हिन्दू मुसलमान हो गए। औरंगजेब का समकालीन मनूसी लिखता है कि कर देने मे असमर्थ अनेक हिन्दू कर वसूल करने वालो के अपमान से बचने के लिए मुसलमान हो गए। औरंगजेब प्रसन्न होता था कि इस वसूलयाबी से हिन्दू मुसलमान हो जाने के लिए विवश हो जायेंगे[५]। औरंगजेब में मन्दिरों को नष्ट करने की प्रकृति बहुत पहले से थी। गुजरात के गवर्नर के पद से उसने अनेक भव्य मन्दिरो को नष्ट करवा दिया था। सम्राट् होने पर फरवरी २८, सन् १६५६ ई० मे उसने नवीन मन्दिरों के निर्माण को रोकने के लिए एक आज्ञा-पत्र[६] प्रकाशित किया। ९ अप्रैल सन् १६६९

[१] History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III, Chapter XXXIV, Page 227.

[२] "Fight those who do not profess the true faith, till they pay Jaziya with the hand in humility" Quran IX. 20,

and

History of Aurangzeb by Sir J N Sarkar, Vol. III, Chapter XXXIV, Page 271

सुथरादास औरंगजेब के समकालीन थे। उन्होंने परिचयी में जजिया लगाये जाने का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों मे किया है:—

काजी मुल्ला की करै बडाई, हिन्दू को जजिया लगवाई।
हिन्दू डाड देय सब कोई, बरस दिनन में जैसा होई।

परिचयी, पृष्ठ १६.

[3] The passionate animosity excited by tax was displaced in various ways and on various different scenes...

The Fall of Moughal Empire by Sidney J. Owne, p. 76.

[४] The History of Aurangzeb by Sir J N. Sarkar, Vol III Chapter XXXIV, p. 274

[५] Many Hindus who were unable to pay turned Muhammadan to obtain relief from insults of collectors . Aurangzeb rejoices that by such exaction these Hindus will be forced to embrace the Mohammadan faith

History of Aurangzeb, Vol. III, p. 275

[६] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 136.

ई० के एक आज्ञापत्र द्वारा समस्त साम्राज्य के मन्दिरों को नष्ट कर देने की आज्ञा भेजी[१]। सन् १६६९ ई० के अगस्त मास में विश्वनाथ जी का सुप्रसिद्ध मन्दिर नष्ट कर दिया गया[२]। विश्वनाथ जी के इस सुविशाल मन्दिर के नष्ट किए जाने का उल्लेख सुथरादास ने अपने ग्रन्थ 'परिचयी' में किया है[३]। औरंगजेब के समकालीन, हिन्दी के गौरव कवि भूषण ने भी अपनी पुस्तक 'शिवाबावनी' में विश्वनाथ जी के मन्दिर के नष्ट होने का उल्लेख किया है।[४] इसी समय काशी के अन्य सभी मन्दिर नष्ट कर दिये गए, जिनमें गोपीनाथ का मन्दिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[५] इसके पश्चात औरंगजेब ने मथुरा और गोकुल के मन्दिरों की ओर ध्यान दिया। सर्वप्रथम उसने मथुरा के केशवराय जी के मन्दिर को नष्ट किया, जिसके निर्माण में राव वीर सिंह ने ३३ लाख रुपए का व्यय किया था।[६] मथुरा के मन्दिरों के ध्वस का उल्लेख सुथरादास ने भी किया है।[७] इससे प्रकट होता है कि मथुरा के मन्दिरों के ध्वंस होने का तत्कालीन जनता पर बड़ा प्रभाव

---

[१] The Religious Policy of Moughal Emperors, p 136

[२] The Religious Policy of Moughal Emperors, p 141

[३] काशी विश्वनाथ विस्तारा। कला न देखा सभी उजारा ॥

परिचयी, पृष्ठ १५

[४] कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब की।
खोदि डारे देवी देव देवल अनेक सोई,
पेखी निज पारान ते छूटी माल सब की।
भूषन भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ,
और क्या गिनाऊँ नाम गिनती में अब की।
दिन में डरन लागे चारो वर्ण ताही समै,
सिवा जी न होतो तो सुनति होति सब की।

भूषणग्रन्थावली, शिवाबावनी, पृष्ठ ४९–५० (प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

[५] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[६] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[७] तब बहुरो मथुरा चलि आवो, पाखंड देख सब मंदिल ढायो

परिचयी, पृष्ठ १७

पड़ा था । गोकुल के मन्दिरों पर भी औरगजेब की शनिदृष्टि पड़ी ।[१] सुथरादास ने गोकुल के मन्दिरों के उजाड़े जाने का हाल 'परिच्नयी' मे लिखा है ।[२] गोस्वामी हरिराय जी ने भी गोकुल तथा मथुरा के मदिरों के प्रति औरगजेब के प्रकोप का अपने ग्रन्थ 'श्री गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता' मे सविस्तार वर्णन किया है ।[३]

---

१ The priests of the temple of Govardhan founded by the Balbhacharya sought safety in flight The idols were removed and the priests softly stole out in night Imperial territories offered no place of safe asylum either to God or his votaries After the adventurous journey they at last reached Jodhpur Maharaj Jaswant Singh was away on imperial errands His subordinates in the State did not feel strong enough to house the God who might have soon excited the wrath of the Moughal Emperor the head of the priesthood in charge of the temple, sent to Maharaja Raj Singh to beg for a place to enable to serve his religion in peace The Sasodia prince extended his welcome the party decided to house the God in Sihar and with due religious ceremony the God was installed on the 10 March, 1672 Sihar named after the God, is known as Nathadwara At Kankroli (in Udaipur from State) and another . idol of Krishna similarly brought down from Brindaban had been housed a little earlier

The Religious Policy of Moughal Emperors, p 142

२ द्वारिका नाथ मे तुरुक पठायो, रणछोर को स्थानै ढायो ।
बद्री नाथ गोकुलै उजारा, जगन्नाथ को कियो बिगारा ।

परिचयी, पृष्ठ १७

नोट: (१) द्वारिका नाथ से सुथरादास का अभिप्राय है द्वारिकेश जी का मदिर ।
(२) रणछोर जी तथा जगन्नाथ के मदिरो का उल्लेख आगे होगा ।

३. तब वा देशाधिपति ने एक दिन एक हलकारा श्री द्वार पठायो सो वा हलकारा ने आय के श्री विट्ठलराय जी के पुत्र श्री गोविन्द जी हते तिन सो कही और टीकैत तो हते सो श्री जी के यहां अधिकार करत ताते हलकारा ने उन सो कही देशाधिपति ने कही है जो श्री गोकुल के फकीरो से कहो जो हमको कछू करामात दिखाओ नहीं तो हमारे देश में ते उठ जाओ तब गोविन्द जी श्री जी सों पूछे जो देशाधिपति ने करामात मांगी है या मारग मे तो आप की कृपा ही

औरगजेब द्वारा नष्ट किए गए मदिरो की सख्या बहुत अधिक थी, जिसका पूरा विवरण आज किसी इतिहास मे उपलब्ध नही होता है। तत्कालीन लेखको की रचनाओ मे इस सम्बन्ध मे उल्लेख मिल जाते हैं। 'परिचयी' मे परशुराम तथा नगरकोट के मन्दिरा के नष्ट किये जाने का वर्णन मिलता है।[१] औरगजेब की दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया सिक्खो मे विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।[२] गुरु तेग बहादुर को बन्दी बना कर प्राण दड देना उसकी धार्मिक सकीर्णता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।[3] सुथरादास ने भी अपनी 'परिचयी' मे गुरु तेग बहादुर के बध का वर्णन किया है।[४] उनके शब्दा मे वेद पुराण का पठन पाठन सभी

करामात है जो आज्ञा आप करो तो हम वाको करामात दिखावैं. श्री गिरिधार जी के और गोवर्धन के ब्राह्मणन सो तथा गोवान से असमजस पर्यो श्री जी रथ मे आय के विराजे असोज सुदी १५ शुक्रवार सवत् १७२६ के पाछिली प्रहर

और दो जल घटिया श्री जी के सेवक जल भरन सो जा बिरियां देशाधिपति को डस्ता मदिर ढायवेको आयते ता समय वाके सग २०० म्लेच्छ हुवे डेढ महिना ताई मदिर ढायवे न दियो फिर दुसरो डस्ता १७ सतरे बिरियां ५००,७०० म्लेच्छ लैकें आयो परन्तु उन दोऊ भाइन ने सब को मार डारे तब देशाधिपति ने वजीर को हुकुम दीनो सो बहुत म्लेच्छ सग लैके वजीर चढ्यो श्रीनाथजी जब श्री गिरिराज सो आगरे मे पधारे तब पाछिली रात्रि घड़ी ६ रही हती .जब बादशाह देवतान पै करामात मांगतो सो जब न मिली करामात तब वह मूला आप जाय के देवतान को खडित करतो पांच सौ म्लेच्छ वाके सग रहते . ता दिन श्री जी को रथ चबल के पार उतार्यो और दडोत घाट ते श्री श्री गोवर्धन श्री कोटा बूंदी पधारे और श्री जी चतुर्मास बीते पीछे पुष्कर जी होय के जोधपुर को पधारे श्री गोवर्द्धन नाथ जी प्राकट्य वार्ता, पृष्ठ ४४. ६०

[१] नगर कोट की कला विचारी, कला न देखी मढी उजारी।
बहुत विकट मन माहि विचारा, परसुराम को देवल उजारा।

परिचयी, पृष्ठ १८

[२] (i) History of Aurangzeb by Sir J N. Sarkar, Vol. III, Chapter XXXV, pp 301-302
(ii) Aurangzeb & His Times by Zahiruddin Faruqi pp. 247-259

[3] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 166,
एव 'भक्तमाल', पृष्ठ १७

[४] नानक के सिष्यन को पूँछा, गुरु का धरम न तुमही सूझा।

राजाज्ञा से निषिद्ध कर दिया गया था। ब्राह्मणो की पूजा और कर्मकांड भी छूट गया था।[1]

औरगजेब की मृत्यु के अनन्तर सिहासन के हेतु चिरकाल तक उसके पुत्रो मे गृह-कलह हुआ।[2] अन्ततोगत्वा बहादुरशाह ने अपने पराक्रम और शौर्य से हिन्दुस्तान का सिहासन प्राप्त किया। इसके राज्यकाल मे सिक्खो के साथ प्राय: पाच वर्षों तक युद्ध होते रहे।[3] तदनन्तर बहादुरशाह को प्राय: दो-तीन बार राजपूतो से सघर्ष एव युद्ध करना पड़ा।[4] सन् १७१२ ई० मे बहादुरशाह की मृत्यु हो गई। बहादुरशाह का जीवन सघर्ष-प्रधान और राजनीतिक आँधियों का सामना करने मे व्यतीत हुआ। बहादुरशाह के अवसान काल में चरनदास की अवस्था प्राय: ६ वर्ष की थी। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो में प्राय: सात वर्ष तक राज्य सिंहासन के लिए सघर्ष और युद्ध हुए। २६ मार्च सन् १७१२ को जहाँदार सिंहासन पर बैठा। जहाँदार को बन्दी बनाकर १६ जनवरी १७१३ को फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। जहाँदार का राज्यकाल राजनीतिक दृष्टिकोण से उपेक्षणीय है, परन्तु फर्रुखसियर का राज्य-काल राजनीतिक उथल-पुथल के कारण महत्वपूर्ण है। अमानुषिक ढङ्ग से फर्रुखसियर का बध[5] (२८ अप्रैल १७१६ को) उस युग की हीन और घृणित राजनीति का परिचायक है। फर्रुखसियर का राज्यकाल केवल छ: वर्षों तक सीमित रहा। परन्तु इसी सीमित अवधि के अन्तर्गत मरहठों[6], सिक्खो[7] और सय्यदो[8] के कारण देश की राजनीति निरन्तर क्षुब्ध बनी रही। फर्रुखसियर

डरे सरीर छोड्यो हरिराई, तेग बहादुर प्रकटे आई।
बादशाह तेहि पकड़ अहकारा, कला न देखा करदन मारा।

—परिचयी, पृष्ठ १७

1. काल रूप पातसाह हो बैठा, पूजन भाव छूटो घर बैठा।
वेद पुरान मना करवावैं, ब्राह्मण पूजा करन न पावैं।
जह लग स्वागी स्वांग बनावैं, पातसाह सब सुरति मिटावै।

—परिचयी, पृष्ठ १६

2. The later Moughalas, William Irvin, page 1, 71
3. वही, पृष्ठ ७३,११५
4. वही, पृष्ठ ६६
5. वही, पृष्ठ ३८६,३६४
6. वही, पृष्ठ ३८२
7. वही, पृष्ठ ३०७
8. वही, पृष्ठ ३२७,३४३

एक कमजोर शासक था, अतः अपने राज्यकाल में न तो वह स्वतः सुखी रह सका और न जनता को ही सुखी बना सका। सच तो यह है कि किसी शासक की सफलता का मूल्यांकन करने के लिए ६ वर्ष का शासन-काल बहुत कम है। फर्रुखसियर के अनन्तर मुहम्मदशाह का राज्यकाल विशेष महत्त्वपूर्ण है। मुहम्मदशाह का राज्य-तिलक २८ सितम्बर १७१६ को हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सन द्वारा वर्णित चरनदास के युग की राजनीतिक परिस्थितियों का प्रस्तुत विवरण उल्लेखनीय है :—

'Bahadur Shah died in 1712, and after seven years of interreceive strife, Muhammad Shah came to the throne. During his weak reign, Haiderabad revolted and Oudh became practically independent. In 1739 India suffered the horror of Nadir Shah's invasion. In 1743 the Marathas conquered Malwa, and in 1751, Orrisa and Bengal became tributary to them. In 1747, 1751, 1756, 1757 occured the four invasions of Ahmad Shah Durranie, and by the second he won the Punjab, in the third he sacked Delhi and in the fourth the Marathas were defeated by him at Panipat in 1761. From this time the Mughal Empire ceased to exist in name......'[१]

इन पंक्तियों में मुहम्मदशाह के राज्यकाल का बड़े ही संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया गया है। मुहम्मदशाह के राज्यकाल में जनता की दुर्दशा का विवरण बड़ा मार्मिक है। नादिरशाह के प्रत्यागमन के समय देश की जनता की गरीबी, भुखमरी, अवमानना और विनाश का वर्णन बड़ा विस्तृत है।[२] नादिरशाह के आक्रमण के समय चरनदास की अवस्था ३६ वर्ष की थी। सन् १७४७, १७५१, १७५६ एवं सन् १७५७ में अहमदशाह दुर्रानी के विनाशकारी आक्रमणों ने सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को और भी विषाक्त बना दिया था। सन् १७४८ से १७५६ तक दिल्ली के सिंहासन पर अहमदशाह का राज्य रहा, तदनन्तर आलमगीर द्वितीय ने पांच वर्ष तक राज्य किया। सन् १७५९ से शाहआलम का राज्यकाल प्रारम्भ होता है। शाहआलम के राज्यकाल में अब्दालियों का युद्ध और पानीपत की लड़ाई विशेष उल्लेखनीय है। क्रमशः अंग्रेजों का राज्य दृढ़ एवं सुव्यवस्थित होता गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार दृढ़ता प्राप्त करते गए। सन् १७७४ से

---

१. Encyclopedia of Religion and Ethics by J. Hastings, Vol. 3, P. 365

२. The Later Moghals, Chapter XIII

१७८५ तक लार्ड हेस्टिंग्ज ने गवर्नर जनरल के पद से कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

धार्मिक परिस्थिति—चरनदास से पूर्व भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का विवेचन हो चुका है। इन विगत पृष्ठो को देखने से प्रकट हो जाता है कि सन् १२०० से १७५० ई० तक देश की दशा कितनी विषम बनी रही। इस समय के अन्तर्गत भारतीय-सस्कृति एव हिन्दू-धर्म पर सहस्त्रों घातक आक्रमण हुए। हिन्दू-धर्म को विनष्ट कर देने के लिए कोई भी प्रयत्न अवशेष न रहा। साम, दाम, दड और भेद सभी उपायों से आघात पर आघात होते जा रहे थे। हिन्दुओं के अस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया था। हिन्दुओ की इस गभीर, शोचनीय और नित्य परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म सकट में पड चुका था। 'निर्बल के बल राम' भारतीय जनता के हृदय एव मस्तिष्क से विलग हो चले थे। भारतीय जनता का हृदय और विश्वास मूर्तिपूजा से डिग चुका था। देश की राजनीतिक परिस्थिति इस बात की द्योतक थी कि मूर्ति उपासक कितने निर्बल, अशक्त तथा सकट में थे और इसके विरुद्ध मूर्ति-भजक कितने शक्ति-सम्पन्न एवं ऐश्वर्यवान थे। हिन्दू-जाति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे निराशा का अनुभव कर रही थी। गजनवी, ग़ोरी, ग़ुलाम, खिलजी, तुगलक, लोदी और मुगल सभी तो मूर्ति-भंजक के रूप में भारतीय जनता के समक्ष प्रकट हुए। इन सभी मूर्ति-भजकों को सुख एव ऐश्वर्य के पालने में भूलने हुए देखकर हिन्दुओं का मूर्ति पूजा से विश्वास उठ रहा था। वे मूर्ति उपासना की निःसारता भलीभाति समझ चुके थे। देश की इस विषम परिस्थिति में एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, जो देश के निवासियों को अधकार में प्रकाश, निराशा में आशा की ज्योति दिखा सके। इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आदोलन के द्वारा पहले बहुत कुछ अशो में पूर्ण हो चुकी थी। इस आन्दोलन में ब्रह्म के लोक-रक्षक, लोक-पालक स्वरूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी सरल भक्ति का मार्ग निराश हृदयो को प्रदर्शित किया गया था। इस वैष्णव आन्दोलन ही की प्रेरणा एव प्रयत्न से निराश हिन्दुओं में एक बार पुनः धार्मिक जागृति समुत्पन्न हो गयी थी। समय-समय पर इस आदोलन में उपास्य देवो के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा। फिर भी इसके मूल में एक भावना बराबर बनी रही और वह भावना भी परब्रह्म के सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी स्वरूप की।

रामानन्द ने लोक-रक्षक राम की प्रतिष्ठा की। रामानन्द की इस रामभक्ति के महान् स्त्रोत से दो धाराएँ फूट निकली। प्रथम धारा थी राम के सगुण रूप की। इस धारा में नाभादास एव तुलसीदास आदि प्रतिभावन व्यक्ति हुए और

द्वितीय धारा में राम के निर्गुण रूप की उपासना हुई, जिसके प्रचारक नामदेव, कबीर, दादू, नानक, मलूक, दरिया तथा चरनदास आदि सत हुए। इन सन्तों ने अपने सम्प्रदाय में योग की क्रियाओं को भी स्थान दिया पर सामान्य जनता ने इनके सरल उपदेशों को ग्रहण किया। इन सतों ने उपासना के लिए निर्गुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण किया और इस भावना ने जातीय, सास्कृतिक एव धार्मिक मतभेद के लिए अवशेष अवसर भी समाप्त कर दिए।

चरनदास के युग में हिन्दू-धर्म मे वाह्य प्रभावो के अतिरिक्त अनेक दोष भी व्याप्त हो गये थे। वाह्याडम्बरो ने धर्म के पवित्र रूप को आच्छादित कर लिया था। जनता धर्म के सत, सरल और सहज रूप को भूल गई थी और वाह्याडम्बरों एवं वाह्याचारों को ही मुक्ति का साधन मानने लगी थी। गृहस्थ एव साधु सभी माला, तिलक ग्रहण करके सत्य की खोज में यत्र-तत्र भ्रमित हो रहे थे।[1] दम्भ एवं पाखडों के आधार पर जनता अपनी तृष्णा के साधन संग्रहित कर रही थी। राजा, प्रजा, योगी, तपस्वी सभी इसी प्रकार कुबुद्धि से अभिशप्त माया के आवरण में अज्ञान का प्रसार कर रहे थे।[2] साधु एव सन्यासी सत्य की खोज छोड़ कर इन्द्रियों और मन के चेरे बन रहे थे। वे प्रीति की रीति से अनभिज्ञ, क्रिया-कर्म

---

[1] माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कंवल कस्तूरि हिरन जगल भो बौरा॥
चांद सूर्य्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिरदेवा थिर नहीं नही थिर माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
निरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कू दूर है॥

[2] साधो चलो तुम सभारी जग होरी मचि रहि भारी॥
दभ पखड गहे कर में डफ डूबड डूबड की तारी।
त्रैगुन तार तबूरा साजे आसा तृस्ना गति धारी॥
पाप पुन्य दोउ ले पिचुकारी छोड़त हैं बारी बारी।
सनमुख ह्वै करि जो नर खेलो ताके चोट लगी कारी॥
लोभ मोह अभिमानी भरी लै मावा गागरि डारी।
राजा परजा जोगी तपसी भीज रहे संसारी॥
जड़ चेतन दोऊ रूप संवारे एक कनक दूजी नारी।
पांच पचीस लिये सग अबला हंसि हंसि मिल गावत गारी॥
चतुरा फगुवा दै दै छूटै मूरख को लागी प्यारी।
चरनदास सुखदेव बतावैं निर्गुन ज्ञान गली न्यारी॥

एव माया के बन्धनों से जकडे हुए पथ भ्रष्ट हो गए थे। जग की रीति और लोक की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करते फिर रहे थे। सुरति-निरति के लोक-सुखदायी रूप को बिसार कर वे ब्रह्म से मिलन का उपाय निःसार वस्तुओं मे खोजते फिर रहे थे। स्वतः सत्य के आलोक पूर्ण रूप से अपरिचित होते हुए भी अपने उपदेशों से दूसरों के लिए मुक्ति और भक्ति का मार्ग प्रदर्शित कर रहे थे।[1] तपसी और यती पथ-भ्रष्ट हो गए थे। वे धूनी रमाने, भभूति लगाने, जटा धारण करने अथवा मूड मुड़ाने को ही धर्म समझने लगे थे। घट में विराजमान मूर्ति को देखनेका प्रयत्न कोई नहीं कर रहा था, जिससे चतुर्दिक कल्याणकारी प्रकाश का प्रसार हो पाता।[2] बहुत से तपसी चारों ओर अग्नि जलाकर अपनी काया को कष्ट देने को ही धर्म का वास्तविक रूप मान रहे थे। पडित धर्म के प्राचीन ग्रन्थ वेद-शास्त्रादि के अध्ययन को ही मुक्ति का मार्ग मान रहे थे। कुछ जटा को बढ़ाने, कुछ मूड मुडाने, कुछ प्राणायाम का ऊपरी दिखावा करने में ही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग खोज रहे थे। परन्तु ये सभी कायर (कायर इसलिए कि शरीरस्थ मन से सर्वथा पराजित थे) साधना के मार्ग में अग्रसर होने में असफल थे।[3] सभी मन में कामना

---

[1] सुरति निरति की गम नहि सजनी जहा मिलन को लटके।
भूलो जगत बकत कछु औरै वैद पुरानन ठठके॥
प्रीति रीति की सार न जानै डोलत भटके भटके।
किरिया कर्म भर्म उरझे रे ये माया के झटके॥
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाही राम रहीमा फटके।
जगकुल रीति लोक मर्यादा मानत नाही हटके॥
चरनदास सुखदेव दया सू त्रैगुन तजि के सटके।

[2] न ऊरध बाहु न अग भभूति।
न धूनी लगाय जटा सिर धारू॥
न मूड मुड़ाय फिरूँ बन ही बन।
तीरथ बर्त नही तन गारू॥
उलटि लखो घट मे प्रतिबिम्ब सों।
दीपक ज्ञान चहूँ दिस जारू॥
चरनदास कहै मन ही मन में।
अब तुही तुही करि तोहि पुकारू॥

[3] बहुतक तपसी कष्ट साध।
बहुतक पडित पोथी लाद॥
बहुतक मुंडित जटा धारि।

और प्राप्ति की भावना रखकर साधना कर रहे थे। निष्काम भक्ति कोई नहीं कर रहा था।[1] ऐसे व्यक्तियो को देख चरनदास ने निष्काम-भक्ति और उपासना का उपदेश दिया।[2] गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को छोड़कर साधु, यती हो जाना ही धर्म का आवश्यक अग माना जा रहा था। जब साधना अन्तस की वस्तु है, तब जैसे घर मे वैसे ही जगल मे, जैसे गार्हस्थ्य वैसे सन्यस्त। नाम सुमिरन आवश्यक है, न कि स्थान परिवर्तन। ससार-सागर में कमल के पत्र के सामान रहना चाहिए।[3]

यह तो हुआ ससार को त्यागकर ससार की माया मे सलग्न रहने वाले साधु, सत, यती तथा मुंडियो की दशा। परन्तु गृहस्थ और सांसारिक इनसे किसी प्रकार अच्छे नही थे। वे भी वाह्याचारो मे संलग्न थे। जग के माया मोह में वे इतना अधिक सलग्न थे कि उन्हे नाम जप के लिए भी समय नहीं मिल पाता था। भौतिकता उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव स्थापित किए हुए थी। जैसे कूकुर कौर के लिए द्वार-द्वार भटकता फिरता है, उसी प्रकार सांसारिक

चहुँ ओर पावक जारि जारि॥
बहुतक मुंडित पूजा राखि।
बहुतक भक्तन पिछली साखि॥
बहुतक जोगी पवन जीति।
हरि मिलबे की करै रीति॥
कायर थाके बाट माहि।
कछु इक आगे चले जाहि॥

[1] बिना कामना करू चाकरी आठों पहरे नेरो।
मनसब भक्ति कृपा करि दीजै यही मोहि बहुतेरो॥

[2] जोग तपस्या कीजिये सकल कामना त्याग।
ता कू फल मत चाहियो, तजो दोष अरु राग॥
अष्ट सिद्ध जो पै मिलैं नेक न कीजौ नेह।
धरि हिरदै परमात्मा त्यागे रहियो देह॥
जेती जग की वस्तु है तामे चित्त न लाय।
सावधान रहियो सदा, दियो तोहि समुझाय॥

[3] कै घर में कै बाहरे, जो चित आवै नाम।
दोनों होय बराबरी कै जगल कै ग्राम॥
जग माहीं ऐसे रहो ज्यो अम्बुज सर माहि।
रहै नीर के आसरे पै जल छूवत नाहि॥

कनक और कामिनी के हेतु दूर-दूर पर भटकते फिरते थे।[1] राजनीतिक विषमताओ और सामाजिक ह्रास के साथ ही मानव-समाज का चरित्र अधःपतित हो गया था। गृहस्थ पर-स्त्री में अनुरक्त हो रहे थे। चारित्रिक अधःपतन चरम-सीमा पर देखकर चरनदास ने उन्हें कामाग्नि से दूर रहने के लिए चेतावनी दी।[2] भूत, भवानी की उपासना के द्वारा अपने कष्टो का उपशमन करना उस युग की विशेषता थी। अंध-विश्वास लोकप्रिय हो रहे थे। मूर्ति-पूजा, मृत-पूजा और मज़ारों की पूजा करने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित थी।[3] जनता की आस्था ज्योतिष तथा वेदादि ग्रन्थों के प्रति बढ़ती जा रही थी। टोना, टोटका, जादू, मत्र, तन्त्रादि को ही जनता साधना का सच्चा रूप समझने लगी थी। गुरु-प्रदत्त भक्ति और गुरु मत्रादि से विश्वास हट गया था।[4] लोग अज्ञान के कारण असार वस्तुओं मे भ्रमते फिरते

---

१ छले सब कनक कामिनी रूप।
सुर असुर अरु जच्छ गधर्व, इन्द्र आदिक भूप।
रावन से अति बली मारे, मौत जिन बस कीन।
पसु नरन कीको चलावै, ये तौ अति आधीन।
रूप रस में दे धतूरा, मोह फासी डार।
तप की पूंजी छनि कै कियो, सृंगी रिषि कू ख्वार॥

२ अरे नर पर नारी मत तक रे।
जिन जिन ओर तको डायन की, बहु तन कू गईं भखरे॥
दूध आक को पात कटैया, झाल अगिन की जानो।
सिह मुछारे विष कारे को, ऐसे ताहि पिछानो॥
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै।
जनम जनम कू दाग लगावै, हरि गुरु तुरत छुटावै॥

३ आतम ज्ञान बिना नहिं मुक्त।
वेद भेद करि देखा जोय॥
जल पातन अरु भूत भवानी।
पूजि पूजि भरमा सब कोय॥

४ वैदिक को भेद ठानै ज्योतिष विचार जानै।
काहू की कही नाहि मानै करै मन भावै॥
भूत टोना जादू से वै प्रभु को न नाम लेवै।
गुरु भक्ती मे न चित देवै गुन नाही गावै॥

थे और अज्ञानियो तथा ढोंगियो का समाज पर बोलबाला फैल रहा था।[१] अपने युग की ऐसी जनता से चरनदास जी ने कहा कि "अरे मूर्खो! भूतो की सेवा मे क्यो जन्म नष्ट कर रहे हो। बड़ी काठेनाई से तो यह नर-जन्म और शरीर मिला है, उसे भी तुम वृथा विनष्ट कर रहे हो। झूठी आशाओ के सहारे तुम्हारा जोवन कितने दिन चलता रहेगा। जान बूझ कर अज्ञानी बनना उपयुक्त भी तो नहीं है।"[२] चरनदास जी के युग में जनता तीर्थ, व्रत,[३] गगा-स्नान,[४] बहु-देवोपासना से सलग्न थी। सभी लोग पचतत्व के उपासक होते जा रहे थे। कोई मिट्टी की प्रतिमा की उपासना कर रहा था, कोई अग्नि होत्री था, कोई सूर्योपासक था तो कोई अकाश का उपासक था।[५] इस प्रकार जितने व्यक्ति थे, उतने ही

---

[१] भाई भरमत फिरै लोई जल और पाहन सेइ।
बात नहीं बूझै कोई तिन को वह ध्यावै॥

[२] अरे नर क्या भूतन की सेवा।
दृष्टि न आवै मुख नहि बोलै ना लेवा ना देवा॥
जेहि कारन घी जोति जलावै, बहु पकवान बनावै।
सो खर्चे तू अधिक चाव सू, वह सपने नहि खावै॥
राति जगावैं, भोपा गावैं, झूठै मूड़ हिलावै।
कुटुम्ब सहित तोहि पैर पडावै मिथ्या वचन सुनावै॥
तोहि भरोसे जनम गवावै जीवत मरत न साथा।
बड़ भागन नर देही पाई खोवै अपने हाथा॥

[३] सखि सजनी हे तेरो पिया तेरे पास।
अरी बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै जी॥
सखि सजनी हे सुरति निरति करि देख।
अरी बौरी अपने महल रग नमिये जी।

[४] हमारे चरन कंवल को ध्यान।
मूरख जगत भरमता डोलै चाहत जल अस्नान॥
सब तीरथ वाही सूं प्रकटे गगा आदिक जान॥

[५] सब जग पांच तत्व को उपासी।
तुरियातीत सबन सूं न्यारा अविनासी निर्बासी॥
कोई पूजै देवल मूरत सो पृथ्वी तत जानो।
कोई न्हावै पूजै तीरथ सो जल को तत मानो॥
अग्नि होत्र अरु सूरज पूजा सो पावक तत देखा।
पवन खैंच कुंभक को राखै वायु तत्त को लेखा॥

सम्प्रदाय होते जा रहे थे। अपने युग की धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण चरनदास जी ने बड़ी सुन्दरता के साथ निम्नलिखित पद्य में किया है। इन पंक्तियों को अविकल रूप से यहां उद्धृत कर देना असंगत न होगा।

सब जग भर्म भुलाना ऐसे।
ऊट कि पूंछ से ऊट बध्यो ज्यों, भेड़ चाल है जैसे॥
खर का सोर सू कूकर की देखा देखी चाली।
तैसे कलुआ जाहिर भैरों सेढ मसानी काली॥
गांव भूमिया हितकरि धावै जाय बटोही दौरे।
सद्दो सरवर इष्ट धरत है लोग लोगाई बौरे॥
राख भाव स्वान गर्दभ को, उनको लाय जिमावै।
ठेठ चमारन को सिर नावैं, ऊंची जाति कहावै॥
दूध पूत पाथर से मांगै जाके मुख नहि नासा।
लपसी पपड़ी ढेर करत है वह नहि खावै मासा॥
वाके आगे बकरा मारै, ताहि न हत्या जाने।
लै लोहू माथे सों लावै, ऐसे मूढ़ अयाने॥
कहै कि हमरे बालक जावै, बड़ी अयुर्बल दीजै।
उनके आगे बिनती करते, असुवन हिरदा भीजै॥
भोये भटरे के पग लागैं, साधु संत की निन्दा।
चेतन को तजि पाहन पूजै, ऐसा यह जग अंधा॥
सत संगति की ओर न झांकै, भक्ति करत सकुचावै।
चरनदास सुकदेव कहत है, क्यों न नरक को जावैं॥

इस प्रकार की स्थिति में धर्म विनाशप्राय था। कोई भी धर्म के सत् स्वरूप को पहचानने के लिए उत्सुक नहीं था। चरनदास जी ने चेतावनियों के द्वारा अपने युग की जनता को प्रबोधित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा, अंध-विश्वास, भेष-धारण, वाह्याडम्बर, तीर्थयात्रा, गंगास्नान, टोना-टोटका आदि की स्पष्ट एवं कटु शब्दों में आलोचना की। उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ब्रह्म के लिए हमें यत्र-तत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है, वह तो हमारे घट में ही विद्यमान है।[1] साधना सर्वत्र हो सकती है। वे अभागे हैं, जो

कोई तत्व अकास को पूजै ताको ब्रह्म बतावै।
जो सबके देखन में आवै सो क्यों अलख कहावै॥
परम तत्व पांचौ से आगे गुरु सुकदेव बखाने।

[1] घट में खेलि ले मन खेला।

घर का परित्याग करके बाहर शान्ति खोज के लिए जाते है, परन्तु वहां भी उन्हें वह प्राप्त नहीं होती है।[1] चरनदास जी ने गुमराहो[2] को भ्रमपूर्ण मार्ग छोड़कर निगुर्ण छैला[3] से नेह लगाने का उपदेश दिया और उन्हें सत्पथ पर लाने का प्रयत्न किया।

सामाजिक परिस्थिति—राजनीति, धर्म एव समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इनमें से एक के पतनशील होने पर दूसरा भी ह्रासोन्मुख हो जाता है। देश की राजनीतिक परिस्थितियो के साथ ही समाज के अन्तर्गत भी महान ,परिवर्तन

सकल पदारथ घट ही मांही हरि सू होय जो मेला ॥
घट के देवल घट में जाती घट में तीरथ सारे ॥
बेगहि आव उलट घट माहीं बीते परबी न्हारे ॥

[1] जो नर इतके भये न उतके ॥
उत की प्रेम भक्ति नहीं उपजी।
इत नहिं नारी सुत के ॥
घर सूं निकसि कहा उन कीन्हा।
घर घर भिच्छा मागी ॥
बाना सिंह चाल भेडन की।
साध भये अकि स्वांगी ॥
तन मूडा पै मन नहि मूडा।
अनहद चित्त न दीन्हा ॥
इन्द्री स्वाद मिले विषयन सू।
बक बक बक बक कीन्हों ॥
माला कर में सुरति न हरि में।
यह सुमिरन कहु कैसा ॥
बाहर भेख धारि के बैठे।
अंतर पैसा पैसा ॥

[2] गुमराओ छोड़ दिवाने मूरख बावरे।
अति दुरलभ नर देह भया गुरु देवसान आव रे ॥
जग जीवन है निस को सुनो अपनो हवा कौन बताव रे ॥

[3] टुक निर्गुन छैला सू कि नेह लगाव री।
जाकी अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री ॥
जहं सदा सोहागिन होय पिया सूं मिलि रहु री।
जहं आवा गमन न होय मुक्ति तेरी चेरी ॥

इसमें स्वतः समाहित हो गये थे। मध्य और उच्च वर्गों के सुख-सौख्य का साधन था निम्न वर्ग या सेवक वर्ग। इस वर्ग का जीवन उक्त दोनों वर्गों की दया पर निर्भर था। इनका जीवन बड़ा हीन था।

समाज पर राज दरबारो का व्यापक प्रभाव अंकित था। वह वाह्याचार और ऊपरी प्रदर्शन को ही अपने मान-सम्मान और प्रतिष्ठा का मापदण्ड मानने लगा था। वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढ़ा कर जनता के समक्ष व्यक्त करने का प्रचलन सा हो गया था। जनता महत्वाकांक्षा के अभिशाप से अत्यधिक उत्पीड़ित थी। अपनी स्थिति से, चाहे वह कितनी ही सुदृढ और सुरक्षित क्यों न हो, कोई सन्तुष्ट नहीं था।

तत्कालीन समाज चार वर्णों में विभाजित था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। इनमे से प्रथम वर्ण समाजमे सबसे अधिक समादरित था। युगों से उसकी प्रतिष्ठा समाज में होती चली आ रही थी। समाज मे उच्च और पूज्य होने के कारण वह निम्न वर्णों का धर्म की ओट में शोषण कर रहा था। ब्राह्मण वर्ण अपने कर्म और चरित्र से भ्रष्ट हो गया था। वह अध्ययन, धर्म, पठन-पाठन, को छोड़कर निम्न-प्रवृत्तियों मे सलग्न था। त्याग के वे उच्चादर्श विलीन हो गये थे। वह भी काम, क्रोध, लोभ, मोह का चेरा बनता जा रहा था। ब्रह्म के ध्यान को विसार कर वह भी सांसारिकता और भौतिकता में फँस गया था।

समाज का अंतिम वर्ण शूद्र था। "यह समाज का अत्यन्त घृणास्पद और हेय वर्ग समझा जाता था। उपर्युक्त तीनो वर्णों की सेवा करना ही इसके जीवन की सार्थकता थी। वर्णव्यवस्था के जो नियम समाज की सुविधा, व्यवस्था और सुचारु रूप से कार्य सचालन के लिए बनाए गए थे, वही कालान्तर मे इस वर्ग के लिए अभिशाप बन गए और समाज में वैषम्य एवं क्रूरता के विधायक बन गये। धीरे-धीरे जीवन के कार्यक्रम के चुनाव में व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रसन्नता की भावना समाप्त हो गई। क्रमशः वर्ण की मान्यता जन्म से होने लगी। किन्तु हिन्दू-धर्म को केवल मुसलमानो के ही नहीं, स्वय हिन्दुओ के अत्याचार से भी बचाना आवश्यक था। अपने ऊपर अपना ही यह अत्याचार हिन्दू-मुस्लिम-सघर्ष से प्रकाश मे आया।"[1] निम्नतम वर्ण में समुत्पन्न होने के कारण शूद्र सभ्य समाज के समस्त अधिकारों की परिधि से दूर फेंक दिये गए। धर्म-शास्त्र के ग्रन्थ उनकी स्पर्शता से बाहर हो गए। उनके दर्शनो से मंदिरों का निर्माल्य अपवित्र हो जाने की आशंका दृढ़तर होती गई। शताब्दियों तक इस दशा में रहने

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ६

के कारण शूद्रो के लिए यह सामान्य और स्वाभाविक सी बात हो गई थी। इसका अनौचित्य उन्हे एकाएक खटकता न था। परन्तु मुसलमानो के ससर्ग ने उन्हें जाग्रत कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान होगया। मुसलमान मुसलमान मे कोई भेद-भाव न था। उनमे न कोई नीचा था, न ऊँचा। मुसलमान होने पर छोटा से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिन्दू-धर्म मे यह सभव न था[१]।

वर्ण-व्यवस्था की निःसारता, विषमता और कुप्रभाव से हिन्दू धर्म और समाज को बचाने के लिए रामानन्द ने भक्ति का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात को दुहराया कि कुलीन और अन्त्यज सभी उसी ब्रह्म की कृतिया हैं, उनमे कोई अन्तर नही है। अतएव सभी को समान रूप से ब्रह्मोपासना का अधिकार प्राप्त है। विशाल हृदय रामानन्द की परम्परा में सहस्रों ऐसे उदारचेता, महानुभाव सत कवि हुए, जिन्होने इस सामाजिक अभिशाप को उखाड फेंकने के लिए कोई कसर उठा न रखी। कबीर, दादू, नानक, मलूक, दरिया, गरीबदास, चरनदास आदि इसी शृङ्खला की अनेक भिन्न-भिन्न कडिया हैं।

चरनदास ने इस दोष को मिटाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि वही ब्राह्मण है जो कर्म से पवित्र और ब्रह्म के ध्यान मे सतत संलग्न रहता हो, आत्मविद्या का मनन करता हो, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से परे हो तथा सत्य प्रिय और मृदु-भाषी हो, उसके हृदय की दया-पयस्विनी से सभी शैतल्य प्राप्त करें[२]। हरिजन समस्त वर्णों से उच्च और पूज्य हैं। सच तो यह है कि

---

[२] ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै।
बाहर जाता भीतर आनै॥
पाचौ बस करि झूठ न भाखै।
दया जनेऊ हिरदे राखै॥
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै।
परमातम का ध्यान लगावै॥
काम क्रोध मद लोभ न होई।
चरनदास कहै ब्राह्मन सोई॥

[१] डॉ, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७

"जाति बरन कुल सोई नीको जाके होय भक्ति परकासा।"[1] राम-भक्ति की गति बड़ी निराली है। अगर भगवान जाति-वर्ण के समर्थक होते तो गनिका, धना, कालू, कूबा, कबीर, शबरी, आदि भक्ति के क्षेत्र मे इतने विख्यात क्यो और कैसे होते। वेद पुरान सभी इसके समर्थक हैं कि भक्ति ही ससार में सर्वश्रेष्ठ है।[2] इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों मे परस्पर मतभेद की गहरी खाई खुदी हुई थी। दोनों जातियां एक दूसरे के रक्त की प्यासी बनी हुई थी। मुसलमान विजयी होने के कारण हिन्दुओं पर सभी प्रकार के अत्याचार कर रहे थे। हिन्दुओ को किसी भी सीमा तक उत्पीड़ित करना उनके लिए असम्भव नही था। हिन्दुओं की सास्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, और ज्ञानार्जन के समस्त साधनों को विनष्ट करने के लिए प्रयत्न हो रहे थे। चरनदास जी ने विरोध की इस खाई को पाटने का हर प्रकार से प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि, "हिन्दू मुसल[illegible]न [illegible] [illegible] [illegible]ना [illegible] आ[illegible] विषयक कोई भेद नही है। दोनो एक ही कुम्हार की रचना है। दोनो के बीच धर्म विषयक मतभेद की दीवालो को खड़ा करने वाला मनुष्य है, ब्रह्म नही। इसलिये यह भेदभाव निःसार है। राम रहीम उसी के नाम के दो पर्यायवाची शब्द हैं।"

---

१. चारि बरन सू हरिजन ऊँचे।
भये पवित्तर हरि के सुमिरे तन के उज्जल मन के सूचे॥
जो न पतीजै साखि बताऊँ सवरी के जूठे फल खाये।
बहुत ऋषीसर छाई रहते तिनके घर रघुपत्ति नहि आये॥
भिल्लनि पाग दियो सरिता मे सुद्ध भयो जल जब कोई जानै।
भेद हुतो सो निरमल हुवो अभिमानी नर भयें खिसानै॥
ब्राह्मन छत्री भूप हुते बहु बाजो सख सुपच जब आयो।
बाल्मीक जगपूरन कीन्हों जै जैकार भयो जस गायो॥
जाति बरन कुल सोई नीको जाके होय भक्ति परकासा।

२. सुनु राम भक्ति गति न्यारी है।
जोग जज्ञ सजम अरु पूजा।
प्रेम सबन पर भारी है॥
जाति बरन पर जो हरि जाते।
तौ गनिका क्यो तारी है॥
धना जाट कालू अरु कूबा।
बहुत कियो भौ पारी है॥
प्रीति बराबर और देखै।
बेद पुरान विचारी है॥

यह तो हुआ धार्मिकता के आधार पर समाज के मस्तक पर लगा हुआ विषमता का कलक परंतु समाज मे इसके अतिरिक्त विषमताओं और असगतियो की कमी नहीं थी। चरनदास के युग मे समाज, असमान वितरण, असमान सुविधा, असमान आर्थिक उपलब्धि के आधार पर विनिर्मित था। जहाँ एक ओर हम उस युग के समाज की इन विषमताओ को पढ़कर आश्चर्यान्वित रह जाते है वहाँ दूसरी ओर हम कवि की उस अन्तर्दृष्टि की भी सराहना किए बिना नही रह सकते हैं जो तत्कालीन समाज के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दोषा के मोटे तह के नीचे पहुँचकर उसे उखाड़ कर फेंक देने के लिए सदैव तत्पर रही थी। निम्नलिखित पक्तियो मे तत्कालीन समाज की आर्थिक असगतियां, विषमताओं और विभीषिकाओं का चित्र बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है :

एकन पग पनही नही, एक चढै सुख पाल ॥
यही जो मोहि बताइये, एक युक्ति को जाहि।
एक नरक को जाय करि, मार जमो की खाहि ॥
एक दुखी इक अति सुखी, एक भूप इक रक।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढे नहि अक ॥
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहि।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छाँहि ॥
यही मोहि समझाइये, मन का धोखा जाय।
ह्वै करि निस्सन्देह मैं, रहौ चरन लिपटाय ॥

चरनदास के युग में मानव-समाज हीन-मनोवृत्तियो में संलग्न था। चारित्रिक पतन[1], धन लिप्सा[2], प्रतिकार की भावना, असत्य सम्भाषण, दभ और मिथ्या तथा अहंकार की भावना[3] उत्तरोत्तर विकासशील थी। समाज, मानवता,

---

[1] अरे नर पर नारी मत तक रे।
जिन-जिन और तको डायन की, बहु तन कू गई भख रे ॥

[2] देहैं धर्म छोड़ाय हो, आन धर्म ले जाय।
हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच, लोभ लगाय ॥

[3] क्या दिखलावै सान यह कुछ थिर न रहैगा।
दारा सुत अरु माल मुलक का कहा करै अभिमान ॥
छिन-छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरै आन ॥
बिनसै जल थल रबि ससि तारे सकल सृष्टि की हानि।
अजहूँ चेत हेत करु हरि सूता ही को पहचान ॥

हीन मनोवृत्तियो की इन होलियो में झुलसा जा रहा था। इन दुर्गुणों के आधार पर समाज का बाह्य ढाचा विकृत होता जा रहा था। जनता भौतिकता के कारण आध्यात्मिक चिन्तन, दार्शनिक वातावरण और साधना के क्षेत्र से निरतर दूर होती जा रही थी। जनता इस प्रकार मृग-तृष्णा मे फस कर अपने अस्तित्व को भूलती जा रही थी। जनता की करनी और कथनी मे साम्य और ऐक्य नहीं था। दम्भी लोग बढ बढ़ कर बात करने में सिद्धहस्त थे।[१] ससार की इन निम्न-प्रवृत्तियों में संलग्न रहने वाले समाज को जगत की क्षण-भगुरता की चेतावनी दी।[२] उन्होंने कहा कि यह जग दौडते हुए मृग की परछाई के सदृश अस्थिर है। यह स्वप्न के समान क्षणिक है।[३] फिर यहां महत्वाकांक्षा व्यर्थ है।[४] यह शरीर जिस पर इतना घमड और गर्व है उसकी स्थिति बालू की भीत्ति से भी हीन है।[५]

१. करनी की गति और है कथनी की औरे।
बिन करनी कथनी कथैं बकवादी बौरे॥
करनी बिन कथनी इसी ज्यो ससि बिन रजनी।
बिन सस्तर ज्यों सूरमा भूषन बिन सजनी॥
ज्यों पडित कथि कथि भूले बैराग सुनावै।
आप कुटुंब के फद पडे नाही मुरझावै॥
बहु डिभी करनी बिना कथि कथि करि मूए।
सतो कथि करनी करी हरि के सम हूए॥

२. समझौ रे भाई लोगो समझौ रे।
अरे ह्यॉ नहि रहना, करना अत पयाना।
मोह कुटुम्ब के औसर खोलो हरि की सुधि बिसराई।
दिन धधे मे रैन नींद मे ऐसे आयु गवाई॥
झूठे जग से नेह छोड करि सांचो नाम उचारो।
चरनदास सुकदेव कहत है अपनो भलो बिचारो॥

३. जानै कोई संत सुजान यह जग सुपना है॥
सुप्न कुटुम्बी आपा मानै सुप्न बैरागी लय।
सुपनै लेना सुपनै देना सुपनै निर्भय भय॥
सुपनै राजा राज करत है सुपनै जोगी जोग।
सुपनै दुखिया दुख बहु पावै सुपनै भोगी भोग॥

४. माल मुलक औ सुख सम्पति में क्यो हुवा गलतान।
देखत देखत बिनसि जायगो मत करु मान गुमान॥
कोई रहन न पावै जग में यह तू निस्चै जान।
अजहूँ समुझि छांडु कुटिलाई मूरख नर अज्ञान॥

५. तन का तनिक भरोसा नाही काहे करत गुमाना रे।

चरनदास ने असन्तोष और लोभ की उग्र भावना को शांत करने के लिए महत्वाकांक्षा और सन्तोष का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य को अपनी तृष्णा शांत करने के लिए मन की साधना और नियन्त्रण करना चाहिए नहीं तो जैसे मृग, मरीचिका को प्राप्त करने के लिए अपनी जान दे देता है, उसी प्रकार मनुष्य माया के झिलमिले आवरण पर अनुरक्त होकर प्राण खो बैठता है। एक मन की साधना से सब इन्द्रियां नियन्त्रित हो जाती हैं।[1]

तत्कालीन समाज अन्धविश्वासों से युक्त था। पशु बलि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने और उनसे वरदान प्राप्त करने की प्रथा प्रचलित थी। प्रतिकार की जलती हुई ज्वाला में मानवता झुलसी जा रही थी। इन दोषों से समाज को मुक्त करने के लिए कवि ने दया और क्षमा धारण करने का उपदेश दिया। ईश्वर की सर्वव्यापकता व्यंजित करके उन्होंने कहा कि जब सभी घटों में वह विद्यमान है, तो कौन अवध्य है और कौन वध्य ! चरनदास समाज को परिष्कृत और निर्दोष रूप में देखना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने प्रत्येक जीव के प्रति उदार, दयालु क्षमाशील तथा स्नेहवान होने का उपदेश दिया। जब सभी एक ही पिता की सन्तान हैं तो किसके प्रति कपट और क्रोध धारण किया जाय और किसके प्रति औदार्य भावना ?

ठोकर लगे नेकहूँ चलतै करि है प्रान पयाना रे ॥
ऐंड़ अकड सब छोड़ बावरे तेज तमक इतराना रे।
रंचक जीवन जगत अचमो छिन माहीं मर जाना रे ॥
मैं मैं मैं मैं क्यों करता है माया माहि लोभाना रे ॥
बहु परिवार देखि कै फूलो मूरख मूढ अयाना रे।

तथा

दम का नहीं भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिंजरे सूँ निकस जायगो पल में पछी प्रान ॥
चलते फिरते सोवत जागत करत खान अरु पान।
छिन छिन छिन छिन आयु घटत है होत देह की हान ॥

[1] बहु रूप बहु तरग यह बहु चाव।
बहुत भांति ससार में करि करि घने उपाव ॥
यह मन भूत समान है दौड़े दांत पसार।
बास गाड़ि उतरै चढ़ै सब बल जावै हार ॥

नारी—चरनदास से पूर्व और उनके युग मे भी नारी का जो चित्र हमें साहित्य, धर्म और इतिहास के पृष्ठो मे अभिव्यक्त मिलता है वह अत्यन्त हीनता से पूर्ण और विवशता से पूर्ण है। नित्य ही सुन्दरी दिव्यांगनाओ के प्राप्त करने के लिए बडे बडे युद्धो का आयोजन होता था और सहस्रो व्यक्तियो का बलिदान हो जाता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नारी को प्राप्त करने के लिए अनेक बार देश का नक्शा बदल दिया गया। भारत वर्ष मे मुसलमानो के आगमन के साथ ही नारी की स्थति और भी विकृतिपूर्ण हो गई। नारी के प्रति इस दूषित भावना की आलोचना चरनदास से बहुत पूर्व कबीरदास ने अत्यन्त कटु शब्दों मे की थी। कबीर की परम्परा में ही चरनदास का भी आविर्भाव हुआ। उन्होंने तत्कालीन जनता को भोगलिप्सा से दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि काम की ज्वाला से सभी को दूर रहना चाहिये अन्यथा मनुष्य की वही स्थिति होती है जो दीपक पर अनुरक्त पतगो की होती है। काम की भावना, मानव को पागल और निर्लज्ज कर देती है।[१] इसी काम के कारण समाज मे अवमानना सहन करनी पड़ती है। इसी के कारण कुत्ते के सदृश द्वार-द्वार भटकना पड़ता है[२] और जीते जी नरक की यातनाओं का अनुभव करना पडता है।[३] काम मन को विचलित कर देता है और मन इन्द्रियों को। काम और साधना साथ साथ नही चल पाती हैं। परनारी का स्पर्श ही नरक ले जाने का साधन है।[४] वह नरक की खान तथा सिंह से भी अधिक भयकर, मदार और भटकटैया से भी अधिक भयानक और विषाक्त है। इसलिए कवि ने कहा कि अरे मूर्ख! परनारी की ओर मत दृष्टिपात् कर अन्यथा तेरा जीवन विषमय हो जायगा।[५] कबीरदास की भांति चरनदास ने

---

१. यह काम कुरारे भाई। सब देवै तन बौराई।
पचौ में नाक कटावै। वह जूती मार दिलावै॥

२. मुँह काला गधे चढावै। बहु लोग तमासा आवै।
झिडका ज्यो डोले कुत्ता। सब ही के मन सू उत्ता॥

३. काई नीके मुख नहि बोलै। सरमिदा हो जग डोलै।
वह जीवत नरक मझारी। सुन चेतो नर अरु नारी।

४. पर नारी सब चेतियो दीन्हो प्रकट दिखाय।
पर तिरिया पर परुस हो, भोग नरक को जाय॥

५. जिन जिन आरे तको डायन की, बहु तन कू गइ भखरे॥
दूध आक को पात कटैया, काल अग्नि की जानो।
सिंह मुछारे विषकारे को, ऐसे ताहि पिछानो॥
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै॥

भी नारी के भोगमय रूप की बड़ी निन्दा की है। उन्होने भी नारी को परम्परागत विशेषण बाघिनी, सर्पिणी, मीठी छुरी आदि से सम्बोधित किया है।

चरनदास ने जहाँ एक ओर नारी के भोगमय रूप की निन्दा की, वहाँ उसके पातिव्रत स्वरूप की प्रशसा भी की है। कवि के अनुसार पतिव्रता सर्वथा अभिनन्दनीय और वन्दनीय है, कारण कि वह सदैव अपने प्रियतम पर अनुरक्त रहती है। वह दूसरो के प्रतिव्यक्त अपने प्रेम, अनुराग और समस्त भावना को खीच कर पति के चरणो मे केन्द्रीभूत कर देती है[1]। वह सदैव उसी एक पिया के रग मे अनुरजित रहती है[2]। साधना के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को पतिव्रता का सा व्रत ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति पर अनुरक्त रहती है, उसी प्रकार साधक को अन्य विभिन्न देवताओ से अपना चित्त हटा कर निर्गुण परब्रह्म मे नियोजित करना चाहिए[3]। पराये महल की छांह की अपेक्षा जिस प्रकार अपने घर की धूप और दुःख को सभी सहन कर लेते हैं, उसी प्रकार पराये पति की अपेक्षा अपना पति सदैव श्रेष्ठ है। जो नारी अपने पति पर अनुरक्त है वह सतवन्ती है[4]।

इस प्रकार चरनदास के युग मे नारी की दशा एव स्थिति का जो चित्रण हुआ है वह निरा परम्परागत है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय नारी की दुर्दशा का जो प्रारम्भ बारहवी शती मे हुआ था, वह सत्रहवीं शती तक अक्षुण्ण रूप से चला आया।

उस युग की इन परिस्थितियो ने संत चरनदास के हृदय एव मस्तिष्क पर अपना पूर्ण प्रभाव अकित किया। विषमताओ एव असगतियो को दूर करने के लिए कवि ने समता, एकता, औदार्य, क्षमा एव दया का उपदेश जनता को सुनाया।

---

1 पतिव्रता वह जानिये आज्ञा करै न भग।
पिय अपने के रग रतै और न सोहै ढग॥

2 अपने पिय कू सेइये, आन पुरुस तजि देह।
पर घर देह निवारिये रहिए अपने गेह॥

3 आज्ञाकारी पीव की रहै पिया के सग।
तन मन सू सेवा करै और न दूजो रग॥

4 रग होय तो पीव को आन पुरुष विष रूप।
छांह बुरी पर घरन की अपनी भली जु धूप॥

द्वितीय अध्याय

चरनदास का जीवन-चरित्र

चरनदास के जीवन-चरित्र पर हिन्दी साहित्य के कतिपय पाश्चात्य एव भारतीय इतिहासकार विद्वानों ने प्रकाश डाला है, जिनमें विशेषरूपेण उल्लेखनीय है सर्वश्री जेम्स हेस्टिंग्ज, एच० एच० विल्सन, विलियम क्रुक्स, सर ए० जा० ग्रियर्सन, क्षितिमोहन सेन, पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, गणेश प्रसाद द्विवेदी, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, भुवनेश्वर मिश्र माधव, शिवशकर मिश्र, सम्पादक सत-वानी-सग्रह, रामकुमार वर्मा, अयाध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध," तथा सम्पादक योगांक (कल्याण)। इनके अतिरिक्त साहित्य के अन्य इतिहासकारो ने भी चरनदास के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में अपने अभिमतों का उल्लेख किया है जो मुख्यतया इन्हीं उपर्युक्त लेखको की रचनाओं पर आधारित है। किसी विशेष खाज का प्रतिफल न होने के कारण उनका उल्लेख महत्वहीन होगा।

चरनदास के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले अन्य व्यक्तियो में विशेष रूप से उल्लेखनीय चरनदासी-सम्प्रदाय के शिष्य कवि सर्वश्री रामरूप (साम्प्रदायिक नाम गुरुभक्तानन्द) सहजोबाई तथा शिवदयालु गौड़ (साम्प्रदायिक नाम सरस माधुरी शरण) ह।

चरनदास के जीवन-चरित्र पर कवि की रचनाओ से एक अन्तस्साक्ष्य भी उपलब्ध होता है। यह अन्तस्साक्ष्य केवल एक छन्द में सीमित है। इसमें कवि ने केवल अपने गुरु, माता, पिता और जन्म स्थान मात्र का उल्लेख किया है। इसमे सन्, सवता आदि का पूर्णतया अभाव है। यह अन्तस्साक्ष्य जहां एक ओर अपूर्ण प्रतीत होता है वहा दूसरी ओर हमारी खोज के विषय मे अत्यधिक सहायक और ठोस आधार प्रदान करता है।

वर्तमान साहित्य के इतिहासकारों मे (जिनमे पश्चात्य और भारतीय सभी विद्वान सम्मिलित हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) सभी एकमत हैं और कवि के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले साम्प्रदायिक लेखकों (श्री रामरूप गुरुभक्तानन्द, श्री सहजोबाई रूप माधुरी तथा श्री शिव दयालु गौड़, सरस माधुरी शरण) से सहमत हैं। इन विद्वानो ने कहीं पर भी कोई

मतभेद उपलब्ध नहीं होता है। अतएव कवि की जीवनी निश्चित करने में कोई विशेष कठिनाई और दुविधा नहीं रह जाती है।

इस सक्षिप्त, अपूर्ण तथा अपर्याप्त अन्तस्साक्ष्य के अनन्तर, कवि की जीवनी पर सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रथ हैं सर्वश्री रामरूप (गुरुभक्तानन्द) कृत 'गुरु-भक्ति प्रकाश' तथा सहजोबाई का एक पद जिसमें कवयित्री ने अपने गुरु के जन्म और उसके महत्व का बडे श्रद्धापूर्ण शब्दो मे उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ कवि के जीवन पर गम्भीर एव व्यापक प्रकाश डालता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' कवि की जीवनी पर सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका उल्लेख सम्पादक 'सन्तबानी सग्रह'[1], सर जार्ज ए० ग्रियर्सन[2] एवं रूपमाधुरी शरण[3] ने भी किया है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' की प्रामाणिकता पर विचार करने के पूर्व श्री रामरूप जी के विषय में परिचय दे देना आवश्यक हागा।

रामरूप जी चरनदास जी के सर्वप्रिय शिष्य थे। श्री रूप माधुरी शरण के शब्दा मे, "जब रामरूप जी दस बरस के भये तब महाराज के मन मे ऐसी आई कि श्री श्यामचरनदास जी की शरण में जाके भजन करूँ, सो रामरूप जी श्री महाराज की शरण मे आ गए श्री महाराज ने कृपा करके मत्रोपदेश किया, कठी तिलक दिया और बड़े प्रेम से अपने पास रक्खे और बेग ही आपको पढा लिया, ज्ञान, ध्यान, योग, सब सिखला दिया और प्रेम मे डुबो दिया और आपको अपने ग्रन्थ की सेवा सौंपी सो रामरूप जी ग्रन्थ लिख-लिख के भक्तों को बाँट देते .सो रामरूप जी श्री महाराज के ऐसे कृपापात्र भये इनकी महिमा कहाँ तक लिखे।[4]"

---

1. चरनदास जी की बानी, प्रथम भाग, बेलवेडियर, प्रेस। १६०८। पृष्ठ २, भूमिका खड
2. इन्साइक्लापीडिया आफ रिलिजन एड एथिक्स, जे० हेस्टिग्ज, भाग ३, पृष्ठ ३६५
3. श्री महाराज ने आपको गुरु भक्तानन्द नाम दान दिया और फिर एक दिन बहुत प्रसन्न होके आज्ञा दीनी कि तुम वाणी रचो सो श्री स्वामी रामरूप जी महाराज ने श्री मुक्ति मार्ग ग्रन्थ की रचना करी बड़ी ही प्रभावशाली आनन्द की भरी हुई बानी है। दूसरा ग्रन्थ श्री गुरु भक्ति प्रकाश बनाया जिसमे श्री महाराज का जीवन चरित्र वर्णित है।

   महन्त गगादास के पास सुरक्षित अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु-महिमा'
4. 'गुरु-महिमा' (अप्रकाशित) ग्रन्थ से

श्री रूप माधुरी शरण के द्वारा दिए गए इस परिचय से प्रकट होता है कि रामरूप जी चरणदास जी के बड़े ही प्रिय शिष्य थे। सम्प्रदाय के वर्तमान शिष्यों में भी यही भावना प्रचलित है। रामरूप जी ने स्वतः 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में आत्म-परिचय का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है। रामरूप जी के आत्म परिचय से रूप माधुरी शरण के उपयुक्त उद्धरण मे प्रतिपादित विचार-धारा और अभिमत का समथन होता है।

अठारह ने अरु ग्यारहवें सवत की यह बात।
रामरूप भये वैष्णव छाडि मोह जग जात॥
महाराज हित करि बैठाया। बांधी कठी तिलक लगाया॥
मतर सरवन माहि सुनाया। नीकी विधि नित नेम बताया॥
शील प्रसाद आपना दीया। सबही भांति दास मोहि कीया॥
फिरि मोको लिया बेग पढाया। दीने आसन भी सधवाया॥
योग विद्या सबै सधाई। ज्ञान भूमिका हू समझाई॥
अपना मत्री ही किया दिया निकट विश्राम।
गुरु भक्तानन्द नाम रखि दिया ग्रन्थ का काम॥
दिन दिन प्यार हेतु बहुत करै। पच्छी की ज्यों पजा धरै॥
कमठ दृष्टि हो देखे मोय। अडे की बुधि दीनी खोय॥
पर काठे पच्छी की भांति। साध मते की आई शांति॥
होय भिरगी मोको सेया। प्रेम सुधा में अधिकी भेया॥
उपदेश करन की आज्ञा दीनी। मैंहूँ सो माथे धरि लीनी॥
चरण कमल का राखू ध्यान। गुरु सेवा बिन और न आन॥
पन्द्रह वर्ष सेवन चित्त दीना। बिन आज्ञा कोई काज न कीना॥
पन्द्रह वर्ष ही पास रख फिर आज्ञा दई जाव।
तारन तरन कहाय के भूले जीव चिताव॥
हित सो पास बुलाय के टोपी धर कर शीश॥
नाव जु रामरूप मोहि किया बकशीश॥

गुरु भक्तानन्द रामरूप ये दो बकसें नांव।
चरणदास के नाम पर बार बार बलि जांव॥

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रामरूप जी चरनदास जी के बड़े कृपा-पात्र थे और लगभग १५ वर्ष तक दोनों व्यक्तियो का बड़ा निकट सम्पर्क रहा। चरनदास के प्रिय शिष्यो में रामरूप जी का सर्वप्रथम उल्लेख होता है। उपर्युक्त उद्धरण को पढ़ने से ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने रामरूप जी का पालन-पोषण

शिक्षा-दीक्षा बड़े ध्यान और लगन के साथ किया था। रामरूप जी का दीक्षा-सस्कार सवत १८११ में हुआ। इस समय चरनदास जी की अवस्था ५१ वर्ष की थी। साधन-पथ पर अग्रसर हुए उन्हें प्रायः ४० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। रामरूप जी ने श्रुतज्ञान और अनुभूति के आधार पर चरनदास जी का जीवन चरित लिखा। चरनदासी सम्प्रदाय में उल्लेख हो चुका है कि चरनदास जी ने अपने सम्प्रदाय की स्थापना लगभग सन् १७३८ मे (सवत् १७६५) में की थी और रामरूप जी की दीक्षा तिथि सवत् १८११ है। अतएव निश्चित है कि रामरूप जी ने 'गुरु-भक्ति प्रकाश' की रचना पर्याप्त अनुभव, नैकट्य एव सम्पर्क प्राप्त करने के पश्चात् की। ग्रन्थ की रचना के विषय में रामरूप जी के विचार पठनीय हैं। इन विचारा की व्याख्या से प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता और भी दृढ हो जाती है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' के प्रारम्भ में ग्रन्थ के रचना का लक्ष्य और प्रसग का उल्लेख करते हुए कवि रामरूप जी ने लिखा है :—

एक दिना मम हिये मे ऐसी उपजो बात।
मन हरषों हुलसो हियो यही करन कूं काथ ॥
रामत मे रमता हुता हूवांई उठा विचार।
लीला गुरु चरित्र की कछुक कहू उच्चार ॥
गुरु भाई जो संग थे जिन सू पूछी बात।
मेरे मन यही बासना कहूँ जु ऐसी काथ ॥
यह सुन सब परसन भये दई जु अज्ञा मोहि।
हत्थ जोड़ फिर मैं कही तुम्हरी किरपा होहि ॥
अरु गुरु भाई दूर थे छोटे बड़े जु जान।
उनके चरणन को हिये मैं करि लीनो ध्यान ॥
ध्यान माहिं मैं या कहीं यही जु मेरी बास।
तुम सब गुरु समान हो पूरी कीजै आस ॥
आयुष ले पोथी कही सो अब करूँ बखान।
सावधान होके सुनो सब ही सत सुजान ॥
अठारह सै छब्बीस ही सवत था वह द्यौस।
जब ही सू कहने लगा अपने मन की हौस ॥
साढ महीना शुक्ल पक्ष बृहस्पति वारी तीज।
कछुक वाही दिन विषे बोया याका बीज ॥
अनभै सींचन ही लगी बढ़ने लगी पौध।
पुस्तक बनने ही लगा अक्षर बिन्दी शोध ॥

उपर्युक्त उद्धरण में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। सर्वप्रथम यह कि ग्रन्थ का रचनाकाल बृहस्पतिवार तीज, अषाढ़ शुक्ल पक्ष संवत् १८२६ है। इतिहासकारों के मतानुसार चरनदास की मृत्यु-तिथि संवत् १८३६ है। इसका तात्पर्य यह है 'गुरु-भक्ति प्रकाश' ग्रन्थ की रचना, चरनदास के जीवन-काल में ही मृत्यु से १३ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी। अतः चरनदास के सर्वप्रिय एवं सबसे निकट शिष्य द्वारा उन्हीं के जीवन-काल में लिखित जीवन-चरित के विषय में कोई सन्देह का अवसर नहीं रह जाता है। इस दृष्टिकोण से भी रामरूप जी का प्रस्तुत ग्रन्थ सबसे अधिक अधिकृत सूत्र है, जिसके आधार पर हम कवि का चरित्र या चरित निश्चित कर सकते हैं। उद्धरण की अंतिम पंक्ति से स्पष्ट है कि रामरूप जी ने ग्रन्थ के शुद्ध-लेखन के प्रति विशेष ध्यान रखा था। यह तथ्य ग्रन्थ की प्रामाणिकता को और भी पुष्टि प्रदान कर देता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में यत्र-तत्र अतिरंजना भी उपलब्ध होती है। वर्णन में अतिरंजना विशेष रूपेण दो स्थलों पर प्राप्त होती है। प्रथम है चमत्कारों के वर्णन में और द्वितीय है चरनदास की ख्याति के विषय में। इसका मुख्य कारण यह है कि राम रूप जी चरनदास के प्रिय तथा भक्त-हृदय व्यक्ति थे। गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा होना बहुत ही स्वाभाविक बात है। अतएव अतिरंजना पूर्ण स्थल, वर्णित तथ्यों एवं घटनाओं के मूल्यांकन में किसी प्रकार भी बाधक नहीं सिद्ध हो सकते।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' एक प्रकाशित रचना है। परन्तु इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ के लेखक को दिल्ली में इस 'गुरु भक्ति प्रकाश' की ४ प्रतियां, कानपुर में एक प्रति, लखनऊ में एक प्रति, बनारस में एक प्रति उपलब्ध हुई है। ज्ञात हुआ है कि बहादुरपुर, डेहरा, अलवर और अजमेर प्रदेश में इस ग्रन्थ की प्रतियां घर-घर में उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ का पाठ इन प्रदेशों में उसी प्रकार होता है जैसे अवध प्रदेश के श्रद्धालु और भक्त हिन्दू गृहस्थों के यहां 'राम-चरित्र मानस' का पाठ होता है। इस ग्रन्थ के लेखक ने स्वयं दिल्ली में महन्त गुलाब दास, महन्त गंगादास तथा श्री गणेशदत्त मिश्र के यहां चार भिन्न-भिन्न प्रकार की हस्तलिखित प्रतियां देखी है। इन समस्त प्रतियों में श्री गणेशदत्त मिश्र की प्रति सबसे प्राचीन है। इस प्रति का प्रतिलिपि काल चरनदास की मृत्यु (संवत १८३६) के तीन वर्ष बाद संवत १८४२ है इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता अजपादास जी थे। श्री रूप माधुरी शरण अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु-महिमा, में अजपादास जी का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया हुआ है।

"अजपादास जी श्री रामरूप जी महाराज के परम प्रिय शिष्य भये, श्री गुरु महाराज की शरण में आके दिन रैन भजन स्मरण में व्यतीत करते, श्री स्वामी

जी की कृपा से प्रेम की लगन हृदय में अत्यन्त बाढी 'सो श्री अजपादास जी श्री स्वामी जीके ऐसे कृपापात्र भये जिनको आपने साक्षात्‌दिव्य रूप के दर्शन कराये, इनकी महिमा कहाँ तक लिखे।"

इस प्रति को अजपादास जी ने स्वपठनार्थ प्रस्तुत किया था जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है।

"इति श्री गुरुभक्तानद किरत गुरुभक्ति प्रकास सम्पूरन स्वपाठार्थ लिखा सवत्‌ १८४२ फागुन शुक्ल पक्षे। जैसा देखा वैसा लिख दिया। मम दोष न दीयते। जै श्री गुरु महाराज चरनदास जी। जै गुरु महाराज श्री गुरु भक्तानन्द जी महाराज।"

इस प्रति और प्रकाशित प्रति मे विषय सम्बन्धी कोई विशेष अन्तर नही है। फिर भी लेखक ने श्री अजपादास द्वारा प्रस्तुत की गई इस प्रति का अपने अध्ययन का आधार बनाया है। अतएव इसी प्रति के आधार पर हम कवि की जीवनी और चरित को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

चरनदास का जन्मस्थान

चरनदास का जन्म-स्थान मेवात प्रदेशान्तर्गत अलवर नगर से तीन कोस दूर डेहरा नामक ग्राम है। इस सम्बन्ध में चरनदास जी लिखित एक अन्तस्साक्ष्य विचारणीय है। कवि के शब्दों मे।

डेहरे मेरो जन्म नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो॥
बाल अवस्था माहिं बहुरि दिल्ली मे आयो।
रमत मिले शुकदेव नाम चर्णदास धरायो॥
जोग जुगति कर भक्ति कर ब्रह्म ज्ञान दृढ कर गह्यो।
आतम तन विचार के अजपा ते तनमन रह्यो॥

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पक्ति में कवि ने अपना जन्म स्थान डेहरा ग्राम लिखा है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' के लेखक ने कुछ विस्तार के साथ कवि के जन्म-स्थान का परिचय निम्नलिखित शब्दो में किया है।

मेवत देश मे अलवर पासा।
डेहरा गाव जु अधिक सुवासा॥
ताके निकटै सरिता बहै।
जित की सृष्टि महासुख लहै॥

आस पास बहु बाग सुहावै ।
फूलै फलै हरष छवि छावै ॥
ताके जन्म लियो सुखदाई ।
रामरूप तिकी शरणाई ॥

रामरूप जी की भाति चरनदासी-सम्प्रदाय के अन्य कवियो और लेखको में सहजोबाई[१], रूपमाधुरी शरण[२] तथा शिव दयालु गौड़[३] उल्लेखनीय हैं। इन लेखको ने भी कवि का जन्म स्थान डेहरा ग्राम ही माना है। क्षितिमोहन सेन[४] जेम्स हेस्टिग्ज,[५] पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल,[६] विलियम क्रुक्स,[७] ग्रियर्सन,[८] गणेश

---

१. सखी री, आज धन धरती धन देसा ।
धन डेहरा मेवात मझारे, हरि आए जन भेसा ॥

२. सो श्री श्याम चरणदास जी महाराज श्री शुकदेव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकाचार्य्य मेवात देश में अलवर से तीन कोस डेहरा नाम के ग्राम में प्रगट भये।
गुरु महिमा (अप्रकाशित ग्रन्थ)

३. नाम ग्राम डहरे विषै, घर घर मंगल चार।
विविध बधाई गुनिनमिल, गाई भली प्रकार।

४. In 1703 Charan Das was born in a village named Dabia (or Dehra) in the Alwar State of Rajputana.
The Medieval Mysicism of India, p-145

५ He was born at Dahera in Alwar and was named Ranjit by his parents
Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol. 3, p-366

६ Charan Das was a Dhusar Bania who was born at Dehra in Kotwa (Rajputana) in 1703.
Nirgun School of Hindi Poetry, p- 266

७ A Vaishnava sect which takes it name from its founder Charan Das of Dhusar Caste who was born at Dehra in Alwar State in 1703.
Tribes and Castes of N. W. P. and Oudh,
W. Crooks, p-201

८ He was born at Dahera in Alwar and was named Ranjit by his parents.
'श्री-शुकदेव-सम्प्रदाय-प्रकाश,' पृष्ठ ४

प्रसाद द्विवदी,[1] प्रभुदत्त ब्रह्मचारी,[2] रामकुमार वर्मा,[3] सम्पादक सतबानी सग्रह,[4] शिव शकर मिश्र [5] सम्पादक योगाक (कल्याण)[6] तथा माधव [7] उक्त मत समर्थक है।

चरनदास के जन्मकाल के विपय मे कोई अन्तस्साक्ष्य नही उपलब्ध हाता। ऊपर कहा जा चुका है कि साम्प्रदायिक विद्वानों में सबसे प्रामाणिक मत श्री रामरूप जी का है। रामरूप जी के मतानुसार चरनदास का जन्म मगलवार भादो सुदी तीज सबत १७६० वि० को सूर्योदय के सात घडी (घण्टा) पश्चात तुला लग्न में हुआ। रामरूप जी के ही शब्दो मे।

भादौ तीज सुदी जबै आया मगल चौस।
माता पिता अरु कुटुम्ब की पूरी कीनी हौस॥
सात घडी सूरज चढे लियो भक्त औतार।
नर नारी पुल्कित भये करन लगे त्यौहार॥

---

1. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २-३
2. राजपूताने के मेवात देश म डहरा नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम में ढूसर बनिया के बहुत से घर हैं। उन्ही परिवारो से एक परिवार मे मुरली नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए कुजो के गर्भ से बालक उत्पन्न हुआ।
   भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२
3. ये सत डेहरा (अलवर) के निवासी थे।
   हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय सस्करण पृष्ठ ४०५
4. गुरु चरनदास जी का जन्म राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामी गाँव में एक प्रसिद्ध ढूसर कुल मे हुआ था चरनदासजी की वानी, प्रथम भाग
   पृष्ठ १
5. इस पथ के स्थापक का जन्म अलवर के निकटवर्ती डेहरा नामक ग्राम मे हुआ था।
   भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास, पृष्ठ ३३२
6. चरनदास जी का जन्म सवत् १७६० मे राजपूताना के मेवात देश के डहरा नामक गाँव में ढूसर कुल मे हुआ था।
   कल्याण योगाक, पृष्ठ ८१६
7. महात्मा चरनदास जी उन्ही आत्मदर्शी सतो मे हैं जिन्हाने परमात्मा के परिचय में ही अपना सारा जीवन लगाया। मेवात (राजपूताना) के डेहरा गाव में इनका जन्म १७६० वि० स० के लगभग हुआ था।

सत्रह सै अरु साठ का संवत् धरा बनाय ।
भादौं तीज सुदी शुभ मगल सात घड़ी दिन आय ।।
शुभ समय तुला राशि रख नाम धरा रणजीत ।
है है बड़ा नछत्री दाता हरि का . मीत .।।

उपर्युक्त उद्धरण में रामरूप जी ने विस्तार के साथ जन्म-तिथि, सवत्, दिन, बार,लग्न और समय का बड़े स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप से उल्लेख कर दिया है । चरनदास के चरित पर अन्य किसी लेखक ने इतने विस्तार के साथ अपने अभिमत का उल्लेख नहीं किया है ।

सहजोबाई ने अपने सद्गुरु चरनदास के जन्मकाल का तो उल्लेख किया है, परन्तु जन्म-सवत का उल्लेख नहीं किया है, जैसा कि प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है ।

सखी री आज धन धरती धन देशा ।
धन डेहरा मेवात मझारे, हरि आए जन भेसा ।।
धन भादों धन तीज सुदी है, धन दिन मंगल कारी ।।

इस उद्धरण की अंतिम पंक्ति में कवयित्री ने भादो तीज सुदी मंगलवार चरन-दास की जन्म तिथि निश्चित की है । सहजोबाई लिखित यह तिथि रामरूप जी लिखित तिथि से पूर्ण साम्य रखती है । अतएव संवत का उल्लेख न होते हुए भी दोनों के मत में पूर्णरूपेण साम्य है । रूप माधुरी शरण के अनुसार, "संवत् १७६० भादों सुदी ३ मंगलवार को सात घड़ी सूरज चढ़े आपने जन्म लिया । आपके जन्म के समय भुवन में चन्द्रमा का सा प्रकाश हो गया और देवताओं के मुख से वेद ध्वनि सुनाई दई ।"[1] प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि रूप माधुरी शरण का रामरूप जी से पूर्ण मत-साम्य है । चरणदासी शिष्यों के मत परीक्षण में शिवदयालु गौड़ का मत भी विचारणीय है । गौड़ जी के मत से चरनदास का जन्मकाल वही है, जिसका उल्लेख रामरूप जी अथवा सहजोबाई ने किया है । प्रमाण के रूप में लेखक की निम्नलिखित पक्तियों को उद्धृत करना असगत न होगा ।

भादों शुक्ला तीज को, कुंजो कूख मंझार ।
बालनाम रणजीत घर, प्रकटे कृष्ण मझार ।।
सवत सत्रह सौ गिनौ, ऊपर साठ पिछान ।
प्रकटे भार्गव वंश मे, कृष्ण वश प्रभु आन ।।

१. गुरु महिमा (अप्रकाशित ग्रन्थ).

प्रसाद द्विवदी,[१] प्रभुदत्त ब्रह्मचारी,[२] रामकुमार वर्मा,[३] सम्पादक सतबानी सग्रह,[४] शिव शकर मिश्र [५] सम्पादक योगाक (कल्याण)[६] तथा माधव [७] उक्त मत समर्थक है।

चरनदास का जन्मकाल

चरनदास के जन्मकाल के विपय मे कोई अन्तस्साक्ष्य नही उपलब्ध हाता। ऊपर कहा जा चुका है कि साम्प्रदायिक विद्वानो मे सबसे प्रामाणिक मत श्री रामरूप जी का है। रामरूप जी के मतानुसार चरनदास का जन्म मगलवार भादों सुदी तीज सवत १७६० वि० को सूर्योदय के सात घडी (घण्टा) पश्चात तुला लग्न मे हुआ। रामरूप जी के ही शब्दों मे।

भादौ तीज सुदी जबै आया मगल द्यौस।
माता पिता अरु कुटुम्ब की पूरी कीनी हौस ॥
सात घडी सूरज चढे लियो भक्त औतार।
नर नारी पुल्कित भये करन लगे त्यौहार ॥

---

१ हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २-३

२. राजपूताने के मेवात देश म डहरा नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम मे ढूसर बनिया के बहुत से घर हैं। उन्हीं परिवारो से एक परिवार मे मुरली नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए कुजो के गर्भ से बालक उत्पन्न हुआ।
भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

३. ये सत डेहरा (अलवर) के निवासी थे।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितोय सस्करण पृष्ठ ४०५

४. गुरु चरनदास जी का जन्म राजपूताना के मेवात देश क डेहरा नामी गांव मे एक प्रसिद्ध ढूसर कुल मे हुआ था चरनदासजी की बानी, प्रथम भाग पृष्ठ १

५. इस पथ के स्थापक का जन्म अलवर के निकटवर्ती डेहरा नामक ग्राम म हुआ था।
भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास, पृष्ठ ३३२

६. चरनदास जी का जन्म सवत् १७६० म राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामक गॉव में ढूसर कुल म हुआ था।
कल्याण योगाक, पृष्ठ ८१६

७ महात्मा चरनदास जी उन्ही आत्मदर्शी सता मे है जिन्हाने परमात्मा के परिचय में ही अपना सारा जीवन लगाया। मेवात (राजपूताना) के डेहरा गांव मे इनका जन्म १७६० वि० स० के लगभग हुआ था।
सत साहित्य, पृष्ठ १११

सत्रह सै अरु साठ का सवत् धरा बनाय ।
भादौ तीज सुदी शुभ मगल सात घड़ी दिन आय ॥
शुभ समय तुला राशि रख नाम धरा रणजीत ।
ह्वै है बड़ा नक्षत्री दाता हरि का मीत ॥

उपर्युक्त उद्धरण में रामरूप जी ने विस्तार के साथ जन्म-तिथि, सवत्, दिन, वार, लग्न और समय का बडे स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप से उल्लेख कर दिया है। चरनदास के चरित पर अन्य किसी लेखक ने इतने विस्तार के साथ अपने अभिमत का उल्लेख नहीं किया है।

सहजोबाई ने अपने सद्गुरु चरनदास के जन्मकाल का तो उल्लेख किया है, परन्तु जन्म-सवत का उल्लेख नहीं किया है, जैसा कि प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है।

सखी री आज धन धरती धन देशा ।
धन डेहरा मेवात मझारे, हरि आए जन भेसा ॥
धन भादों धन तीज सुदी है, धन दिन मंगल कारी ॥

इस उद्धरण की अंतिम पंक्ति में कवयित्री ने भादो तीज सुदी मगलवार चरनदास की जन्म तिथि निश्चित की है। सहजोबाई लिखित यह तिथि रामरूप जी लिखित तिथि से पूर्ण साम्य रखती है। अतएव सवत का उल्लेख न होते हुए भी दोनो के मत मे पूर्णरूपेण साम्य है। रूप माधुरी शरण के अनुसार, "संवत् १७६० भादों सुदी ३ मंगलवार को सात घडी सूरज चढे आपने जन्म लिया। आपके जन्म के समय भुवन में चन्द्रमा का सा प्रकाश हो गया और देवताओं के मुख से वेद ध्वनि सुनाई दई।"[1] प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि रूप माधुरी शरण का रामरूप जी से पूर्ण मत-साम्य है। चरणदासी शिष्यों के मत परीक्षण में शिवदयालु गौड़ का मत भी विचारणीय है। गौड जी के मत से चरनदास का जन्मकाल वही है, जिसका उल्लेख रामरूप जी अथवा सहजोबाई ने किया है। प्रमाण के रूप मे लेखक की निम्नलिखित पक्तियो को उद्धृत करना असगत न होगा।

भादो शुक्ला तीज को, कुंजो कूख मझार ।
बालनाम रणजीत धर, प्रकटे कृष्ण मझार ॥
सवत सत्रह सौ गिनौ, ऊपर साठ पिछान ।
प्रकटे भार्गव वंश मे, कृष्ण वश प्रभु आन ॥

---

[1]. गुरु महिमा (अप्रकाशित ग्रन्थ)

वर्तमान काल के लेखकों मे क्षितिमोहन सेन[१], जेम्स हेस्टिग्ज,[२] विलियम क्रुक्स[३], सर जार्ज ग्रियर्सन[४], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[५], गणेश प्रसाद द्विवेदी[६], प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[७], रामकुमार वर्मा[८], भुवनेश्वर माधव[९], सम्पादक सत-बानी-सग्रह[१०] एव सम्पादक योगांक (कल्याण)[११] का 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' के लेखक श्री रामरूप जी से पूर्ण मत-साम्य है। इनमें से अधिकाश लेखकों ने जन्म-संवत मात्र का उल्लेख

---

१. In 1703 Charan Das was born in a village named 'Dahra... in the Alwar State of Rajputana.

The Medieval Mysticism of India by K. M. Sen, p. 145

२. Charan Das was born in A 1703 and died in 1782.

The Eneyclopedia of Religion and Ethics by James Hastings, Vol. 3, p. 365

३. A Vasshnava Sect which takes its name from its founder Charan Das of Dhusar Caste who born at Dehra in Alwar State in 1703.

Tribes and Castes of N.W P. and Oudh, Vol. II, p 201

४. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश' पृष्ट २

५. Charn Das was a Dhusar Bania who was born at Dehra in Kotwa (Rajputana) in 1703.

Nirgun School of Hindi Poetry p. 266

६. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

७. संवत् १७६० में भाद्रपद शुक्ल तृतीया मगलवार के दिन भाग्य मुरलीधर के ··· ···बालक उत्पन्न हुआ।

भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

८ इनका जन्म संवत् १७६० में हुआ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास। द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४०५

९. मेवात (राजपूताना) के डेहरा गांव में इनका जन्म १७६० वि० स० के लगभग हुआ था।

'सत साहित्य' पृष्ठ १११

१०. गुरु चरनदास जी का जन्म · दिन भादो सुदी ३ मगलवार सवत १७६० विक्रमी मुताबिक सन् १७०३ ईसवी के था।

चरनदास जी की बानी भाग १, पृष्ठ १

११. चरनदास जी का जन्म सवंत १७६० में···हुआ था।

योगांक (कल्याण) पृष्ठ ८१६

कर दिया है और कुछ ने तिथि-वार का भी उल्लेख किया है। जो भी हो, उनके दृष्टिकोण में कोई मत-वैषम्य नहीं उपलब्ध होता है।

माता-पिता

चरनदास की माता का नाम श्रीमती कुंजो देवी और पिता का नाम मुरलीधर जी था। चरनदास की जीवनी पर प्रकाश डालने वाले सभी लेखक इस विषय पर एक मत हैं। चरनदास ने आत्मपरिचय देते हुए अपने पिता का नाम मुरलीधर स्वीकार किया है।[१] परन्तु आश्चर्य का विषय है कि उन्होंने अपनी माता का नाम नहीं लिखा है। इस विषय पर रामरूप जी ने 'गुरुभक्ति-प्रकाश' में सविस्तार प्रकाश डाला है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियों से चरनदास के वंश-वृक्ष का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

सूबस बास बहुत सुखदाई। जहां विराजै शोभन राई॥
गृहस्थ आश्रम हो के माहीं। ऐसी प्रेम भक्ति जिन पाहीं॥
तिन सो चतुरदास भये ज्ञानी। ताके सुत गिरिधर परमानी॥
गिरिधर के लाहड़ बड़ भागी। नवधा भक्ति माहि अनुरागी॥
जगनदास तिनके सुत जानौ। उनके प्रागदास पहिचानौ॥
जिनके मुरलीधर सुत भये। सो भी सदा भक्ति में रहे॥
ताके जनम लियो सुखदाई। रामरूप तिनकी शरणाई॥

इस वर्णन के आधार पर चरनदास के पितृपक्ष का निम्नलिखित वंशवृक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है।

शोभन राय
|
चतुरदास
|
गिरिधर
|
लाहड़
|
जगनदास
|
प्रागदास
|
मुरलीधर
|
चरनदास (अथवा रणजीत)

---

१. डेहरे मेरे जनम नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो॥

रामरूप जी के मतानुसार चरनदास की माता कुजों देवी थी जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से ज्ञात होता है।

कुजो माई अति बढ़ भागी। सदा रहै मन मे अनुरागी ॥
सती सुभाव शील मे ऊची। मधुर वचन भोलापन सूची ॥

सहजोबाई ने बडे ही ललित शब्दों में माता कुजों तथा पिता मुरलीधर को अभिनन्दित किया है, जिनकी कोख मे चरनदास जैसा यशस्वी तथा तपस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ।[1] रूपमाधुरी शरण[2] तथा शिवदयालु गौड[3] भी इस विषय पर एकमत हैं। इन दोनो व्यक्तियो ने चरनदास के जन्म से सम्बन्धित दो रोचक कथाओ का भी उल्लेख किया है जिससे इस तर्क के युग मे श्रद्धा और भावना की वस्तु निर्धारित होती है।

चरनदास के माता-पिता, उनके नाम और व्यक्तित्व के विषय मे सर्वश्री क्षितिमोहन सेन[4], जेम्स हेस्टिंग्ज[5], विलियम क्रुक्स[6], जार्ज ग्रियर्सन[7], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[8], गणेशप्रसाद द्विवेदी[9], रामकुमार वर्मा[10], प्रभुदत्त

---

१. धन माई कुजो रानी धन मुरलीधर तात ॥

२ "श्री शोभन जी भक्त को जो बरदान श्री ठाकुर जी ने दिया था कि तेरी आठवी पीढ़ी मे मैं अशरूप से अवतार लेऊँगा, सोई शोभन जी आठवीं पीढ़ी में श्री महाराज श्यामचरणदास जी अवतेरे। आपके पिता का नाम श्री मुरलीधर और माता का नाम कुजोरानी था।"

३. शोभन जी के कुल विवै, अष्टम पीढ़ी अन्त ॥
मुरलीधर घर प्रगट भे, श्याम रूप धर सन्त।
स्वप्न माहि दर्शन दिये, कुजो को श्री श्याम।
तुमरे प्रगट् पुत्र हो, सुनहु मातु सुख धाम ॥

४. Medeival Mysticism of India by K M. Sen 145

५. His father's name was Murli Dhar and his mothers, Kunjo
Encyclopedia of Religion and Ethics. James Hastings
Vol. 3, p 366

६. His father Murli Dhar who died when he was only five years old .
Tribes and Castes of N W P and Oudh, p. II. page 201

७. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश,' पृष्ठ ५
H . father's name was Murli Dhar and mother's Kunjo.
Nirgun School of Hindi poetry, p.266

९. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

१० इनके पिता का नाम मुरली था जो धूसर बनिया थे ···
हिन्दीसाहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सस्करण २, पृ० ४०५

ब्रह्मचारी[1], सम्पादक सतबानी[2] तथा सम्पादक योगांक[3] (कल्याण) एकमत से रामरूप जी के अभिमत से सहमत है। इन लेखको मे क्षितिमोहन सेन, विलियम क्रुक्स, रामकुमार वर्मा, तथा सम्पादक योगांक (कल्याण) ने केवल इनके पिता के नाम का उल्लेख किया है। परन्तु पिता के व्यक्तित्व के विषय मे पूर्णतया सहमत है।

जातिः—

सत कबीर के मतानुसार :—

जाति न पूछो साधु की पूछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पडी रहन दो म्यान ॥

और सत दादू के शब्दो मेः—

जे पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात ॥

सत्य तो यह है कि जिन्होंने स्वतः अपने शरीर, ससार, बन्धु बाधनो का परित्याग जीते जी कर दिया है, उनके लिये क्या जाति क्या वर्ग ? परन्तु सैकडो वर्षों से प्रयत्नशील रहने पर भी हम आज उस बन्धन को तोड कर ऊपर नही उठ पाये। हमारा समाज उसी अभिशाप से आज भी अभिशप्त है जिससे कबीर का समाज व्यथित था। जाति-पाति की भावना छाया के समान हमारे साथ सदैव से लगी चली आ रही है।

चरनदास जी का जन्म ढूसरे वैश्य-कुल मे हुआ था। आत्म परिचय में स्वतः कवि ने कहा है :

डेहरे मेरो जनम नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान-जात ढूसर पहिचानो ॥

सहजोबाई ने भी चरनदास को ढूसर वैश्य कुलोत्पन्न माना है—

धन ढूसर कुल बालक जनम्यौं, फुल्लित भए नर नारी।

रामरूप जी ने अपने गुरु की जाति का उल्लेख करने का कही भी प्रयत्न नहीं किया है। रूप माधुरी शरण के मत से "श्री श्यामाचरण

---

1. उन्हीं परिवारों में से एक परिवार मे मुरलीधर नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए उनकी धर्म पत्नी का नाम कुजो देवी थी
भक्त चरित वली, भाग १, पृष्ठ ३४२

2. इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुजा था।
चरनदास जी की वानी, प्रथम भाग, पृष्ठ १

3. इनके पिता मुरलीधर जी की प्रवृत्ति सुमिरन ध्यान की ओर ही थी
योगांक (कल्याण) पृष्ठ ८१६

दासाचार्य जी भृगु ऋषि के वंश में प्रगट भये ताते भार्गव ब्राह्मण कहाये और ढूसर आपको इस वास्ते कहते हैं कि भृगु जी की स्त्री पुलोमा श्री च्यवन ऋषि की माता उसके नेत्रो से एक समय आंसुओं की धारा ऐसी चली कि उससे एक नदी बह चली। उस नदी का नाम (वधूसरा) कहा गया। उस वधूसरना नाम की नदी के किनारे रहने वालो का नाम (वधूसरा) भया सो यही शब्द बिगड़ते-बिगड़ते ढूसर हो गया। सो इससे ढूसर कहने लगे।"

इस तर्क को पढ जाने के अनन्तर भी हमारी आस्था और विश्वास कही पर इस बात पर नहीं टिकता कि चरनदास भार्गव या ब्राह्मण थे। पौराणिक अन्तर्गत कथाएँ चाहे जो भी हों परन्तु कवि द्वारा लिखित आत्म-परिचय और अन्तस्साक्ष्य यही निश्चय करता है कि ये ढूसर वैश्य कुलोत्पन्न थे। अतस्साक्ष्य के अभाव में कोई भी कल्पना कर सकते थे, परन्तु इस स्थिति में कवि के शब्द ही प्रमाण हैं।

वर्तमान लेखकों मे से क्षितिमोहन सेन[१] जेम्स हेस्टिंग्ज[२], जार्ज ग्रियर्सन[३] एच० एच० विल्सन[४], डब्ल्यू० कुक्स[५], रामकुमार वर्मा[६], गणेश प्रसाद द्विवेदी[७]

---

१ He came from a Bania family of Rewari and was known as Ranjit in his early life.

Medieval Mysticism of India, p. 145

२ They belonged to Dhusar tribe of the Baniya caste.

Encyclopedia of Religion and Ethics,

James Hastings, Vol. 3, p. 366

३. श्री शुकदेव-सम्प्रदाय-प्रकाश, पृष्ठ ४

४ Another Vaishnava Sect. . .was instituted by Charan Das a merchant of Dhusar Tribe who resided at Delhi in the reign of the Second Alamgir.

Essays and Lectures on Religion of the Hindus

Vol I—1862 p. 178

५. A Vaishnava sect which takes its name from its founder Charan Das of Dhusar Caste. ...

Tribes and Castes of N. W P and Oudh Vol. II, p 201.

६. इनके पिता का नाम मुरलो था जो धूसर बनिया थे।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४०५

७ हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[1] तथा सम्पादक सतवानी सग्रह[2] का मत है कि चरनदास दूसर वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। पीताम्बर दत्त बड़थ्वल, भुवनेश्वर माधव तथा सम्पादक योगाक (कल्याण) इस विषय पर मौन हैं।

नाम

साहित्य के पृष्ठो में चरनदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के तीन नामो का उल्लेख मिलता है। ये तीन नाम क्रमशः रणजीत, चरनदास और श्यामाचरण-दासाचार्य है।

कवि का रणजीत नाम उसके जन्म के समय ही निर्धारित किया गया था। इसके समर्थन में रामरूप जी की पुस्तक 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से निम्नलिखित पक्तिया उद्धृत करना असगत न होगा।

सत्रह है अरु सात संवत धरा बनाय।
भादौं तीज सुदी शुभ मगल सात घड़ी दिन आय॥
शुभ समय तुल राशि रख नाम धरा रणजीत।
हूवै है बड़ा नछत्री माता हरि का भीत॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जन्म के समय पर ही कवि का नाम कुल के आचार्य ज्योतिषी द्वारा रणजीत रखा गया।

रामरूप जी के मत से कवि का दूसरा नामकरण श्री सुकदेव जी ने सवत् १७७९ (१९ वर्ष की अवस्था) में दीक्षा देने के पश्चात किया। कवि का द्वितीय नाम चरणदास रखा गया।

छिपा भेद और कुछ दीया। सबविधि अपना महरम कीया।
ऐसे सतगुरु परम दयाल। अपने शिष्य को किया निहाल॥
सब विधि करि के मेटी प्यासी। सवत सत्रह सै उन्नासी॥
चैत महीने के मध्य माही। पडवा बृहस्पति वार सुहाही॥
नाम दूसरा चरन ही दासा। भक्ति माह हूजो परकासा॥
हरि के चरण कवल करि बासा। जग सा रहियों सदा उदासा॥

---

[1] राजपूताने के मेवात देश में डेहरा नाम का एक ग्राम मे दूसर बनियो के बहुत से घर हैं उन्ही परिवारों मे से एक परिवार में मुरलीधर नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए ...

भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

[2] गुरु चरनदास जी का जन्म राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामी गांव में एक प्रसिद्ध दूसर कुल में हुआ।

चरनदास जी की बानी, पृष्ठ १, भाग १

रामरूप जी के प्रस्तुत कथन का समर्थ रूपमाधुरी शरण के निम्नलिखित कथन से भी होता है।

"१६ वर्ष की अवस्था मे आपने श्री शुकदेव जी से विधिपूर्वक मन्त्र, कठी, उपदेश लिया और श्यामाचरणदास नाम प्राप्त किया।"

(गुरुमहिमा)

कवि के तृतीय नाम श्यामाचरण दासाचार्य का उल्लेख श्रद्धालु अनुयायियों ने किया है, जिनमे रूप माधुरी शरण, रामरूप जी शिवदयाल गौड तथा अनेक अन्य व्यक्ति उल्लेखनीय हैं।

बाल्यावस्था

रामरूप जी ने चरणदास जी की बाल्यावस्था का सविस्तार प्रायः ४० पृष्ठों मे वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि ने एक वर्ष से उन्नीस वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष का ब्यौरेवार वर्णन रोचक शैली में किया है। इतना विस्तृत वर्णन न तो रूपमाधुरी शरण जी ने किया है और न शिवदयालु गौड ने सहजोबाई ने तो इसके विषय मे एक शब्द भी नहीं लिखा। राम रूप जी ने चरणदास की बाल्यावस्था और जीवन के क्रमिक-विकास के प्रति उतना ही महत्व निश्चित किया है, जितना कि युवावस्था अथवा सिद्धावस्था के प्रति महत्व प्रदान किया है।

रामरूप जी के शब्दो में चरनदास जी एक वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही बाल्य सुलभ मधुर तोतले शब्द बोलने लगे थे। दूसरे वर्ष मे प्रवेश करते हो चलने की शक्ति का क्रमिक विकास हुआ। तृतीय वर्ष की अवस्था मे बालक चरनदास समवयस्क बालका मे खेलने लगे और बालको की जैसी चपलता का प्रदर्शन करने लगे। चतुर्थ वर्ष के प्रारम्भ होते ही ईश्वर का नाम जपना प्रारम्भ किया।

चरनदास बालक का यह आचरण और ईश्वर प्रेम देखकर सभी लोग आश्चर्यान्वित रह गए। ब्रह्म की नामप्रियता का यह अङ्कुर, जो चरनदास के जीवन में चतुर्थ वर्ष से प्रारम्भ हुआ था, आगे चलकर बट वृक्ष के रूप को प्राप्त हुआ। इस दिशा में उनके हृदय मे दिन-दिन नवीन उत्साह जागरित होता गया और वे ब्रह्म के प्रेम में लवलीन होते गए। पांचवे वर्ष की अवस्था में इस गति मे और भी आशातीत विकास हुआ। पाच वर्ष की अवस्था मे वे सूर्योदय से एक पहर पूर्व जग जाते थे और ब्रह्म के ध्यान मे सलग्न रहते थे। ससार की भौतिकता में सलग्न सांसारिक माया मोहादि के आवरण में आवृत नर-नारी इस रहस्य को समझने मे असमर्थ थे। लोग बालक चरनदास के इस आचरण को देखकर उन्हे बौरा और बुद्धि हीन समझते थे। जब वे समवयस्क बालकों के मध्य खेलने के लिए जाते थे तो लड़की लड़कों को बैठाकर सब से 'हरे राम' 'हरे राम' का जय करवाते थे। एक

दिन जब वे बालकों के साथ खेल रहे थे तब एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई।[1] अत्यंत दिव्य कांतिवान्, श्यामवर्ण, विशाल नेत्र वाला, नगे तन, कौपीन धारण किए हुए एक व्यक्ति का आगमन् हुआ। उस व्यक्ति ने बालक चरनदास को अपने निकट बुलाया और कंधे के ऊपर बैठा लिया।[2] तदनन्तर बालक को वट-वृक्ष के नीचे लाकर उसे पेडे प्रदान किये और उसके मस्तक के ऊपर हाथ रख कर कहा—

हँस के कहा तोहि चेला कीया। कर धरि शीश भक्ति पर दीया॥
तारण तरण जगत में ह्वै हो। बहुत उधार जीव ले जैहो॥
जो कोई मंत्र तुम्हारा सुनैहै। सो निहचे यमपुर नहि जैहै॥
छत्रपती अरु राजा राया। चहिहै तुम चरणन की छाया॥
चहु दिशि फैलै भक्ति तुम्हारी। नाम जपेंगे बहु नर नारी॥
शीश निवा सबही बर लीना। उतर गोद चरनन शिर दीना॥

---

1. वर्ष एक के जब भये बाला। बोलै तुतले बचन रसाला॥
दूजे वर्ष माहि पग दीन्हा। डोलन सीखे चाल नवीना॥
तीजा वर्ष सुहावन आया। जब लड़को मे खेलन धाया॥
चौथे वर्ष सँभाला आपा। मुख से जपन लगे हरि जापा॥
देखि देखि सब अचरज करैं। बड़ा अचम्भा मन मे धरै॥
पचवें वर्ष भई गति औरे। लखे न लोग लुगाई बौरे॥
पहर एक के तड़के जागे। जब ही ध्यान करन को लागै॥
जो लड़कों के बीच ही, खेलन जावे लाल।
और खेल भावे नही, गावें गुण गोपाल।
लडकी लडको को बैठावें। हरे राम सब सो जय पावें॥
नदी किनारे खेल मचावै। कभू न्हाय के तिलक लगावै॥
खेलत रहै गाव के गोरे। ठौर प्यारी सीना बोरे॥
एक दिन अचरज भयो भारी। यहू थे लड़कन मझारी॥
2. वही जगह पुरुष एक आया। ठाढा होय देख हर्षाया॥
नागे तन कोपीन विराजै। श्याम स्वरूप अधिक छवि छाजै॥
शीश बावरी घूघट वारी नैन बड़े शोभा अतिभारी॥
नैन अरु माथा दिपै, तेजवन्त अधिकाय।
माधुरी मूरत सोहनी, सोंही लखो न जाय॥
मुख सो वचन उचारि के, बालक लिया बुलाय।
कांधे ऊपर ले गये, बट तर बैठे जाय॥
कांधे से लिया गोद मझारी। उर लाया बोले हितकारी॥
अजगैयी पेडे मंगवाये। दिये हाथ अरु बचन सुनायो॥

यह घटना चरनदास की पांच वर्ष की अवस्था में बृहस्पतिवार शरद् पूर्णिमा संवत् १७६५ को घटित हुई।[१]

जीवन के छठे वर्ष में शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ हुआ।[२] परन्तु यह क्रम अधिक समय तक न चला। शीघ्र ही निकट भविष्य में पठन-पाठन का कार्य समाप्त हो गया। सात वर्ष की अवस्था में एक दिन बालक चरनदास ने स्वप्न देखा कि उनके पिता से परिवार का शीघ्र ही वियोग होगा। दुर्भाग्य से शीघ्र ही यह घटना सत्य प्रमाणित हो गई।[३] पितामह प्रागदास ने बड़ी खोज की परन्तु मुरलीधर जंगल में ऐसे विलीन हो गए कि फिर दर्शन न हुये।[४] मुरलीधर के असमय और अनिश्चित स्वर्गवास से परिवार पर दुःख के बादल छा गए। सभी विरह से सतप्त हो उठे। परन्तु समय ने विरहजनित व्यथा को शनैः-शनैः कम कर दिया। माता कुजो देवी ने अपने विरक्त हृदय को ईश्वर के चरणों में लगाना प्रारम्भ किया। एक बार कुजो माता वैशाखी पर गङ्गा नहाने के लिये गईं। गङ्गा-स्नान के पश्चात् वहाँ से अपने पिता के घर दिल्ली गईं। यहाँ सब की सम्मति और आग्रह से कुजों माता दिल्ली मे ही रहने के लिये तैयार हो गईं। माता ने चरनदास को भी कोट कासिम से दिल्ली बुलवा लिया। सात वर्ष की

१. पूरनमासी शरद की दिन था बृहस्पतिवार।
महापुरुष दरशन दिये किरपा करी अपार॥
बरस पांचवे जो भया सो मैं दिया सुनाय।
छठे बरस की कहत है रामरूप जन गाय॥

२. विशेष विवरण—देखिये उसी प्रकरण के उपशीर्षक 'शिक्षा' के अन्तर्गत।

३. एक दिना सोवत सूं जागे। गोद पिता की रोवन लागे।
सुबकी लेले कहै सुनाई। हम तुम में बिछुरन अब आई॥
बार बार यह बात बखानी। कुटुम्ब लाग कछुना पहचानी।
दिना बीस में ऐसी भई। बालक ने जैसी जब कही॥

४. मुरलीधर उनमत्त सदाई। रहते हरि में ध्यान लगाई॥
एक आदमी नित रहै साथा। वह नहि होन देत था राता॥
मनुष्य सङ्ग का दूर हि बैठा। आई नींद गया वह लेटा॥
जागा तो मुरलीधर नाही। आया दोड़ बेग वा ठाईं॥
तणी बधा जामा तहँ पाया। ज्या का त्यों पटका दरशाया॥
पगड़ी शाल धोवती पाई। तबते बहुते चिन्ता आई॥
जङ्गल और पहाड़ मे, ढूढे फिरे सब ठोर।
लोग पठाये दूर लौं, ना पाया कहि ओर॥
प्रागदास सोचत घर आये। वा दिन भोजन किन्हू न खाये॥
उहीं बरस में दादी दादा। तन तजि कै गय धाम अगाधा॥

अवस्था में चरनदास अपने मातामह के घर पर आकर रहने लगे।[1]

आठ वर्ष की अवस्था में माता तथा मातामह ने चरनदास की सगाई करने का बड़ा आग्रह किया। रूपमाधुरी शरण के शब्दों में, "आठ वर्ष की उम्र में जब माता तथा नाना सगाई करने लगे तो आपने नाही करी और माता को भी भगवत् भक्ति का उपदेश देके पूरण भक्त बना लाई और नाना के घर मे सबको तथा नोकरों तक को हरि भक्ति सिखाई। अब आपके प्रेम की अवस्था अत्यन्त बढने लगी। दिन रात ध्यान में लगे रहे और नेत्रों से श्रीकृष्ण के बिरह में अश्रुधारा बहा करें, दो-दो दिन बेसुध भवन में लेटे रहे"।[2]

कुञ्जो देवी और उनके पिता के समस्त प्रयत्न चरनदास को माया और भौतिक बन्धना मे बाधने में असफल हुए। चरनदास ने विवाह करने का विरोध किया और शिक्षा ग्रहण करने से भी इन्कार किया। प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके नाना और माता को महती निराशा हुई।[3]माता को जब ज्ञात हुआ कि चरनदास साधु होकर संसार त्याग देना चाहता है तो वे बहुत दुखी हुई। उसने

---

१. अपने बालक कुं हूवा छाड़ा। मात गङ्ग कूं आवन माड़ा॥
चलती चलती दिल्ली आई। हा रहते थे मा अरु भाई॥
चचा बहुत ही धन मध जानो। दीखै राय बड़ा ही मानौ॥
बहादुरपुर डहरे के पासा। वह था वतन दिल्ली सुख बासा॥
हासू सग लई जो माता। दो लौंडी दस चाकर साथा॥
हा रनजीत बुलाय ले, कही सबन यह बात।
किह कारन हा छोडिया, क्यों नहि लाई साथ॥
अब माता तुम ऐसी कही। तुम्हरे कहने सों ह्यॉं रही।
जो तुम कही सोई मन आई। रनजीता को लेहु बुलाई॥
बीबी कुञ्जो ने सुन बानी। पुत्र बुलावन की मन ठानी।
लाग साथ भेजे असवारी। जा पहुँचा डहरे मंझारी॥

२. विशेष विस्तृत विवरण के लिये इसी प्रकरण का उपशीर्षक 'विवाह' देखिये।

३. सुनि कुञ्जों मन में मुरझाना। अब ही सूं बोलत सुत बानी॥
ढीठ बड़ा काहूँ कि न मानै। जहाँ तहाँ अपनी ही ठानै॥
होत फकीर कहै सब आगे। डाटि सकू नहिं डर यह लागे॥
निकस जान का भय बहु देवे। मेरी कही सीख नहि लेवे॥
जा दिन करन सगाई आये। वा दिन भी यह कहि डरपाये॥
जो अब परने काज दबाऊं। निकल जाय तौ फिर कह पाऊं॥

भाँति-भाँति से साधु होने के विरुद्ध उपदेश दिया।[1] यह उपदेश सुनकर बालक चरनदास ने उत्तर दिया—

हेतु सहित सब बचन तुम्हारे। कैसे उलटू जाय न टारे॥
माता का सा प्यार न कोई। करै न और बिचारा सोई॥
बड़ी दया मोपे तुम कीनी। अपना जान सीख माहि दीनी॥
जो तुम सुनिकै रोष न मानौ। जो मै कहूँ साच ही जानौ॥
जा दिन जीव देह धरि आया। कुटुम्ब लोग कोई संग न लाया॥
जीव अकेला भरमत आया। तन तजि कै भटकत ही धाया।
जीवत कष्ट जगत मे पावै। तन छूटे यमपुर को जावे॥
जगत छोड़ विरक्त जो होई। आनन्द पद पावत है सोई॥
जो मागे सो मगता जानौ। ताको तुम कगाल पिछानौ॥
रूठा भूखा रोगी भया। कै कुछ नाहि कमाया गया॥
काज पेट के भेष बनाया। मागै खाय जु पालै काया॥

इस प्रकार जीवन के आठ वर्ष व्यतीत हो गए। दिन पर दिन बालक चरनदास की मनोवृत्ति ईश्वर के चरणो मे दृढ़तर होती गई। मन मे सेवा भाव, दयाभाव और विश्वबन्धुत्व की भावना सुदृढ होती गई। भूखे-प्यासे को घर से अन्न-पानी पहुँचाने में सदैव दत्तचित्त रहते थे। नोकर-चाकर, दीन-हीन, बालक-वृद्ध सभी मे

---

१. पुचकारा बैठाय करि, और कही यह बात।
तेरे भाई और ना, शिर पै नाही तात॥
सगा चचा ताऊ कोई नाहीं। तुम ही हो दादे घर माहीं।
और मोकू नित ही वह आसा। बड़ा भये करि है परकासा॥
बाप ददा का भवन जगै है। अरु उनका ही नाम करैहै।
अरु मैं तोहि देखि करि जीऊँ। तुझ बिन पानी कभी न पीऊँ॥
अब भी हिये कहा मम आनौ। अडकू छोड़ सीख मेरी मानौ।
अरु ऐसी खोटी मत भाषो। अतीत होनकी मन नहि राखौ॥
अतीत होत रूठे अरु भूखे। कै तन रोग करम के दूखे।
जिनके मात पिता नहीं कोई। वे फकीर हो जावें सोई॥
जाकू कुल की लाज न भावै। सो वह मागि मांगि करि खावै।
लाज खोई कै घर घर डोलै। मुख सौ दीन बचन ही बोलै॥
ऐसा कबहु न भाषिये, सुनो पुत्र विशेष।
काहूँ सुनी काहूँ ना सुनी, फिर मत कहियो तक॥

भक्ति का प्रचार करके अभिनन्दित करते रहते थे। बालक चरनदास जहाँ कह रहते वहीं भक्तिमय वातावरण का सर्जन कर देते। सभी व्यक्ति इनके निश्छल एव सरल व्यक्तित्व से प्रभावित रहते थे। उनकी प्रतिभा और हृदय के करुणा भाव का प्रसार केवल मानव जगत तक ही नही सीमित थी वरन् पशु जगत भी उसस लाभान्वित होता था।[1] दस वर्ष की अवस्था मे एकान्त—प्रियता एव हरि—भक्ति भावना हृदय मे और प्रगाढ होती गई। रामरूप जी ने इस अवस्था का निम्न-लिखित शब्दो मे वर्णन किया है।

आवन जान जहाँ तह लागे। हरि के नेह रहे नित पागे।
जावै बाग बगीचों माही। काहू कू सग लेवै नाही॥
साधु सत के निकटै जावै। दरशन देख बहुत सुख पावें।
कबहूं जावै ठाकुर द्वारे। कबहूँ बैठे सन्तों लारे॥
और भाति की बात न भावे। हरि के गुणगाद ही गावे॥

ग्यारह वर्ष की अवस्था का वर्णन रामरूप जी ने बहुत ही सक्षेप मे निम्न-लिखित शब्दो मे व्यक्त किया है।

बरस ग्यारवे की कहूं अदभुत बात पुनीत।
प्रेम पौव उपजी हिये बढ़ी श्याम सू प्रीत॥
प्रेम वृक्ष बढने लगा तरुण भया अतिजोर।
तन मन पै छाया पडी बाहर आया फेर॥

---

1. अब कहूं नौ बरस की लीला परम पुनीत।
गली माँहि निकसन लगे महाराज रनजीत॥
सुन्दर माला कर मे लीये। माथे ऊपर टीका दीये।
भूखा देख दया उपजावै। घर मे से ले देदे आवै॥
साधु रूप कू शीश नवावे। भक्ति गीति कछु कही न जावे।
लडको मे नहीं खेल मचावें। उलटी और भक्ति सिखलावै॥
कबहूं दो चाकर ले लारे। जा बैठे बाजार मझारे।
कबहूं बैठ भवन के माही। परमेश्वर को ध्यान लगाही॥
कथा होय नाना के ह्वाई। कबहूं मुन बकू तह जाई।
कथा माहि जेते नर आवे इनकी ओरी सबै लखावै॥
दाता थे धरमी उपकारी। दया लई हिसा सब डारी।
कबहूं माता के ढिग जावें। नारी सिमट सबै तह आवें॥
जिनकू हरि की भक्ति सुनावे। उनके मुख हरिनाम जपावें।
बाहर जेते चाकर होई। लागे भक्ति करन सब कोई॥

बारह वर्ष की अवस्था में ब्रह्म के रहस्य की जिज्ञासा और भी अधिक प्रबल हुई। चरनदास जिस किसी से मिलते थे उसी से पूछते थ कि "मौकू गोविन्द कैसे सूझै" विरह की तीव्रता दिन पर दिन वृद्धिमान होती गई। कवि के शब्दो मे, "प्रेम ही सू अति पागे। प्रभु के ध्यान रहै नित लागे"। तथा "चलत फिरत इच्छाई मन राखै। श्याम मिलन बिन और न भाखै।" यह लगन की भावना यहाँ तक बढती गई कि चरनदास आत्म-विस्मृति की स्थिति का पहुंच गए। भूख, प्यास, सभी कुछ भूल गए। नेत्रों से अश्रु की जल धारा अविरल रूप से प्रवाहित रहती थी। रामरूपजी ने इस स्थिति का बडा मार्मिक वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है।

> लागा नेह देह सुध नहीं। खान और पान सबै बिसराही ॥
> कबहूँ नैनन सों जलधारा। उठै प्रेम नहीं जाय सभारा ॥
> श्याम मिलन की मन मे आवै। घर बाहर कुछु नाहि सुहावै ॥
> मिले साधु जासू यहि बूझै। मौकू गोविन्द कैसे सूझै ॥
> ऐसे कहि असुवा भरि लावै। लहर हिये सू उमगी आवै ॥

इसी प्रकार चार वर्ष व्यतीत हो गए। एक दिन भक्तराज चरनदास कहीं कथा—वार्ता का आनन्द लेने के लिए गए। कथा समाप्त होने पर उपस्थित गोष्ठी में बडे ही आर्द्र स्वर से पूछा कि, "कृष्ण मिलन को भेद बताओ। मेरे मन म दुख मिटाओ।" रामरूप जी के शब्दो मे।

> ऐसा प्रेम देख सब छाके। इनकी ओर सकल जन ताके।
> कही कि धनि धनि प्रेम तुम्हारा। यही गुपाल मिलावन हारा।
> सब साधन ऐसे कहो निश्चय करि यह भेद।
> गुरु बिन गोविन्द ना मिलै छुटै न मन के खेद ॥

उसी दिन से (सोलह वर्ष की आयु से) चरनदास जी गुरु के उपदेश बिना व्याकुल फिरने लगे।

> अब तो चैन परै नहि कैसे। जल बिन मछली तरफे जैसे ॥
> चातक स्वामी बूंद कूं तरसै। ज्यो चकोर बिन चन्दा परसै ॥
> जैसे पिय बिन विरहिनि दुखिया। मणि पाये बिन नाग न सुखिया ॥
> ऐसी विरह अगिन तन लागी। गई भूख अरु निद्रा भागी ॥

तीन वर्ष तक चरनदास जी निरतर अथक परिश्रम करके गुरु की खोज करते रहे। परन्तु किसी का ऐसा व्यक्तित्व न दृष्टिगत हुआ जो उनके मन और मस्तिष्क को समान रूप से प्रभावित कर सकता।[1] इस प्रकार जीवन के उन्नीस वर्ष

---

[1] ढूंढे योगी अरु सन्यासी। ढूंढे सब मत पन्थ उदासी ॥
सतगुरु कू ढूंढन ही लागे। ढूंढे बिरकत तपसी नागे ॥
ऐसा दृष्टि न आवई जहां नवावैं माथ।
सतगुरु करि चरनो लगै शीश धरावैं हाथ ॥
दिल्ली के आसा पासी। ढूंढे गिरही अरु बनवासी ॥
लिए दीनता सबसूं बोलै। चारों दिशा ढूंढते डोलै ॥
खोज खोज पचि पचि करि हारा। लाभ मिलाय करै सुखसारा ॥

व्यतीत हो गई, चरनदास के मन मे भक्ति एव गुरु के प्रति भावना प्रगाढ़ होती गई।

गुरु

चरनदास जी के सतगुरु व्यासपुत्र शुकदेव जी माने जाते हैं। चरनदास के गुरु के विषय में प्रायः सभी विद्वानो का यही मत है। जार्ज ग्रियर्सन[१], जेम्स हेस्टिंग्ज[२], एच० एच० विल्सन[३], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[४], विलियम क्रुक[५]

तात बिरह अग्नि तन जारे। बौरे भये देह अग सारे॥
वस्तर पहरन की सुधि नाई। दस दस दिवस होहि बिन खाई॥
सुबकी लेले रोवन लागे। जग सोवे ये दुख मे पागे॥
घर बाहर सब बौरा जाने। इनका भेद नही पहचानें॥
दो-दो मास रहे बन मांही। हाहि व्यत त रात दिन हा हो॥
ऐसे लगा वर्ष उन्नीसा। जानिकसे जह मोरना तीसा॥

१ In his nineteenth year, while thus roaming in acstasy he came across a holyman named Suk Deo Das at Sukra Tal, a village near Muzaffarnagar. Later legends have identified this Person as reincarnation of the famous Suka Deva who is said to have narrated the Purans Influenced by the looking words addressed by Suk Deo, Ranjit threw himself at his feet and besought him to rective him as his disciple and to carry him across the ocean of existence The saint now initiated him as a disciple Sukh Deo named his new disciple Charan Das .

श्री शुक सम्प्रदाय प्रकाश, पृष्ठ ५—६

२. Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol 3, p. 366
James Hastings.

३. The authorities of the sect Shri Bhagwatanb Gita of which they have Bhasha Translations, and Dharm Jihaj in a dialogue between him and his teacher Sukh Deva the same according to the Charan Das is as the pupil of Vyas and the narrator of Purans.

Essays and Lectures on the Religion by H H wilson
Vol I, p. 880

४ He claim to have been initited by Sukh Deo, the celebrated sage to whom knowledge initiated when yet in the mother's womb and who is supposed to be immortal.

The Nirgun School of Hindi poetry. Dr. P. D Barthwal,
P. 266

५ He became a disciple of Baba Suk Deva, a religious Faqir of high religious attainment, at the age of nineteen, at Sukra Tal near Muzaffarnagar who gave him the name of Charan Das.
Tribes and Castes of N W. P and Oudh, p. 201

गणेश प्रसाद द्विवेदी[१], प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[२], रामकुमार वर्मा[३], भुवनेश्वर माधव[४], सम्पादक योगांक (कल्याण)[५], तथा सम्पादक संत-वानी संग्रह[६], ने एक स्वर से शुकदेव को ही इनका गुरु माना है। स्वतः चरनदास ने स्थान-स्थान पर शुकदेव को अपने गुरु के रूप मे स्वीकार किया है। इस विषय मे श्री रूपमाधुरी शरण का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा :—

"११ वर्ष की अवस्था से १६ वर्ष की अवस्था तक गुरु की तलाश मे रहे। जब सतगुरु कही नही मिला तो गंगा जी के तट पर प्रण करके बैठ गए कि जब सतगुरु मिलेंगे तब अन्न जल लेऊँगा। ऐसे कितने ही दिन बीत गए। तब श्री शुकदेव जी महाराज ने ध्यान में दर्शन देकर कहा शुकतारा पर आओ तब आप प्रसन्न होके शुकतारा गये वहां श्री शुकदेव जी से विधि पूर्वक मन्त्र कंठी उपदेश लिया और श्यामाचरणदास नाम प्राप्त किया।[७]"

---

१. 'हिन्दी के कवि और काव्य' पृष्ठ २०३

२. कहते हैं कि इन्हे जगल मे शुकदेव मुनि मिले और उन्होंने इन्हे मन्त्रोपदेश दिया। इन्होंने अपने ग्रंथों में परम गुरु शुकदेव जी की बड़ी महिमा गाई है।

'भक्त चरितावली' भाग १, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृष्ठ १४२

३. इन्होने सुखदेव नामक साधु से दीक्षा लेकर अपना नाम चरनदास रख लिया था।

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ४०५

४. कहते हैं कि उन्नीस वर्ष की अवस्था में महात्मा चरनदास जी जगल में एकांत तपस्या कर रहे थे। उसी समय श्री शुकदेव जी ने इन्हें दर्शन दिये और मन्त्र दिया। अपने पदों मे भी गुरु के रूप मे इन्होंने श्री शुकदेव मुनि का स्मरण किया है।

'संत साहित्य' पृष्ठ १११

५. कहते हैं कि करीब १६ वर्ष की उम्र में एक दिन आप भगवान के विरह मे जगल में रो रहे थे। उस समय प्रसिद्ध शुकदेव मुनि जी वहा प्रकट हुए और उन्होंने शब्द मार्ग का उपदेश दिया।

'योगांक' पृष्ठ ८१६

६. लिखा है कि १६ वर्ष की अवस्था में इन को जंगल में .... शुकदेव मुनि मिले और शब्द मार्ग का उपदेश दिया।

'चरनदास जी की बानी' पृष्ठ २

७. गुरु प्रकाश, (अप्रकाशित रचना)

रामरूप जी ने गुरु भक्ति प्रकाश मे चरणदास जी के गुरु, उनके व्यक्तित्व और साधना आदि पर सविस्तार रोचक शैली मे प्रकाश डाला है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' के आधार पर यहा चरनदास के गुरु प्राप्ति एव दीक्षा सस्कार का क्रमबद्ध उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

तीन वर्ष तक गुरु की खोज मे व्यथित चरनदास को एक दिन ध्यानावस्था मे आदेश मिला कि :—

गगा यमुना के मधि जानौ। शुक्कतार पास पहिचानौ ॥
जहां कथा शुकदेव सुनाई। राजा परीक्षित को समुझाई ॥
ताते शुक्कतार भया नाऊ। उत्तम अधिक पवित्र ठाऊ ॥
कृष्ण भक्ति के दाता सोई। फलदायक बरदायक होई ॥
उनके भावै यही निज धामा। मुक्ति करन पूरन सब कामा ॥
पौन कोस वा पास जो जाने बांई ओर।
ऊचा टीला जानिये सहज गए वा ठौर ॥

वहां जाने पर चरनदास ने—

लखो अचानक पुरुष हूवां लघु तरवर की छाहि।
किशोर अवस्था सावरी तन मे वस्तर नाहि ॥
आसन पद्म महा दृढ किये। बैठे नैनन के पट दीये ॥
मन को हरि की ओर लगाये। ध्यान माहि अस्थिर छक छाये ॥
श्याम गात लख मनमथ लाजे। चरनकमल दोऊ अति छवि छाजे ॥
पिगली जघ कहा कहूँ शोभा। ता देखन कू मन रहै लोभा ॥
कमर पेट छाती अति सोहै। शोभा वरन सकै कवि कोहै ॥
आजानु बाहु बिबगोल विराजै। दोऊ हाथ घुटनौ बैसाजै ॥
मुख दुति गाल अधिक उजियारे। बडे नैन सुन्दर रतनारे ॥
सुनकादिक सम बाबरी राजै। मधुर शरीर निरख दुख भाजै ॥

ऐसे अलौकिक कातिवान व्यक्ति को देखकर चरनदास का मन अत्यन्त पुलकायमान हुआ। उन्होंने अपने मन मे विचार किया कि "सतगुरु कू ढूढत हुता सो अब लीन्हे पाय।" प्रसन्नता और श्रद्धा के आधिक्य से नेत्रो से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। इसके अनन्तर चरनदास ने दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की तब :—

ऋषि ने बूटी एक तब हवाई दई बताय ।
याको पीसो तोडि कै फिर मोपै ले आव ॥
जब बूटी महाराज के तोडी पीसी लाय ।
सतगुरु के कर मे दई चरना शीश नवाय ॥
ऋषि ने जब परसन्न हो लिये पास बैठाय ।
हसकर सिर नगा किया बूटी दई लगाय ॥
सारे सिर पै लेपन कीन्ही । घडी एक लाये जब चीन्ही ।
फिर न्हाने की अज्ञा दई । जभी पोवटी ह्वां इक भई ॥
भक्ति राज न्हाये तिह माही । पहले दोऊ हाथ सिर लाई ॥
मल कर सीस नीर सो धोया । उतर बाल सब निरमल होया ॥
न्हाव आय बैठे जब पास । ऋषि कही ककर घिसला दासा ॥
जब ही उठ ककर घिस लाये । आगे हाथ किया हुलसाये ॥
ऋषि कही टीका भेट कीजे । तन मन भेट हमारी दीज ॥
भक्ति राज ने ऐसे ही किया । टीका काढ भेंट सब दिया ॥
ले कठी दोऊ करमे साधी । भक्ति राज के गल मे बाधी ॥
माथे तिलक सिलमिली कीया । श्री जोति रेषा कहि दिया ॥
अरु गुरु मत्र जु कान सुनाया । उतर विधि नित नेम बताया ॥

इस दीक्षा-मत्र सुनाने के अन्तर सदगुरु ने नित्य नियम, उपासना पद्धति, प्रणवोपासना एव प्राणायाम का मर्म बताया,[1] और दीक्षार्थी का द्वितीय नाम चरणदास रखा[2] ।

---

१. सोलह ओमकार ले पूरक कीजे धार ।
चौसठ ओमकार को कुम्भक रखो सभार ॥
फिर आम बत्तीस ही रेचक सहज उतार ।
प्राणायाम की तीन बिध यह तुम लेहु निहार ॥
ऐसे प्राणायाम ही कीजै चौबीस बार ।
सम्पूर्ण नहि हो सकै तो आधा जु विचार ॥
पूरक बाये स्वर सो लीजे दहिने स्वर सो रेचक कीजे ॥
फिर दहिने स्वर पूरन धारो । बाये स्वर रेचक जुनिहारो ॥
ऐसे बारी बारी करिये । सुरति निरति त्रिकुटी में धरिये ॥
ताके पीछे दस ही माला । गुरु मत्र जप होय निराला ॥

२. नाम दूसरा चरनहि दासा । भक्ति मांह दूजी परकासा ।

इस प्रकार वृहस्पतिवार, चैत परीवा संवत् १७७६ वि० को शुकदेव जी ने चरनदास जी को दीक्षित किया।[1]

शिक्षा

जीवन मे छठे वर्ष का प्रभात होते ही अभिभावकों को उसे साक्षर बनाने की चिन्ता होने लगी। इस कार्य-भार का उत्तरदायित्व रणजीत के पितामह प्रागदास पर था। अतएव उन्होंने बालक को अक्षर ज्ञान के लिए चटशाला प्रेषित किया। चटशाला के आचार्य ने वर्णाक्षर लिख कर रणजीत से उन पर अभ्यास करने के लिए कहा। इसके उत्तर मे रणजीत ने आचार्य से कृष्ण-भक्ति और नाम-महिमा सिखाने का निवेदन किया। आश्चर्य चकित चटशाला के आचार्य बालक रणजीत को उसके अभिभावक पितामह के पास ले गए और शिक्षा के क्षेत्र में बालक की असफलता की भविष्यवाणी की।[2]

परन्तु पितामह को फिर भी आशा बनी ही रही। उन्होंने एक द्वितीय प्रयत्न किया। उन्होंने एक दूसरे चटशाला के आचार्य को इस काम का भार दिया और उससे साम, दाम, भय अथवा भेद हर प्रकार से बालक को सभी आवश्यक शिक्षा देने के लिए आदेश दिया।[3] आचार्य ने पट्टी पर अक्षर लिखकर अभ्यास करने

---

१. ऐसे सतगुरु परम दयाला। अपने शिष्य को किया निहाला ॥
सब विधि करिके भेटी प्यासी। सवत सत्रह से उन्नासी ॥
चैत्र महीने के मध्य माहीं पडवा वृहस्पतिवार सुहाही ॥

२. आगे छठा बरस जब आया। पाडे को पढ़न पठाया ॥
लगा पढावन का खा गा ना। उलट उलट कर यही बखाना ॥
आल जाल तू कहा पढावै। कृष्ण नाम लिख क्यो न सिखावै ॥
और पढन सू ना कुछ कामा। हिरदे राखूगो निज नामा ॥
जो तुम हरि की भक्ति पढाओ। तो मो कू तुम फेर बुलाओ ॥
पाधा सुन मन अचरज आई। यह बालक पढि है नहि काई ॥

३. दूजे दादा फिर यो कीना। ब्राह्मण के कर मे कर दीना ॥
मारो डाटो याहि पढावो। सबही विद्यावेग सिखावो ॥
फिर जब लगा पढावन पाडे। पट्टी ऊपर अक्षर माडे ॥
नीची नाड किये नहिं बोलै। मन की बात कहू नहि खोले ॥
पाधा कह कह बहु पच हारा। पढे न बोलै पै वह बारा ॥
फेर क्रोध कर घुरकी दीनी। बालक ने सबही सह लीनी ॥
मुसकाये बोले मृदु बानी। पाडे तुम अब तक नहिं जानी ॥

का आदेश दिया। परन्तु उसका एक भी प्रयास सफलीभूत न हुआ। अन्त मे बालक ने मुस्कराकर कहा कि,

मोपै ऐसा पढा न जावे।
बिना हरि नाम और नहिं भावे॥
सूरज पछम जौ उगै सरिता उलट बहै।
कृष्ण नाम बिना न पढूँ या रणजीत कहै॥

बालक दूसरी चटशाला से भी लौटा दिया गया। परिवार के लोगो ने सोचा कि अवस्था विकास के साथ बालक म व्यावहारिक बुद्धि का भी भविष्य मे विकास होगा और तभी वह शिक्षार्जन कर सकेगा। रणजीत की—

दादी हँस कर निकट बुलाया।
खेलो खावो मन भाया॥
पढियो जब तेरे मन आवे।
ऐसा कौन जु तोहि सतावे॥

और यही से बालक के पढने का क्रम सदैव के लिए स्थागित हो गया।

विवाह जीवन

विरक्त रणजीत को जगत के माया मोहादिक मे बाँधने के अनेक यत्न किये गए पर सब कुछ निष्फल रहा। उसके लिए सांसारिक सम्बन्ध सब निःसार बन्धन प्रतीत हुए। आठ वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही सब लोगो ने रणजीत का विवाह कर देने का निश्चय किया। सम्बन्ध निश्चित करने के लिए कुछ लोग आए भी परन्तु रणजीत के निश्चय के आगे किसी को कुछ न चला। उसके माता, मातामही और मातामह ने बडा आग्रह किया परन्तु रणजीत ने कहा—

अरु बोले सुन माय सुभागी। हमकू क्या तुम बेचन लागी॥
जान बूझ करि ताना दीया। सो माता हस करि लीया॥
व्याह किये दुःख होय अपारा। जाका फैलै बहु विस्तारा॥
जाकी चिन्ता तन कू जारे। भजन छुटे गोविन्द मुरारे॥
जो मै माता तोहि पियारो। बिपता मे मोकू मत डारो॥
मैं तो भक्ति कृष्ण की करिहूँ। मोह जाल के फन्दे नहि परिहूँ॥

माता को समझाने मे असफल देखकर रणजीत के मातामह ने तर्कपूर्ण शैली में समझाने का प्रयत्न किया और कहा :—

अब ही बालक बुद्धि तुम्हारी। ताते निन्दत हो तुम नरी ॥
कहा व्याह की महिमा जानौ। याके गुण कैसे पहचानो ॥
गरुण पुराण मे यो दरसावै। ब्याह बिना कोई गति नहि पावै ॥
अरु महाभारत में कहा सोई। पुत्तर विना मुक्ति नहि होई ॥
सब ऋषियों ने या ही चीना। तप किये पाछे व्याह जु कीना ॥
सत युग त्रेता द्वापर जानो। सबे ऋषिन की यो पहचानौ ॥
अब कलयुगी के भक्त बताऊ नारि सहित ताकू दिखलाऊ ॥
रैदासा अरु दास कबीरा। अरु जैदेव अभी भया नीरा ॥
कालू अरु कूबा भए नर हरि नरसी सत।
नारी साथ ले भक्ति ही बहुतन करी महन्त ॥

इसी प्रकार मातामह ने अनेक उदाहरणा और दृष्टान्ता के द्वारा विवाह का समर्थन किया परन्तु रणजीत पर इसका प्रभाव न पड़ा। उन्होने सविनय कहा कि ऋषियो और मुझमें बड़ा अन्तर है। सूर्य और दीपक की क्या तुलना? उनके समान मैं शक्तिशाली एव सयमशील भी तो नही हूँ। परन्तु फिर भी यदि आप लोग आग्रह करते ही जायगे तो मैं गृह परित्याग कर ऐसा चला जाऊँगा कि फिर मुख देखना असभव हो जायगा।[1] इस उत्तर को सुनकर सभी चुप हो गए और माता ने कहा "व्याह सगाई ना करै जो तुम्हारा या मन ॥"

---

१. अरु सब हम पर दया करीजे। करन सगाई नाम न लीजै ॥
जो मेरी इच्छा विन लेहो। तौ मोकू घर मे नहि पैहौ ॥
ऐसा निकसूँ फिर नहि आऊ। कै जगल परबत कू धाऊ ॥
तुम जु ऋषिन की बात चलाई। वे तो योधा अति बल दाई ॥
वै सूरज हम दीपक आगे। उनके पटतर कैसे लागै ॥
अब मैं कहूँ रोस नहि मानौ। गौतम की गति भई पिछानौ ॥
जमदग्नि की वह गति भई। नारी मुँह कटा कर रही ॥
और ऋषीश्वर बहुत विचारे। दुख पायो तिरिया लइ लारे ॥
जो जो साधु सन्त बतायो। जिनहूँ सग बुरा ही गायो ॥
या दुनिया कू सपना जानौ। कछु नही मोहो पहिचानौ ॥
छया का जीवन तुच्छ बखाना। मेरा मन ऐसे पतियाना ॥
ताका कहा भरोसा होई। जामे सुख बतावे लाई ॥
व्याह नही जोपे करै बधे नही बधान।
छका रहै आनन्द सू सुमिरे श्री भगवान ॥

वेषभूशा

चरनदासी-सम्प्रदाय मे प्रचलित एव स्वीकृत वेशभूषा के विषय मे 'चरन-दासी सम्प्रदाय' प्रकरण मे उल्लेख हो चुका है।

चरनदास के शारीरिक बनावट के विषय मे 'गुरु भक्ति प्रकाश' मे कोई विशेष सूचना नही उपलब्ध होती है। यत्र-तत्र जो भी उल्लेख हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि चरनदास जी का व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली था। शात-भाव उनके व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता है। उनका मुखमडल काति से युक्त था। शरीर सुडौल तथा मनोहर प्रतीत होता था।

वर्तमान महन्त से ज्ञात हुआ है कि चरनदास जी आजानु बाहु थे। उनका शरीर लम्बा और शक्ति सम्पन्न था।

वर्तमान महन्त के यहा चरनदास जी का जो चित्र उपलब्ध होता है उससे ज्ञात होता है कि चरनदास जी विशालाक्ष थे। उनके कान लम्बे थे। उनके मुखमडल से शाति एव दृढता का भाव प्रस्फुटित होता है। मुख पर विशाल नेत्र एव बडी-बडी मूँछे उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बना देती थी।

'गुरु भक्ति प्रकाश' मे एक स्थल पर रामरूप जी ने चरनदास जी की आकृति का वर्णन किया। उसे अविकल रूप मे यहां उद्धृत करना असंगत न होगा :

> प्रेम भरे नैना बडे बदन श्याम ही रग।
> बांकी मूछै सोहनी हिय मे हर्ष उमग ॥
> मुसक्याते दीखै सदा अधरन यही सुभाय।
> माथे टीका सिल मिली रामरूप बलिजाय ॥
> रूपे की चौरी लिये ढोर खिदमतगार।
> महाराज को ध्यान यह लीजै हिय मे धार ॥

चित्र से स्पष्ट है कि लम्बा कुरता, पगडी और चादर चरनदास जी की सामान्य वेशभूषा थी। मस्तक पर श्री तिलक सुशोभित दृष्टिगत होता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' मे वस्त्राभूषण से सुसज्जित चरनदास की एक छवि का सुन्दर उल्लेख हुआ है। यहां पर रामरूप द्वारा वर्णित वह छवि उद्धृत की जाती है

> सिंहासन पर बैठ सोहैं। छवि वरणौं ऐस कवि को हैं ॥
> अपनी बुद्धि लाय कछु गाऊ। अब उनके चरणन सिर नाऊं ॥

महदी रचना कही नहि जाइ । मन लागौ नख सुन्दरताई ॥
दहिने तोडा सोने केरा। बाये पग मे कगना गेरा ॥
पीरा नीमा तन के माही। घेरदार अति ही घुमराही ॥
घुडी लगी जडाव विशाला। बडे बडे मोतियन गल माल ॥
नौ रतनो के बाजूबाहूँ। टोऊ कर पहुँची रतन जडाऊ ॥
अगुरी अगुरी पहर अगूठी। महदी हाथो लागी अनूठी ॥

इस उद्धरण मे जिन जिन आभूषणो का वर्णन है वे चित्र मे कही भी दृष्टिगत नही होते है। सम्भव है कि कवि ने काल्पनिक वर्णन किया हो।

सेवाभाव

सेवाभाव के दृष्टिकोण से चरनदास का व्यक्तित्व और महत्व कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि से पूर्णतया भिन्न है। सत सम्प्रदाय अथवा निगुंण-पथी कवि अधिकतर साधक एव धर्म-सुधारक थे। धर्म-सुधार तथा समाज को परिष्कृत करने के लिए उन्होने स्पष्टवादिता एव व्यग्यात्मक शैली को ग्रहण किया और इसी के द्वारा उन्हाने न केवल समाज के पाखडो का रहस्यादूघाटन किया वरन् उसे अपने फक्कडपन से झकझोर डाला। दोषी व्यक्ति और समाज को इनके आगे निकलने का कभी साहस नही होता है। "जो तुम बाह्मन बाह्मनि जाये और राह ते काहे न आए' जैसे वाक्यो का कह कर उन्होने दोषो समाज को तिल-मिला डाला। उसमें हीनत्व की जिस भावना का उन्होने दर्शन किया उससे समाज के दोप दूर भले ही हो गए हो पर समाज उनकी कृपा कोर और सहानुभूति कभी न पा सकी। उन्होने सेवाभाव अथवा मनोवैज्ञानिकता के आधार पर समाज को दोष रहित अथवा कुरीतियो से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न नही किया वरन् डिक्टेटर की भांति कठोर आदेशो से उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न किया। इन उक्त सतो मे सहानुभूति की भावना का तो अभाव प्रतीत होता है परन्तु शासकीय मनोवृति सर्वत्र उपलब्ध होती है। सत-साहित्य के दो कवि चरनदास और मूलकदास साधक, धर्म-सुधारक एव समाज-सुधारक होने के साथ ही सेवाव्रती भी थे। इन दोनो कवियो की अन्तर-दृष्टि भी मानव के व्यक्तिगत, समाज एव जनता के सामूहिक दोषों एव कलका का निदर्शन करने मे समर्थ है परन्तु वे दोपी समाज के अभावो को अपनी सहानुभूति और सेवाओ के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करते हैं उनका उपहास नही करते ह। वे दोपी के हृदय और मस्तिष्क को तिलमिला देने वाले उपहासात्मक व्यग बाणो का साधन मात्र नही करते ह, वरन् उसे समझन हैं और दोपो के निवारण मे उसका हाथ भी बॅटाते हैं। उन दोषों से समुत्पन्न अथाह दुःखो के दुर्गम सागर को

पार कर जाने के लिए उसको ढाढस भी बधाते हैं और यही है इन दोनो सता की विशेषता, जिसके कारण वे अन्य सन्तो से इस दिशा मे सर्वथा भिन्न प्रतीत होत है।

चरनदास मे सेवा-भाव का यह बीज नौ वर्ष की स्वल्प अवस्था से ही विकसित होता हुआ दृष्टिगत होता है। जब उनके समवयस्क खेलने कूदने और बाल्यसुलभ चपलताओं मे पडे रहते थे, उस समय वे भूखे, प्यासे, और आर्त लोगा की सेवा और सहायता मे सलग्न रहते थे।[१] भिक्षुको और आर्तो की सहायता करने के विषय मे अनेक किवदन्तियां प्रचलित ह। वर्तमान महन्त ने इस विषय मे कई किवदन्तिया सुनाई। उनमे से एक का उल्लेख यहा आवश्यक है। चरनदास का परिवार निम्न मध्यवर्गीय परिवार था। परिवार म नित्य कमाई ही जीविका का आधार था। एक दिन सायकाल चरनदास के पिता दिन भर की आय कुरते की जेब मे डाल कर अपने बीमार पडोसी को देखने चले गए। इतने मे द्वार पर दिन भर का भूखा एक अपग लूला भिक्षुक आ गया। उनकी माता ने उसे भगा देने का प्रयत्न किया और कहा कि दिन भर भीख माँगते-माँगते पेट नहीं भरा तो अब रात मे भी मांगोगे। भिक्षुक ने अपने दुर्भाग्य का रोना सुनाना चाहा। परन्तु कुजो माता को कहाँ अवकाश था। वे दरवाजा बन्द करके अन्दर चली गईं। चरनदास से यह सहन न हो सका। घर मे चुपचाप अन्दर जाकर वे पिता के जेब से कुल पैसे निकाल लाये और भिक्षुक को दे दिया। बाद मे पूछ-ताछ हुई तो उन्होंने निर्भीकता से स्वीकार कर लिया। उनके पिता ने जब डाट कर कहा कि इतना धन क्यो दिया पैसे दो पैसे बहुत थे, तो उन्होने उत्तर दिया कि शायद उसे कल भी कहीं भिक्षा न मिल सके, इसीलिए इतने सब पैसे दे दिये। सभी को बालक की सरलता और अबोधता पर बड़ी हँसी आई।

चरनदास की सेवा भावना को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते है। सर्वप्रथम हम उन्हे लोक सेवी के रूप मे पाते हैं। उनकी दया और लोक सेवकत्व की भावना केवल मानव जगत तक ही नही वरन् पशुओं तक प्रसार पाती थी। किवदन्ती है कि गर्मी के दिनो मे वे डोल और लोटा लेकर कुएँ पर दिन-दिन भर बैठे रहते और निःस्वार्थ भावना से समस्त प्राणिया को जल पिलाते रहते थे। यहा तक कि दूसरों के सुख और आराम के लिए वे अपने घर खाना खाने के लिए भी नही आ पाते थे। यही उनका लोक-सेवी रूप धर्म और समाज के क्षेत्र मे प्रस्फुटित हुआ।

१. भूख देख दया उपजावें। घर मे से ले दे-दे आवै।
साधु रूप कूं शीश नवावे। भक्ति रीति कछु कही न जावें॥
लड़कों में नहीं खेल मचावे। भक्ति रीति कछु कहा न जावै॥

चरनदास के सेवा व्रत का द्वितीय क्षेत्र परोपकार की भावना थी ! दुष्ट, सज्जन, समर्थ, असमर्थ सभी की वे सहायता करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। दुर्जनों को सद्-मार्ग पर लाने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे चोरों के प्रति भी दया का प्रदर्शन और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे।[१] इस दया और सहानुभूति का प्रभाव उन पर सदैव अच्छा ही पड़ता था। ग्लानि का अनुभव करते-करते वे अपने दुष्कृत्य और दुष्कर्मों का स्वतः परित्याग कर देते थे। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से इसके समर्थन में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। चरनदास की परोपकार भावना का एक ज्वलन्त उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में रामरूप जी ने व्यक्त किया है :—

भक्तिराज के अस्थल माही। ढाकी वस्ते बहुत चुराई॥
आवत चोर देख जो लीया। जानबूझ कर टारा दीया॥

बासन बसन समेट कर गठरी बांधी चार।
सिर पर धरिकै ले चले, कहीं न पावै द्वार॥

चहू ओर भटकत ही डोलैं। हौरे हौरे मुख सो बोलै॥
अँधरे भये राह नहिं पावें। कौन बाट हो बाहर जावें।

इतने ही मे उठे गुसाईं। जा ठाडे चोरन के मांही॥
उनको राह बतावन लागे। सुनि के चौके चोर सुभागे॥

कहीं और कछु सूझे नाहीं। हम बाहर को कैसे जाहीं॥
महापुरुष की चीज चुराई। ताते अपनी आँख गँवाई॥

हमको डर लागत है भारा। पकडे जावे होय सकारा॥
ऐसे सुन बोले औतारी। अब तुम सुनौ जु बात हमारी॥

या अस्थल का धनी मैं चरनदास मम नाव॥
आंख दई अरु चीज सब ले जावो अपठांव॥

तुमने मेहनत बहुतै कीनी। ताते गठरी चारौ दीनी॥
ले जावो मोहि करो निहाला। होता आवे बेग सकाला॥
यह गठरी उनके शिर धरिया। अरु नाले तक रक्षा करिया॥
किरपा सागर दया विचारी। परमारथ को देही धारी॥
पहुँचा कर अस्थल में आये। जब सब सूते लोग जगाये॥

कायथ एक गरीब विचारा । सो था भक्ति राज का प्यारा ।।
वाके समधी ब्याह उठाया । भेजी चिट्ठी बहुत दबाया ।।
अबहीं करि या छोड़ सगाई । नहीं और दो सुता बिवाही ।।
वह अनाथ था धन का हीना । घर कै सब मिल सशय कीना ।।
कीजै कहा कहा अब जइये । ऐता दरब कहा सो लइय ।।
भोर भये दरशन को आया । अपने पुत्तर को सग लाया ।।
कहने की मन मांहि उटावे । सकुच लाज सोरहि रहि जावे ।।

महाराज वा देख कर आपही लीन्ही जान ।
कही कि सुत को ब्याह कब हमसू कहो बखान ।।

हाथ जोड़ उन बिथा सुनाई । अपने घर की खोल दिखाई ।।
महाराज कही यहा से लीजै । याको ब्याह शिताबी कीजे ।।
या कहि कछू दरब वा दीनों । वाको मन को दुख हरि लीना ।।
खुशी होय कायथ घर आया । सकल सौज सजि ब्याह रचाया ।।
सज बरात पूजन को आये । भक्ति राज को शीश नवाये ।।
महाराज ने अति हर्षाकर । दस ढलैत दीने निज चाकर ।।
चोबदार अरु दिये खवासा । उनका सब बिधि मेटा सासा ।।

इसी प्रकार चरनदास दीन-दुखी पडोसियों की सहायता करते थे। गरीबों की पुत्रियों का विवाह अपने पास से धन देकर करवाते थे। याचको को अन्न-वस्त्र दान में देकर उनके कष्टों का हरण करते थे। जो भी व्यक्ति किसी प्रकार की कामना अथवा इच्छा लेकर आते थे, वे उन सभी की पूर्ति करते थे।

रामरूप जी के कथनानुसार—

दयावन्त दाता उपकारी । जिनके सम अस्तुति अरु गारी ।।
ना कोई मीता ना कोई बैरी । तिनके ना कछु मेरी तेरी ।।
भूखा आवे भोजन खवावैं । नांगे को बस्तर पहिनावैं ।।
अरु सबहीं सो मीठा बोले । जिज्ञासू सो चरचा खोले ।।
जो कोई आवे इच्छा धारी । कहे कि मेरी कन्या क्वारी ।।
वाको गुप्त द्रव्य दे डारें । अरु दुखिया को दुःख निवारे ।।
तनकरि मनकरि दे सुख सबही । कड़ुआ वचन न बोले कबही ।।
जो जैसी आशा करि आवे । सो निराश कबहूँ नहि जावे ।।

पर्यटन

चरनदास द्वारा की गई यात्राओ के सम्बन्ध में कोई अन्तस्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है। इस विषय पर प्रायः सभी बहिस्साक्ष्य मौन हैं। इस सम्बन्ध में हमे जो कुछ सूचना एव सहायता प्राप्त होती है वह केवल 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से। आश्चर्य है कि रूपमाधुरी शरण जी ने 'गुरु महिमा' ग्रन्थ में लगभग दस पृष्ठों में कवि की जीवनी और चमत्कारो का सविस्तार उल्लेख किया है परन्तु इस विषय पर एक बात भी नही कही। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' मे रामरूप जी ने कवि द्वारा की गई अनेक यात्राओ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे छोटी बड़ी सभी यात्राओ की सख्या १२ से कम न होगी परन्तु इन वर्णनो के साथ एक कठिनाई भी है। रामरूप जी ने विभिन्न यात्राओ का समय और अवधि का कहीं उल्लेख नही किया है। इस प्रकार के चिन्तन मे अनुमान लगाना अधकार मे निशाना लगाना मात्र है।' रामरूप जी ने इन यात्राओ के भिन्न-भिन्न लक्ष्यो का भी उल्लेख नहीं किया, परन्तु उन वर्णनो से यात्रा के लक्ष्य और उद्देश्य का ज्ञान हमे स्पष्ट रूपेण हो जाता है।

चरनदास ने अपनी सर्वप्रथम यात्रा पिता के देहावसान के अनन्तर सात वर्ष की अवस्था में कोटकासिम से दिल्ली तक की। इस यात्रा का लक्ष्य चरनदास की माता और मातामह द्वारा निर्धारित किया जा चुका था। पिता की मृत्यु के अनन्तर मुरलीधर के परिवार को अपने साथ रखने के लिए ही चरनदास के मातामह ने उन्हें अपने घर बुला लिया। यही प्रथम यात्रा थी। इस यात्रा मे एक विशेष घटना घटित हुई जिसका उल्लेख चमत्कारों के साथ हो चुका है। इस यात्रा मे चरनदास के अन्य निकट सम्बन्धी उनके साथ थे।

चरनदास ने अपनी द्वितीय यात्रा दिल्ली से रामत के लिए की थी। इस यात्रा मे कवि के साथ दस नौकर थे। यह यात्रा कवि ने म्याने पर चढ़कर पूरी की थी। वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह यात्रा दो मास के लिए की गई थी और गगा स्नान इस यात्रा का लक्ष्य था। रामरूप जी ने इस यात्रा का वर्णन चरनदास की गुरु-दीक्षा के बाद किया है। इस प्रकरण मे उल्लेख हो चुका है कि चरनदास शुकदेव द्वारा संवत १७७६ मे दीक्षित हुए थे। अतः यह यात्रा कवि ने सवत् १७७६ के प्रायः साल डेढ़-साल बाद ज्येष्ठ मास मे की थी।[1]

चरनदास ने अपनी तृतीय यात्रा ब्रज प्रदेश के लिए की थी। इस यात्रा का लक्ष्य श्रीकृष्ण की लीला भूमि ब्रज के दर्शन तथा साधु सन्तो का सम्पर्क प्राप्त

---

[1]. एक समय महाराज के मन मे उठा बिचार।
दोय महीने जाइये रामत कू इस बार ॥

करना था। इस यात्रा का वर्णन रामरूप जी ने नादिरशाह के आक्रमण के अनन्तर किया है। इतिहास के अनुसार नादिरशाह के आक्रमण का समय सन् १७३६ ई० है। अतएव यह ब्रज यात्रा सन् १७३६ के पश्चात् चरनदास ने की थी। ब्रज से दिल्ली आते समय मार्ग मे बीस दिन का समय लग गया। इस यात्रा का केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक महत्व ही नहीं है वरन् इसका साहित्यिक महत्व भी है। इसी यात्रा मे चरनदास ने अपने 'ब्रज-चरित्र और ब्रज-लीला ग्रन्थो की रचना की। ब्रज के सुरम्य वातावरण के मधुर चित्र उनके साहित्य मे सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। इन ग्रन्थो की रचना चरनदास ने नन्दराम की हवेली मे ठहर कर की थी। ग्रन्थों के रचनाकाल में चरनदास के भक्त हरि प्रसाद ने भी बड़ी सहायता की।[1] इस यात्रा में उन्हें श्रीकृष्ण, श्रीराधिका, श्रीशुकदेव जी जैसे अलौकिक महापुरुषो के दर्शन हुए और अनेक साधु सन्तो का समागम हुआ।

ब्रज प्रदेश से प्रत्यागमन के अनन्तर चरनदास जी ने चतुर्थ यात्रा पानीपत के लिए की। पानीपत में आप राजाओ के यहा ठहरे और वहा ६ मास तक

छोडे सब अस्थान पर दस चाकर लिये साथ।
न्याने मे चढ़के गये गगा और सुहात॥
जेठ महीना था जब न्हाने के दिन नाहि।
जगल की कर हौस ही खुशी होय मन माहि॥
खुशी होय रामत करी जगल और पहाड़।
सुख धरी अस्थान को आये शहर मझार॥

1. नित्य नेम कुछ कियो अहारा। दिल्ली ओर को गवन विचारा॥
मग में थोडे दिवस लगाये। आय मात के दर्शन पाये॥
केते दिवस रहे वह ठांई। ब्रज की बात कही मन भाई॥
आय गये दिन बीस में पहुँचे माता पास।
माता को परसन्न कर और ठौर कियो वास॥
नन्द राम फिर यो कही सुनो श्री गुरुदेव।
मेरी हवेली के विषे एक कोठडी लेव॥
भक्ति राज नीकी समझ जाय रहे वहि ठांव।
हरि प्रसाद के कुटुम्ब सब आकर पूजे पांव॥
जैसे ब्रज में लीला चीन्ही। ब्रज चरित्र की पोथी कीन्हीं॥
जो प्रभु ने निज धाम दिखायो। सो ह्यां भाषा माहि बनायो॥
दो पोथी बहुहित सो साजी। ग्रन्थ बीच रहे शिरे विराजी॥
उनको पढ़े सुने चितलावे। अमर लोक में बासा पावै॥

रहे। पानीपत मे महाराज जी प्रथम पांचो पहर ध्यान में सलग्न रहा करते थे। यहा पर उन्हें एकांतसाधना के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त होता था। अनेक व्यक्ति दर्शनार्थ सेवा मे प्रस्तुत रहते और सभी की वे यथा आवश्यकता सहायता करते थे। परन्तु ज्यो-ज्यो ख्याति और भीड बढती गई त्यों-त्यो वहा से चित उचटता गया। अन्ततोगत्वा आगन्तुको से ऊब कर चरनदास जी नरसिंह ग ढ़ गये। परन्तु नरसिह ग ढ़ भी अधिक समय न ठहरे और वहा से वे करनाल जा पहुँचे। साथ में दो व्यक्ति (चाकर) थे। यह यात्रा कवि ने पूर्णतया पैदल ही की। करनाल से दिल्ली आते समय महाराज जी ने टट्टू पर यात्रा को।[1] 'गुरु-भक्ति प्रकाश' मे इस यात्रा के लक्ष्य का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इस वर्णन के अंत मे रामरूप जी ने लिखा है कि—

दो बीसी की उमर थी फिर आये वा ठौर।
ध्यान मांहि रहने लगे वाही विधि निशि भोर॥

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने चालीस वर्ष की अवस्था मे यह यात्रा की थी। कवि का जन्म सवत १७६० माना जाता है, अतएव इस यात्रा का समय सवत् १८०० निश्चित होता है।

---

[1]. अरु छोटे बहु परचे भये। सो मैंने वे नाहीं कहे॥
महाराज फिर भये उदासा। जाय किया पानीपत वासा॥
राजादो की बैठक माही। रहे महीने छै वह ठांई॥
पाच ही पहर ध्यान हा करते। तीन पहर बाहर ही रहते॥
बहुतक नर दर्शन को आवैं। चरचा सुन बहुतै सुख पावैं॥
बहुतक दान महाराजा करे। मन में लोग भरम बहु धरें॥
काहू की पूजा नही लेवे। इतना दान कहां से देवे॥
होने लगी भीड़ जब भारा। नरसिह गढ़ कू गवन विचारा॥
नरसिंह गढ भी ना ठहराए। फेर उलट करनालहि आए॥
दोय आदमी ही थे साथा। था निशान एक के हाथा॥
एक टहल मे निशि दिन रहता। जो कुछ कहते सो वह करता॥
कछू सवारी सग नहि लीनी। जब चाही जब भाड़े कीनी॥
दिल्ली जावन की मन आई। चलने कारण सुरति उठाई॥

टट्टू पे चढ़ि के चले आगे किया निशान।
कछू बटाऊ और थे सग मिले वे आन॥
पानीपत थोडा ठहर चले श्रीचरन हि दास।
आये दिल्ली शहर मे रहे जु मंडी वास॥

पांचवी यात्रा चरनदास ने दिल्ली से शाहजहापुर के लिए की। इस यात्रा का लक्ष्य निम्नलिखित है :—

एक दिना मन मे उठी रमू महीने दोय।
ह्यां उदास जी रहत है बाहर खुशी जु होय॥
रमत रमत गए सहज ही शाहजहापुर माँहि।
ह्वां सेवक रहते हुते उठने दीना नाहि॥
साधु बहुत ही सगते रहे जु उनके बीच।
अपने अमृत बचन कह सब को राखे सींच॥

इस यात्रा से सम्बन्धित एक चमत्कार का वर्णन रामरूप ने किया है। शाहजहांपुर मे एक रात्रि को चरनदास के मन मे माता के दर्शन की लालसा जाग्रत हुई। डेढ पहर रात्रि व्यतीत होने पर वे शाहजहापुर से अन्तर्ध्यान होकर दिल्ली गए और वहां अपनी माता के दर्शन किये।[1] इस यात्रा का ठीक-ठीक समय अथवा संवत् का निश्चित करना कठिन है कारण कि इसके पूर्व या पश्चात् कवि के जीवन से सम्बद्ध कोई घटना नही है जिसके आधार अथवा माध्यम से सवत् निर्धारित किया जा सके। इस वृतांत के प्रायः तीन पृष्ठ बाद एक स्थान पर रामरूप जी ने लिखा है :—

पचास बरस लौ जो किया सो कुछ दिया सुनाय।
रामरूप अब कहत है आगे की सब गाय॥

इससे ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने अपने जीवन के पचासवें वर्ष के निकट यह यात्रा की थी, अतः इसका समय अनुमानतः लगभग सवत १८१० होता है।

अपने जीवन मे अतिम यात्रा चरनदास ने जयपुर के हेतु की थी। इस यात्रा मे कुल तीन मास का समय लगा था।[2] जयपुर राज्य के तत्कालीन शासक के अनुज माधोसिंह के विशेष आग्रह, अनुरोध और आमन्त्रण के फलस्वरूप चरनदास

---

१ रैन समय मन मे उठी मात मिलन की चीत।
जा सोये कोठे विषै पट दीने रनजीत॥
डेढ पहर गइ रात जब कियो जो ह्वांसों ध्यान।
दिल्ली ही के बीच मे दरशन दीने आन॥
एक पहर को जो निकट सब को दरशन दीन।
डेढ पहर रहि राति जब और सुरत यौ कीन॥

२, आवन जाना सब भया तीन महीने बीच।
भक्ति हेतु आये गये धोई कल की कीच॥

जी ने जयपुर की यात्रा की।[1] यह कवि की सबसे लम्बी और सबसे दूर की यात्रा थी। "गुरुभक्ति प्रकाश" मे इस यात्रा के समय का कोई उल्लेख नही हुआ है परन्तु ऐसा प्रकट होता है कि महाप्रस्थान से कुछ ही समय पूर्व कवि ने यह यात्रा की थी इस प्रकार अनुमानतः इसका समय सवत् १८३८ निश्चित होता है।

इन महत्वपूर्ण यात्राओं के अतिरिक्त चरनदास जी ने अन्य छोटी-छोटी कई एक यात्राए की जिनमें दिल्ली से गगा स्नान के लिए कवि को बाहर जाना पड़ा था। ऐसी यात्राओं का महत्व केवल धार्मिक दृष्टि से माना जा सकता है।

सम्मान-विरोध

युग-पुरुष प्रायः सभी द्वारा समादरित होता है। उसकी महत्ता हो और उसके व्यक्तित्व के समक्ष सभी नत शिर हो जाते हैं। वह अपनी प्रतिभा और अपने चरित्र से ससार को आलोकिक करता है। उसका व्यक्तित्व उस प्रकाश-स्तम्भ के सदृश्य है जो बिना भेदभाव सभी के पथ को आलोकित किया करता है। परन्तु फिर भी अपवाद के रूप मे उसके विरोधियों का अभाव नही रहता है। खल जन अपने विरोध के द्वारा उसके व्यक्तित्व को और भी अधिक प्रोत्साहन और परिष्कार प्रदान करते हैं। इस विपुला पृथ्वी पर ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके प्रशसक ही रहे हों और विरोधी न उत्पन्न हुये हों। राम,कृष्ण,ईसा,मुहम्मद,बुद्ध,सरमद कौन इस कथन का अपवाद कहा जा सका है? यही दशा चरनदास के व्यक्तित्व की है।

---

[1] राजा ईश्वरी सिह तासु इक छोटा भाई।
माधो सिंह शुभ नाम जासु को सुख दाई॥
सो प्रताप सिह जानि श्री महाराजधिराजा।
हरि भक्तन सो नेह बड़ो धर्मज्ञ समाजा॥
तेहि आगे चरचा चली भरी सभा दरबार मे।
चरणदास अवतार है परगट अब ससार मे॥
यह सुनि राजा को बढ़ो दर्शन को अति चाव ही।
कही की चिट्ठी भेजिए लिख दडवत अरु भाव ही॥

लखि राजा के हीय की प्रीति भाव अरु चाह।
चलने की त्यारी करी सतगुरु बेपरवाह॥
दिन दश राजा ढिग रहे दिन दश जैपुर माहि।
बहुत जीव निस्तारि के आये दिल्ली ठाहि॥
बहुत लोग दरशन को आवें। दुख लावे सुख ले घर जावें॥
जो कोइ हरि के प्रेमी आवे। किरपा करके तत्त बुझावे॥
जो कोइ आया पुत्र विहीना। ताहि बचनकहि पुत्र जु दीना॥

इसी संसार के रहने वाले व्यक्तियों ने अपने समय में उनके चरणों पर मस्तक झुकाया एव श्रद्धांजलि अर्पित की और इसी संसार के "जे बिनु काज दाहिने बॉए" व्यक्तिया ने उनका अपमान और विरोध किया । परन्तु संतों का चरित्र एवं व्यक्तित्व पद्मपत्र के समान इस ससार सागर मे विचरता है । तब फिर उनके लिए क्या मान और क्या अपमान, क्या प्रशसा क्या बुराई । न वे किसी की कृपा के भूखा हैं, न प्रेम के लिए लालायित रहते हैं:—

कबिरा खड़ा बजार में चाहत सब की खैर ।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर ।।

इस प्रकार की भावना विकसित हो जाने पर सब तुच्छ प्रतीत होने लगता है। जिन्होंने अपने जीवन मे ही अपने शरीर का परित्याग कर दिया है, उन्हें प्रशंसा और अपमान स्पर्श ही नहीं कर पाता है ।

चरनदास अपने समय में एक युग पुरुष के रूप में पूज्य हुए । हिन्दू मुसलमान-साधू, सन्यासी, गृहस्थ, दीन, धनीं, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सभी वर्ग और वर्णों के व्यक्तियो ने उनका सम्मान किया । 'गुरु भक्ति प्रकाश' के रचयिता रामरूप जी, 'गुरु महिमा' के लेखक रूपमाधुरी शरण जी, तथा अन्य लेखकों ने इस प्रकार की लम्बी सूची का उल्लेख किया है जहां चरनदास जी का विशेष सम्मान हुआ । चमत्कारां में भी इस प्रकार के अनेक उल्लेख हुए हैं । 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में चरनदास के महत्व और सम्मानित होने की सूची बहुत बड़ी है । इनमे से कतिपय घटनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सर्वप्रथम नादिरशाह द्वारा चरनदास का सम्मानित होना उल्लेखनीय है। 'गुरु भक्ति प्रकाश' के अनुसार चरनदास ने नादिरशाह के अभिमान की भविष्य-वाणी तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह के पास लिख कर भेज दी थी। कालांतर में यह बात सत्य घटित हुई। जब कत्ल और लूट बन्द हुई तो नादिरशाह से इस तथ्य का उल्लेख मुहम्मदशाह ने किया। नादिरशाह ने चरनदास को बुला भेजा और करामात दिखाने का हुक्म दिया। चरनदास से असन्तुष्ट होकर उसने उन्हें किले में दो बार बन्द करवा दिया परन्तु प्रत्येक बार चरनदास बाहर निकल आए। अन्त में चरनदास की साधना और करामातों से प्रभावित होकर उसने भांति-भांति से क्षमा-याचना की और बहुत-सी जागीर प्रदान करके सम्मानित किया।[1] नादिरशाह ने निवेदन करते हुए कहा :—

हाथ जोड़ या कहने लागा । मैं दुर्मति में पगा अभागा ।।
तुम्हरी महिमा कछू न जानी । मैं मन में कुछ औरे ठानी ।।

---

[1]. विशेष सविस्तार वर्णन देखिए, इस प्रकरण के उपशीर्षक 'चमत्कार' में ।

अब मैं जानी तुम दरवश । तुमको दुनिया सों नहि लेश ।।
तुम फक्कर हो खुदा रसीद । मेरे गुनाह करो बकसीस ।।
अब मैं समझा विसुवा बीस । मेरे हक मे करो अशीस ।।
बातन ही मे अरु कही बाता । नादरशाह जोड़ दोउ हाथा ।
गाव परगना अब कछु लीजै । करो निजात यही खुशि कीजे ।
मुहर मगाई सौ और एका । भेट धरी कहो लेहु बशेषा ।।
नादिरशाह उठ बाहृ गह खडे, किये महराज ।
बेग भगाई नाल की लई तुरत ही साज ।।

२. दिल्ली का शासक मुहम्मदशाह, चरनदास जी के प्रति विशेष श्रद्धालु था । नादिरशाह के प्रत्यागमन के अनन्तर उसने गद्दी पर आकर उन्हें बहुत सम्मानित किया । इसका वर्णन 'गुरु भक्ति प्रकाश' के अनुसार निम्नलिखित है :-

तीन महीने पीछे चीन्हो । मुहम्मद शाह मिलन को कीन्हो ।
रामरूप कहै दरश को आया । बहुत भेंद देने को लाया ।।
नजर धरी अरु दरशन कीना । बैठन कारण आयुष लीना ।।
चार घड़ी बैठे रहे, बिनती करी बनाय ।
महाराज किरपा करी, उर से लिया लगाय ।।

३. जयपुर की यात्रा करते समय वहाँ के तत्कालीन शासक, उसके पुत्र, अनुज तथा समस्त दरबार ने चरनदास का विशेष सम्मान किया । इस यात्रा का वर्णन प्रस्तुत प्रकरण के पर्यटन शीर्षक के अन्तर्गत हो चुका है । जयपुर से प्रस्थान करत समय वहाँ के तत्कालीन शासक ने हाथी, घोड़े, गाव, पालकी, मुहरे तथा असख्य धन भेंट किया[1] परन्तु चरनदास जी ने उसे लौटा दिया । और एक गांव तथा इक्कीस मुहरे स्वीकार करते हुए कहा—:

हम भी तुम्हारी भक्तिवश आये है यहि ठाव ।
मोको कछू न चाहिये हाथी घोडे गांव ।।
अरस परस बहु प्रीति करि राजा परसन काज ।
एक गाव इक्कीस मुहर भेंट लई महराज ।।
हुआ करे मेला जहा मेले होवे सत ।
सुदी माह की पचमी जिस दिन हाय बसन्त ।।

---

1. ये घोडे ये पालकी ये हाथी ये गांव ।
मुहर रुपैये भेंट हैं रहिये जैपुर ठांव ।।
अब तांई तुम ह्वां रहे अब रहो ह्वांई आय ।
यह परताप सब आपको सो लीजै अपनाय ।।

इन तीन उदाहरणो के अतिरिक्त कवि के जीवन मे अनेक अवसर आए जब वह विशेष रूप से सम्मानित किया गया। उन सभी का उल्लेख एक स्वतत्र ग्रन्थ का विषय है। इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि कवि हिन्दू-मुसलमान, धनी-निर्धन सभी मे समान रूपेण समादरित था।

'गुरुभक्ति प्रकाश' मे अनेक व्यक्तिया द्वारा कवि के विरोध का भी उल्लेख किया गया है। इन विरोध सम्बन्धी सभी उल्लेखो मे महाराज की महत्ता की स्थापना अतिम लक्ष्य है। विरोध सम्बन्धी उल्लेखो मे दो प्रकार के व्यक्ति बार बार व्यक्त हुए हैं। प्रथम मुसलमान हैं और द्वितीय अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी, जिनके हृदय मे स्पर्धा की भावना की प्रबलता थी। यहा पर दो उदाहरणो को उद्धृत कर देना असगत न होगा—

१. नागों द्वारा विरोध

दिल्ली माही इक समय नागे दसै हजार।
आये वे रामत करत तिन मे दो सरदार॥
तिन मे दो सरदार शहर मे भीख चुकाई।
धाये सतगुरु पास नाम की सुनी अवाई॥
कही बैठ ढिग बात भक्ति चहु दिशि मे फैली।
सुनते थे परदेश रहत चरणदासा देहली।
हम आये इस कारणे चरणदास तुम सिद्ध॥
लगी भूख धनी हमें दीजै बहुता ऋद्ध।
दीजै बहुती ऋद्ध करें भोजन जो गहरा।
नहि लेंवेंगे लूट आज यह अस्थल शहरा॥

२. मुसलमानों द्वारा विरोध

भक्ति राज के अस्थल माहीं। आये मुगल चढ़ाये बाही॥
महाराज ने तेज चलाही। रह गया हाथ चली वह नाही॥
फिर दूजे ने तेग चलाई। हाथ बधे हूवा तक नहि आई॥
फिर वे सब चरणो पर गिराया। इक इक शस्तर मेह जो धरिया॥
भय कू देख लोग भज गये। अस्थल मैं दो चाकर रहे॥
भगे जिन्हो कुछ औरे कही। भक्ति राज की देही गई॥
अंतीत सग थे सो सब मारे। भागि बचे सो भाग हमारे॥
सुन सुन बहुत देखने आये। महाराज आनन्द सू पाये॥

चमत्कार

सन्तों के चरित्र के साथ अलौकिक चमत्कारो का समावेश कर देना इस देश की प्राचीन परम्परा है। कदाचित् ही ऐसा कोई भक्त हो जिसके व्यक्तित्व के साथ इस प्रकार की कोतूहल-वर्धक और चमत्कारिक कथाए सम्बद्ध न हो। भारतवर्ष चिरकाल से धार्मिक भावनाओ से आक्रांत रहा है। जहा धर्म है वहां अधविश्वास पहले स्थान पा लेता है। चमत्कार इन्हीं अध विश्वासो के अविच्छिन्न अग हैं। "श्रद्धावान् लभते फलम्" के कारण तर्क के लिए धर्म में कोई स्थान नहीं है, और इसी तर्क-हीनता के कारण चमत्कारो का विकास होता गया। प्राय: चमत्कारों का वर्णन विश्वास और श्रद्धा के विकास में सहायक होता है। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानव और भी अधिक बौद्धिक जीव बन गया है। विज्ञान के इस युग में भौतिक यथार्थवादी जीवन देश की मांग है। आज कल्पनाओं के लिए न मानव-जीवन लालायित है न उसे काल्पनिकता पर आस्था ही है। संतों के चरित्र के साथ सम्बद्ध कथाओं के पीछे हमें उन भक्तों के अंध-विश्वास ही नहीं वरन् उनकी हार्दिक श्रद्धा का भाव भी दृष्टिगत होता है। शिष्यों ने अपने अपने साम्प्रदायिक गुरुओं की महत्ता सिद्ध करने के हेतु उनके विषय में भांति भांति की आश्चर्य-जनक बाने' गढ़ ली हैं। चरनदास इसके अपवाद नहीं है।

चरनदास की जीवनी से सम्बद्ध चमत्कार तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे हैं जिनका साम्प्रदायिक महत्त्व है। इस कोटि में अधिकतर संत चरनदास की सर्वज्ञता, सर्वसामर्थ्यता तथा शक्तिमत्ता के द्योतक हैं। द्वितीय कोटि में वे हैं जिनका साम्प्रदायिक एव राजनीतिक दोनों प्रकार का महत्त्व है। इसमें राजनीतिक व्यक्तियों का गर्व-मोचन तथा चरनदास जी का महत्त्व प्रदर्शन किया गया है। तृतीय कोटि के वे है जिनके द्वारा अन्य साम्प्रदायिक व्यक्तियों की तुलना में चरनदास जी का महत्त्व सस्थापित हुआ है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में अनेक चमत्कारा का उल्लेख हुआ है परन्तु वे सभी इन्हीं तीन श्रेणिया में विभाजित किये जा सकते है इस ग्रन्थ में से कुछ को यहा उदाहरणार्थ उद्धृत किया जाता है:—

१. आठ वर्ष की अवस्था मे बालक चरनदास अपने घर से नाना के घर जाने के लिये कुछ निकट सम्बन्धिया के साथ यात्रा कर रहा था। मार्ग में एक भयानक जगल होकर जाना था। जगल में प्रवेश करते ही एक सिह मिल गया। सब लोग बालक को छोड़कर भगे। परन्तु चरनदास घबड़ाए नहीं। पैर फैलाकर बैठ गये। सिह ने निकट आकर उनके पैर चाटे। थोड़ी देर के बाद सिह चला

गया, और खेत में पहुँचने ही उसने प्राण त्याग कर इन्द्र लोक की यात्रा की[१]।

२ एक खत्री के सात पुत्रियां थी परन्तु पुत्र एक भी नहीं था। वह चरनदास जी की सेवा में अत्यन्त दत्तचित्त रहता था। एक बार उसने अपनी पुत्र कामना निवेदित की। महाराज ने दो पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में फिर दो पुत्री हुई। उसने फिर वही निवेदन किया। महाराज ने कहा वे पुत्री नही पुत्र हैं। हमसे झूठ बोलते हो। उन्हे यहाँ ले आओ। महाराज का प्रताप दोना ही पुत्र हो गए[२]।

३. चरनदास जी ने ईरान से नादिरशाह के आगमन की तारीख, महीना, मिती, वार, मुहम्मद शाह की पराजय, नादिरशाह की विजय आदि सब भविष्य-वाणी के रूप में ६ मास पूर्व मुहम्मद शाह से कह दिया था। जब नादिरशाह भारतवर्ष में आया और दिल्ली की विजय करने के लिये लूट-कत्ल कर चुका तब मुहम्मदशाह ने सब हाल नादिरशाह को सुनाया। यह सुनकर नादिरशाह ने

---

[१] महाराज ततकाल ही दीना पांव पसार।
जब सिंह चाटन लगा सब ही रहे निहार॥
हेत किया सिर कर धरा वर दीना कही जाव।
वा शरीर का छोड़ कर इन्द्रलोक के पांव॥

[२]. वाके बेटी सातक भई। पुत्तर की आशा मनाही।
पुत्तर की चाहत मन माही। सकुच शरम सो कही न जाई॥
अरज दास की यह सुन लीजै। हमारे घर में पुत्तर दीजै॥
केते धोसन माह ही भयी जु बेटी दोए।
जिन जिन आगे कही थी हंसने लागे सोय॥
एक दिना सहजन के मांही। वासे पूछन लगे गुसाई॥
तुमको दो पुत्तर दिये हमही। ताको तुमने कही न कबही॥
गिर ही कही सुनो हे स्वामी। कहा कहूं तुम अन्तर्यामी।
लड़को की लड़की भई ऐसे भाग हमार।
तीन महीना बीतया सकुच न कही तुम्हार॥
कही कि दोनों ह्यांले आओ। उनकी सूरत हमें दिखाओ॥
उठ गिरहीं अवने गृह धाया। नार सहित पुत्री ले आया॥
आगे डार दई कर जोरे। दृष्टि परत पलटो औरे॥
रामरूप चरन दास उचारे। तुम बौरे बौरे नर सारे॥
लड़को को लड़की बतलाओ। कहो भाग तुम कितनी खाओ॥

दर्शन के लिए उन्हें बुलाया। महाराज के जाने पर उसने करामात दिखाने के लिए कहा। तब चरनदास जी ने ताज की ओर देखा तो ताज की कलगी पक्षी बनकर उड़ गई। नादिरशाह ने उन्हें जादूगर समझकर किले में बन्द कर दिया। महाराज अन्तर्ध्यान होकर अपने स्थल पर जा पहुँचे। नादिरशाह ने फिर उन्हें बुलाकर किले में बन्द करवा दिया और चाभी अपने पास रखली। अर्धरात्रि में चरनदास ने प्रकट होकर नादिरशाह के मस्तक पर लात मारी। वह घबड़ाकर उठा और चरणों में गिर पड़ा। महाराज जी ने हृदय से लगा लिया और बहुत से उपदेश दिये। नादिरशाह ने क्षमा-याचना करते हुए उन्हें बहुत से गाँव जागीर के रूप में भेंट किये। चरनदास जी वहाँ से पालकी में अपने स्थल पर प्रसन्नचित्त वापस आए।

४. एक समय श्री वृन्दाबन से एक नागरीदास गुसाईं श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए पुरी जा रहे थे। जगन्नाथ जी ने उन्हें स्वप्न दिया कि तुम वृद्ध हो इतनी दूर आने की कोई जरूरत नहीं है। दिल्ली में चरनदास मेरा ही स्वरूप है, उन्हीं के दर्शन कर लेना। भोर ही नागरीदास जी दर्शन के लिए चल पड़े। चरनदास के स्थल पर देखा तो वहाँ भी बलभद्र जी, तथा सुभद्रा जी एवं जगन्नाथ जी के दर्शन हुए। जब परिक्रमा करके अष्टांग प्रणाम किया तो देखा पीला चोला धारण किए हुए चरनदास जी बिराजमान हैं।

५. एक बार पंजाब से एक राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी साधु ने महाराज के पास आकर निवेदन किया कि आप ने ठाकुर जी के दर्शन किए हैं मुझे भी करा दें। अपने हठवश उसने दो दिन भोजन नहीं किया। अंत में चरनदास जी ने दया करके उसे भी दर्शन करा दिये।

६. एक बार चरनदास जी के शिष्य बैठे हुए भजन कीर्तन कर रहे थे। चरनदास जी भी वहां बैठे थे। सब शिष्यों ने प्रार्थना की कि महाराज आकाश गंगा के स्नान करा दो। महाराज ने आकाश की ओर देखा और आकाश से धारा बह चली। सबने जी भरकर स्नान कर लिया। तब स्वतः धारा बन्द हो गई।

७. एक बार चरनदास जी ब्रज के लिए यात्रा कर रहे थे। मार्ग में बटमारों ने घेर लिया और मार डालने का प्रयत्न किया। महाराज तो बच गए परन्तु बटमारों की क्या दशा हुई इसका वर्णन रामरूप जी की भाषा में इस प्रकार वर्णित है :—

१. 'गुरु महिमा', (अप्रकाशित रचना)।

बाट माहिं अचरज भया मिले सात ठग आय ।
पाछे सो फासी दई हरि ने लिया बचाय ॥

फांसी जल कर हाथ जलाने । तनके कपडे सभी तपाने ॥
भक्ति राज फिर लिये बुझाई । साध बिना को करै भलाई ॥
कर सो मींड मींड दुख मेटा । ठग व्याकुल हो धरणी लेटा ॥
और सबै ठग चरणों परिया । हाथजोड़ कही तुम दुख हरिया ॥
हमारा खोट माफ अब कीजै । कठी बाधो हाथ धरीजै ॥
अब ही सो हम ठगई छांड़ी । मन सो भक्ति राम की माडी ॥
या ही करेंगे राम दुहाई । भजन करै सुख लोग लुगाई ॥
हम सातों ने यह मत लीया । तन मन भेंट तुम्हारी कीया ॥
महाराज इस कठ लगाये । कठी बाधी ,तिलक चढाये ॥
करके साधू कुटिलता खोई । देकर भक्ति बिदा किये सोई ॥

इसी प्रकार चरनदास जी का चरित्र अद्भुत चमत्कारो से परिपूर्ण है। इनमें कहां तक सत्यता है और कहां तक कल्पना एवं श्रद्धा को स्थान दिया गया है, यह उक्त उल्लेखो को पढने से ही स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इन सब के नीचे तथ्य यह है कि चरनदास साधना के क्षेत्र में सिद्ध थे और धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को परिष्कृत एव निर्दोष बनाने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया। समाज के विकास में उनका अपना योग दान था। उन्होंने हीन और अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्तियों मे सुधार किया। सहानुभूति और सहिष्णुता के आधिक्य ने उनमें वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना जाग्रत कर दी थी ,और वे इस प्रकार वृहत्तर मानव समाज के पोषक एवं संस्थापक बन गए थे।

चरनदास की इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें अत्यधिक श्रद्धा के आसन पर ला बैठाया जहां से देवत्व दूर नही प्रतीत होता है। सच तो यह है कि मानवीय भावनाओं का पूर्ण विकास ही देवत्व की स्थिति है।

मृत्यु

अपने महाप्रयाण से दो दिन पूर्व संवत १८३६ के अगहन मास के शुक्ल पक्ष परीवा को उन्होंने शरीर त्यागने की भविष्य वाणी कर दी थी। निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व उन्होने अपने समस्त प्रिय शिष्यों को निकट बुलाकर कहा कि संसार में मेरे आने का लक्ष्य पूर्ण हो गया है। अब मैं अपने धाम को प्रस्थान करना चाहता हूं।[1] यह सुनकर समस्त शिष्य समाज में व्याकुलता और अधीरता

१. दो दिन पहले अस्थल के जो'। लिये बुलाये सत सब थे सो ॥
ढिग बैठाय कहै यो बैना । अब हम जैहै अपने ऐना ॥
जीव चितावन को इयां आये। सो कारज कीने मन भाये ॥
आये थे जिस कारणों सब अब कीने काज ।

का वातावरण छा गया। अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के वियोग से किसे दुख और कष्ट का अनुभव नहीं होता। प्रिय शिष्यो की व्याकुलता देखकर चरनदास जी ने कहा कि यही सब समझ कर मैंने अपनी महायात्रा का हाल अधिक दिन पूर्व नहीं बताया था। पहले से मालूम हो जाने पर अधिक वियोग और कष्ट करना पड़ता। इसी कारण मैंने यह रहस्य नहीं उद्घाटित किया था। मैं तुमसे कभी भी पृथक् नहीं हूँ। यही मेरा अन्तिम सन्देश है कि सब घट मे ब्रह्म विद्यमान हैं। ब्रह्म और सद्गुरु से स्नेह रखो। दोनो भिन्न कभी नहीं हैं। भगवान भक्त वत्सल है। वियोग और दुख की बात ही क्या है। तुम भी निश्चय ही एक दिन इस जीर्ण काया का परित्याग करके मेरे धाम मे प्रवेश करोगे। इस ससार मे रहते हुए जब भी तुम मेरा ध्यान करोगे तो अपने हृदय मे ही उपस्थित पाओगे।[1]

सद्गुरु के इन वचनों को सुनकर रामरूप जी ने उनसे शरीर त्याग करने की विधि पूछी। चरणदास जी ने कहा कि :—

सुनु शिष तै पूछी भली यह थी पूछन जोग।
तन त्या गूगो योग विधि तू मत कर मन सोग ॥
जो मैं कीना जगत मे सो मर्यादा हेत।
भक्ति बढ़ावन कारनें हम आये या खेत ॥
सोई अब मैं करू गा मर्यादा की रीति।
दशवां द्वारा छेद कर जैहौ निज पुर नीत ॥
योग कमाई हम करी तरुण अवस्था माहि।
ताहि करेंगे सुफल अब दो दिन है इहि ठाहि ॥
दो दिन बीते जायगे परम धाम को तात।
दशम द्वार की गैल हो चार घड़ी रहे रात ॥
बरस उन्नासी ह्यां रहे और महीने तीन।
परमारथ हित तन धरा अब ह्वै हूँ हरि लीन ॥

---

[1]. सुनते ही ऐसे वचन सब सिष भये बिहाल।
तरफत व्याकुल दुखित अति बिछुरन जान दयाल ॥
लखि के ऐसी विकलता फिर बोले अवतार।
यही समझ हम ना कहा पहले सो निजसार ॥
कहत बहुत दिन पहले जो बढ़ता अधिक वियोग ॥
अति प्रेमी तन त्यागते घर घर होता सोग ॥
अरु होती भीड़ जो अति बहुत लोग।
दूर दूर को चालते सुनि के बिछुरन जोग ॥

जब महाप्रयाण का समय निकट आया तो चरनदास जी ने पलंग के पास भूमि पर गद्दी बिछवा ली और उसी पर पद्मासन लगाकर बैठ गए। इसके अनन्तर उन्होंने सबसे शांति धारण करने का आदेश दिया। सब लोगों ने आंखों में अश्रु भर भर कर सद्गुरु के श्री चरणों में अपना अंतिम प्रणाम अर्पित किया। इसके पश्चात् चरनदास जी ने प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को दशम द्वारा पर चढ़ा लिया। कालान्तर में ब्रह्मांड विदीर्ण हो गया और प्रकाश पुंज में प्राण वायु समाहित हो गई। ब्रह्मांड के विदीर्ण होते ही आकाश में ध्वनि हुई। शंख, नगाड़ा आदि वाद्यों के रव से आकाश गुंजरित हो उठा। आकाश अलौकिक वाद्य ध्वनियों से परिपूरित हो गया और समीपवर्ती स्थित साधु मंडली अत्यधिक व्याकुल हो गई। इसके अनन्तर शिष्यों की वियोगावस्था वर्णनातीत है। चरनदास जी के शरीर परित्याग का रामरूप जी ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यहां पर उन पंक्तियों को उद्धृत किया जाता है :—

जब ही आया वह समय लोगादी बिछवाय ।
उतर पलग सो धीर बुधि वापर बैठे जाय ॥
आसन पदम लगाय के यों कही श्री महाराज ।
अब हम सो मत बोलियों सब को जै महराज ॥
सभी करी दडवत ही रो रो व्याकुल होय ।
भक्ति राज करिन लगे फिर ना बोले कोय ॥
करके प्राणायाम ही दशवें प्राण चढाय ।
चले खोल ब्रह्मांड पट मिले नूर में जाय ॥
तब से भई अवाज ही जै जै गगन मझार ।
शंख नगारा ध्वनि हुई अजगैबी वह बार ॥
भया चांदना भवन में निकसी ज्योति अनूप ।
मिले नूर में नूर ही जो था आदि स्वरूप ॥
गगन मंडल बाजे बजे कल में हाहाकार ।
लाख बिछोह महराज का पीड़ा भई अपार ॥

इस प्रकार चरनदास जी ने अगहन शुक्ल पक्ष तीज संवत १८३८ को नाशवान् शरीर का परित्याग कर अमरलोक की ओर महाप्रस्थान किया।

तृतीय अध्याय

चरनदास का साहित्य

सत साहित्य के उज्वल रत्न तथा सुकवि चरनदास का पद्य-साहित्य पर्याप्त, विस्तृत, व्यापक और गभीर है। उनका पद्य-साहित्य, वर्ण्य-विषय, प्रतिपादित विचारधारा एव शैली की दृष्टि से विभिन्न वर्गों मे विभाज्य है। कवि की प्रतिभा का जितना सुन्दर प्रसार और प्रकाश वेदान्तविषयक प्रसगो मे हुआ है, उतना ही योग, ज्ञान और भक्ति विषयो मे भी। कवि की "नासकेत लीला" इस बात की द्योतक है कि उपाख्यान और इतिवृत्तात्मक ग्रन्थो की रचना मे भी कवि की प्रतिभा समान रूप से प्रसरित हो सकी है और उसमे कथा कहने की अद्भुत शक्ति है। उसका शब्द-साहित्य, काव्य और कला की दृष्टि से जितना ही विभिन्नता पूर्ण है उतना ही महत्वपूर्ण भी। भाषा पर उसका अच्छा अधिकार था। अन्य सन्तों के समान एक ही भाव को अनेक शैलियो में व्यक्त करने मे उन्हें भी आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। काव्य-साहित्य मे सत-कवि सुन्दरदास के अनन्तर भाषा विषयक जितने प्रयोग चरनदास ने सफलतापूर्वक किये हैं, उतने किसी भी अन्य सत-कवि ने नहीं किये।

सत कवि चरनदास-कृत उपलब्ध ग्रन्थों की सख्या इक्कीस है। इनके अतिरिक्त शब्दों एवं साखियो की सख्या शतशः है। कवि का स्फुट-साहित्य और ग्रन्थ-साहित्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण और कलात्मक है।

चरनदासी-सम्प्रदाय एक जीवित और जाग्रत सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहजोबाई, दयाबाई, गुरुभक्तानन्द, सरसमाधुरीशरण जैसे सुकवि और आध्यात्मिक साहित्य-स्रष्टा-साहित्यकार और रूपमाधुरीशरण जैसे गद्यकारो का आविर्भाव हुआ। इन साहित्यकारों का साहित्य के क्षेत्र में सुन्दर और उपयोगी योग-दान है। सता द्वारा सस्थापित सम्प्रदाया मे इतना जाग्रत और जीवित सम्प्रदाय अन्य नहीं है। इसी सजीवता के फलस्वरूप सत कवि चरनदास के प्रायः समस्त ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो गए हैं। इन ग्रन्थो का प्रकाशन दो स्थानों से विभिन्न समयो में हुआ है। सर्वप्रथम सन् १६०८ मे वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से कवि का यह साहित्य प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर कवि के ग्रन्थ और स्फुट पद्य-साहित्य का एक साथ प्रकाशन लखनऊ के प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस से हुआ है। इस प्रकार कवि का समस्त साहित्य प्रकाश मे आ चुका है।

चरनदास के ग्रन्थों का उल्लेख पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने स्थान-स्थान पर किया है। साहित्य के इतिहासकारों ने भी इस कवि के ग्रन्थों के परिचयात्मक विवरण अपने ग्रन्थो मे प्रस्तुत किये हैं। धार्मिक-साहित्य के आलोचक और सम्प्रदायों के इतिहासकारो ने कवि के ग्रन्थो का भी स्थान-स्थान पर विवरण दिया है।

पाश्चात्य विद्वानो में से सर्वश्री जेम्स हेस्टिंग्ज, एच० एच० विल्सन, विलियम क्रुक्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर तथा भारतीय विद्वानों मे सर्वश्री क्षितिमोहन सेन, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, रामकुमार वर्मा, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, शिवदयालु गौड़ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सत चरनदास के ग्रन्थों का परिचयात्मक उल्लेख अपने ग्रन्था मे किया है।

इन पाश्चात्य एव भारतीय लेखकों के अतिरिक्त डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एव श्री हरिऔध जैसे साहित्य के इतिहासकर, श्री भुवनेश्वर माधव, सम्पादक सत-बानी सग्रह, सम्पादक चरनदास की बानी, सम्पादक योगांक, श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा रूपमाधुरीशरण जैसे सत साहित्य पर ग्रन्थो की रचना करने वाले विद्वानों ने कवि के ग्रन्थों का उल्लेख बिलकुल नही किया है। उनका यह मौन आश्चर्यजनक है।

श्री जेम्स हेस्टिंग्ज के मतानुसार चरनदास के मौलिक ग्रन्थों मे भक्तिसागर, सन्देह सागर, ज्ञान स्वरोदय, धर्म जहाज, ब्रह्म विद्यासागर तथा नासिकेतोपाख्यान उल्लेखनीय है[१]। इस सूची में कवि के ६ ग्रन्थों का उल्लेख श्री जेम्स हेस्टिंग्ज ने किया है। इसी सूची की द्वितीय पुस्तक का नाम श्री हेस्टिंग्ज के अनुसार सन्देह-सागर है। परन्तु कवि के पुस्तक के अन्तस्साक्ष्य से इस ग्रन्थ का नाम योगसन्देह-सागर है। इसी प्रकार श्री हेस्टिंग्ज द्वारा उल्लिखित पचम एवं षष्टम् ग्रन्थ है—ब्रह्म विद्यासागर तथा नासिकेतोपाख्यान। अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इनका नाम ब्रह्म-ज्ञान सागर, तथा नासकेत लीला है जैसा कि ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

श्री एच० एच० विल्सन के मतानुसार कवि के 'सन्देह सागर' एव 'धर्मजहाज' ग्रन्थ प्रामाणिक रचनाए हैं।[२] श्री विलियम क्रुक्स ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ट्राइब्स

---

१. His original works include Bhakti-Sagar, Jnan-Swarodaya, The Sandeh Sagar, The Dharm Jahaj, Brahamavidya Sagar, The Nasiketopakhyana, Encyclopedia of Religion and Ethics vol.3.p.368

२. He has also left original works as the Sandeh Sagar and Dharm-Jahaj in a dialogue between him and his teacher Sukh Deva-f, the Same according to the Charn Das as the pupil of Vyas and the narrator of the Purans –Esrays and Lecture on the Religion of the Hindus Vol 1, 1862 p. 180

एंड कास्ट्स आफ एन० डब्ल्यू० पी० एंड अवध' में कवि के द्वारा लिखित 'सन्देह सागर' तथा 'धर्म जहाज' का उल्लेख किया है।

'राजपूताना गजेटियर' के सपादक ने चरनदास की 'सन्देह सागर,' 'धर्म जहाज' तथा 'नासाकेत्र' नामक रचनाओं का परिचयात्मक विवरण उक्त गजेटियर में दिया है। परन्तु इस उल्लेख में तृतीय ग्रन्थ 'नासाकेत्र' का वास्तविक नाम 'नासकेतलीला' है, जैसा उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य से प्रकट होता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार चरनदास ने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है। कवि के अन्य ग्रन्थो मे 'भक्तिसागर,' 'ज्ञान स्वरोदय', 'योग सन्देह सागर', 'धर्म जहाज', 'ब्रह्म विद्या सागर' 'नासिकेतोपाख्यान' का उल्लेख भी श्री ग्रियर्सन ने 'श्री शुकसम्प्रदाय प्रकाश' में किया है[1]।

भारतीय विद्वानों में सर्वश्री क्षितिमोहन सेन ने 'सन्देहसागर,' 'धर्म जहाज[2]' प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, ने 'ज्ञान स्वरोदय'[3], डा० रामकुमार वर्मा ने 'अमर लोक अखंड-धाम', 'भक्ति पदार्थ' 'ज्ञान स्वरोदय,'[4] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'ज्ञान स्वरोदय'[5] तथा शिवदयालु गौड ने 'ब्रज चरित्र', 'अमर लोक,' 'अष्टांग योग,' 'धर्म जहाज', 'सन्देह सागर,' 'ज्ञान स्वरोदय', 'भक्ति पदार्थ', 'पचोपनिषद् सार', तथा 'ब्रह्म ज्ञान सागर'[6] ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त इन पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानों के उल्लेखानुसार कवि की निम्नलिखित रचनायें हैं :—

१. धर्मजहाज २. सन्देहसागर ३ ज्ञान-स्वरोदय ४. अमरलोक-अखंड-धाम ५. भक्ति-पदार्थ ६. ब्रजचरित्र ७. अष्टांगयोग ८. पचोपनिषद्सार ९. ब्रह्मज्ञानसागर १० नासकेत-लीला ११. भक्ति-सागर।

---

१. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश' पृष्ठ २०

२. मेडीवियल मिस्टीसिज़्म

३ इन्हे स्वरो का भी पूर्ण ज्ञान था। इनका बनाया 'ज्ञान स्वरोदय, नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। 'भक्त चरितावली', भाग १, पृष्ठ ३४६

४ इनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'अमर लोक अखंड धाम', 'भक्ति पदारथ', 'ज्ञान स्वरोदय' और 'शब्द'।

५. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ५०५

६. जिनकी वाणी विविध विधि अद्भुत अनुपम ग्रन्थ।
नाम भक्ति सागर सरस, प्रेम परा को पन्थ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को अपने प्रस्तुत खोजकार्य के सम्बन्ध में कवि की निम्नलिखित रचनायें हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हुई हैं। इन ग्रन्थों की संख्या, ग्रन्थों के शीर्षक, प्राप्ति स्थान अथवा सूत्रों का विवरण निम्नलिखित है। चरन-दास के उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची २० है।

संख्या	ग्रन्थों के शीर्षक	प्राप्ति स्थान अथवा सूत्र
१.	ब्रज-चरित	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
२	दान लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
३.	माखनचोरी लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
४.	मटकी-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
५	चीरहरण-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
६	काली-नथन-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
७	कुरुक्षेत्र-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
८.	अमरलोक-वर्णन	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
९.	धर्म-जहाज	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
१०.	अष्टांग-योग	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र

ब्रजचरित तामें प्रथम, अमर लोक शुचि नाम।
रासादिक लीला ललित, अरु महिमा निज धाम॥
कर्मकाण्ड शुभ अशुभ फल, कथन किये महराज।
नाम धर्यो ताको प्रभू, अनुपम धर्म जहाज॥
योग युक्ति जामें भरी, सब विधि सांगोपांग।
याही ते याको धर्यो, नाम योग अष्टांग॥
सागर योग सदेह की, पुस्तक बानी गूढ़।
गुरु मुख ज्ञानी जन बिना, अर्थ न समझे मूढ़॥
योग स्वरोदय पुनि रच्यो, स्वर को भेद अपार।
ताहि पढ़े कर प्रेम जो, पावे तत्व विचार॥
वेद अथर्वण की कही, पंच उपनिषद् सार।
भाषा में वर्णन करी, योग ज्ञान निरधार॥
भक्ति पदारथ पुनि कथ्यो, श्रुति पुराण को सार।
अगुन सगुन हरि रूप को, कियो तत्व निरधार॥
दत्तात्रेय मुनि ने किये, गुरु चौबीस उदार।
ताकी कथा कही भलो, नाम सु [illegible]॥

पाश्चात्य विद्वानों एव इस देश के लेखकों के द्वारा उल्लिखित सूची और लेखक द्वारा अन्वेषित ग्रन्थो की प्रस्तुत सूची मे निम्नलिखित नौ-ग्रन्थो का अत पता है :—

१. दान लीला २ माखन-चोरी-लीला ३. मटकी-लीला ४. चीरहरण-लीला ५ काली-नथन-लीला ६. कुरुक्षेत्र लीला ७. जागरण माहात्म्य ८. मनविकृत-करणसार ९. श्रीधर-ब्राह्मण लीला।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक उपर्युक्त इन २० ग्रन्थो को कवि चरनदास की प्रामाणिक रचना मानता है। ग्रन्थो पर पृथक् विचार एव विवेचना करने के पूर्व इन ग्रथों की प्रामाणिकता पर विचार कर लेना आवश्यक है।

ग्रन्थों की प्रामाणिकता

चरनदास के ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर विचार करने के पूर्व हमे कसोटी प्रस्तुत कर लेना होगा। किसी ग्रन्थ की प्रामाणिकता हम उसकी भाषा, शैली विचार परम्परा, अभिव्यक्त भावावली, परम्परानुगत भावों का चित्रण, कवि के नाम की छाप, छन्दो का प्रयोग तथा गद्दी एव मठो मे उसकी मान्यता आदि से आंक

जीव ब्रह्म की एकता, कही खोल निरधार।
ब्रह्म ज्ञान सागर धर्यो, ताको नाम विचार॥
सुनि परिशिष्ट सुभाग मे, दशम स्कन्धनुसार।
श्रीकृष्ण लीला ललित, अनुपम युगल विहार॥

सकते हैं। इस परीक्षण के आधार पर हम किसी ग्रन्थ की प्रामाणिकता का मूल्याकन कर सकते हैं। चरनदासजी के ग्रन्थों पर भी हम इसी दृष्टि से विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम कवि की रचना 'योग सन्देह सागर' पर विचार करेंगे। कवि की समस्त रचनाओं में 'योग सन्देह सागर' ही एक ऐसी रचना है, जिसका उल्लेख साहित्य के इतिहासकारों ने सबसे अधिक किया है। सर्वश्री एच० एच० विल्सन, डब्ल्यू० क्रुक्स, जेम्स हेस्टिंग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर, क्षितिमोहन सेन, शिवदयालु गौड, परशुराम चतुर्वेदी, आदि ने इसे चरनदास की प्रामाणिक रचना माना है। दिल्ली, डेहरा, बहादुरपुर के मठ और गद्दियाँ जिनका कवि के व्यक्तित्व और जीवनी से बड़ा निकट और घनिष्ट सम्पर्क रहा है, इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा और शैली गौढ है। इसकी भाषा और शैली का रूप बहुत कुछ 'ज्ञान स्वरोदय', 'अष्टांग योग', "ब्रह्मज्ञान सागर', 'पचोपनिषद् सार' एव 'मन विरक्तकरण सार' से साम्य रखना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यक्त भावावली एव विचारधारा वही है, जिसकी साधना चरनदास ने जीवन-पर्यन्त की और जिसका प्रचार उन्होंने अपने सम्प्रदाय में किया था। यह ग्रंथ 'अष्टागयोग' का पूरक ग्रथ प्रतीत होता है। यह भी निश्चित है कि इसकी रचना कवि ने 'अष्टागयोग' के बाद में की था। इस ग्रन्थ में श्री शुकदेव से प्राप्त योग की परम्परानुगत विचार-धारा का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है। स्थान-स्थान पर कवि के नाम की छाप 'चरनदास का गुरु शु देव' भी उपलब्ध होता है, जो प्रामाणिकता सिद्ध करने में सहायक प्रतीत होता है। ग्रन्थ की रचना कवि के प्रिय छद दोहा-चौपाई में हुई है। मठो में आज भी इसकी प्रतिया पूजा और आराधना की वस्तु है। अतः यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

अष्टांगयोग

प्रस्तुत-ग्रन्थ कवि की सबसे प्रौढ और परिपक्व रचना है। विषय-प्रतिपादन, वर्ण्य-विषय की गम्भीरता तथा भाषा और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से यह कवि का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली ज्ञानस्वरोदय, पचोपनिषद् सार, ब्रह्मज्ञानसागर एव योगसन्देह सागर से साम्य रखती है, जो कि कवि का सर्वमान्य रचनाए समझी जाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे श्री शुकदेव से उपदिष्ट योग विषयक विचार-धारा एव विचार-परम्परा की अभिव्यंजना हुई है। स्मरण रखना आवश्यक है कि आज दिन भी चरनदासी-सम्प्रदाय में योग, ज्ञान एव स्वर साधना आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस सम्प्रदाय में पाई जाने वाली अथवा उपलब्ध यह साधना श्री शुकदेव जी द्वारा उपदिष्ट विचार-परम्परा में ही है। अतएव इस ग्रन्थ में परम्परागत भावों का ही चित्रण हुआ है। कहना न होगा कि कवि ने अपने जीवनकाल में भी इन्हीं सिद्धांतों की साधना और

प्रचार किया था। 'गुरु भक्ति प्रकाश' में कवि द्वारा चौदह वर्ष तक योग-साधन करने का एक स्थान पर उल्लेख भी हुआ है। ग्रन्थ मे 'शुकदेव कहै सुनि चरणहिदासा', 'कहैं शुकदेव चरणही दासा' आदि कवि के नाम की छापें अंकित है। प्रस्तुत ग्रन्थ के आदि मे कवि का कथन है:—

चरणदास अपनो कियो, चरणन लियो लगाय।
शिर कर धरि सब कछु दियो, भक्ति दई समझाय॥
बालेपन दरशन दिये, तबही सब कछु दीन।
बीज जु बोया भक्ति का, अब भया वृक्ष नवीन॥
दिन दिन बढता जायगा, तुम किरपा के नीर।
जब लग माली ना मिला, तब लग हुता अधीर॥
अरु समझाये योग ही, बहु भाती बहु अग।
ऊरध रेता की कही, जीतन विन्द अनग॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्री शुकदेव ने कवि को विशेष रूप से योग-मार्ग मे दीक्षित किया था और इसी दीक्षा के फलस्वरूप कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। ग्रन्थ की रचना कवि ने अपने प्रिय छन्दों (दोहा और चौपाइयों) में की है। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ सम्प्रदाय के मठो और गद्दियों मे आज भी उपलब्ध होती है। वर्तमान महन्त इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

उक्त आधारों पर हम इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

पंचोपनिषद्सार

'योग-सन्देह-सागर,' ब्रह्म-ज्ञान-सागर,' 'अष्टागयोग', 'ज्ञान-स्वरोदय' के समान 'पचोपनिषद् सार' भी कवि की सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा एवं शैली का उपर्युक्त अन्य ग्रन्थों की भाषा-शैली से पूर्णतया साम्य है। उपनिषदों की शिक्षा और ज्ञान कवि को श्री शुकदेव से दीक्षा के रूप मे प्राप्त हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणो से प्रकट होता है:—

वेदहि की उपनिषद् जु मैं भाषाकारी।
जो कुछ था वहि माँहि सोई जैसे धरी॥
... .. .

जोपै करै विचार और गुरु सो लहै।
वाकी गहनी गहै और रहनी रहै।
गुरु शुकदेव प्रताप सो चितते गाइया।
चरणहिदासा होय सबन शिर नाइया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'पचोपनिषद् सार' मे श्री शुकदेव से प्राप्त परम्परागत विचारधारा का चित्रण हुआ है। इस ग्रन्थ में व्यक्त भावावली ब्रह्म की अद्वैत-सत्ता, प्रणव-महिमा, जीव, आत्मा एव ब्रह्म का साम्य एव भेद, सोऽह

एव हंस मन्त्रों की सर्वश्रेष्ठता आदि को आज भी चरनदासी सम्प्रदाय मे मान्यता प्राप्त है। इसके अतिरिक्त कवि के अन्य ग्रन्थ 'योग सन्देह-सागर,' 'ब्रह्मज्ञान सागर,' 'अष्टाग योग,' तथा 'भक्ति पदार्थ' आदि ग्रन्थों में 'पञ्चोपनिषद् सार' में प्रतिपादित विचार धारा ही लहरें ले रही है। ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें 'चरणदासा', 'चरणदास', 'चरणदास यों कहत हैं' आदि सर्वत्र उपलब्ध होती है। ग्रन्थ की रचना दोहा-छन्द मे हुई है। चरनदासी सम्प्रदाय के मठों मे और गद्दियों पर यह ग्रन्थ नित्य पाठ और आरती की वस्तु है। वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास इसे एक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

उपर्युक्त आधारों पर हम इस ग्रन्थको कवि कीएक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

ब्रह्मज्ञान-सागर

सर जार्ज ग्रियर्सन, जेम्स हेस्टिंग्ज तथा शिवदयालु गौड़ आदि लेखकों ने इसे कवि की प्रामाणिक रचना माना है। इस ग्रन्थ की भाषा एव अभिव्यजना शैली कवि की अन्य सर्वमान्य प्रामाणिक रचनाओं—'योग सन्देह सागर', 'अष्टाग योग', 'ज्ञान-स्वरोदय, तथा 'पचोपनिषद् सार' की भाषा शैली से साम्य रखती है। चरनदास ने अपने सम्प्रदाय मे जीवनपर्यन्त निर्गुण-निराकार परब्रह्म का उपदेश दिया था। द्वैत भावना के भारी भ्रम मिट जाने पर कवि को गुणातीत ब्रह्म का स्पष्ट ध्यान हो आया था। इस द्वैत के मिट जाने पर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की था जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

> भूल हुई जब दो हुते, अब नहि एक न दोय।
> अटक उठी धोखो मिटो, अपनाहूँ गयो खोय॥
> अद्वै अचल अखड है, अगम अपार अथाह।
> नही दूर नहि निकट है, सतगुरु दियो बताय॥

इस द्वैत-भावना के विनष्ट हो जाने पर कवि ने प्रस्तुत-ग्रन्थ में जिस ब्रह्म की विवेचना की है वह उपनिषदो में वर्णित ब्रह्म-विषयक धारणा से नितात साम्य रखती है। कवि की ब्रह्म-विषयक प्रस्तुत धारणा उसके 'पञ्चोपनिषद् सार,' 'योग सन्देह सागर', आदि ग्रथों में प्रतिपादित हुई है।

> नाहि सूक्ष्म अस्थूल न भारी। रूप रग नहि है परकारी॥
> आर पार कछु दीखत नाहीं। कबसो है अरु कबसों नाहीं॥
> कहां कहौ कछु कहत न आवै। गूगो स्वप्न कहा बतावै॥
> हद कहूँ तो है नहीं, बेहद कहौ तो नाहि।
> हद बेहद दोनों नहीं, चरनदास भी नाहि॥
> निर्गुण ना सर्गुण नहीं, उपजै ना मिटि जाय।
> सब कुछ है अरु कछु नहीं, सदा ब्रह्म थिर थाय॥

ये भाव और ये पंक्तियाँ निश्चय ही चरनदास की अपनी व्यक्तिगत रचना है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। ये पंक्तियां स्वतः ग्रन्थ की प्रामाणिकता को उद्घोषित करती हैं—यह सबसे सबल प्रमाण है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त ग्रन्थ मे कवि के नाम की छापें, दोहा, चौपाइयों (कवि के सर्वप्रिय छन्द) मे ग्रन्थ की रचना और इसकी प्रतियो का मठो एव गद्दियों पर पूज्य होना, ग्रन्थ की प्रामाणिकता को और भी अधिक बल प्रदान करते है। निश्चय ही यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

ज्ञान-स्वरोदय

श्री जेम्स हेस्टिंग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, डा० रामकुमार वर्मा, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी एवं शिवदयालु गौड आदि विद्वानों ने इसे कवि की प्रामाणिक रचना माना है।

'ज्ञान स्वरोदय' की भाषा-शैली कवि की अन्य प्रामाणिक रचनाओं, 'अष्टाग-योग', 'योग सन्देह सागर' आदि से पूर्ण साम्य रखती है। इसमे चिन्तन की वही गभीरता और अभिव्यजना की वही स्पष्टता उपलब्ध होती है जो 'अष्टाग योग' या 'योग सन्देह सागर' में उपलब्ध होती है। भाषा की प्रौढ़ता अन्य ग्रन्थों ('अष्टाग योग' एव 'योगसदेहसागर') से साम्य रखती है।

'स्वरोदय' की शिक्षा चरनदास को श्री शुकदेव से प्राप्त हुई थी। श्री शुकदेव-सम्प्रदाय मे आज भी स्वरोदय साधना, आध्यात्मिक-साधना का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। परम्परा मे यह ज्ञान कवि को श्री शुकदेव से प्राप्त हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से ज्ञात होता है :—

धरणि टरे गिरिवर टरै, ध्रुव टरै सुन मीन।
वचन स्वरोदय ना टरै, कहै दास रणजीत॥
शुकदेव गुरू की दया सों, साधु दया सो जान।
चरनदास रणजीत ने, कह्यो स्वरोदय ज्ञान॥

इन पंक्तियो मे कवि का स्वरोदय-ज्ञान के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास प्रकट होता है, साथ ही यह ज्ञानार्जन की परम्परा को स्पष्ट कर देता है। स्पष्ट है कि इस ग्रथ में व्यक्तभावावली का उपदेश कवि को अपने गुरुदेव से प्राप्त हुआ था। इस ग्रथ में परम्परानुगत भावो की अभिव्यजना की गई है। इन प्रमाणों के आधार पर इसे हम कवि की प्रामाणिक रचना कहने मे सकोच का अनुभव नहीं कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त ग्रथ में कवि के नाम की छापें, 'चरणदास शुक-देव बतावै,' 'चरणदास,' 'शुकदेव कहै चरणदास' अंकित है। प्रस्तुत-ग्रन्थ की

रचना दोहा और चौपाई छन्दों में हुई है, जो अन्य ग्रन्थों की रचना के आधार हं।

'ज्ञान स्वरोदय' की प्रामाणिकता का सबसे श्रेष्ठ प्रमाण चरणदासी-सम्प्रदाय मे इस विज्ञान की अत्यधिक मान्यता है। दीक्षा मत्र के बाद शिष्य को महन्त आज भी योग और स्वरोदय विज्ञान की शिक्षा देते हैं। चरनदासी-शिष्य आज भी स्वरोदय-विज्ञान के द्वारा अपने कार्य की पूर्त्ति और भविष्य मे घटित होने वाली घटना का ज्ञान प्राप्त करते हुए देखे गये है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्वास-प्रश्वास सचालन जहाँ एक ओर उनके जीवन का आधार बना हुआ है वहां दूसरी ओर यही श्वास-प्रश्वास नियंत्रण तथा सन्तुलित आवागमन उनके साधना का जीवन है। इस सम्बन्ध मे सविस्तार विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के आध्यात्मिक साधना परिच्छेद मे की गयी है। यहाँ पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए इतना कह देना और आवश्यक है कि इस ग्रन्थ की प्रतियाँ बिना किसी अपवाद प्रत्येक मठ और गद्दी पर मिलना कवि की प्रतिष्ठा और ग्रन्थ की प्रामाणिकता की द्योतक हैं।

मन-विरक्तकरणसार

प्रस्तुत रचना 'ज्ञान स्वरोदय,' 'पचोपनिषद् सार,' 'अष्टांग योग,' 'ब्रह्मज्ञान सागर' एव 'योग सन्देह सागर' से पूर्व विरचित ग्रन्थ प्रतीत होता है।

भाषा और शैली के दृष्टिकोण से 'धर्म जहाज,' भक्ति सागर,' 'भक्ति पदार्थ' एव 'नासकेत लीला' समकक्ष रचनाए है। ये समस्त ग्रन्थ कवि की काव्य-प्रतिभा, शैली-परिमार्जन और भाषा प्रौढता के विकास की द्वितीय श्रेणी प्रतीत होते हैं। 'भक्ति सागर' की विवेचना और प्रामाणिकता पर विचार करते हुए हमने देखा था कि यही एक ऐसी रचना है जिसके अत मे स्वय कवि ने आत्म-चरित और आत्म-परिचय का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ रचना के लक्ष्य एव प्रेरणादि का उल्लेख किया है। इस आधार पर हम उसे कवि की अत्यधिक प्रामाणिक रचना मानते हैं। 'मन-विरक्त करण-सार' की भाषा का 'भक्ति सागर' की भाषा स [illegible] न कुछ साम्य है। शब्दों का वही चयन, भाषा का वही प्रवाह, उपमा और उदाहरणों की वही अभिनवता जो 'धर्म जहाज', 'भक्ति सागर' और 'भक्ति पदार्थ' आदि रचनाओं मे उपलब्ध होता है, वह यहा भी दृष्टिगत होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि ने लिखा है :—

'एकादश भागवत में, जाकी यह मति ज्ञान।
दत्तात्रेयी ने कह्यो, राजा यदु सों ज्ञान ॥

चरणदास हौ कहत हौ, परमारथ के काज ।
जो अग श्री भागवत मे, साधु होन के साज ॥
गुरु शुकदेव प्रताप सों, कहूं विचार विवेक ।
दत्तात्रेयी ने किधो, चौबीसो गुरु देख ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ मे व्यक्त उपर्युक्त भाव से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना श्री गुरुदेव की प्रेरणा से की थी। उपर्युक्त ग्रन्थ की विचार धारा और व्यक्त भावावली ज्ञानयोग और ससार-विरक्ति म सम्बन्धित है । स्मरण रखना चाहिए कि कवि के समस्त ग्रन्थो मे (बिना किसी अपवाद के) योग, ज्ञान, और वैराग्य की यही भावना व्यक्त मिलती है। कवि का स्फुट काव्य इस भाव-धारा से ओतप्रोत है, अतएव विचार परम्परा, व्यक्तभावावली एव परम्परानुगत भावो के चित्रण की दृष्टि से इस रचना की प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं होता है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त कतिपय अन्य सूत्र भी विचारणीय हैं जो ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्धारण में सहायक होगे। ग्रन्थ मे कवि के नाम की छाप प्रत्येक दोहा के अनन्तर उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ मे कवि के नाम की छाप है "चरणहिदास"। वर्तमान मठो और गद्दियों के अध्यक्षो द्वारा प्रस्तुत-ग्रन्थ मान्यता प्राप्त कर चुका है। आज भी इन स्थानो पर इसका दैनिक पाठ और सामयिक वार्तालाप या वाद-विवाद मे उल्लेख होता रहता है।

भक्तिसागर

डाक्टर रामकुमार वर्मा, प० परशुराम चतुर्वेदी, श्री शिवदयालु गौड प्रभृति विद्वान् प्रस्तुत रचना को चरनदास का प्रामाणिक ग्रन्थ मानते है। ग्रन्थ के अन्त मे उल्लिखित निम्नांकित पक्तियो से भी हम ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्धारित करने म सफल होते हैं :—

सवत् सत्रह सै इक्यासी। चैत सुदी तिथि पूरणमासी ॥
शुक्ल पक्ष दिन सोमहिवारा। रचो ग्रन्थ यो किये विचारा ॥
तब ही सूं अस्थापन धरिया। कछु इक बानो वा दिन करिया ॥
तामे ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जामे अनुरागा ॥
ना में किया न करने हारा। गुरु हिरदे मे आय उचारा ॥

इन पक्तियों में कवि ने ग्रन्थ का रचना तिथि और प्राप्त प्रेरणा का उल्लेख किया है। गणनानुसार कवि ने इस ग्रन्थ की रचना अपने जीवन के इक्कीसवे वर्ष मे की थी। इसकी भाषा और शैली 'धर्म जहाज,' 'भक्ति पदार्थ' एव 'मनविरक्त-करणसार' से साम्य युक्त है। 'भक्ति सागर' की शैली और अभिव्यजना-पद्धति काव्यकला की विकासावस्था की द्वितीय मंजिल प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ में कवि के ही शब्दो मे 'तामे ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जामे अनुरागा'—इसका प्रतिपाद्य विषय ज्ञान, योग और वैराग से सम्बन्धित है, जिसका उपदेश कवि को सद्‌गुरु शुकदेव से प्राप्त हुआ था। कहना न होगा कि यही विचार परम्परा और अभिव्यक्त-भावावली कवि के सम्प्रदाय की मुख्य विचारधारा है। इसी का प्रकाश और विस्तार कवि की प्रायः सभी रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध होता है। प्राणायाम, प्रणव-जप, और योग की अन्य साधना जिनकी अभिव्यक्ति कवि की अन्य रचनाओं 'अष्टांगयोग' आदि मे हुई है, वही इस ग्रन्थ मे भी उपलब्ध होती है। परम्परानुगत यही विचारधारा आज भी चरनदासी सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से मान्य है। हठयोग की इन्ही प्रक्रियाओं का वर्णन यहाँ इस ग्रन्थ मे भी है जो सम्प्रदाय के प्रत्येक शिष्य का पालन करना अनिवार्य माना गया है।

इस ग्रन्थ मे "चरणदास," तथा "रणजीत कहै" की छाप बारम्बार उपलब्ध होती है। ग्रन्थ की रचना में कवि के प्रिय छन्द दोहा, चौपाई के अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त, सवैय्या आदि भी प्रयुक्त हुए हैं।

ग्रन्थ की मान्यता सम्प्रदाय की अधिकृत संस्थाओं, मठ, मंदिरो मे समान रूप से है। सम्प्रदाय मे इसे नवदीक्षित शिष्य के अध्ययन के हेतु आधार-भूत ग्रन्थ माना जाता है। अस्तु, यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

भक्तिपदार्थ

सर्वश्री डाक्टर रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, शिवदयालु गौड़ प्रभृति विद्वानों के मतानुसार यह चरनदास की प्रामाणिक रचना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा-शैली 'भक्ति सागर' से बहुत कुछ साम्य रखती है। भाषा का यही परिमार्जित रूप जो कवि की अन्य प्रामाणिक रचनाओं (ब्रह्म-ज्ञान सागर,' 'भक्ति सागर,' 'मन-विकृतकरणसार' एव 'सर्वोपनिषद् सार') में उपलब्ध होता है, वही इस ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है। ग्रन्थ में गुरुदेव स्तवन, हरि गुरु की एकता, ब्रह्म की अद्‌वैत सत्ता, आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। ब्रह्म-विवेचना से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियो का 'योग सन्देह सागर,' 'ब्रह्मज्ञान सागर,' 'सर्वोपनिषद् सार,' 'अष्टांगयोग' और 'भक्ति सागर' आदि मे सम्पादित ब्रह्मविषयक धारणा से पूर्ण साम्य है :—

> वे निरगुण सरगुण ते न्यारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे ॥
> ऐसे पूरणब्रह्म पिछानौ। निराकार निरगुण मत जानौ ॥

निराकार नहि ना आकारा । नहि अडोल नहि डोलन हारा ॥
नहि परगट नहि गूपन ठांऊ । समझि सकौ नहि थकि थकि जाऊ ॥

इन पंक्तियों में जिस ब्रह्म की विवेचना की गई है वह सविस्तार 'अष्टांग योग,' 'सर्वोपनिषद सार' आदि ग्रन्थो मे प्रतिपादित हुआ है। इसी प्रकार व्यक्त भावावली परम्परागत है जिसकी दीक्षा कवि को श्री शुकदेव से प्राप्त हुई थी। इस प्रकार कवि की रचना परम्परागत विचार-धारा की पोषिका है। इस ग्रन्थ मे दया, लोभ, क्रोध, मोह, अभिमान शील, माया, मन आदि विषयो का जो प्रतिपादन कवि ने किया है, वह पूर्णरूप से अक्षरश: 'चरनदास जी की बानी' मे सम्पादक, सतबानी संग्रह ने प्रामाणिक स्वीकार कर लिया है। ग्रन्थ की प्रतिपादन-शैली का अन्य प्रामाणिक रचनाओं से प्रचुर साम्य है।

ग्रन्थ मे "चरणदास," "चरणदास यो कहत है," "कहे चरणदास" आदि कवि के नाम की छापें विद्यमान हैं। ग्रन्थ की रचना आद्योपात दोहा और चौपाई में सम्पन्न हुई है। चरणदासी-सम्प्रदाय के मठों और मन्दिरों मे कवि की इस रचना का बड़ा समादर है। यह ग्रन्थ सम्प्रदाय के शिष्यो द्वारा विशेष रूप से पठित है। मठो के विशेष उत्सवों पर इस ग्रन्थ का पाठ और कीर्तन होता है।

इन सभी तर्कों के आधार पर कवि चरनदास के इस ग्रन्थ को हम प्रामाणिक रचना मानते हैं।

धर्म-जहाज

सर्वश्री एच० एच० विल्सन, विलियम क्रुक्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, जेम्स हेस्टिंग्ज, क्षितिमोहन सेन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर, शिवदयालु गौड़ तथा परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वान् लेखकों ने इस ग्रन्थ को चरनदास की प्रामाणिक रचना माना है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'भक्तिसागर,' 'भक्ति पदार्थ' एव 'मन विकृत करणसार' की समकक्ष रचना है। इसमे कवि की काव्यकला के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं।

ग्रथ मे करनी एवं कथनी का साम्य एवं ऐक्य की आवश्यकता, करनी और फल प्राप्ति, करनी और जगत् की व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस भाव और विचार-धारा का उपदेश कवि को सतगुरु शुकदेव जी से उपलब्ध हुआ था जैसा कि ग्रन्थ के आदि और अत मे कवि द्वारा उल्लिखित हुआ है। अस्तु, इसका वर्ण्य-विषय परम्परानुगत भावो से सम्बन्धित है। कवि के नाम की छापें "कहि शुकदेव चरणहिदास" प्रत्येक प्रसग के अत मे उपलब्ध होती है। ग्रन्थ की

रचना कवि के प्रिय छन्द दोहा चौपाई में सम्पन्न हुई है। इस ग्रन्थ को साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त है। वर्तमान महन्त इसे एक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

अमरलोक

डा० रामकुमार वर्मा, श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं श्री शिवदयाल गौड़ प्रभृति विद्वानों ने इसे कवि का प्रामाणिक ग्रन्थ माना है।

दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ 'भक्ति सागर' एवं 'भक्ति पदार्थ' से पूर्व विरचित प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कवि का दार्शनिक विषयों का अध्ययन विकास की ओर अग्रसर प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण जी के 'अमर लोक वृन्दावन' का वर्णन किया है। ये श्रीकृष्ण निर्गुण होते हुए भी अवतारधारी हैं। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक कवि कृष्ण के सगुणत्व को नहीं भूल सका है। इसमें संदेह नहीं है कि अपनी साधना के प्रारम्भिक वर्षों में कवि सगुणोपासक था, अत: यह रचना इसी समय की लिखी हुई प्रतीत होती है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ विचार परम्परा, व्यक्तभावावली और परम्परानुगत भावों के चित्रण में 'ब्रजचरित,' चीरहरण लीला,' दान लीला,' माखनचोरी लीला' 'कालीनथन-लीला,' 'मटकी-लीला' आदि की परम्परा में प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण के चरित्र से संबन्धित कवि के ग्रथों में यह अंतिम और सर्वाधिक कलापूर्ण रचना प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में शनैः शनैः निर्गुण ब्रह्म के तत्वों का समावेश प्रारम्भ-सा मिलता है। ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें प्राप्त होती है। दोहा और चौपाइयों में ग्रन्थ की रचना हुई है। प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रति मठाधीशों का मोह और श्रद्धा उसकी प्रामाणिकता का परिचायक है।

'ब्रजचरित्र' चीरहरण-लीला' 'दान-लीला' माखनचोरी-लीला' कालीनथन-लीला,' श्रीधरण ब्राह्मण लीला' 'मटकी-लीला,' एवं 'कुरुक्षेत्र लीला'—

सगुण परब्रह्म नन्द यशोदा के पुत्र श्रीकृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं से सम्बन्धित ये रचनायें कवि चरनदास के लघु ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने श्रीकृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं के विभिन्न प्रसगों और प्रकरणों की अभिव्यजना की है। प्रथम ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के ब्रज में कृत विभिन्न-चरित्रों, द्वितीय में चीरहरण, तृतीय में दान मांगने की लीला, चतुर्थ में माखन-चोरी प्रसग, पचम में काली नथन प्रकरण, षष्ठ में मटकी छीनने और विनष्ट करने का वर्णन और सप्तम मे

कुरुक्षेत्र से सम्बन्धित लीलाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के चरित्र की अभिन्न एवं विविध रश्मियों का प्रकाशन किया गया है।

आश्चर्य का विषय है कि चरनदास पर लिखने वाले विद्वानों और इतिहासकारों का ध्यान हमारे कवि की इन रचनाओं के प्रति बिलकुल नहीं गया है। श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'उत्तरीभारत की संत-परम्परा' में लिखा है— "संत चरनदास कृत समझी जाने वाली अन्य रचनाओं में जागरण माहात्म्य, मटकी-लीला, कालीनथन-लीला, श्रीधर ब्राह्मण-लीला व माखनचोरी-लीला श्रीमद्भागवत् से सम्बन्ध रखती हैं। कुरुक्षेत्र-लीला में कृष्ण का नन्दादि के साथ पुनर्मिलन दिखाया गया है।"[1]

इस उद्धरण में चतुर्वेदी जी के "संतचरनदास कृत समझी जाने वाली अन्य रचनाओं" शब्दों से प्रकट होता है कि उन्हें स्वयं इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं है। पर तथ्य यह है कि ये ग्रन्थ संत चरणदास-कृत ही हैं। कवि ने इन ग्रन्थों की रचना अपनी साधनावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में की थी। इन ग्रन्थों की भाषा, शैली आदि इस बात की द्योतक है कि कवि की ये कलाविहीन, अपरिमार्जित भाषा में लिखित कृतियाँ उसके साधनात्मक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में लिखी गई थीं।

चरनदास जी पहले सगुण श्रीकृष्ण के भक्त थे। तदनंतर योग के क्षेत्र में अवतरित होकर निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक बने। चरनदास जी के दिल्ली वाले मठ और गद्दी स्थल पर बने हुए मंदिर में आज भी श्रीकृष्ण की वह मूर्ति स्थापित है जिसकी आराधना कवि पहले किया करता था। यह मूर्ति कवि-विरचित श्रीकृष्ण के चरित्र सम्बन्धित काव्यग्रन्थ ब्रजचरित, चीरहरणलीला, दानलीला, माखनचोरी-लीला, कालीनथन लीला, मटकी लीला, कुरुक्षेत्र-लीला आदि की प्रामाणिकता सिद्ध करने में सहायक है। ये ग्रन्थ सगुणोपासना से सम्बधित हैं, अतः अप्रामाणिक रचनाएं है—यह केवल निःसार तर्क है। संत कवि मलूकदास भी अपनी साधनावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में चरनदास के समान ही सगुण कृष्णोपासक थे और इसीलिए उन्होंने भी कृष्ण-चरित काव्यों की रचना की थी। इतना ही नहीं संतों में अधिकांश कवियों ने सगुणोपासना से निर्गुण उपासना की ओर ध्यान दिया था, अतः चरनदास का सगुण कृष्ण का चरित्र गान करने के अनंतर निर्गुण और उससे भी परे सत्ता का स्तवन लिखना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

इन ग्रंथों में कथा वर्णन की वही शैली उपलब्ध होती है जो आगे चलकर कवि की प्रौढ रचनाओं 'नासकेत लीला' आदि ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुई।

---

1. उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६०१

इन ग्रन्थो में चरनदास के नाम की छापें सर्वत्र अंकित मिलती है। इन ग्रन्थों की रचना प्रमुख रूप से दोहा-चौपाई छदों में हुई है और इनको साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त है। इन आधारों पर ये रचनाए कवि की प्रामाणिक कृतिया हैं।

जागरण-माहात्म्य

प्रस्तुत-ग्रन्थ भी कवि की एक लघु रचना है। इसमें एकादशी-व्रत एव तद् नन्तर जागरण-कीर्तन का माहात्म्य वर्णित है।

भाषा शैली की दृष्टि से यह अपरिपक्व और अपरिमार्जित रचना है। इस दृष्टि से इसे हम कविकृत कृष्ण-चरित काव्यों की श्रेणी मे रख सकते हैं। योग, ज्ञान एव वैराग्य से सम्बन्धित अपने काव्यों मे कवि ने जप, व्रत, माला, तिलक छाप आदि की बडी निन्दा की है। अत. यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ भी कवि कृत कृष्णचरित काव्या के समान हो प्रारम्भिक रचना है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ और अत मे इस ग्रन्थ के रचना का प्रेरणा-स्रोत श्री शुकदेव को बताया है। सम्भव है कि इसी कारण गुरु के उपदेश से प्रेरित होकर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना कर डाली हो।

ग्रन्थ की रचना आद्योपांत दोहा एव कवित छन्दो मे सम्पन्न हुई है। इस ग्रन्थ मे भी कवि के अन्य प्रमाणिक ग्रन्थों की भाँति कवि के नाम की छापे विद्यमान ह। मठो मे इस ग्रन्थ को प्रामाणिक माना जाता है।

नासकेत लीला

श्री नेम्स हेस्टिग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर, श्री शिवदयालु गोड, श्री परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति लेखकों के मत से प्रस्तुतग्रन्थ चरनदास की प्रामाणिक कृति है।

भाषा एव शैली की दृष्टि से प्रस्तुत रचना 'धर्म-जहाज,' 'भक्तिसागर,' 'भक्ति पदार्थ,' एव 'मनविकृतकरण सार' आदि कवि की प्रामाणिक रचनाओं से साम्य रखती हुई इनके समकक्ष प्रतीत होती है। इसमे 'नासकेत' का चरित्र बड़े विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। ग्रन्थ की कथा अनेक परिच्छेदो मे विभाजित हुई है, जिनमे से कतिपय अन्तिम परिच्छेदों मे करनी और उसका प्रतिफल कवि की अन्य प्रामाणिक रचना 'धर्म जहाज' के करनी-कथनी प्रकरण के समान ही वर्णित हुई है। भाव-परम्परा की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'भक्ति पदार्थ' की श्रेणी मे ही आता है। अतः यह कवि की प्रामाणिकता में सहायक है।

कवि चरनदास के अनुसार 'नवधा भक्ति' के विविध अंग निम्नलिखित हैं:—

नवधा भक्ति सभाार अग ना जानि ले।
सदन चितवन और कीर्तन मान ले॥
सुमिरन बदन ध्यान और पूजा करो।
प्रभु सू प्रीति लगाय सुरति चरनन धरो॥
होकर दासहि भाव साधु सगति रलो।
भक्तन की करि सेव यही मति है भलो॥
आपा अर्पन देइ धीर्ज दृढ़ता गहो।
छिमा सील सतोष दया धारे रहो॥

प्रस्तुत उद्धरण में कवि ने जिन भक्ति के नौ प्रकारों का उल्लेख किया है वे सभी परम्परागत नवधा भक्ति सम्मत हैं। इस नवधा भक्ति का उल्लेख कर देने के अनन्तर कवि ने नवधा भक्ति का महत्व निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त किया है:—

यह जो मैंने कहा वेद का मूल है।
जोग ज्ञान वैराग सबन का फूल है॥
प्रेमी भक्त के ताप पात तीनों नसै।
अर्थ धर्म काम मोछ सकल ता मे बसै॥
जो राखै मन माहि विवेक विचार कूं।
पावै पद निर्वान बचै जग भार सूं॥

कलिकाल में भवसागर से उत्तीर्ण होने के लिए नवधा भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। प्रह्लाद, अक्रूर, लक्ष्मी, राजा पृथु, बलि, हनुमान, अर्जुन, परीक्षित, शुकदेव आदि धर्म के क्षेत्र में इसी नवधा भक्ति के कारण ही आज पूज्य हैं। इनमें से प्रत्येक ने भक्ति के एक न एक प्रकार को ग्रहण किया और साधना में सफलता प्राप्त की। कवि के शब्दो में :—

जन प्रह्लाद तरो सुमिरन ते बन्दन सूं अक्रूर।
चरन कमल की सेवा सेती लछमी रहत हजूर॥
चन्दन चर्चत हूँ पृथु राजा उतरो भो जल पार।
बलिराज तन अर्पन कीन्हो सदा रहै हरि द्वार॥
परम दास हनुमत ही हुँ उबरो उत्तम पदवी पाई।
सखा सुभाव तरो है अर्जुन ताकी महिमा गाई॥
मुक्त भयो है परिछित राजा सुन भागवत पुराना।
श्री शुकदेव मुनी से वक्ता हुए रूप भगवाना॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चरनदास की यह नवधा-भक्ति पूर्णरूप से सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित है। जिन-जिन उपमाओं, दृष्टांतों, सन्तों तथा साधकों

के नामों का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध सगुण ब्रह्म से है। नवधा भक्ति निराकार गुणातीत ब्रह्म के प्रति भी सभव हो सकती है। उदाहरणार्थ, सत सुन्दरदास द्वारा वर्णित नवधा भक्ति गुणातीत ब्रह्म के प्रति ही है।[1] परन्तु चरनदास की रचना नितांत सगुण ब्रह्म के लिए है और इसीलिए यह कवि के प्रारम्भिक रचनाओं मे से एक है।

प्रस्तुत नवधा भक्ति वर्णन से कवि की चिन्तन प्रणाली, शैलीगत विशेषता एव मौलिकता का कोई परिचय नही प्राप्त होता है। अत्यन्त सक्षेप मे कवि ने सीधी-सादी भाषा मे अपने भावो को व्यक्त कर दिया है।

स्वरादय-साधना

'स्वरादय' ज्ञान अनेक कारणा स आवश्यक एव उपयागी माना गया है। साधना, सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन और व्यावहारिकता के क्षेत्र में स्वरोदय उपयोगी माना गया है। किसी श्वास के प्रबल होने को स्वरू। कहा गया है। समस्त स्वरोदय-विज्ञान का एक मात्र आधार मानव के नासिका छिद्रो से संचालित श्वास-प्रश्वास की गति है। श्वास-प्रश्वासों की गति बड़ो रहस्यपूर्ण है। श्वासोच्छ्वास की गति और शक्ति बड़ी प्रबल है। इन्हीं श्वासों का नियन्त्रण-क्रम मानव जीवन और दीर्घायु का कारण होता है और इसी का अनियन्त्रित प्रवाह मानव को काल का कौर बना देता है। चरनदास ने इसी स्वरोदय-विज्ञान का प्रतिपादन अपनी रचना 'ज्ञान स्वरोदय' में किया है।

मानव जीवन की समस्त क्रियायें, शारीरिक एव मानसिक व्यथायें, दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापादि सभी कुछ श्वासोच्छ्वास की शक्ति से अज्ञात रूप मे प्रभावित है। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से सुख-दुख, मृत्यु, घटना-दुर्घटना आदि का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। मानव शरीर-रथ के सचालन का आधार यही श्वास-प्रश्वास है।

२४ घटे मे २१,६०० श्वास-प्रश्वास की सख्या जितनी ही कम होगी उतना ही मनुष्य दीर्घजीवी होगा और जितना आधिक्य होगा उतना ही अल्पायु। इसीलिए हठयोगी श्वास पर विजय और नियन्त्रण प्राप्त कर चिरजीव होता है। श्वास का यह क्रम एक ही नासिका-रन्ध्र से सदैव नहीं चलता रहता है। अव्याहत गति से श्वासों के प्रवाहमान होने का क्रम क्रमशः परिवर्तित होता रहता है। एक नासाछिद्र का निश्चित समय पूर्ण हो जाने पर वह दूसरे से निःसृत होता है। श्वास-प्रश्वास की इस गति का नाम तो स्वर है और इस गति का एक नासिका-रन्ध्र से द्वितीय में प्रवेश 'उदय' कहा गया है।

---

१. देखिये, मेरा ग्रन्थ—'सुन्दर दर्शन' में भक्ति योग प्रकरण।

ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें विद्यमान हैं। ग्रन्थ की रचना कवि के प्रिय छन्द दोहा और चौपाई में हुई है। ग्रन्थ को साम्प्रदायिक समर्थन प्राप्त है।

विषयानुसार विभाजन एवं अध्ययन

कवि के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार कर लेने के उपरान्त इनका विषयानुसार अध्ययन और विभाजन कर लेना आवश्यक है। इन ग्रन्थों पर पृथक-पृथक विवेचन करने के हेतु इनका वर्ण्य-विषयानुसार विभाजन आवश्यक, उपादेय और वैज्ञानिक होगा।

ग्रन्थों का विषयानुसार विभाजन निम्नलिखित चार प्रकार से उचित प्रतीत होता है :—

१. अवतार लीला विषयक : दान लीला, कुरुक्षेत्र लीला, माखनचोरी लीला, मटकी लीला, चीरहरण लीला।

२. ज्ञान, योग एव आध्यात्मिक विचार विषयक : ब्रजज्ञानसागर, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, धर्मजहाज, मनविरक्तकरण सार, योगसन्देह सागर, सर्वोपनिषदसार, ज्ञानस्वरोदय, अष्टागयोग।

३. कथानक विषयक : नासकेत लीला एव श्रीधर ब्राह्मण लीला।

४. स्फुट : जागरण माहात्म्य, अमर लोक, तथा कवि लिखित शतशः साखी और पद साहित्य।

वर्ण्य—विषय और सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से भी सभव है :—

१. सगुणोपासना विषयक: ब्रज चरित, दान लीला, माखनचोरी लीला, कालीनथन-लीला, मटकी लीला, चीरहरण लीला, कुरुक्षेत्र लीला।

२. योग : अष्टागयोग एव योगसन्देहसागर, ज्ञानस्वरोदय।

३. भक्ति : भक्तिपदार्थ एव भक्तिसागर।

४. वेदान्त : पंचोपनिषदसार।

५. वैराग्य : मनविरक्तकरण सार।

६. ज्ञान : ब्रह्मज्ञान सागर।

७. विविध : श्रीधर ब्राह्मण लीला, जागरण माहात्म्य, धर्म जहाज, नासकेत लीला, अमर लोक।

ब्रजचरित

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित' की दो प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुईं । प्रथम प्रति महन्त गुलाब दास के यहाँ प्राप्त हुई जो केवल दर्शन की वस्तु मात्र है । लेखक को भी इस प्रति के दर्शन मात्र करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है परन्तु अध्ययन करने का अवसर नहीं मिल सका । द्वितीय प्रति श्री गणेश दत्त मिश्र के सग्रहालय मे उपलब्ध हुई । ब्रज-चरित की यह प्रति श्री मिश्र जी के सग्रह मे 'दान लीला' 'माखन चोरी' 'काली नथन', 'मटकी लीला', 'चीर हरण', और 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ सम्बद्ध है ।

ब्रज चरित तथा उसके साथ सम्बद्ध अन्य उपर्युक्त ६ ग्रन्थो के प्रतिलिपिकर्ता अजपादास जी थे, जैसा ग्रन्थ के अन्त मे निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है :—

"इति श्रीस्वामी चरनदास लिखित ब्रजचरित सम्पूरन स्वपाठार्थ प्रस्तुत किया श्रीचरनदास के दास रामरूप जी महाराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दाख न दीयते लिखित आशाढ़ सवत १८४२ विक्रमीय ।"

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिलिपि आषाढ़ सवत १८४२ वि० मे श्री अजपादास ने की थी । चरनदास जी का निधन संवत १८३९ वि० सिद्ध हो चुका है । अतएव इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि अजपादास ने चरनदास की मृत्यु के तीन वर्ष बाद प्रस्तुत की थी । अजपादास के विषय मे श्री सरस माधुरीशरण ने अपने ग्रन्थ 'गुरू महिमा' मे निम्नलिखित परिचयात्मक विवरण दिया है :—

"अजपादास जी श्री रामरूप जी महाराज के परम प्रिय शिष्य भये श्री गुरु महाराज की शरण मे आके दिन रैन भजन स्मरण मे व्यतीत करते श्री स्वामी जी की कृपा से प्रेम की लगन हृदय मे अत्यन्त बढ़ी सो एक दिन हाथ जोड़ के दीनता से नम्रता युक्त श्री स्वामी जी से विनय करी प्रभु आप हमारे सामर्थ गुरु हो एक दफा श्रीकृष्ण के रास विलास के दर्शन करावो सो स्वामी जी तुरत ही दयाल होके अजपा दास जी को सन्मुख बिठा के आज्ञा करी कि नेत्रमूद के ध्यान करो ."

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अजपादास जी चरनदास के प्रिय शिष्य रामरूप जी के निकट और विश्वास पात्र शिष्य थे । अतएव अजपादास के द्वारा प्रस्तुत की हुई यह प्रति सर्वथा प्रामाणिक निश्चित होती है ।

'ब्रजचरित' की रचना २८१ छन्दा मे हुई है । इस ग्रन्थ का आकार १०" × ६" है और रचना देवनागरी लिपि मे हुई है ।

'ब्रजचरित' की इन अमुद्रित प्रतियो के अतिरिक्त नवल किशोर प्रेस, लखनऊ

की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका संकलन 'भक्तिसागर' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है।

'ब्रजचरित' में श्रीकृष्ण की रासलीला, ब्रज में कृत अन्य लीला और चरितों का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में ब्रज और श्रीकृष्ण से सम्बन्धित उनके वैभव का सविस्तार वर्णन हुआ है। इस प्रकार वर्ण्य-विषय और ग्रन्थ के शीर्षक में पूर्णतया साम्य है। वर्णित विषय की दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक प्रतीत होता है।

ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का विभाजन प्रकरण अथवा अध्याय में नहीं सम्पन्न हुआ है। 'ब्रज चरित' का वर्णन क्रमशः प्रसंगानुसार चलता रहता है। ग्रन्थ में वर्णित प्रसंगो के आधार पर प्रतिपादित विषय मे क्रमशः परिवर्तन होता है।

आधार ग्रन्थ—प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का आधार 'नारद संहिता' है जैसा कि कवि के निम्नलिखित कथन से प्रकट होता है :—

अब ब्रज की गति गाय सुनाऊ। बुद्धि शुद्धि हरि भक्ति जु पाऊं ॥
चिन्ता मेटन भूमि बखानी। रणजीत मीत जहं दुर्म बिनानी ॥
कमलापति को चक्र सुदर्शन। चरणदास ताको करै वन्दन ॥
मथुरामंडल तापर रहै। व्यासदेव मुनि ऐसे कहै ॥
नारद संहिता में जो गायो। सो मैं भाषा बीच बनायो ॥

वर्ण्य-विषय—'ब्रज-चरित' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

'ब्रज-चरित' वर्णन की सफलतापूर्वक समाप्ति के लिए श्रीकृष्ण, गोविन्द गुरू, नारदमुनि, व्यास, शुकदेव आदि से कृपा एवं वर याचना—ब्रज की सुन्दर, गति और वहां के निवासियों की मति—मुक्ति एवं भक्ति दाता गोवर्द्धन की स्तुति—वृन्दावन का विस्तृत क्षेत्र-फल और उसमे गोवर्द्धन का महत्व—अलख रूप से श्री कृष्ण को गोपियों के साथ इस विस्तृत क्षेत्र मे भ्रमण—ब्रज के बारह बन एवं बारह उपवन—ब्रज के भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध स्थानो का वर्णन—ब्रज के द्वादश बनों के नाम और परिचय—वृन्दावन का क्षेत्रफल और उसका वैभव—ब्रज में प्रकृति का अक्षय निवास—वृन्दावन का ऋतु वैभव—अमरलोक के मध्य वृन्दावन की स्थिति—वंशी वट का चबूतरा—राधा और कृष्ण के रास का वर्णन—राधा के शृंगार और सौंदर्य का वर्णन—राधाकृष्ण की कृपा से मुक्त होने वाले सतो की सूची—राधाकृष्ण की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ मे विषय प्रतिपादन सरल और साधारण शैली में हुआ है। कवि ने समस्त पदार्थों, दृश्यो और व्यक्तियों का वर्णन या उल्लेख अत्यन्त सरल एवं पंडिताऊ शैली में किया है। विषय-प्रतिपादन शैली को देख कर प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचना है। इसमें वह

काव्य कौशल या सहज चमत्कार जो चरनदास के अन्य ग्रन्थों में सर्वत्र उपलब्ध है, नहीं दृष्टिगत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के रचनाकाल में कवि को अपनी काव्य-शक्ति पर अधिक भरोसा नहीं था, इसीलिए वह अपने प्रयत्न में सफली-भूत होने के लिए सभी शक्तियों से प्रार्थना करता हुआ दिखलाई पड़ता है। प्रस्तुत कथन का समर्थन निम्नलिखित पंक्तियों से होता है :—

नारद मुनि अरु व्यास जू, कृपा करहु दयाल।
अक्षर भूलौ जो कही, कहौ मोहि ततकाल।।
श्री शुकदेव दयाल गुरु, मम मस्तक पर ईश।
ब्रज चरित्र कहत हौ, तुमहि नवाऊ शीश।।
सब साधुन परणाम करि, कर जोरू शिरनाय।
चरनदास विनती करै, वाणी दोह बनाय।।

रचना-काल—कवि चरनदास ने ग्रन्थ के अंत में इस कृति के रचना-काल का उल्लेख नहीं किया। ग्रन्थ का अंत श्री राधाकृष्ण बन्दना से हो जाता है, परन्तु विषयप्रतिपादन की दृष्टि से ज्ञात होता है कि यह कवि की प्रारम्भिक रचना है। इस ग्रन्थ में सगुण श्रीकृष्ण, तथा अन्य सगुण शक्तियों का उल्लेख आया है। इससे भी प्रतीत होता है कि यह कवि के साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक कृति है। श्री-रामरूप जी ने 'गुरू भक्ति प्रकाश' मे 'ब्रज चरित' तथा अन्य दो ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मात्र कर दिया है परन्तु उनके रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है। रामरूप जी के मतानुसार चरनदास ने इस ग्रन्थ की रचना ब्रज-यात्रा से लौटने के अनन्तर दिल्ली के एक मुहल्ले 'परीक्षित पुर' में अपने भक्त नन्द राम की हवेली में की थी जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियो से प्रकट होता है :—

आय गये दिन बीस में पहुंचे माता पास।
माता को परसन्न कर और ठौर कियो वास।।

...

भक्तिराज फिर यों कही कहीं टहल यक तोहि।
भाड़े की एक कोठड़ी अब ले दीजै मोहि।।
मोकू आछी ना लगे बहु मनुषन की भीड़।
ध्यान जो करूँ एकांत में मोहि सुहाव उछीड़।।
नन्दराम फिर यों कही सुनो श्री गुरुदेव।
मेरी हवेली के विषे एक कोठड़ी लेव।।
भक्ति राज नीकी समझ जाय रहे वहि ठांव।
हरि प्रसाद के कुटुम्ब सब आकर पूजे पांव।।

महाराज कोठे विषे ध्यान करे चितलाय।
एक पहर जब दिन रहे बाहर बैठे आय॥

जैसी ब्रज में लीला चीन्ही। ब्रज चरित्र की पोथी कीन्ही॥
जो प्रभु ने निज धाम दिखायो। सो ह्या भाषा माहि बनायो॥
दो पोथी बहु हित सों साजी। ग्रन्थ बीच रहे शिरे विराजी।

अंतिम तीन पंक्तियो मे 'ब्रजचरित' तथा एक अन्य ग्रन्थ (जिसका नाम नहीं दिया गया,) की रचना का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ के चरनदास का जीवन-चरित्र तथा चरित प्रकरण में 'यात्रा एव भ्रमण' उप-शीर्षक में चरनदास की ब्रजयात्रा का समय सन् १७३६ निर्धारित किया गया है। अतएव 'ब्रजचरित' की रचना सन् १७४० के लगभग निश्चित होती है।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ मे भाव-सौंदर्य और अभिव्यजना-शैली साधारण कोटि की है। 'रास वर्णन' में शब्द-चयन और भाषा का प्रवाह सुन्दर है। श्रीराधा और अन्य गोपिकाओं के आभूषणों का वर्णन कवि ने बड़ी रुचि और विस्तार के साथ किया है जिससे उस समय के सांस्कृतिक वातावरण का हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अमरलोक-वर्णन

उपलब्ध प्रतियाँ—लेखक को प्रस्तुत ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ और एक मुद्रित प्रति प्राप्त हुई है। हस्तलिखित प्रतियों मे प्रथम वर्तमान महन्त श्री गुलाब दास के यहाँ उपलब्ध हुई और द्वितीय श्रीगणेशदत्त मिश्र की कृपा से। लेखक के अध्ययन का आधार मिश्रजी के यहाँ मे प्राप्त द्वितीय प्रति है। यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि इन प्रतियों मे वर्ण्य-विषय सम्बन्धी कोई विशेष भेद नहीं है।

महन्त जी तथा मिश्र जी की प्रतियों मे से किसी में भी प्रतिलिपिकर्ता अथवा प्रतिलिपि काल का उल्लेख नही हुआ है। मिश्र जी की प्रति के अन्त में केवल निम्न-लिखित शब्द लिखे हुए हैं जिससे प्रकट होता है कि इसकी प्रतिलिपि श्री चरनदास जी के कश्चित् निकट और विश्वास-पात्र शिष्य के द्वारा हुई है। शब्द इस प्रकार है :—

"इति श्री महाराज चरणदास कृत अमरलोक अखण्ड धाम वर्णन सम्पूर्णम्। क्षर अक्षर का भेद जो देखै तहिं इह प्रापतम्॥"

प्रस्तुत प्रति का आकार ८"×५३" है और इसकी रचना १६८ छन्दों में सम्पन्न हुई है। ग्रन्थ की रचना लिपि देवनागरी है।

ग्रन्थ का शीर्षक—ग्रन्थ का शीर्षक 'अमर लोक वर्णन' है। नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित प्रति मे इसका नाम 'अमरलोक अखण्डधाम वर्णन' दिया हुआ

है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इस शीर्षक को दो भागों—'अमर लोक' तथा 'अखड धाम वर्णन' में विभाजित करके इसे दो पृथक ग्रन्थो का अस्तित्व प्रदान किया है। किंतु तथ्य यह है कि यह ग्रन्थ एक ही है। इस कथन के समर्थन मे ग्रन्थ से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत करने योग्य हैं।

प्रणमों श्री शुकदेव को, सो है गुरु दयाल।
काम क्रोध मोह लोभ से, काढे मेरे साल॥
वाणी विमल प्रकाश दी, बुधि निर्मल की तात।
मोहि मूरख अजान को, नहि आवत ही बात॥
अमर लोक वर्णन करौ, वेही करें सहाय।
दृष्टि हिये मम खोलि करि, सबहो देहि देखाय॥

तथा

महाकठिन दुर्लभ हुता, अमरलोक का भेद।
ताका मैं बीजक कियो, भाषो भेद अभेद॥

इन दोनो उद्धरणो से प्रकट होता है कि ग्रन्थ का शीर्षक न तो 'अमर लोक अखड धाम वर्णन' है और न 'अमर लोक' तथा 'अखड धाम वर्णन'। ये दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ नहीं हैं वरन यह एक हो ग्रन्थ है और इसका शीर्षक 'अमर लोक' है।

इस ग्रन्थ में कवि ने माया, ब्रह्म, जीवात्मा की स्थिति, त्रिगुणो से परे अमर लोक की स्थिति, अमर लोक का सविस्तार वर्णन, अमर लोक के जीव, वन-उपवन, वाद्य, अमर लोक का ऋतु वैभव, अमर लोक के अमर अनादि अविनाशी युगल मूर्ति श्रीकृष्ण और उनकी प्रेरक शक्ति राधा जी आदि का सविस्तार वर्णन हुआ है। ग्रन्थ के समस्त वर्णन का केन्द्र-विन्दु अमर-लोक और उसके अमर वैभव का वर्णन है। यह 'अमर लोक' कवि के शब्दो में वृन्दावन हो है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

निज वृन्दावन है वह ठाही। सदा बसो मेरे मन माही॥
दिव्य फूल फूले बहुरंगा। बिन ऋतु फूले रंगबिरंगा॥

अतएव ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय को देखने से ज्ञात हो जाता है कि यह शीर्षक सार्थक और उपयुक्त है।

ग्रन्थ का आधार—'अमर लोक' के वर्ण्य-विषय का आधार श्रीमद्भगवत् गीता है। कवि ने क्षर-अक्षर, निहअक्षर आदि का विवेचन, जीव, ब्रह्म, माया आदि की सत्ता और स्वरूप का प्रतिपादन गीता के ही आधार पर किया है। प्रमाण के रूप में कवि का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :—

माया जीव दोउ ते न्यारा। सो निज कहिये पीव हमारा ॥
क्षर अक्षर निहअक्षर तीनौ। गीता पढ़ि सुनि इनको चीन्हौ ॥
गीता अक्षर जीव बतावै। क्षर माया सोइ दृष्टि दिखावै ॥
आत्म चीन्ह परमातम चीन्हो। गीता मध्य कृष्ण कहि दीन्हो ॥

वर्ण्य-विषय—'अमर लोक' में कवि ने निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला है :—

अमर लोक के दर्शन योग्य मति प्रदान करनेवाले श्री शुकदेव जी का स्तवन-अमर लोक की दुर्गम सत्ता—गुरुदेव की कृपा और रहस्योद्घाटन माया एव ब्रह्म का स्वरूप—निराकार ब्रह्म और साकार माया—क्षर अक्षर निहअक्षर का गीता के आधार पर विवेचना—आत्मा एव परमात्मा का भेद और स्वरूप—अमर लोक के अधिनायक की सर्वव्यापकता—त्रयगुणो से परे अमर लोक की सत्ता-अमर लोक की तेज पुजता-अमर लोक के अक्षय तत्व—पचतत्वों से विहीन स्थिति अगम पुरी—अमर लोक को समस्त ब्रह्माडा से भिन्नता—अमर लोक को निःसोमता अथवा बेहद स्थिति—अमर-, लोक के कल्पवृक्षो की शोभा—उस बेहद देश के प्रासाद महल, रत्न जटित राजमार्ग, रत्नजटित पताकाएँ तथा काति युक्त मदिरा को शोभा—अगमपुरी मे समस्त मनो-विकारो काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, आलस्य, निद्रा, क्षुधा, पिपासा, मल आदि से रहित सुरम्य वातावरण—दिव्य देह धारा गासाई ब्रह्म का नासिका, ग्रावा कुडल लटे तिलक, श्यागा। सुन्दर मुकुटादि का वर्णन-अमर लोक के सुरम्य वन, उपवन और बागो का उल्लेख—वृक्षो मे न कुम्हलाने वाले पुष्पो का प्रस्फुटन—विविध प्रकार के पुष्पो का सौंदर्य—अमर लोक के रग महल का अनिर्वचनीय शाभा—रग-महल के अन्तर्गत सुन्दर सिहासन का वणन—उस पर विराजमान गोरी राधा श्यामघन कृष्ण का यशोगान और सौदर्य वर्णन—नित्य किशोरी गोरी सारी, पांच तत्व त्रैगुण ते न्यारी-राधा के अनुपम दिव्य सौदय का वर्णन—चौसठ खम्भो से युक्त भवन मे दिव्य रास और नृत्य श्रो राधा और श्रो कृष्ण को बन्दना।

विषय प्रतिपादन—आलोच्य ग्रन्थ मे कवि की विषय प्रतिपादन शैली सुन्दर है। ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का प्रसार १६८ छन्दों मे हुआ है। परन्तु कवि ने ग्रन्थ का विभाजन परिच्छेदो अथवा अध्यायो या प्रकरणो मे नहीं किया है। कवि ने बड़ी कुशलता पूर्वक एक विषय को समाप्त करके दूसरे विषय को अपेक्षित स्थान से प्रारम्भ कर दिया है। कवि ने अमर लोक के विविधतत्व, पदार्थ तथा व्यक्तित्व का सुन्दरता पूर्वक वर्णन किया है। विषय प्रतिपादन देख करके कवि की लेखन शैलो की प्रौढ़ता का आभास मिल जाता है। 'अमर लोक' की रचना करत समय तक चरनदास का भाषा पर भला अधिकार स्थापित हो गया था। भाषा मे

प्रवाह और परिमार्जन है। अपेक्षित विषय के सूक्ष्म एव विस्तृत वर्णन मे कवि को अच्छी सफलता मिली है। कवि की विषय प्रतिपादन प्रतिभा का प्रसार अमर-लोक के अक्षुण्ण वातावरण, वन-उपवन आदि के वर्णन मे हुआ है। प्रतीत होता है कि कवि ने स्वत. इन सभी वस्तुओं को देखकर हृदय मे अकित कर लिया। विषय प्रतिपादन की एक और विशेषता है और वह है स्पष्ट एव मस्तिष्क-ग्राही चित्रण। वर्णित दृश्यों को ग्रहण कर लेने मे हमारी बुद्धि की सफलता कवि के काव्य-कौशल की परिचायिका है।

रचनाकाल—ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय मे किसी प्रकार का कोई साक्ष्य नही उपलब्ध होती है। इसके सम्बन्ध में न तो हमे 'गुरु भक्ति प्रकाश' से ही कोई सहायता प्राप्त होती है और न वतमान महन्त जी से ही। परन्तु कवि विरचित समस्त कृष्ण चरित्र काव्यों, 'ब्रज चरित', 'दान लीला', 'माखन चोरी लीला', 'काली नथन लीला', 'मटकी लीला', 'चीर हरण लीला' तथा 'कुरुक्षेत्र लीला' की तुलना मे प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा-शैली, विषय-प्रतिपादन, अभिव्यजना आदि प्रौढ और परिमार्जित हैं। विषय-प्रतिपादन इस बात का द्योतक है कि 'अमर लोक' मे कवि की चिन्तन शक्ति और विवेचन पद्धति प्रौढता प्राप्त कर चुकी है। यह ग्रन्थ 'कुरुक्षेत्र लीला' के बाद की रचना है। 'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना काल सन् १७५० निर्धारित किया गया था, अतः 'अमर लोक' की रचना भी लगभग सन् १७५५ निश्चित होती है।

इस ग्रन्थ मे निर्गुण ब्रह्म की ओर सकेत है। इससे प्रकट होता है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना निर्गुणोपासना के विकासावस्था मे की थी।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रकरण पठनीय होंगे :—

१—श्री राधा सौंदर्य वर्णन
२—अमरलोक के वन-उपवन और पुष्पों का वर्णन
३—रास नृत्य का वर्णन
४—श्रीकृष्ण का सौंदर्य

ग्रन्थ-पाठ का माहात्म्य—कवि के शब्दों में ग्रन्थ-पाठ का माहात्म्य निम्नलिखित है :—

पढै सुनै जो प्रीतिसो, पावै भक्ति हुलास।
नित उठि कर तू पाठ यह, चरनदास कहि भास ॥
प्रेम बढै अघ सब हरै कलह कल्पना जाय।
पाठ करै या लोक को, ध्यान करत दरशाय ॥

भक्ति सागर

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास कृत 'भक्ति सागर' की तीन प्रतिया उपलब्ध हुई है। इनमे से दो हस्त-लिखित हैं। शेष एक मुद्रित है। हस्तलिखित प्रतियों मे से प्रथम श्री गणेशदत्त की प्रति है और द्वितीय उन्नाव जिला के जगदीशपुर ग्राम के निवासी श्री भगवानदास की। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से हो चुका है। भक्तिसागर के विषय मे विवेचन श्री भगवान दास की प्रति के आधार पर हो रहा है।

इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता स्वामी महेशानन्द थे। इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल सवत् १८४६ है। यह ग्रन्थ चरनदास के स्वर्गवास के दस वर्ष अनन्तर प्रस्तुत किया गया था।

इस प्रति का आकार १०"×६" है। ग्रन्थ की रचना १५३ छन्दों मे सम्पन्न हुई है।

ग्रन्थ मे ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों, साधना तथा योगादिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। प्रतिपादित विषय और ग्रन्थ के नाम मे पूर्ण साम्य और सार्थकता प्रतीत होती है।

ग्रन्थ मे साधना विषयक अनेक प्रसगों पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु लेखक ने ग्रन्थ के विषय का विभाजन प्रसगों अथवा विश्रामों मे नहीं किया है। एक विषय की समाप्ति हो जाने पर वह द्वितीय विषय की विवेचना करने लगता है। इस क्रम से ग्रन्थ का विषय समाप्त हो जाता है।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

श्री व्यास पुत्र शुकदेव की वन्दना—ब्रह्म या ईश्वर का मार्ग बताने वाले श्री सतगुरु की प्रार्थना—सतो का सर्वकल्याणकारी व्यक्तित्व—सतों की निष्काम भक्ति—इडा, पिंगला और सुषुम्णा को धारण करके बज्रासन मे कुडलिनी को जाग्रत करने की प्रक्रिया—खेचरी मुद्रा और त्रिकुटी के माध्यम से अमृत पान और बेहद प्रदेश मे प्रवेश—बेहद प्रवेश का सूक्ष्म आभास—बेहद प्रदेश का सुहावना वर्णन—गुफा मध्यस्थ होकर पद्मासन मे प्रणव का जप—आठ प्रकार के कुभक मे केवल कुम्भक की श्रेष्ठता—त्रिकुटी मे स्थित त्रिवेणी और तीर्थ के स्नान और दर्शन—तीर्थ की महत्ता और श्रेष्ठ वर्णन-तीर्थ का आकर्षक वर्णन—भ्रमरी वजरी साधना—साधक की रहनी—मन और पवन पर यथोचित नियत्रण—मोह लोभादि का विसर्जन, तटस्थ भाव से जीवन यापन का प्रयत्न-सहस्र दल कमल मे प्रवेश का प्रयत्न—"सोऽहं का जाप, नौ नाडी की खैंच पवन लै उरमें दीजै"—शून्य शिखर में प्रवेश, षट्चक्र भेदन-प्राण, अपान, समान को मिलाकर

तथा • क नालशुद्ध करके प्राणायाम साधना—इस विधि से आकाश मे प्रवेश करके पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति करना—अमरलोक का रोचक तथा सक्षिप्त वर्णन—ब्राह्मण की परिभाषा ब्रह्म की सर्वव्यापकता—भ्रामक द्वैत भावना की आलोचना—राम की सर्व व्यापकता तथा महत्ता—आत्म ज्ञान की महत्ता और अध विश्वासो की आलोचना—वाह्याचारों की निःसारता—ग्रन्थ की रचना लिपि—शुकदेव तथा ब्रह्म की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—ग्रन्थ मे विषय का प्रतिपादन साधरण किन्तु स्पष्ट रीति से सम्पन्न हुआ है। विषय मे कहीं-कहीं क्रमबद्धता नहीं है। ग्रन्थ मे विषय-प्रतिपादन की शैली प्रभावशाली और परिष्कृत है। इन सबके होते हुए भी ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचनाओं मे से एक प्रतीत होता है।

रचनाकाल—अन्तस्साक्ष्य के आधार पर ग्रन्थ का रचना काल चैत्र सुदी १५ सोमवार सवत् १७८१ है। कवि के शब्दों मे ही :—

> सवत सत्रह से इक्यासी। चैत्र सुदी तिथि पूरणमासी ॥
> शुक्ल पक्ष दिन सोमहिवारा। रचौं ग्रन्थ यों कियो विचारा ॥
> तब ही सू अस्थापन धरिया। कछु इक बानी वा दिन करिया ॥

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कवि ने इक्कीस वर्ष की अवस्था मे की थी।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ मे भाव सौंदर्य की दृष्टि से बेहद देश का एव त्रिकुटी मे स्थित तीर्थ तथा त्रिवेणी का वर्णन विशेष रूप से पठनीय है।

ग्रन्थ मे काव्य-सौंदर्य के नाम पर यदि पाठकों को निराशा हो तो आश्चर्य नही, कारण कि यह कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है।

धर्म जहाज

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास जी के अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ की भी तीन प्रतियाँ लेखक को उपलब्ध हैं—दो हस्तलिखित और एक मुद्रित प्रति। अप्रकाशित प्रतियाँ जिन व्यक्तियों से उपलब्ध हुई है, वे हैं श्री गुलाब दास जी और श्री गणेश दत्त मिश्र। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से हुआ है। इन प्रतियों मे न तो प्रतिलिपिकर्ता का नाम दिया हुआ है और न प्रतिलिपिकाल। श्री मिश्र की प्रति के अन्त मे प्रतिलिपिकार ने लिखा है :—

"इति श्री गुरु शुकदेव महाराज तथा शिष्य चरनदास जी का सम्वाद धर्म जहाज के रूप मे सम्पूरनम्। जो यहि मां बैठहि आय ताहि भव दुःख स्पर्शे नाही।"

प्रत्यक्ष है कि यह ग्रन्थ किसी चरनदासी शिष्य के द्वारा प्रतिलिपि के रूप मे

प्रस्तुत किया गया है। महन्त जी की प्रति के अन्त में इस प्रकार का कोई नोट नहीं दिया गया है।

इस प्रति का आकार ८" X ५, १/२" है। ग्रन्थ की रचना ५३१ छन्दों मे सम्पन्न हुई है। ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि मे हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे धर्म को जहाज मान कर भवसागर पार उतरने के लिए मानव समाज को धर्म के आवश्यक तत्व, धर्म का रूप, मनुष्य की करनी कथनी और धर्म का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डाला गया है। धर्म को केन्द्रबिन्दु मान कर उसके आवश्यक अगों की अभिव्यक्ति ही ग्रन्थ का लक्ष्य रहा है। कवि ने ग्रन्थ मे दो स्थलों पर ग्रन्थ के नाम की सार्थकता प्रमाणित करने के लिए कहा है :—

अब मैं वर्णन करत हौ, ए शिष धर्म जहाज।
तामे बैठे विधि सहित, रहनी गहनी साज ।।

तथा

यह तो धर्म्म जहाज है, मैं तोहि दई निहार।
भवसागर मों डारियौं, चढै सो उतरै पार ।।
यादवान पुनि खेइयो, दीजो ताहि चलाय।
पानी पाप निकासिये, नेकहु ना भरि जाय ।।
चढि उतरै तो पार ही, पावै सुख का धाम।
आनन्द ही आनन्द लहै, करै तहा विश्राम ।।

इन दोनों उद्धरणों एव प्रतिपादित विषय के अध्ययन के आधार पर हम इस ग्रन्थ का नाम 'धर्म जहाज' सार्थक समझते हैं।

ग्रन्थ की रचना गुरु एव शिष्य के सम्वाद के रूप मे हुई है। ग्रन्थ का विषय अध्याय या प्रकरण मे विभाजित नही किया गया है। केवल शिष्य के प्रश्नों से ही हम नवीन विषय मे प्रवेश करते हैं। गुरु के उत्तर की समाप्ति के साथ उस विषय को हम समाप्त समझते हैं। ग्रन्थ मे धर्म के अनेक पक्ष और समस्याओं पर इसी शैली से विचार किया गया है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

शिष्य द्वारा ससार मे असमान वितरण, असमान सुविधाओं और असमान सामाजिक आधारों के विषय में शका और जिज्ञासा—गुरु का उत्तर—"जिन जैसी करणी करी तैसे ही फल पाय, भुगतत हैं वे जगत मे ताको बदला आय"—सुगत और कुगत करनी के विषयमें शिष्यकी जिज्ञासा— उत्तर मे गुरु का करनी एवं कथनी

मे ऐक्य स्थापित करने का उपदेश—बिन करणी थोथी एवं करनी के बिना कथनी नि.सार—दुख, सताप, पश्चात्ताप सब कर्म फल या करनी के फल है—करनी बिगडने पर नरक का मार्ग प्रशस्त है—शुभ करणी और कुकरणी के विविध फल—पिछली जैसी करी कमाई तैसी तैसी ही निधि पाई—सुर, दानव, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष, गण, प्रेत सभी इसी करणी के फल से तदनुसार नई योनि प्राप्त करते हैं—दया, धर्म, पुण्य और दान ही सत्य करनी है—उज्ज्वल कर्मो को करने के अनन्तर उन्हे श्री ब्रह्म के चरणों मे अर्पित करने का उपदेश—ब्राह्मण सत्करणी से ब्राह्मण होता है—जाति, वर्ण, आश्रम सभी करनी के अनुसार प्राप्त होते है—यह जगत कर्मों से ही प्रकट होता है—खोटी करनी से नरक प्राप्त होता है, इसीलिए मन, वचन, कर्म से साधु होने की शिक्षा—विविध वचन और उनके भेद—मन की साधना—"खोटी नितवनि चितवै नाही, सदा रहै थिर ताके माही"—निन्दा, वैर, झूठ, हिसा, पाप, अभिमान, गर्व आदि के विसर्जन और परित्याग का उपदेश—कथाओं द्वारा कथन का समर्थन—हरि और गुरु की महत्ता तथा उपयोगिता—करनी से ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, मनुष्यादि इतने उच्च पदों पर पहुँचते हैं—मानव देह की दुर्लभता इसमे करनी और कथनी की एकता की आवश्यकता—करनी होनहार को भी पलट देनी है—"कोटि यही उपदेश है यही जु सगरी बात। करणी ही बलवंत है, यों शुकदेव दिखात मन की करणी ज्ञान है"—बिना करनी कुछ भी सम्भव नहीं है—"बिन करणी व्यवहार न चाले, नही तो बैठा रहजा ठालै"—करनी से ही मनुष्य खोता और पाता है—करनी ही सिद्ध, मुक्ति और भक्ति दात्री है—करनी ही जीवनमुक्ति दात्री है—करनी ही अष्टसिद्धि दात्री है—व्यास पुत्र शुकदेव की बन्दना और यशोगान।

विषय-प्रतिपादन—'धर्म जहाज' के विषय का प्रतिपादन गुरु शिष्य के सम्वाद में हुआ है। शिष्य गुरु से शकाओं और जिज्ञासा के कारण प्रश्न पूछता है और गुरु तर्क तथा प्रमाणों से समर्थित अपने अभिमत को शिष्य की जिज्ञासा शात करने के लिए उपस्थित करता है। इस प्रकार ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रश्नोत्तर मे प्रतिपादित हुआ है। यदि ग्रन्थ को गुरु और पाठक को शिष्य मान लिया जाय तो पाठक की समस्या एवं शंकाएं ग्रन्थ से शात हो जाती हैं।

प्रतिपादित विषय को अधिक प्रभावशाली बनाने के हेतु कवि ने दृष्टातों उदाहरणों तथा कथाओं का सहारा ग्रहण किया है। इस प्रकार विषय मे जहा एक ओर रोचकता का समावेश होता है वहा स्पष्टता भी आ जाती है।

कवि ने विषय के प्रतिपादन को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कथाओं का समावेश करके अपनी मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है। सभी को ज्ञात है कि दृष्टांतों से हमारे हृदय और मस्तिष्क की चिन्तन शक्तिको बल मिलता है।

'धर्म जहाज'मे विषय को प्रभावशाली बनाने के लिए लेखक ने पुनरुक्तियों का समावेश भी किया है। अशिक्षित जनता को प्रभावित करने के लिए विषय को बारम्बार दोहराना अत्यन्त आवश्यक होता है।

सक्षेप मे 'धर्म जहाज' के अन्तर्गत विषय का प्रतिपादन सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढग से हुआ है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है। परन्तु वर्ण्य-विषय मे कतिपय प्रसग ऐसे आए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह कवि की सगुणोपासना से सम्बन्धित रचना है। रचना मे आए हुए ये प्रसग है—१. सगुण उपासना का प्रतिपादन २. भाग्य-वाद का समर्थन ३ जाति पाति एव वर्णव्यवस्था का समर्थन। रचना काल-क्रम से इसका स्थान 'अमर लोक' के अनन्तर आता है।

विषय प्रतिपादन शैली और भाषा की दृष्टि से यह रचना 'अमर लोक' से श्रेष्ठ है। करनी और कथनी पर प्रायः ५०० छन्दों की रचना हो जाने के बाद भी उसमे कही नीरसता और दुरूहता नही आने पाई है। 'धर्म जहाज' मे लेखक के साथ विश्वास पूर्वक आगे बढने की शक्ति परिलक्षित होती है। अतएव यह रचना निश्चय ही 'अमर लोक' के बाद की रचना है। 'अमर लोक' का रचनाकाल हमने सन् १७५५ माना है। 'धर्म जहाज' का इसके अनन्तर होना निश्चित है। अनुमानतः 'धर्म जहाज' का रचना काल सन् १७५७ है।

भाव सौंदर्य—भाव सौदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ मे निम्नलिखित स्थल पठनीय होंगे:—

१—करनी कथनी की एकता की अनिवार्यता। २—कर्म फलों का व्यापक भाव, ३—वचन भेद प्रकरण, ४—कथा प्रकरण।

अष्टांगयोग

उपलब्ध प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रति महन्त गुलाब दास के यहाँ, द्वितीय श्री गणेशदत्त मिश्र के सग्रह में और तृतीय उन्नाव जिला के जगदीशपुर के निवासी श्री भगवान दास के यहाँ प्राप्त हुई है। श्री भगवान दास के प्रपितामह और काथानिवासी श्री शिव सिह सेगर (सरोज के रचयिता) मे अभिन्नता थी। सम्भव है कि यह प्रति इनके परिवार मे उक्त सग्रह से ही आई हो। तृतीय प्रति के साथ एक ही जिल्द मे 'ज्ञान स्वरोदय,' 'पचोपनिषद्सार,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' एव 'भक्ति सागर' भी सम्बद्ध है। स्मरण रखना चाहिए कि एक ही जिल्द में बधी हुई ये चारों पुस्तके निर्गुण ब्रह्म, हठयोग और निर्गुण साधना से सम्बन्धित हैं।

इस तृतीय प्रति के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ है :—

"श्री चरनदास महराज कृत भक्ति योग ग्रन्थ सग्रह। सकलग्रन्थ पाठ के लिए लिखा स्वामी महेशानन्द ने। सवत् १८४६ वि० मे।"

इस उद्धरण मे तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम यह कि स्वामी महेशानन्द जी इन चारों ग्रन्थों के प्रतिलिपि कर्ता थे। द्वितीय कि इन ग्रन्थों का प्रतिलिपि काल चरनदास के साकेतवास से ठीक दस वर्ष बाद है। तृतीय यह कि यद्यपि महेशानन्द ने प्रतिलिपि किया अवश्य परन्तु उपर्युक्त उद्धरण लिख देने वाला स्वामी महेशानन्द का कोई शिष्य था। स्वामी महेशानन्द कौन थे? इसके विषय मे कोई सूचना नही उपलब्ध होती है। सम्भव है कि ये चरनदास के प्रिय शिष्य श्री गुरुभक्तानन्द (रामरूप जी) के शिष्य सखा और गुरु भाई हों। इस प्रकार महेशानन्द जी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह ग्रन्थ सग्रह कवि के 'अष्टागयोग', 'पचोपनिषदसार,' 'ज्ञान स्वरोदय,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' तथा 'भक्ति सागर' के अध्ययन का आधार है।

इस सग्रह का आकार १०" × ६" है। 'अष्टागयोग' की रचना ६० पृष्ठों और ७६६ छन्दों में हुई है। ग्रन्थ की रचना का माध्यम देवनागरी लिपि है।

'अष्टाग योग' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है। जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन 'अथ श्री गुरु शिष्य सवाद 'अष्टाग योग प्रारम्भः' शीर्षक मे हुआ है।

ग्रन्थ में योग के विभिन्न आठ अंगों की विवेचना, उदाहरण और दृष्टातों के सहित हुई है। ७६६ छन्दों में लेखक ने योग की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन किया है। इस दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक 'अष्टाग योग' सार्थक है।

ग्रन्थ का आधार—अष्टाग योग का आधार ग्रन्थ क्या है, यह स्पष्ट रूप से नही ज्ञात होता है। इसके विषय में ग्रन्थ मे कवि ने कोई उल्लेख नहीं किया है। वर्ण्य-विषय से ज्ञात होता है कि कवि के विषय का आधार 'पातजलयोग दर्शन' है।

सम्पूर्णग्रन्थ मे योग का अध्ययन कवि ने विभिन्न शीर्षकों मे किया है। विषय का विभाजन निम्नलिखित शीर्षकों मे सम्पन्न हुआ है :—

१—अथ यम अग वर्णन २—अथ नेम अग वर्णन ३—अथ आसन वर्णन। १। अथ पद्मासन विधि। २। अथ सिद्धासन विधि ४—अथ प्राणायाम अग वर्णन अथ अष्ट प्रकार के कुम्भक। १। अथ सूर्य भेदन। २। अथ उज्जाई। ३। अथ शीतकार। ४। अथ शीतली। ५। अथ भस्तिका। अथ कुम्भक अग वर्णन। १। अथ भ्रामरी। २। अथ मूर्च्छा। ३। अथ केवल कुम्भक ५—अथ प्रत्याहार अग वर्णन ६—अथ षष्ठ धारणा वर्णन ७—अथ ध्यान अग वर्णन। १। अथ पदस्थ ध्यान। २। अथ पिडस्थ

ध्यान ।३। अथ रूपस्थ ध्यान ।४। अथ रूपातीत ध्यान ८—अथ समाधि अग वर्णन ९—अर्थ षटकर्म हठयोग वर्णन—अथ नेती कर्म-अथ धोती कर्म,अथ वर्मस्तीक,अथ गजकर्म, अथ न्योली कर्म, अथ त्राटक कर्म १०—अथ मुद्रा वर्णन, अथ भूचरी मुद्रा, अथ चाचरी मुद्रा,अथ अगोचरी मुद्रा,अथ उनमनी मुद्रा ११—अथ महाबन्ध साधन विधि, मूल बन्ध, जलन्धर बन्ध, उड्यान बन्ध ।

वर्ण्य-विषय—'अष्टाग योग' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

व्यास पुत्र शुकदेव जी को वन्दना—यम—यम के लिए आवश्यक तत्व—सूक्ष्म भोजन, अल्प निद्रा, दीनता, सन्तोष, ग्रहण तथा अहकार, कपट, छल आदि का परित्याग—यम-यम के अग अहिसा,सत्य, अस्तेय,ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, आर्य्यव मिताहार, शौच तथा पवित्रता—नियम-नियम के अग-तप सतोष, आस्यक, दान, ईश्वर पूजा, श्रवण, लज्जा, दृढ़ मति, जप होम, नियम की महत्ता और उपयोगिता-आसन-आसनों की चौरासी लक्ष सख्या-इनमे दो की प्रधानता सिद्धासन तथा पद्मासन की महत्ता—इनकी साधना के फल-पद्मासन साधना विधि-सिद्धासन साधना विधि-प्राणायाम वर्णन-प्राणायाम की महत्ता-दश वायु-दश वायु के स्थान-चक्र, चक्रों के स्थान वर्णन और रग—उनके आकार और पटल, अक्षर अनहद नाद और उसकी उपयोगिता-नाद के प्रकार नाद की विधिया—अन्य नादों से अनहद नाद की तुलना-नाद साधना का शरीर पर प्रभाव-श्वास की सख्या—शरीरस्थ नाडियां—उनके दश भेद दश नाड़िबों के शरीर मे स्थिति—बनमे से इडा, पिगला और सुषुम्णा नाड़ियों की महत्ता—इन तीनों की विशेषता—प्रणव जाप और प्राणायाम—विभिन्न प्रकार की प्राण वायु—कुम्भक—कुम्भक के भेद—कुम्भक की प्रक्रिया—अथ सूर्य भेदन—परम्परागत वर्णन-परम्परा से कवि की विशेषता—परम्परागत वर्णन से भिन्नता—उज्जाई शीतली भस्त्रिका—कुडलिनी का स्थान-आकार, गुण, कुडलिनी को जाग्रत करने की प्रक्रिया-फल सिद्ध होने पर साधक की दशा और अवस्था—भ्रामरी कुम्भक मूर्च्छा, कुम्भक—केवल कुम्भक—प्रत्याहार—प्रत्याहार की महत्ता—धारणा वर्णन—भूमि धारणा—अग्नि,धारणा—व्योम तत्व धारणा—लकार, बकार थरकार—मकार, हकार—थंभनी, द्रावणी, भ्रामनी, शखिनी, प्राणवायु धारणा—ध्यान प्रकरण—पदस्थ, पिडस्थ, रूपस्थ एव रूपातीत—ध्यान वर्णन, समाधि—समाधि की विशेषता और उपयोगिता—निर्द्वन्द्व समाधि—शून्य समाधि—षटकर्म वर्णन, नेती कर्म, धोती कर्म, वर्मस्तीक, गजकर्म, न्योली कर्म, त्राटक कर्म वर्णन—खेचरी मुद्रा—इसकी महत्ता और उपयोगिता हठयोग साधना मे—मुद्राओं के भेद मुद्रा—विधि—खेचरी मुद्रा उड्यान मुद्रा—भूचर मुद्रा—चाचरी मुद्रा—अगोचरी मुद्रा-उनमनी मुद्रा-महा बन्ध साधन विधि-मूलबन्ध-जलधर बन्ध—उड्यान बन्ध—साधना के क्षेत्र मे इनकी अनिवार्यता—साधना के क्षेत्र मे लौकिक

सिद्धिया—साधक के लिये इनका महत्वहीन आकर्षण-अष्ट सिद्धिया—उनकी निःसारता—गुरु शुकदेव की वन्दना और स्तवन।

विषय-प्रतिपादन—ऊपर कहा जा चुका है कि 'अष्टांग-योग' की रचना ७६६ छन्दों मे हुई है। अष्टाग योग के सीमित विषय को कवि ने सविस्तार स्पष्ट शैली मे वर्णन करने का प्रयत्न किया है। वर्ण्य-विषय विवेचन से प्रकट होता है कि कवि ने 'अष्टाग योग' के प्रत्येक विषय, और उप-प्रसग के प्रति उतने ही ध्यान से विचार प्रकट किया है जितना किसी भी महत्वपूर्ण प्रसग के प्रति उसने अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। इसी कारण योग जैसे दुरूह और नीरस विषय मे भी कवि इतनी सरसता एव स्पष्टता का समावेश करने मे सफलीभूत हुआ है। ग्रन्थ में सर्वत्र सरसता उपलब्ध होती है।

'अष्टाग योग' की प्रक्रिया और साधना विधि के वर्णन मे भी रोचकता और स्पष्टता सर्वत्र उपलब्ध होती है।

ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन गुरु व शिष्य के सम्वाद मे हुआ है। गुरु से शकालु और जिज्ञासु शिष्य प्रश्न पूछता है और गुरु शिष्य की उत्सुकता को शात करने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के योग प्रकरण को देखने से ज्ञात होता है कि कवि को सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को सफलता पूर्वक व्यक्त करने मे सफलता प्राप्त हुई है। दृष्टातों और उदाहरणों का चयन विषय को स्पष्ट और सुगम बनाने मे सहायक सिद्ध हुआ है। विषय को सहज बनाने का प्रयत्न सम्पूर्ण ग्रन्थ मे सर्वत्र दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ दो उद्धरण देखिये :—

१—रेचक पूरक ऐसे कीजे, बारबार तजै अरु लीजै।
जैसे खाल लोहारा भरै, रेचक पूरक आतुर करै॥
हिरदै मे अस्थान है, प्रान वायु का जान।
वाके रोके सब रुकै, वायुन मे परधान॥
जैसे गगा एक ही, घाट घाट के नाव।
ऐसे प्राणहि बायु के, नाव कहे बहु ठाव॥

देखिये कवि ने पाठकों को समझाने के लिए सुगम उदाहरण देकर विषय को रोचक तथा स्पष्ट बना दिया है।

रचना काल—ग्रन्थकार ने 'अष्टाग योग' की रचना-तिथि का उल्लेख नहीं किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि का निम्नलिखित कथन समय निर्धारण मे सहायक होता है।

व्यास पुत्र धनि धनि तुम्ही, धनि धनि यह अस्थान।
मम आशा पूरी करी, धनि धनि वह भगवान।

तुम दर्शन दुरलभ महा, भये जु मोको आज ।
चरण लगो आपा दियों, चरणन लियो लगाय ॥
बालपने दरशन दिये, तबही सब कछु दीन ।
बीज जु बोया भक्ति का, अब भया वृक्ष नवीन ॥
दिन दिन बढता जायगा, तुम किरपा के नीर ।
जब लग माली ना मिला, तब लग हुता अधीर ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भक्ति का जो बीज किसी समय कवि के हृदय मे आरोपित हुआ था वह कालातर मे योग वट-वृक्ष के रूप मे विकसित हो गया । अतः योग साधना से सम्बन्धित यह ग्रन्थ कवि के जीवन मे साधना की प्रौढावस्था का द्योतक है । अष्टागयोग की पूर्ण साधना कर लेने के अनन्तर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से प्रकट होता है । चरनदास जी ने जयपुर की यात्रा, साधना के क्षेत्र मे प्रतिष्ठा और सिद्धि प्राप्त करने के अनन्तर सवत् १०४० मे की थी । ग्रन्थ की परिमार्जित भाषा, प्रतिपाद्य विषय, प्रौढ चिन्तन देखने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना जयपुर यात्रा के अनन्तर ही की थी । इस अनुमान के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना समय सवत् १८४० निर्धारित होता है ।

योग सन्देह सागर

उपलब्ध प्रतियाँ—लेखक को 'योग सन्देह सागर' की केवल दो प्रतिया प्राप्त हुई । इनमे से एक हस्तलिखित प्रति है जो मिश्र जी के सग्रह से प्राप्त हुई और द्वितीय मुद्रित है जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है ।

मिश्र जी की प्रति मे प्रतिलिपि कर्ता अथवा समय का अन्त मे उल्लेख नहा हुआ है । ग्रन्थ का कागज, रोशनाई और लिखावट इस बात का द्योतक है कि यह प्रति आज से प्राय. १०० वर्ष पूर्व प्रस्तुत की गई थी । ग्रन्थ को आकर्षक और सुन्दर बनाने के लिए हाशिया के चारों ओर से लाल रोशनाई और हरं रग की समानान्तर रेखाएँ अकित है और इन रेखाओं के अन्दर पीला रगा भरा हुआ है ।

अप्रकाशित प्रति का आकार ८''×५, १/२'' और ग्रन्थ की रचना ६५ छन्दों मे हुई है । रचना लिपि देवनागरी है ।

इस ग्रन्थ मे लेखक ने पिंड, नाडी कुडलिनी, शून्य आदि जैसी योग और ज्ञान के विषयों मे प्रश्नावली प्रस्तुत की है । ये विषय पहेली के समान तत्वज्ञों और योग विशारदों के समक्ष रखे गये हैं । ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत मे कवि ने ग्रन्थ के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए लिखा है :—

१—अर्थ बताओ पडिता, ज्ञानी गुणी महन्त ।
जो तुम पूरे साधु हौ, भक्ता हरि के सन्त ॥
चरणदास पूछे अरथ, भेदी होय कहौ ।
समझौ तौ चर्चा करौ, नाही मौन गहौ ॥
—सो तुमसो पूछन करौ, हौ परषन के दाय ।
या सागर सन्देह को, दीजै अर्थ बताय ॥

इन दोनो उद्धरणो के आधार पर हम ग्रन्थ का नाम 'योगसन्देहसागर' सार्थक समझत है ।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रारम्भ से अत तक एक समान ही चलता है । बीच मे कही पर न तो वस्तु का विभाजन अध्याय मे हुआ है और न प्रकरणो मे ही ।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

ब्रह्म की स्थिति घट घट मे है—शरीरस्थ सात समुद्रों मे कछुआ कौन हैं और कहा विराजमान है—शेष नाग कहाँ रहता है और बराह की छवि कैसी—षटचक्र कौन कौन और कहाँ कहा है—कुडलिनी का निवास स्थान कहा है और वह कैसे जाग्रत होती है—पवन और मन का वास कहाँ है—हृदय की आँख कहाँ है—प्राण पुरुष अन्तर्गत कैसे हैं—इडा, पिगला सुषुम्ना नाड़ी क्रमशः कैसे परिवर्तित होती है—अजपा कितने प्रकार का होता है—श्वास का मापदड कितने अगुल मे है—विष्णु के तीनो पद कहाँ है—कहाँ हैं इकीस काया मे लोक—इन्द्र शरीर मे नित्य कहाँ भोग करता है—ब्रह्मादिक त्रिदेव कहाँ है—षोडश चन्द्र कहाँ प्रकाशमान रहते है—त्रिकुटी सयम का स्पर्श कैसे हो—त्रिवेणी की प्राप्ति कहाँ से हो—टकार शब्द कहाँ से जाग्रत होता है—ओंकार से ससार कैसे उत्पन्न हुआ—निर्गुण और सगुण का क्या भेद है—काया मे विष और बिन्दु कुड कहाँ है—ब्रह्म जीव मे कितनी दूरी है—शरीरस्थ निम्न प्रबल शत्रु कौन कोन है—अमृत कुड कहाँ है—बकनाल की पहचान बताओ—ब्रह्म रध्र का रहस्य बताओ—मान सरोवर ताल घट मे कहाँ है—बिना सीप के मोती, बिना घी के दीपक, बिना सूर्य के प्रकाश कहाँ होता है—भँवर गुफा कैसी है—शून्य शिखर का द्वार किस ओर है—देह मे काशी और मथुरा कहाँ है—अडसठ तीर्थ घट मे कहाँ कहाँ है—कपाट की कुजी ताला कहाँ है—अमृत का स्वाद कितने प्रकार का है—कठ कूप उलटा क्यो है—किस कमल पर गुरु विराजमान हैं—अनहद के कितने प्रकार है—तीसरा और चौथा शून्य कहाँ है—बहत्तर हजार आठ सौ चौसठ नाड़ियां कहाँ है—चौरासी वायु कोन कौन है—ब्रह्म ज्वाल कैसे जाग्रत होती है—किस आसन से वीर्य जीता जाता है—चौरासी आसन कोन कौन है—योग भक्ति कितने प्रकार की है—पंचभूमिका का क्या अर्थ

है—कौन काया नगरी का राजा है—कौन जीता और कौन मरता है—सब से बड़ा आहार क्या है—कौन वस्तु न घटती है न बढ़ती है—प्रणव का क्या अर्थ है—मन मनसा का साथ कैसे होता है—चौबीस शून्य का क्या अर्थ है—आठ महल का वर्णन करो—दीप मुद्रा और मुद्रा राज क्या है—पंचतत्व की दश इन्द्रियाँ कौन-कौन है—चन्द्र कला कैसे बढ़ती है और कहाँ से विकसित होती है—दीप की ज्योति क्योंकर बुझ जाती है—रात दिन कैसे होता है—तन के छूटने पर जीव कहाँ जाता है ?

विषय-प्रतिपादन—कवि ने कुशलता पूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन 'योग-सन्देह सागर' में किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना आद्योपात प्रश्नों में ही हुई है। इस छोटे से ग्रन्थ में कवि ने योग से सम्बन्धित प्रायः सभी सम्भव प्रश्नों को जिज्ञासुओं के समक्ष रख देने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार प्रश्नों को पद्यात्मक स्वरूप प्रदान करने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है। इन प्रश्नों में पहेलियों के सदृश रोचकता और मनोरंजकता है। इस ग्रन्थ के द्वारा किसी भी योग-शास्त्र के पंडित की योग्यता परखी जा सकती है। इस ग्रन्थ के विषय-प्रतिपादन में प्रौढ़ता और चिन्तन की गम्भीरता सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसके आधार पर हम कवि के योग शास्त्र-विषयक ज्ञान का अनुमान सरलता से लगा सकते हैं।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है। इसकी रचना कब हुई थी, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ रचना है। इस ग्रन्थ में सिद्धांत—समन्वय और विषय—प्रतिपादन तथा भाषा-शैली आदि को देख कर हम कह सकते हैं कि यह कवि की प्रौढ़ रचना है। इसकी भाषा शैली और अभिव्यंजना-कौशल बहुत कुछ 'अष्टांग योग' के समकक्ष है। हमारा अनुमान था कि 'अष्टांग योग' की रचना संवत् १८४० में हुई थी, अतः इस ग्रन्थ की रचना भी लगभग संवत् १८४२ में सम्पन्न हुई है।

भाव-सौंदर्य और काव्य-सौन्दर्य—ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने योग, पिंड, ब्रह्म और नाड़ीविषयक प्रश्नावली प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अतएव इस प्रश्नावली के मध्य भाव-सौंदर्य की खोज करना कवि के साथ अन्याय होगा। सच तो यह है कि भाव-सौंदर्य के लिए इस ग्रन्थ में कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, काव्य-सौंदर्य अवश्य उपलब्ध होता है। ग्रन्थ में भाषा का प्रवाह, शब्द-चयन और प्रश्नावली का क्रम तथा तारतम्य सराहनीय है।

ज्ञानस्वरोदय

उपलब्ध प्रतियां— प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियां लेखक को प्राप्त हुई है। इनमें से प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के यहां, द्वितीय श्री गणेश दत्त

मिश्र के सग्रह में और तृतीय उन्नाव जिला के श्री भगवान दास के यहां प्राप्त हुई। श्री भगवान दास की यह प्रति चरनदास जी के अन्य चार ग्रन्थ 'अष्टांग योग,' 'पंचोपनिषद् सार,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' तथा 'भक्ति सागर' के साथ एक ही जिल्द में सम्बद्ध है।

इस तृतीय प्रति के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ है :—

"श्री चरनदास महाराज कृत भक्तियोग ग्रन्थ संग्रह। सकल ग्रन्थ पाठ के लिखा स्वामी महेशानन्द ने। सवत् १८४६ वि० मे।"

'ज्ञान स्वरोदय' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है। ग्रन्थ का आकार १० "x ६" है। इसकी रचना २६७ छन्दो मे हुई है। ग्रन्थ की रचना लिपि देवनागरी है।

'ज्ञान स्वरोदय' में कवि ने योग क्रिया के श्वास विभाग विषयक तत्व एव माहात्म्य का सांगोपांग वर्णन किया है। श्वास के नियत्रण, परख और पहचान के द्वारा शुभाशुभ कार्यों की विवेचना और पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेना स्वर-साधना का लक्ष्य है। इस श्वास-प्रश्वास साधना में नाडी, सूर्य, चन्द्र कृष्ण पक्ष एव शुक्लपक्ष आदि का भी विचार अपेक्षित होता है। इसके आधार पर सन्तानोत्पत्ति, एव मृत्यु जैसे अज्ञात विषयों का भी ज्ञान किया जाता है। चरनदास ने इसी विषय के आधार पर समस्त ग्रन्थ की रचना की है। विषय को देखने हुए ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

वर्ण्य-विषय—श्री चरनदास कृत 'ज्ञान स्वरोदय' का वर्ण्य-विषय निम्न-लिखित है :—

श्री शुकदेव वन्दना—श्री शुक देव ज्ञानस्वरोदय के सूत्र और आधार—सतगुरु का सामर्थ्य—क्षर ॐ और अक्षर सोऽह—निहअक्षर की शून्य की श्वासों से रहित स्थिति—शून्य मे सुरति लगाने का उपदेश—अद्वैत शून्य की आराधना श्रेष्ठ—यह विचार और उपदेश वेद तथा शास्त्रो से सम्मत है—ऊ से काया एव प्रकृति की उत्पति—सोऽह से मन की उत्पति—निहअक्षर की निःश्वास स्थिति—निहअक्षर मे चित्त को नियोजित करने का उपदेश—"क्षर अक्षर निहअक्षर एके दुविधा नाखौं"-अखिल सृष्टि उसी ब्रह्म की कृति है—श्वास से सोऽह, सोऽह से ऊकार की उत्पति, और ॐ से ररों का विकास—साधना का अन्तर्मुखो करने का उपदेश—"घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहा समावो"—आत्म ज्ञान और अनुभूति ही गीता वेदादि के उपदेशों का सारतत्व-स्वर विज्ञान का ज्ञान अत्यावश्यक-ब्रह्म ज्ञान का अनुभव एवं अजपा तथा सोऽहं की साधना ही परमहंसों की वास्तविक गति है-शरीरस्थ

नाड़ियो में इडा, पिंगला और सुषुम्णा की महत्ता—इनकी स्थिति शरीर में—इडा और पिंगला सूर्य और चन्द्र की प्रतीक इनकी साधना से बुद्धि की निर्मलता को प्राप्त होना—"थिरकारज को चन्द्रमा चरकारज को भान"—शुभ कार्य के लिए सूर्य के तीन दिन मंगल, इतवार और शनिवार, चन्द्र योग मे शुभ कार्य के लिए सोमवार शुक्रवार और बृहस्पति शुभ दिन—कृष्ण पक्ष आदि मे तीन शुभ दिन–शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ में तीन शुभ दिन—शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ के शुभ दिन—सूर्य के दिनो मे सूर्य नाडी की गति से शुभ कार्य का प्रारम्भ—शुक्ल पक्ष मे कार्य, यात्रा, प्रयत्न हानि लाभ, शुभ—अशुभ आदि का स्वरो की दृष्टि से विचार—चन्द्र योग मे प्रश्न कर्ता की स्थिति,—गति स्वर और प्रश्न पूछने के ढंग के आधार पर स्वर विज्ञान की दृष्टि से सफलता–असफलता, हानि–लाभ आदि का विचार–तिथि और अक्षरों की गणना से साम्य स्थापित करते हुए शुभाशुभ विचार–राशि एवं नक्षत्रो की गणना का सूर्य से साम्य स्थापना करत हुए विचार गणना—पच घड़ी तथा पच तत्वो से शुभाशुभ विचार—धरती, जल, पावक, वायु, गगन आदि के रंग, वर्ण गति का श्वास प्रश्वास आदि की गणना से शुभाशुभ विचार—पच तत्व की महिमा और उनकी उपयोगिता से शुभाशुभ विचार—रोगी के स्वास्थ्य और जीवन के विषय मे प्रश्न तथा गणना विधि—वर्ष तथा प्रजा की दशा के विषय मे गणना से उत्तर—अग्नितत्व के लगने से प्रजा की दुर्दशा का विचार—विवाह, तीर्थ, यात्रा, वस्त्र, भूषणादि बनवाने, ग्रन्थ रचना, योगाभ्यास, दीक्षा, मत्र, औषधि, उपचार, बाग–उपवन लगाने के विषय मे शुभाशुभ विचार—युद्ध प्रस्थान, भोजन, स्नान, मैथुन, ध्यान, गज, घोडा, वाहन, हथियार, विद्याध्ययन, मत्र साधना, शत्रु से मिलने आदि के विषय मे विचार—सुषुम्णा नाड़ी का विचार—सुषुम्णा के गतिमान होने पर विभिन्न कार्यों को करने का निषेध—दक्षिण एव वाम स्वर मे कार्यों को करने के फल कार्य सिद्धि करण विचार—मृत्यु विचार श्वासो की दृष्टि से—श्वास और प्रश्वास साधना से मृत्यु निवारण—स्वर ज्ञान और साधना से शून्य शिखर में प्रवेश पाने का विचार—योगियों की काया त्याग का विचार—दक्षिणायन और उत्तरायण मे मृत्यु का विचार—युद्ध के विषय मे स्वरो की दृष्टि से सविस्तार विचार—श्वासों का नियत्रण, गर्भाधान विचार प्रकरण—पुत्र, पुत्री, उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कोटि की सन्तान का विचार—स्वर साधना से मृत्यु का निवारण, पच तत्व विचार—निरजन ब्रह्म की प्रतिष्ठा—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, का विचार षटकमल दल का रूपक—षटचक्रों के रगों और पटलो का विचार—घंटा एव अनहद नाद और उसकी महत्ता, उपयोगिता—दश वायु और उनका विचार—निराकार देव से सृष्टि, उत्पत्ति स्वरोदय विज्ञान की महत्ता—आत्म परिचय।

विषय-प्रतिपादन—चरनदास को स्वरोदय ज्ञान उनके गुरु श्री शुकदेव से

मिला था। स्वरोदय ज्ञान अनेक कारणा से महत्वपूर्ण है। किसी श्वास के प्रबल होने को स्वर कहा गया है। समस्त स्वरोदय-विज्ञान का एक मात्र आधार प्रत्येक मानव के नासिका छिद्रो से सचालित श्वास-प्रश्वास की गति है। श्वास-प्रश्वासो की गति बडी ही रहस्यपूर्ण है। श्वासोच्छ्वास की शक्ति बडी प्रबल है। इन्हीं श्वासो का नियत्रित क्रम मानव के जीवन और दीर्घायु का कारण होता है और इसी का अनियन्त्रित प्रवाह मानव को काल का कौर बना देता है। चरनदास ने इसी विज्ञान का प्रतिपादन सुचारु ढङ्ग से अपने इस ग्रन्थ 'ज्ञान स्वरोदय' मे किया है।

'स्वरोदय विज्ञान' दुरूह और नीरस विषय है। बिना किसी कुशल गुरु से शिक्षा प्राप्त किए हुए न तो साधना सम्भव है और न प्रक्रिया का समझना ही। कवि ने यथाशक्ति इस विज्ञान को सरल बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी इसे पूर्ण-तया समझ लेना उतना सरल कार्य नही है।

लेखक ने प्रतिपाद्य विषय को सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु इतना होते हुए भी विषय की स्वाभाविक दुरूहता बनी हुई है। प्रतिपाद्य विषय के प्रत्येक प्रसंग का एक साथ विवेचना और उनके मूल्यांकन से पाठको को विषय समझने मे सरलता हो जाती है। इसे हम कवि की वैज्ञानिक विवेचना और शैलीगत विशेषता कह सकते है।

स्वर-विज्ञान साधना आज प्रायः विलुप्त हो गई है। परन्तु कवि को इस बात का श्रेय है कि साधना की प्राचीन दार्शनिक पृष्ठभूमि मे इसे व्यक्त करके अप्राप्त साहित्य तथा दर्शन को सुलभ बना दिया है।

आधार ग्रन्थ—इसके विषय में 'ज्ञान स्वरोदय' मे कोई स्वीकारोक्ति नही है। प्रस्तुत ग्रन्थ के 'साधना' शीर्षक मे 'शिव स्वरोदय' तथा चरनदास लिखित 'ज्ञान स्वरादय' का साम्य और भेद प्रदर्शित किया गया है। 'ज्ञान स्वरोदय' के आधार ग्रन्थ 'गणेश स्वरोदय' तथा 'शिव स्वरोदय' हैं। इन्ही दोनों ग्रन्थों के आधार पर कवि ने अपने इस ग्रंथ की रचना की है।

ग्रन्थ का रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल अज्ञात है। परन्तु विषय प्रति-पादन शैली, भाषा आदि की प्रौढता इस बात की द्योतक है कि यह 'अष्टांग योग' की समकक्ष रचना है। 'अष्टाग योग' का रचनाकाल संवत् १८४० है, अतः इसका समय भी लगभग सम्वत् १८४३ है।

पंचोपनिषद्सार

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास कृत 'पंचोपनिषद् सार' की तीन प्रतियां लेखक को उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतियों मे दो हस्तलिखित हैं और एक मुद्रित। हस्त-

लिखित प्रतियो मे सर्वप्रथम प्रति श्री गणेशदत्त मिश्र के संग्रह से प्राप्त हुई है और द्वितीय श्री भगवान दास उन्नाव जिले के निवासी से प्राप्त हुई। भगवान दास जी की इस प्रति के साथ चरनदास जी की अन्य चार रचनाए 'अष्टॉग योग,' 'ब्रह्म-ज्ञान सागर,' 'ज्ञान स्वरोदय,' और 'भक्ति सागर' सम्बद्ध है।

कवि की इन पॉच पुस्तको के एक साथ सग्रहकर्ता और प्रतिलिपिकर्ता थे स्वामी महेशानन्द जी जैसा कि सग्रह ग्रन्थ के ऊपर लिखे हुए प्रस्तुत वाक्य से ज्ञात होता है :—

"श्री चरनदास महराज कृत भक्ति योग ग्रन्थ संग्रह। सकल ग्रन्थ पाठ के लिए लिखा स्वामी महेशानन्द ने सवत् १८४६ वि० मे।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि चरनदास की मृत्यु के १० वर्ष बाद सवत् १८४६ मे हुई।

इस ग्रन्थ का आकार १०" × ६" है और ग्रन्थ के विषय की अभिव्यक्ति ३८ पृष्ठो मे हुई है। ग्रन्थ की लिपि देवनागरी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे पॉच उपनिषदो 'हसनाद उपनिषद्,' 'सर्वोपनिषद,' 'तत्व-योग उपनिषद,' 'योग शिखोपनिषद,' तथा 'तेजबिन्दु उपनिषद्' का भावानुवाद किया गया है। अत. प्रस्तुत ग्रन्थ का 'पचोपनिषद् सार' नाम सार्थक है।

उपनिषदो से साम्य और भेद—कवि द्वारा निर्धारित ग्रन्थ के नाम से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत रचना न तो भावानुवाद है और न स्वतत्र रचना, वरन् उपनिषद् को वस्तु का सारतत्व भाषा मे कर दिया गया है। कवि की रचना का आधार उपनिषद् ही है, परन्तु उसके विषय से कोई भेद नही। कवि के अनु-सार भी यह स्वतत्र रचना न होकर भावानुवाद और सार संग्रह ग्रन्थ है :—

संस्कृत था कूप सम, भाषा नीर निकास।
प्याऊ जिज्ञासन को तिनकी भगै पियास॥
वेदहि की उपनिषद जुभै भाषा करी।
जो कुछ था वहि माहि सोई वैसे धरी॥

"जो कुछ था वहि माहि सोई वैसे धरी" से स्पष्ट है कि ग्रन्थ उसी विषय तत्त्व को लेकर लिखा गया है जो उपनिषदो मे विद्यमान है। अतएव यह कवि की स्वतत्र रचना नही है।

वर्ण्य-विषय—पंचोपनिषद सार का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

अथर्वणवेद हंसनाद उपनिषद्—दार्शनिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो के गुप्त एव निहित रहस्यो के उद्घाटक श्री गुरुदेव शुकदेव की वन्दना—सस्कृत मे

लिखित प्रस्तुत उपनिषद् का हिन्दी में सर्व लाभार्थ प्रस्तुत करना—जनता की भाषा मे हसनाद उपनिषद को प्रस्तुत करने का लक्ष्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी इस जन सुलभ और बोधगम्य भाषा का आनन्द ले सकते हैं।

यह जग और उसकी सत्ता मृगतृष्णा के जल के समान है—निकट जाने पर किसी प्रकार पिपासा नही शात होती है—जल के निकट जाने पर और भी पिपासा मे अभिवृद्धि होती है—मनुष्य ज्ञान सुधा का परित्याग करके माया जल का पान करता है, जो हृदय मे अशाति का बीजारोपण करता है—ज्ञान नीर पीकर भक्तो को तृप्ति होती है—इसके विरुद्ध ससारी सदैव अतृप्त और क्षुधार्त्त रहते हैं—

अतएव सस्कृत के कूप से निःसृत यह कल्याणकारी जल सर्वथा ग्रहणीय और पेय है।

वेदोक्त उपनिषद् के विषय को भाषा मे व्यक्त करने का प्रयत्न—इसके श्रवण वा अध्ययन तथा तदनुकूल आचरण करने से भवबाधाओं एवं आवागमन का विनाश होता है—पाठक मुक्ति प्राप्त करके कृतकृत्य होता है—द्वैत की भ्रामक भावना छूट जाती है—द्वद्व और भ्रम के विनष्ट हो जाने पर निर्मल ज्ञान एव आनन्द का विकास—हरि की सर्वव्यापकता।

हसनाम—हंसनाम अथर्वणवेद का गोतम ऋषीश्वर के पास ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तार्थ गमन—संसार से मुक्त होने के लिए उपदेश ग्रहण—ऋषीश्वर का प्रसन्न होकर श्री शिव एवं शक्ति की चर्चा का वर्णन—जो उपनिषद महादेव जी ने श्री शक्ति को सुनाया था उसकी चर्चा—यह अत्यन्त गुप्त उपनिषद् है—इसके अधिकारी मूर्ख एव जड व्यक्ति नही है—सतसगी सत्यवादी और यती इसके वास्तविक अधिकारी है

मानव शरीरस्थ श्वास ही हस है—इसी के आवागमन क्रम को जीवन कहा है—इसका भेद सतगुरु प्राप्त होने पर ज्ञात होता है—इसकी उत्पति होने पर ऋद्धि-सिद्धि सभी प्राप्त हो जाती है— अततोगत्वा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है—समस्त संशय विनष्ट हो जाते है—हंस और परमहस के समझने से साधक ब्रह्मानन्द स्वरूप हो जाता है—हंस मत्र का जप करता हुआ अपने को हस ही अनुभव करे—हस मत्र श्रेष्ठ जप है—इसका जप करने वाला स्वय परहंस स्वरूप हो जाता है—यह मंत्र सब के शरीरस्थ है परन्तु जानने वाला कोई कोई बिरला भाग्यवान होता है—जैसे काष्ट मे अग्नि है और तिल मे तल, उसी प्रकार यह सब घटो मे है—जिस प्रकार दूध से घृत प्रयत्न-पूर्वक निकाला जाता है उसी प्रकार यत्न-पूर्वक यह मंत्र शरीर से निकाला जाता है—बिना मथन यथा दूध से घृत नही निकलता है उसी प्रकार यह भी बिना यत्न नहीं निकल पाता है।

इसे जानने के लिए सर्वप्रथम मूलाधार चक्र को पहिचाना चाहिए—फिर पैरो

की एडी से बॉध देना चाहिए—फिर मूलाधार चक्र से खींचकर अपानवायु द्वितीय चक्र तृतीय चक्र और तदनन्तर चतुर्थ चक्र मे लाना चाहिए। इसके अनन्तर पंचम चक्र की स्थिति से होता हुआ षष्टम चक्र में प्रवेश करे—इसके अनन्तर पवन को त्रिकुटी मे रोकना चाहिए फिर षटचक्र को भेद कर वायु उठकर आगे बढ़ती है तो वह प्राण वायु हो जाती है—प्राणवायु को त्रिकुटी मध्य रोकने का अभ्यास अपेक्षित है—इसी अवस्था में प्रणव का जप अभीप्सित है—प्रणव का जप करता हुआ साधक स्वतः ब्रह्म स्वरूप हो जाता है—जप करते हुए क्रमशः साधक अजपाजाप की स्थिति में पहुँच जाता है—बिना प्रयास ही सोऽहं का जप करता हुआ साधक दिन रात मे २१६०० मन्त्रो का जप करले—इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा की स्थिति पर पहुँच जाता है।

मन को वशीभूत किया हुआ साधक ब्रह्म पद को प्राप्त होता है—जो मनोजित नही है वह आशा के फेर में पड़ा है—मानव-शरीर के विशेष आठ अगो मे आठ पखुरी है—पखुरी के पूरब दिशा में मन के जाते ही पुण्य करने की इच्छा जाग्रत होती है—आग्नेय पखुरी मे मन के प्रवेश करते ही आलस्य तथा निद्रा, दक्षिण पंखुरी मे मन प्रवेश करते ही क्रोध—नैऋत्य पखुरी मे मन प्रविष्ट होने पर पाप प्रवृति—पश्चिम पखुरी मे मन प्रवेश करते ही प्रसन्नता, वायु दिशा पखुरी में मन के प्रवेश होने पर गतिशीलता का समावेश हो जाता है—इसी प्रकार उत्तर दिशा मे प्रवेश करने पर मैथुन, ईशान पखुरी मे प्रवेश से दान, हृदय में प्रवेश होन ही त्याग की भावना जाग्रत होती है।

नाद दश प्रकार का है—प्रथम नाद चील के स्वर के समान—द्वितीय चील के स्वर का ही अभिवृद्ध रूप है—तृतीय क्षुद्र घटिका—चतुर्थ शख ध्वनि—पञ्चम वीन स्वर—षष्टम ताल समान—सप्तम वन्शीरव—अष्टम मृदग—नवम नफीरी और दशम बादल के गर्जन का सा रव है—अभ्यास से ये नाद सिद्ध हो जाते हैं—नौ नादो का परित्याग कर दशम मे रमना चाहिए।

इन अनहद नादो की परीक्षा निम्नलिखित प्रकार से है। प्रथम नाद के श्रवण से रोमाच—द्वितीय के श्रवण से आलस्य अनुभव—तृतीय से प्रेम वृद्धि, चतुर्थ से मादकता अनुभव—पञ्चम से अमृत स्वाद अनुभव—षष्टम से अमृत के स्वाद का विकसित अनुभव—सप्तम से अन्तर्यामी होता है—अष्टम से सर्वत्र की सभी बातें सुनने का अनुभव—नवम से सर्वत्र सूक्ष्म शरीरेण गमन की शक्ति प्राप्ति—दशम से सोऽहं अनुभव एव पाप पुण्य विनाश और निर्विकार रूप धारण करना यही ॐकार की स्थिति है।

सर्वोपनिषद्—ग्रन्थ रचना का आधार और सूत्र—प्रजापति के शिष्य द्वारा

सात प्रश्न—बन्धन और मुक्ति का क्या रहस्य है, विद्या का क्या भेद है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया मे क्या अंतर है, पच कोठे कौन-कोन है, आत्मा अकर्ता किस प्रकार है, जीव और देह मे क्या अन्तर है, देह का साक्षी कौन है, बन्धन मे बंधे हुए को निर्बन्ध और अन्तर्यामी कैसे कहा जाय, माया जीव से दूर है किस प्रकार ?

प्रजापति के उत्तर—जीवात्मा को देह मानना ही दुख का आगार है—यही अज्ञान का कारण है—शरीर की वाह्य उपाधिया और व्याधिया आत्मा से सम्बन्धित नहीं है—अपने को भूल जाना, अपनी स्थिति को विस्मृत कर जाना ही बन्धन है —देह का भाव मिट जाना ही विद्या है और भाव बना रहना अविद्या है—शरीरस्थ चतुर्दश इन्द्रियो का जीवात्मा मे विलीन हो जाना ही सुषुप्ति है—तीना अवस्थाओ के मिटते ही अहंकार मिट जाता है—इसके अनन्तर निर्लेप पुरुष परमात्मा की स्थिति रह जाती है।

प्रथम कोठा अन्नमय कोश है—द्वितीय प्राणमय कोश, इसी मे प्राण शक्ति रहती है—तृतीय बुद्धिमय कोश है जिसमे मन, चित्त और अहंकार से पूर्ण बुद्धि का निवास है—चतुर्थ कोठा ज्ञानमय कोश है जो ज्ञान का स्थान निवासागार है—पाचवा आनन्दमय कोश है जहाँ आनन्द का ही साम्राज्य है।

आत्मा को कर्ता समझने वाले को बड़ा कष्ट होता है—इच्छा पूर्ण होने से सुख अपूर्ण रहने से दुःख होता है—श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका आदि सुख दु.ख अनुभव के मार्ग है—आत्मा और परमात्मा का ऐक्य आत्मा और शरीर का वैभिन्य—जीव, आत्मा और परमात्मा मे भेद—देह सूक्ष्म और स्थूल है—आत्मा नही मनोविकार शरीर विकार, व्याधिया आदि शरीर की है आत्मा की नही—आत्मा और शरीर की भिन्नता—आत्मा विनाशशील नहीं है—शरीर क्षय शील है—द्वैत भाव का मिट जाना ही प्रकाश है—अपने ही प्रकाश मे, "आप रहा परकाश साई साक्षी जानिये कहै चरण ही दास"—अन्तर्यामी ही सर्वत्र विराजमान है—आत्मा ब्रह्म के रूप मे सर्वत्र विद्यमान है—भ्रम मिट जाने पर ज्ञान प्रकाश का उदय—रूप, नाम और क्रिया के संसर्ग से जीव भ्रम और कष्ट का अनुभव करता है और जीवात्मा का भेद ही दुख का कारण है—अन्यथा तत्वमसि के अनुभव से परम सत्य का अनुभव।

ब्रह्म अविनाशी, सर्वज्ञ, अनन्त, अनादि है—वह वस्तु, काल और स्थानादि से परे है—समस्त भांड एक ही मृत्तिका विनिर्मित है—इसी प्रकार एक ही ब्रह्म सब मे है इसीलिए वह अनन्त है—ब्रह्म सत्, आनन्द, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है—वह सर्वत्र विद्यमान है—उसका अनुभव होते ही समस्त भ्रम विनष्ट हो जाता है—माया के प्रभाव से सत्य असत्य भासित होता है—ज्ञान होने पर रस्सी और सांप का भेद प्रकाशित हो जाता है—"झूठ जगत दीखत रहै, दीखै ना सत

ब्रह्म"—"यही जु माया जानिये, यही तिमिर यहि भर्म—माया याते कहै भरम अरु अन्त है"—"ज्ञान भये उठि नाय कछू न रहन्त है"—"सत सो लागै झूठ झूठ सच जान है"—"माया यही सुभाव भरम अज्ञान है'—"रसरी कू कहै सर्प जु अपने भरम सू। "ऐसे ही जड कहत सनातन ब्रह्म कूं।'

तत्त्वयोग उपनिषद्—यह उपनिषद् भी प्रजापति ने अपने शिष्य से कहा था—इसके पठन से पापों से मुक्ति और ब्रह्म प्राप्ति होती है—विष्णु योगेश्वर है—उसकी माया अपरम्पार है—वह विष्णु रूप सब मे विद्यमान है—उन मनुष्यो को धिक्कार है जो कामवासना के चेरे है—इन सभी विकारों का परित्याग करके जगत के आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए—यहीं उसे आवागमन से छूट जाना चाहिये—यह पद ॐकार के जप से प्राप्त होता है—इस प्रणव के जाप से सभी पाप विनष्ट हो जाते हैं—इसकी व्युत्पत्ति अकार, उकार, मकार के सम्बद्ध रूप से हुई है—इन तीनों अक्षरों मे तीन लोक है—प्रथम मे भूलोक है—द्वितीय अक्षर मे आकाश है—तृतीय अक्षर मे वैकुण्ठ निवास है—इनमे तीनों देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश का निवास है—इनमे तीन प्रकार की अग्नि समाहित है—प्रथम वह अग्नि है जो ससार मे दृष्टिगत होता है—द्वितीय वह है जो सूर्य के रूप मे सर्वत्र प्रचण्ड है—तीसरी अग्नि वह है जिसे हम जठराग्नि कहते हैं—तीनों गुण रज, सत् एवं तम का भी निवास ॐकार में है—यह महत्वपूर्ण मन्त्र है।

प्रणव के जपकर्ता के लिए संसार में दुर्लभ क्या है-ससार के समस्त ऐश्वर्य इसी में सन्निहित है—ब्रह्म का निवास उसमें उसी प्रकार है यथा पुष्प में वास या दूध में घृत-इसके ध्यान से परम पद प्राप्त होता है—यही वेद पुराणों का भी मत है।

अकार के उच्चारण से हृदय की शुद्धि होती है—उकार के जप से हृदय कमल का विकास होता है और उसमें ब्रह्म का निवास हो जाता है—तृतीय मकार के जाप से नाद प्रकट हो जाता है—नाद मन मे हुलास पैदा करने वाला है-नाद में प्रविष्ट और सलग्न हो जाने पर चित्त ज्योति स्वरूप हो जाता है—मन निर्मलता को प्राप्त होता है—वह ज्योति स्वरूप सब प्राणि मात्र मे भरपूर व्याप्त है—जो उससे प्रेम करते हैं उसके वह निकट है और जो दूर रहते हैं उनसे वह दूर है।

प्रणव के जाप की विधि इस प्रकार है—नीचे के उभय द्वारों को अवरुद्ध करके हाथ के उभय अँगूठों से कानों को अवरुद्ध कर ले—दोनों तर्जनी को दृगों पर रखले—मध्यमा अँगुली से नासिका छिद्र अवरुद्ध करले—अनामिका और कनिष्ठा मे होष्ठ को पुष्ट रूप से अवरुद्ध करे—इस प्रकार महाकुम्भक की साधना करना चाहिए—इस मुद्रा मे ओंकार का जप करता हुआ दोनों भौहों के मध्य ब्रह्म का ध्यान करे—इस क्रिया में सलग्न मनुष्य यदि इन्द्रियों के मार्ग को

अवरुद्ध करले तो घट में प्रकाश होता है और मनुष्य इन्द्रियजित बनता है—प्राणायाम की इस अवस्था मे साधक के हृदय मे अखंड ज्योति जाज्वल्यमान रहती है—इसी प्रकार चेतना शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति होती है और समस्त कर्म विनष्ट होकर मन निर्मल हो जाता है।

योगशिखाउपनिषद्—योगशिखा उपनिषद् का उपदेश प्रजापति ने अपने शिष्य को दिया—इस उपनिषद् मे कथित ज्ञान और उपदिष्ट योग की बडी महत्ता है—इस ज्ञान और योग के जाग्रत होते ही तन मन का मोह भूल जाता है—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ की भावना विनष्ट हो जाती है—इस योग को जाग्रत करने की विधि का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है :—

पद्मासन में स्थित होकर नेत्रों की ज्योति नासिका पर धारण करें और "दोउ पवन के साथ जु हाथ मिलाइये"—समस्त स्वादो की रुचि को रोक करके ससार के माया मोह से चित्त का निवारण करके प्रणव जाप करे—इसके अतिरिक्त अन्य सभी उपायो का परित्याग करके ॐ का जाप करे—इस प्रकार आठो प्रहर हाथ मे तलवार ग्रहण किये बिना युद्ध करता रहे।

यह मानव-शरीर बडा भारी सदन है—इसमें एक दीर्घ खम्भ है, नौ द्वार है और तीन छोटे छोटे खम्भे हैं—इसके तीन देवता हैं—कोई विशेष साधु ही इसका अनुभव कर पाता है।

इस शरीर में जो बडा खभ है वही मेरुदड है—यह मेरुदंड ही पीठ की हड्डी है-इसके मध्य सुषुम्णा नाडी है, यह सब नाड़ियों मे श्रेष्ठ है और योगिया के ध्यान का केन्द्र विन्दु है-योगियों ने इसे सब नाडियों में शिरमौर माना है—शरीरस्थ नो द्वार इस प्रकार हैं—दो श्रवण, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, मुख, गुदा एवँ लिग-शरीरस्थ वर्णित तीन खम्भ इस प्रकार हैं—सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण-पच देवता ही पंच प्राण वायु है-ये पच वायु हैं प्राण, अपान, ब्यान, उदान, समान-इसमें सूर्य मडल है जिसकी ज्योति किरण बडी प्रकाशमान है।

हृदय कमल में एक ज्योति मंडल है जिसमे दीपक की सी लौ जाज्वल्यमान है-यही ज्योति ब्रह्म है इसी का ध्यान करने वाला सफल योगी है—अंत समय में यह शरीर का परित्याग करके सूर्य मडल मे प्रविष्ट होती है—यदि इसका योगी हृदय मे ध्यान करे तो वह सूर्य मडल मे प्रविष्ट होता है, और सुषुम्णा के मार्ग से शीश छेद कर ऊपर जाता है—इस प्रकार वह सायुज्य मुक्ति लाभ करता है।

इस उपनिषद् का पाठ प्रातः मध्याह्न और सायकाल मे करना चाहिए—इससे कर्मभ्रम कट जाते हैं—यम-दंड मिट जाते हैं और वह परम धाम को जाता है—जो निश्चल होकर ध्यान करता है उसका आपा मिट जाता है और वह निर्भ-

यता को प्राप्त होता है—इसके अध्ययन से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते हैं और मुक्ति प्राप्त होती है।

तेजबिन्दु उपनिषद्—"तेज बिन्द के अर्थ यही हिय गुध है बडे ध्यान के तेजहि की यह बूद है"—"उसका है यह ध्यान जो सबसे ऊंच है, सबसे पर निहरूप शुद्ध अरु शूच है"—हृदय में ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे आनन्द स्वरूप विद्यमान है—वह अनन्त शक्ति सम्पन्न सर्व यह व्यापी है—वह अलख है, पर योगाभ्यास से उसका दर्शन सुलभ है—वह अथाह सागर है—उसका प्रमाण ही नहीं है—ज्ञानी पडित और बुद्धिमान् उसके आदि, अत और मध्य नहीं जान सके हैं—उसे प्राप्त करने के लिए साधना आवश्यक है।

उसे प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आहार, दूसरे क्रोध पर विजय प्राप्त करे और बहु मनुष्यो की सगति तथा विरोध और प्रीति का विसर्जन करे—प्रबल इद्रियों को स्ववश करले—शीत, उष्ण, दुख, सुख, निन्दा और स्तुति को समान जाने—अहकार और वासना का परित्याग करे—अपने अधिकार की वस्तुओं की सख्या न बढावे—सकल मनोरथ और कामना को क्षीण कर दे—गुरु आज्ञाकारी बने—मनोरथ और कामनाओ का परित्याग करे—जिज्ञासु को त्याग उपाय और निश्चय का व्रत धारण करना चाहिए—इन तीनो के माध्यम से साधना का मार्ग परिष्कृत होता है—वही जीवात्मा हस कहलाता है जिसके ये तीनों मार्ग शुद्ध हो प्रगट रूप से जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति मार्ग है परन्तु तुरीया गुप्त स्थान है—तुरीया पर ही साधना की सफलता निर्भर है।

ब्रह्म आकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है—वह सूक्ष्मरूप मे ही सर्वत्र उपस्थित हे-उसी की सत्ता पर चेतन निर्भर है—तीन वेद उसके तीन नेत्र हैं—वह गुण (रज, तम, सत्) से अतीत है—वह सबका आधार और त्रिलोक-धारणकर्ता है—सबका आधार होते हुए भी स्वयं निराधार है—वह निरुपाधि और अखड है—वह अडोल और अखड है—वह उपाधि रहित और गुण कर्म रहित है—वह केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त है—वह नाम रहित है—बावन अक्षरो से परे और ज्ञान द्वारा प्राप्त है—वह कठिनाई से प्राप्त है।

वह ज्ञान स्वरूप है—वह सत्य है और सब मे प्रविष्ट और नित्य है—व ज्ञान से वियुक्त नहीं है—वह स्वय पूर्ण हैं—वह अविनाशी है—"वाक् कहा नहि वही जाय जाप जापक कभी। अरु सारे हैं जाप उसी माही सभो"—और "जपा भी गया जाप जापक वही। सब कुछ उसक् जान गुप्त परगट सही"—वह निर्गुण, निर्लिप्त और गुणातीत है—उससे ऊपर और किसी की सत्ता नहीं है—वह न जाग्रत है न स्वप्न है, वह इन दोनों से न्यारा है।

वह अविद्या, मोह, लोभ, इच्छा, क्षुधा, पिपासा, तथा समस्त मनोविकारो से परे है—वह कुल अभिमान और विद्या मे सीमित और अनुरक्त नही है—वह मानापमान से परे है—वह सबसे निवृत है।

श्री गुरुदेव शुकदेव की महती कृपा से यह उपनिषद् ज्ञान प्राप्त हुआ—उन्ही की सद्-शिक्षा ने बुद्धिहीन शिष्य को भी बुद्धि का आगार बना दिया—वे महती शक्ति हैं—उन्हीं की कृपा से जाति, वर्ण, कुल, देह का अभिमान सभी छूट गया, विनष्ट हो गया।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ मे कवि ने वेदांत के निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया है:—

१. हंसनाद उपनिषद् —

१. अद्वैत-भावना
२. हस और सोऽह
३. हंस की श्रेष्ठता और सर्वव्यापकता
४. अजपाजप
५. प्रणव ही ब्रह्म का प्रतिरूप है
६. अनहद नाद श्रवण विधि
७. दश प्रकार के नाद
८. इनकी पहचान
९. अनहद नाद पहचानने की विधि

२. सर्वोपनिषद् :—

१. बन्धन मुक्ति का रहस्य, बन्धन का रहस्य
२. विद्या और अविद्या का भेद-अहकार का कारण
३. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया मे अन्तर
४ पचकोश
५. जीव, आत्मा, परमात्मा का भेद
६. आत्मा का कर्तृत्व
७ ब्रह्म, ज्ञानरूप ब्रह्म

३ तत्वयोग उपनिषद् :—

१ परब्रह्म की सर्वव्यापकता
२. प्रणव का जप, व्याख्या, श्रेष्ठता, व्यापकता और महत्व
३. प्रणव जप का प्रभाव और विधि
४. प्रणव महिमा

४ योगशिखा उपनिषद्—

१. शरीरस्थ नौ द्वार, पच देवता, तीन छोटे खम्भे, नाडिया
२. शरीरस्थ ज्योति मडल

५ तेजविन्दु उपनिषद्—

१. इन्द्रियाँ और उनकी प्रबलता
२. जीवात्मा की तीन अवस्थाये
३. ब्रह्म की सर्वव्यापकता, उसकी निरुपाधि और अखडता
४. ब्रह्म की गुण, वर्ण, जाति, नाम विहीनता

उपर्युक्त सूची मे सभी विषय आध्यात्मिकता और वेदात से सम्बन्धित हे। इन विषयो को व्यक्त करने मे लेखक ने बड़ी सावधानी से काम लिया है। नीरसता और दुरूहता होने के साथ इन विपयो मे अस्पष्टता सर्वत्र उपलब्ध होती है परन्तु कवि ने उन्हे भांति-भांति की उपमाओ से स्पष्ट और रोचक बना दिया है। प्रतिपादित विषय से स्पष्ट हो जाता है कि कवि को विषय हृदयगम करने और तद्फलस्वरूप वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने मे सफलता प्राप्त हुई है। कवि की चिन्तन शैली परिपक्व और प्रौढ़ता से सम्पन्न है।

रचनाकाल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है परन्तु प्रदिपादित विषय और विपय-प्रतिपादन शैली से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ 'अष्टाग योग', 'ज्ञान स्वरोदय', तथा 'ब्रह्मज्ञान सागर' की समकक्ष रचना है। चिन्तन गम्भीरता और दार्शनिक विचारधारा की गम्भीरता यह सिद्ध कर देती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कवि के जीवन के अतिम वर्षो मे लिखा गया था। इतना तो निश्चित है कि यह 'अष्टाग याग' के बाद की रचना है। हमने 'अष्टाग योग' का समय सवत् १८४० माना है, अतएव इसका रचनाकाल भी लगभग सवत् १८४४ निर्धारित होता है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौदर्य की दृष्टि से इस नाद उपनिषद् मे हस की व्याख्या, प्रणव और ब्रह्म, सर्वोपनिषद् मे विद्या, अविद्या और माया का भेद, तत्वयोग उपनिषद् मे ब्रह्म की सर्व-व्यापकता आदि प्रसंग पठनीय है।

भक्तिपदार्थ-वर्णन

उपलब्ध प्रतियाँ—'भक्तिपदार्थ' की दो प्रतियां उपलब्ध हुई है। प्रथम श्री गणेशदत्त के संग्रह से और द्वितीय मुद्रित प्रति जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है। मिश्र जी की इस प्रति के आधार पर ही 'भक्ति पदार्थ' की विवेचना की जा रही है। वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास 'भक्ति पदार्थ' को कवि चरनदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

मिश्र जी की इस हस्तलिखित प्रति मे ग्रन्थ के प्रतिलिपि काल और प्रतिलिपि-कर्ता का कोई उल्लेख नही मिलता है। ग्रन्थ की लेखन सामग्री उसके सौ वर्ष से अधिक प्राचीन होने की सूचना देता है।

'भक्तिपदार्थ' की प्रस्तुत प्रति का आकार १०"×६½" है और इसके विषय का प्रसार लगभग १०० पृष्ठो मे हुआ है। प्रतीत होता है कि विषय—प्रसार की दृष्टि से यही ग्रन्थ कवि की सबसे बड़ी रचना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे गुरु, मन, मायादि के अन्य प्रसगा के अतिरिक्त हरि-भक्ति तथा सत्संग का माहात्म्य अकित किया गया है, साथ ही पाखड तथा वाह्याचारा की निन्दा की गई है। भक्ति के क्षेत्र मे सहायक प्रवृत्तिया—नाम, सुरति, दया, शील, सत्यादि का इस ग्रन्थ मे समर्थन किया गया है। इसी प्रकार भक्ति मे सहायक और बाधक प्रवृत्तियो का स्पष्टतया उल्लेख इस ग्रन्थ मे मिलता है। अतएव वर्ण्य-विषय से ग्रन्थ के शीर्षक का पूर्णतया ऐक्य और साम्य है।

'भक्तिपदार्थ वर्णन' का विषय निम्नलिखित शीर्षका मे विभाजित है :—

१. गुरुदेव—उनकी सामर्थ्य, हरि से अधिक गुरु की महत्ता, गुरु की शक्तिमत्ता
२. भक्ति—उपयोगिता और महत्ता
३. सन्त और साधु की महिमा
४. ब्रह्म—निर्गुण तथा सगुण से परे अनादिशक्ति
५. नवधा भक्ति—मुक्ति प्राप्ति सहायक
६ प्रेम और विरहानुभूति
७. चतुर्युग वर्णन
८. नाम महिमा, सुरति, पतिभक्ति, नारी, पण्डित
९. मोह, लोभ, माया, इन्द्रिय आदि का दमन, शील, दया, सत्य आदि का उत्कर्ष
१०. मोह के आधार स्तम्भ, नारी, पुत्र कलत्रादि

इन्ही विषयों के आधार पर ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का विभाजन किया गया है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

आत्मकथात्मक परिचय—श्री शुकदेव की वन्दना—गुरुदेव की सेवा, मुक्ति तथा भक्ति की दात्री है—गुरु की सेवा समस्त दैविक, भौतिक और दैहिक तापों की विनाशक—"गुरु की सेवा बिना काकी नाव बैठि करि तरि हौ" तथा "कैसे प्रकटै ज्ञान उजियारा"—"गुरु सेवा बिन बहु पछितैहौ"—"सद्गुरु के लक्षण आशा

तृष्णा कुबुधि जलाई"—वह शब्द की चोट करने वाला है—"वह मारै गोला प्रेम का ढहै भरम का कोट"—वह शब्द वाण का मारने वाला है—वह शब्दी तेग को चलाने वाला है—वह शब्दी सेल—"सतगुरु के मारे मुए बहुरि न उपजै आय' उसके सम्मुख आत्म समर्पण परमावश्यक है—उसकी सेवा निष्काम-भाव से करनी चाहिए—"अडा ज्यो आगे गिरै जब गुरु लेव सेइ"—वह माता और ब्रह्म से भी सौ गुना अधिक शिष्य का ध्यान रखता है—"हरि रूठै कुछ डर नहीं तू भी दे छुटकाय। गुरु को राखौ शीशपर सब विधि करै सहाय"—हरि और गुरु की एकता मे सन्देह नही है—"गुरु को रामहि जान कृष्ण सम जानिये"—भक्तो के दर्शन की महिमा—"भक्त और सत दयावान दाता गुण पूरे। पैज धारणा वचनो शूरे" —"सत लगा को मान अपमान कछु नहि तिनके तथा लख चौरासी प्यारे सब ही"—"राव रक को ना पहिचानै—कचन काच बराबर देखै"—भक्तो की पदवी इन्द्र से श्रेष्ठ,-सत सत्सग की महिमा, जहाँ साधु का जन्म होता है वह नगर देश और गाव धन्य है—सत सगति की महिमा स्मृति, वेद, पुराणो ने गाई है—ब्रह्म की सर्व-व्यापकता और सर्वसामर्थ्य—"वह चाहे गूगे वेद पढावे, अधरे आखे खोलि दिखावै"—"चाहे बिन बादल बरसावै, चाहे जल का थल करि डारै"—"रकन कू करै छत्तर धारी"—"छिन मे सगरो सिन्धु सुखावै"—वह कोटिक ब्रह्मा, शम्भु नारद, वेदो द्वारा वन्दित है—"वह निराकार नहि ना आकारा"—"वह निरगुण सरगुण तें नारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे"—वह समस्त आत्माओ मे विद्यमान है —ज्ञान प्राप्त होने पर ही उसके दर्शन सम्भव है—ज्ञानी के लक्षण—नवधा भक्ति की महत्ता—प्रेम की सर्वश्रेष्ठता—"प्रम भक्ति सू उपजै ज्ञान—प्रेमहि सू उपजै वैराग"-प्रेम, योग वैराग आदि से भी श्रेष्ठ है—चतुर्युग वर्णन—नाम अग वर्णन—नाम की महत्ता—ब्रह्म के प्रति पतिव्रता का सा प्रेम—पातिव्रत प्रम की श्रेष्ठता—क्रोध साधना मे बाधक—मोह साधना को भ्रष्ट करने वाला—लाभ का भक्ति में दुष्प्रभाव-अभिमान का दुष्प्रभाव—शील, दया, की महत्ता—माया साधना के क्षेत्र मे श्रेष्ठ बाधक—गुरुमुख के लक्षण—ब्रह्म को स्तुति—श्री शुकदेव जी की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—'भक्ति पदार्थ' वर्णन मे भक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रसगों का प्रतिपादन बडे विस्तार के साथ हुआ है। सतगुरु, ब्रह्म, सत, दैवी और दानवीय प्रवृत्तियो आदि का उल्लेख और वर्णन कवि ने बडे मनोयोग और विस्तार के साथ किया है। इनमे से एक भी विषय को ले लीजिए उसके सम्बन्ध मे जो कुछ लिखना संभव हो सकता है वह सब कुछ वर्ण्य-विषय मे आ गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय वर्णन मे गम्भीरता के साथ प्रौढता भी है।

विपय को प्रभावशाली और व्यापक बनाने के हेतु कवि ने उपमाओ

दृष्टान्तो तथा उदाहरणा का प्रयोग किया है और इस प्रकार इसमे सन्देह नही कि विषय पर्याप्त रोचक और प्रभावशाली बन गया है।

'भक्ति पदार्थ' के प्रतिपादित विषय का अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि इस ग्रन्थ के रचना काल तक कवि का अध्ययन और चिन्तन दोनो ही अपने मे पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। ब्रह्म-वर्णन पढ चुकने के बाद उसके विषय मे और कोई जिज्ञासा और उत्सुकता का भाव शेष नही रह जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना विभिन्न एव पृथक-पृथक विषया के सग्रह के आधार पर हुई है। इन विषयो मे पारस्परिक रूप से कोई तारतम्य और सम्बन्ध न होते हुए भी कवि ने तारतम्य स्थापित करके उसे ग्रन्थ का रूप प्रदान कर दिया।

अभिव्यजना शैली, परिमार्जित भाषा और कला की दृष्टि से भी कवि की प्रस्तुत रचना पठनीय है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना काल ज्ञात नही है। इसके सम्बन्ध मे किसी अन्य सूत्र से भी हमे कोई सहायता नही उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ मे कवि की ब्रह्म विषयक धारणा देख कर हम कह सकते है कि यह कवि की प्रौढ़ रचनाओ मे से एक है। कला और भाषा शैली की दृष्टि से यह 'ब्रह्म ज्ञानसागर' से बाद का रचित ग्रथ प्रतीत होता है। 'ब्रह्म ज्ञान सागर' का रचनाकाल हमने सन् १७५६ निर्धारित किया था, अतएव इसका रचनाकाल दो-एक वर्ष बाद सन् १७६० मान लेना असगत न होगा।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य और काव्य सोदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ एक महत्त्व-पूर्ण रचना है। इसके रचनाकाल तक कवि का काव्य-कौशल प्रौढ हो चुका था। भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार स्थापित हो चुका था। भाव-सौदर्य की दृष्टि से सतगुरु तथा ब्रह्म प्रकरण पठनीय होंगे।

एक ही विषप पर अथवा एक ही भाव को लेकर कवि ने अनेक छन्दों की रचना कर डाली है परन्तु पुनरुक्ति होने पर भी उनमे अभिनवता और मौलिकता के दर्शन सुलभ है। उदाहरणार्थ सतगुरु प्रकरण से निम्नलिखित पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इन सब मे सतगुरु को शब्द-बाण का सहारक कहा गया है परन्तु प्रत्येक बार एक अभिनव शैली मे :—

मैं मिरगा गुरु पारधी, शब्द लगायौ बाण।
चरणदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्राण ॥
शब्द बाण मोहि मारियो, लगी कलेजे माँहि।
मार हँसे शुकदेव जी, बाकी छोडी नाँहि ॥

सतगुरु शब्दी तेग है, लागत दो कर देहि।
पीठि फेरि कायर भजै, शूरा सन्मुख लेहि॥
सतगुरु शब्दी सेल है, सहै धमो का साध।
कायर ऊपर जो चले, तौ जावै बरबाद॥
सतगुरु शब्दी तीर है, तन मन कीयो छद।
बेदरदी समझै नही, विरही पावै भेद॥

सक्षेप मे हमें इस ग्रन्थ में कवि की काव्य-प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

चीरहरण-लीला

उपलब्धप्रतियां—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित प्रति के अतिरिक्त 'चीरहरण-लीला' की दो हस्तलिखित प्रतिया वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास तथा श्री गणेशदत्त मिश्रके सग्रह मे प्राप्त हुई।

श्री मिश्रजी मे प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रति के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी थे जैसा कि निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित चीरहरण लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

ग्रन्थ के अंत मे इसका प्रतिलिपि काल नही लिखा गया। परन्तु हस्तलेखन और लेखन सामग्री इस बात का प्रमाण है कि इसका रचना-काल वही है जो 'ब्रज चरित', 'दान लोला,' 'मटकी लीला' आदि का है। अतः इस ग्रन्थ का लिपिकाल सवत् १८४२ ही निश्चित होता है।

'चीर हरण लीला' कवि की समस्त रचनाओ मे सबसे अधिक सक्षिप्त अथवा लघु रचना है। इसके वर्ण्य-विषय का प्रसार केवल ५ छन्दों अथवा दस पंक्तियो मे हुआ है। इस प्रति का आकार "१० × ६" हे और रचना देवनागरी लिपि मे हुई है।

इस ग्रन्थ मे श्रीकृष्ण द्वारा गोपियो के चीर हरण की कथा का वर्णन हुआ है, अतः ग्रन्थ का शीर्षक 'चीर हरण लीला' सार्थक और उपयुक्त प्रतीत होता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्णित विपय इस प्रकार हे :—

हरण किये हुए चीर के लिए श्री गोपाल से गोपियों का निवेदन—चोरी के स्वभाव के प्रति गोपियो के व्यग—लज्जा रक्षा करने की प्रार्थना—श्री कृष्ण द्वारा प्रेम की शिक्षा और वस्त्रों का लौटा देना—कृष्ण की महत्ता और लीला प्रियता।

विषय-प्रतिपादन—'चीर हरण लीला' एक विस्तृत उपाख्यान है। इसमे कृष्ण जी के चरित्र के साथ प्रेम माधुर्य एव कथा की रोचकता सर्वत्र उपलब्ध होती हैं, परन्तु कवि ने इस तथ्य के प्रति विशेष ध्यान नही दिया है। चीर हरण की घटना का उसने सीधे-सादे शब्दो मे वर्णन कर दिया है। वर्णित-प्रसग मे रोचकता का अभाव है।

रचना काल—'चीरहरण-लीला' कवि की प्रारम्भिक रचनाओ मे से एक हैं। इसमे न तो चिन्तन की प्रौढता है न शैलीगत परिमार्जन। 'दानलीला' और 'माखनचोरी लीला' की तुलना मे भी यह नितांत अपरिष्कृत और अपरिपक्व रचना प्रतीत होता है। इसीलिए इस ग्रन्थ का रचना-काल सन् १७३५ (जो कि दान लीला और माखन चोरी लीला का रचना-काल है) से पूर्व प्रतीत होता है। यदि हम इसे सन् १७३० के लगभग विरचित मान लें तो असगत न होगा।

मटकी-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी,' 'कालीनथन लीला,' 'चीरहरण लीला' और 'कुरुक्षेत्र लीला' के समान इस ग्रन्थ की भी दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। इन दोनो प्रतियों के सूत्र श्री महन्त गुलाबदास और श्री गणेश दत्त मिश्र है। लेखक की विवेचना और अध्ययन का आधार है मिश्र जी के सग्रह की उपलब्ध प्रति।

'मटकी लीला' के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी हैं जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित मटको लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस प्रति में प्रतिलिपि काल का उल्लेख नही है, पर यह ग्रन्थ भी 'ब्रज चरित', 'दान लाला,' 'माखन चोरो,' 'काली नथन' आदि के समान ही सवत् १८४२ वि० का प्रस्तुत किया हुआ प्रतोत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना १६ छन्दो मे हुई है। इस प्रति का आकार १०" × ६" है तथा रचना देवनागरी लिपि मे हुई हे।

'मटकी लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतिया के अतिरिक्त एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है, जिसका प्रकाशन 'भक्ति सागर' शीर्षक के अन्तर्गत नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है।

'मटकी-लीला' मे दधि के आकाङ्क्षी श्रीकृष्ण जी द्वारा गोपियो की मटकी फोड़ने का वृतान्त वर्णित है। अतएव वर्ण्य-विषय की दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक अत्यन्त लघु रचना है जिसका समस्त प्रसार १६ छन्दो मे हुआ है। अतएव इस विषय का प्रकरणो और अध्यायो मे विभाजन के लिए कोई अवसर नही है।

वर्ण्य-विषय—प्रस्तुत रचना का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सुन्दर वस्त्रों एव अलकारा से सुसज्जित श्रीकृष्ण के द्वारा मुरली वादन—मुरली रव के मनमोहक प्रभाव से गोपियो और ग्वालिना का लाकलाज और गृह त्याग कर श्रीकृष्ण के पास मुरली सुनने के हेतु पहुँच जाना–दर्शन होते ही ब्रज नारियों का बेसुध हो जाना–श्रीकृष्ण द्वारा उनका दधि हरण—दधिपान और तद-नन्तर दधि-मटकी को विनष्ट कर डालना—माता यशोदा से गोपिकाआ के उला-हने और पीड़ित किये जाने का वृतात—माता यशोदा का आश्वासन और भविष्य मे उसे रोकने का बचन देना।

विषय-प्रतिपादन—'मटकी-लीला' मे विषय-प्रतिपादन की शैली अत्यन्त साधारण और कला-विहीन है। कृष्ण-साहित्य मे 'मटकी लीला', 'दान लीला', 'चीर हरण लीला' आदि प्रसग बडे ही भाव-पूर्ण तथा सरस है, जिन पर प्रकाश डाल कर अपनी प्रतिभा के माध्यम से कोई भी कवि धन्य हो सकता है। कवि हृदय इन स्थला और प्रसगो मे इस प्रकार रम जाता है कि भावातिरेक मे अपनी लेखनी पर ही उसे अधिकार नहीं रह जाता, परन्तु यह चरनदास के इस ग्रन्थ मे कहीं नही है। कवि इस भाव पूर्ण स्थल को सम्यक् प्रकार से व्यक्त करने मे सफलीभूत नही हुआ है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से मूल्याकन करते समय प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी बात को शीघ्रातिशीघ्र कह डालने के फेर मे पड कर उसका साहि-त्यिक सौदर्य नष्ट कर डाला है।

ग्वालिन और यशोदा के सम्भाषणो मे वाक्चातुर्य का चमत्कार नही है और न उसमे नाटकीय-तत्व के दर्शन ही होत हैं।

रचना-काल—'मटकी लीला' के रचना-काल के सम्बन्ध मे कोई अन्त-स्साक्ष्य उपलब्ध नही है। विषय प्रतिपादन की शैली, तथा वर्ण्य-विषयादि की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'दान लीला' और 'माखनचोरी लीला' के समकक्ष रखा जा सकता है। इन दोनो ग्रन्थों का रचना काल अनुमानतः सन् १७३५ माना गया है, अतः इस ग्रन्थ की रचना-तिथि सन् १७३० लगभग निश्चित होती है।

भाव–सौदर्य—'मटकी लीला' भाव-सौदर्य की अभिव्यजना के लिए बहुत ही अनुकूल विषय है। परन्तु कवि के काव्यजीवन के प्रारम्भिक बसत का पुष्प होने के

कारण यह न तो अधिक विकसित ही है और न सुरभि सयुक्त। इसीलिए इसमे भाव-सौदर्य का अभाव है।

दान-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित' की भाँति 'दान लीला' की भी दो प्रतियां उन्हीं दोनों सूत्रो से उपलब्ध हुई हैं। लेखक ने महन्त गुलाबदास की प्रति के केवल दर्शन किये हैं। चरनदास के साहित्य का अध्ययन करने मे उसने श्री गणेशदत्त मिश्र के सग्रह से प्राप्त 'दान लीला' का उपयोग किया है। 'ब्रज चरित' की उपलब्ध प्रतियों का विवरण देते समय कहा जा चुका है कि मिश्र जी के सग्रह मे 'ब्रज चरित,' 'दान-लीला', 'माखनचोरी लीला,' 'कालीनथन,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण' और 'कुरूक्षेत्र लीला' एक जिल्द मे एक साथ सम्बद्ध मिले हैं। 'ब्रज चरित' के प्रतिलिपिकर्ता श्री रामरूप जी के प्रिय शिष्य अजपादास जी 'दान लीला' के भी प्रतिलिपिकर्ता हैं। 'दान लीला' के अंत मे प्रतिलिपिकर्ता ने लिखा है कि—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित दान लीलासम्पूरन प्रस्तुत किया चरन दास के दास रामरूप जी महाराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस उद्धरण मे अजपादास जी ने प्रतिलिपि सम्वत् का उल्लेख नहीं किया है। 'ब्रज चरित', की प्रतिलिपि तिथि आषाढ सवत् १८४२ है। 'ब्रज चरित' का कागज तथा रोशनाई और 'दान लीला', 'माखन चोरी', 'काली नथन', 'मटकी लीला', 'चीर हरण' तथा 'कुरूक्षेत्र लीला' के कागज तथा रोशनाई आदि मे कोई अतर नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि अजपादास ने क्रमशः एक के बाद दूसरे ग्रन्थ की प्रतिलिपि प्रस्तुत की थी। अतः इसका और ब्रज-चरित का प्रतिलिपि काल प्रायः एक ही निश्चित होता है।

'दान-लीला' कवि की अत्यन्त सक्षिप्त एव लघु रचनाओ मे से एक है। इसकी रचना ४६ छन्दो मे हुई है। इसका आकार 'ब्रज-चरित' के समान ही १०" × ६" है और रचना-लिपि देवनागरी है।

'दान लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतिया के अतिरिक्त नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका सकलन 'भक्ति सागर' शीर्षक से हुआ है।

'दान-लीला' मे श्रीकृष्ण तथा गोपियों के दधिदान विषयक वाद-विवाद और परम्परागत कथा का चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण की गोपियो से दधि-याचना और

उनका उत्तर-प्रत्युत्तर इस ग्रथ का विषय है । इस प्रकार वर्ण्य विषय और ग्रन्थ के शीर्षक मे पूर्णतया साम्य है । वर्णित-विषय की दृष्टि से शीर्षक पूर्णतया सार्थक है ।

ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का विभाजन प्रकरण, अध्याय अथवा शीर्षकों मे नहीं हुआ है । प्रारम्भ से अंत तक कथा का एक ही क्रम चलता रहता है । इस ग्रन्थ की रचना श्रीकृष्ण एव गोपियो के कथोपकथन मे हुई है । कथोपकथन के द्वारा लेखक ने ग्रन्थ मे नाटकीय तत्वो का समावेश करने का प्रयत्न किया है ।

आधार-ग्रन्थ—'दान लीला' के वर्णन मे कवि ने किस ग्रन्थ को आधार बनाया है इसका कही उल्लेख नही हुआ है । किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि ने लिखा है कि :—

ब्रज बनिता और श्याम की लीला कही शुकदेव ।
चरणदास जाके सुने, बढै भक्त को भेव ।।
बाल चरित गोपाल के, पढ़त हियो हुलसाय ।
चरणदास कहे सन्त जन, गावो मन चितलाय ।।

इस उद्धरण की प्रथम पक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है । "ब्रज बनिता और श्याम की लीला कही शुकदेव" से प्रकट है कि कवि ने भागवत मे वर्णित दान-लीला प्रकरण के आधार पर ही अपने इस ग्रन्थ की रचना की है ।

वर्ण्य-विषय—'दान-लीला' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

ब्रज भामिनियों का दधि विक्रय के हेतु बाहर जाना—श्रीकृष्ण का मिलन और दधि याचना—दोनो पक्षो से अपने अपने मत के समर्थन मे तर्क व्यजना—गोपिकाओ द्वारा दही न देने का सकल्प—श्रीकृष्ण का दही के लिए हठ और बार बार नवीन युक्ति तथा साम-दाम भय-भेद से स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहना—गोपियों द्वारा कृष्ण की लकुटी, कम्बल, वशी और गुजमाला का सराहना और प्रशसा—कृष्ण के सर्वव्यापकत्व मे पूर्णास्था प्रकट करना—कृष्ण द्वारा बलात् दही लूट लेने की धमकी और प्रेम प्रीति को रीति का उपदेश—गोपियो को विविध प्रकार से विनय और क्षमा याचना—"काहू विधि छाड़ो हमे कर जोर करे परनाम" के उत्तर मे श्रीकृष्ण का—"क्या हूँ जान न पावहो अतो सयानो नार" कथन—गोपिया के द्वारा हास्य और मनोरजन करने का प्रयत्न—कृष्ण और उनके बाल सखाओं के द्वारा दधि लूट लेना—बरतन भाडे फोड़ डालना और अत मे ब्रज नागरियों तथा कृष्ण की रास और केलि लीला—गोपियो का प्रेम मग्न होकर श्रीकृष्ण के चरणो पर गिर पड़ना और प्रशसा तथा स्तुति करना—दान लीला का महत्व और पाठ करने की उपादेयता ।

विषय-प्रतिपादन—'दान लीला' की विषय-प्रतिपादन शैली अत्यन्त सरल और साधारण है। उसमे न तो कहीं चमत्कार का प्रदर्शन है, न रोचकता का समावेश। विषय-प्रतिपादन मे मनोवैज्ञानिकता का अभाव भी खटकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे विषय का प्रतिपादन प्रश्नोत्तर अथवा कथोपकथन के रूप मे हुआ है। परन्तु इन प्रश्नोत्तर अथवा कथपकथना मे तर्क की दृष्टि के साथ ही वाग्वैदग्ध का भी अभाव है। कथोपकथन सामान्यरूपेण निर्जीव प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय पक्तिया उद्धृत की जाती हैं :—

मागन लागे दान जब, मोहन बाके छैल।
हस कर बोली ग्वालिनी, तू छाड हमारी गैल॥
अरे तू कैसो मागे दान, मोहन सावरे।
हम मागे दधि को दान, गूजर बावरी॥
चल्यो जा रे कृष्ण मुरार, गऊ चरावरे।
तुम ठाढी रहो री गवार, याही ठांव री॥

इन सवादो में रोचकता, नाटकीयता, वाग्वैदग्ध और तर्को का अभाव है। इसी प्रकार प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ मे विषय का प्रतिपादन हुआ है।

रचना-काल—'दान लीला' का रचना-काल अज्ञात है। इसके विषय मे न तो कोई अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध है न वहिस्साक्ष्य। इसके विषय मे 'गुरुभक्त प्रकाश' मे भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे सगुण श्रीकृष्ण की लीला का चित्रण हुआ है तथा इसकी रचना शैली अत्यन्त अपरिपक्व और साधारण है। इसमे कहीं काव्य-कला या शैली-गत सौंदर्य नहीं दृष्टिगत होता है। इसलिए यह कवि के रचना काल की प्रारम्भिक अवस्था की कृति प्रतीत होता है। शैली और भाषा की दृष्टि से जब हम इसकी तुलना 'ब्रज चरित' ग्रन्थ से करते है तो यह प्रमाणित हो जाता है कि इसकी रचना ब्रज चरित से पूर्व हुई थी। अतएव इसका रचना-काल 'ब्रज चरित' के रचना-काल (सन् १७४०) से पूर्व निर्धारित होता है। संभवत. यह ग्रथ सन् १७३५ के लगभग लिखा गया है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से भी प्रस्तुत रचना अपरिपक्व है। शब्द चयन और भाषा-सौंदर्य साधारण कोटि का है।

माखनचोरी-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—कवि चरनदास कृत 'माखन चोरी लीला' ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक को उपलब्ध हुई हैं। इनमे से प्रथम चरनदासी-सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास के यहाँ से और द्वितीय श्री गणेश दत्त मिश्र के सग्रह

से। लेखक के अध्ययन का आधार यही द्वितीय प्रति है। यह प्रति "ब्रज चरित' 'दानलीला,' 'काली नथन,' 'मटकी लीला,' 'चीरहरण' तथा 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ एक ही प्रति में सम्बद्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिलिपिकर्ता का नाम श्री अजपादास था। अजपादास का परिचय और उनके समय का निर्धारण 'ब्रजचरित वर्णन' तथा 'दान लीला' के साथ हो चुका है। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास ने लिखा है—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित माखनचोरी लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री स्वामी चरनदास के दास रामरूप महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस उद्धरण के अन्त में प्रतिलिपिकर्ता ने ग्रन्थ के प्रतिलिपि-काल का उल्लेख नहीं किया है। प्रस्तुत लेखन सामग्री और प्रतिलिपि हस्तलेखन से प्रकट है कि इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल वही है जो 'ब्रज चरित' अथवा 'दान लीला' का है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि सवत् १८४२ विक्रमीय निश्चित होता है।

'माखनचोरी लीला' का प्रणयन २० छन्दों मे हुआ है। इस प्रति का आकार १०"×६" है और रचना देवनागरी लिपि मे हुई है।

इन दो हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'माखनचोरी लीला' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध होती है जिसका प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति सागर' ग्रन्थ मे हो चुका है।

'माखन चोरी लीला' मे कवि ने श्रीकृष्ण की मक्खन प्रियता, उसे प्राप्त करने की लालसा, तथा माखन प्राप्त करने की आकाक्षा मे ब्रज नागरियो के घर मे घुसने तथा चोरी करने का वर्णन किया है। इस प्रकार ग्रन्थ के वर्णित विषय और शीर्षक मे पूर्णतया साम्य एव ऐक्य है। दूसरे शब्दो मे ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन ४० छन्दो मे सम्पन्न हुआ है। इन ८० पंक्तियो मे लेखक ने अत्यन्त सक्षेप मे श्रीकृष्ण की माखनचोरी लीला का वर्णन कर दिया है। इसमे प्रसग दो आए है। प्रथम प्रसग है श्रीकृष्ण का एक गोपिका के गृह मे माखन चुराने के लिए प्रवेश तथा द्वितीय प्रसग है श्रीकृष्ण का पकड़ा जाना और गोपिका के द्वारा श्रीकृष्ण का माता यशोदा के पास पकड़ कर ले जाया जाना। परन्तु कवि ने इन दोनो प्रसगो का विभाजन प्रकरण, प्रसग, अध्याय अथवा अन्य किसी शीर्षक मे नही किया है। कथावर्णन का क्रम प्रारम्भ से अत तक एक समान चलता रहता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

श्रीगोपाल का मक्खन के लिए निज सखाओं के साहचर्य में भ्रमणार्थ निकलना—कश्चित् ग्वालिन के सूने घर में माखन प्राप्त करने की कामना से प्रवेश—कृष्ण द्वारा छीके पर से मक्खन उतारा जाना—ग्वालिन का गृह में प्रत्यागमन और चोर श्रीकृष्ण का रंगे हाथों पकड़ा जाना—ग्वालिनी का सखी सहेलियों के साथ कृष्ण को पकड़ कर माता यशोदा के पास जाना—ग्वालिनों के यशोदा के प्रति भांति-भांति के उलहने, व्यंग, शिकायत और उत्पीडन का उल्लेख—कृष्ण द्वारा चीरहरण, मक्खन चोरी, मटकी फोड़ने, आभूषण तोड़ने, दधि दान मांगने आदि का सविस्तार उलहने के रूप में वर्णन—निज प्रबल माया के माध्यम से कृष्ण का रूप परिवर्तन—ग्वालिनों का यशोदा मैय्या के समक्ष लज्जित होना—यशोदा जी का गोपियों के साथ व्यंग और हास्य मिश्रित वार्तालाप—लज्जित गोपियों का स्वगृहार्थ प्रत्यागमन—कौतुक एवं लीला प्रिय श्रीकृष्ण का वन्दना और स्तवन।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत रचना में कवि के द्वारा विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल और साधारण ढंग से हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कथा अत्यन्त सीधे, सादे शब्दों में वर्णन मात्र है। इसमें लेखक का ध्यान प्रकृति वर्णन, वस्तु वर्णन, चरित्र-चित्रण, श्रीकृष्ण का सौंदर्य-वर्णन आदि विषयों पर बिलकुल नहीं गया है। विषय-प्रतिपादन शैली को देख कर ज्ञात होता है कि 'माखन चोरी लीला' कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल में कवि की काव्य प्रतिभा अत्यन्त अपरिष्कृत और साधारण प्रतीत होती है। बीच-बीच में सभाषणों और वार्तालापों के द्वारा कवि ने ग्रन्थ में रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह निष्फल प्रयास है। इन सभाषणों में रोचकता वाक्चातुर्य, वाग्वैदग्ध और मनोरंजकता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियां यहां उद्धृत करना असंगत न होगा :—

> तब हंस यशोदा ने कह्यो कहो ग्वारिनी बात।
> किह कारण आई सबै है घर में कुसलात॥
> जो देखे कर और कहैं यह बालक काको।
> हम गहलाई कुवर कान्ह भयो अचरज जाको॥
> सब मिलि खिसियानी भई कहन लगी मुख मोर।
> ना जाने इन कहा कियो ढोटा चित के चोर॥

इन सम्वादों में न तो नाटकीयता है न सुन्दर भाषा और न हृदय-ग्राही संचय शब्द।

रचना-काल—'माखन चोरी लीला' का रचना-काल अज्ञात है। ग्रन्थ में

इसके सम्बन्ध मे कोई अन्तस्साक्ष्य नही उपलब्ध होता है। परन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'दान लीला' से पूर्व रचित प्रतीत होता है। 'दानलीला' का रचना-काल १३३५ निर्धारित हो चुका है, अतः 'माखनचोरी लीला' का रचना-काल लगभग सन् १७३२ सिद्ध होता है।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ का भाव-सौंदर्य साधारण कोटि का है। तथ्य तो यह है कि इसमे भावाभिव्यजना के लिए कोई अवसर और अवकाश ही नहीं है। अतः भाव-सौंदर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ निम्नकोटि का है।

कुरुक्षेत्र-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'कुरुक्षेत्र लीला' की तीन प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुई हैं। इनमे से दो तो हस्तलिखित प्रतियाँ और एक मुद्रित प्रति है। हस्तलिखित प्रतियों मे से प्रथम तो वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास के पास उपलब्ध हुई और द्वितीय श्री गणेश दत्त मिश्र के सग्रह से प्राप्त हुई है। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है। 'कुरुक्षेत्र लीला' की विवेचना और अध्ययन श्री मिश्र जी के प्रति के आधार पर हुआ है। नवलकिशोर प्रेस और मिश्र जी की प्रति मे वर्ण्य-विषयक कोई भेद नही है।

मिश्र जी के सग्रह से प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी थे जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण मे ज्ञात होता है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित कुरुक्षेत्र लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

'कुरुक्षेत्र लीला' की प्रस्तुत प्रति 'व्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी,' 'काली नथन लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला' के साथ ही एक जिल्द मे सम्बद्ध है। लेखन सामग्री रोशनाई, कागज, हस्त लेखन आदि का उपर्युक्त ग्रन्थों से पूर्णतया साम्य है। 'व्रज चरित' के अत मे अजपादास जी ने उसका प्रतिलिपि काल सवत् १८४२ अंकित किया है। अतः 'कुरुक्षेत्र लीला' का प्रतिलिपि-काल यही निश्चित होता है।

'कुरुक्षेत्र लीला' की रचना ५३८ छन्दो मे सम्पन्न हुई है। इसका आकार १०" × ६" है और इस ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि मे हुई है।

'कुरुक्षेत्र-लीला' मे सगुण श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र लीला का सविस्तार वर्णन हुआ है। इसलिए ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय और शीर्षक मे साम्य है। ग्रन्थ का 'कुरुक्षेत्र लीला' शीर्षक सार्थक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के जीवन और चरित्र से सम्बन्धित अनेक कथाओं और उपाख्यानों का वर्णन हुआ है। इन प्रसगो और कथाओं, उपकथाओं में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. सूर्य ग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण का गगा स्नानार्थ कुरुक्षेत्र गमन।
२. देवकी, वसुदेव तथा अन्य ब्रजवासियों का कृष्ण कुंवर के दर्शनार्थ आगमन।
३. श्रीकृष्ण के वियोग और सयोग मे ब्रज के पशु और मानवसमाज की दशा का मार्मिक चित्रण, कृष्ण का सान्त्वना प्रवचन।
४. रास के हेतु श्रीकृष्ण का शृ गार, ब्रज के दर्शको का जमाव।
५. मानिनी राधा की दशा का चित्रण।
६. रुक्मिणी के प्रयास से मानिनी राधा और कृष्ण का मिलन।
७. राधा का शृ गार।
८. कुन्ती का आगमन।
९. द्रौपदी और रुक्मिणी का सम्वाद-विवाह के विषय मे।
१०. सत्यभामा के विवाह की वार्ता।
११. द्रौपदी के विवाह की वार्ता।
१२. हरिभक्तो के दर्शन की महिमा।
१.३ श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता और सर्वसामर्थ्य।
१४. निष्काम-भक्ति और कर्म की महत्ता।
१५. कर्म-योग का उपदेश।
१६. द्वारिका गमन के लिए श्रीकृष्ण की चिन्ता। राधा का साथ जाने के लिए आग्रह, राधा की विजय।

५३८ छन्दो में कवि ने इन १६ प्रसंगों और कथाओं की अभिव्यक्ति की है, परन्तु ग्रन्थ का विभाजन न अध्यायों में हुआ है और न प्रकरणों में। कथा का क्रम आद्योपांत एक समान ही चलता रहता है।

ग्रन्थ का आधार—'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना आधार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में निम्नलिखित शब्दों मे अकित किया गया है :—

अपने गुरु शुकदेव कू शीश निवाय कै।
साधो कहूँ कथा भागौत सुनो चितलाय कै॥
चरणदास के इष्ट कृष्ण गोपाल है।
दुख हरन सुख करन सु दीन दयाल है॥
दसम स्कन्ध विषै यह कथा सब गाई है।
राजा परीक्षित कूं शुकदेव सुनाई है॥

प्रस्तुत उद्धरण का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'कुरुक्षेत्र लीला' का आधार ग्रन्थ भागवत है। श्री शुकदेव ने राजा परीक्षित को भागवत के दशम स्कन्ध की जिस घार्ता को सुनाया था, वही इस ग्रन्थ का आधार है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ मे भागवत की परम्परागत कथा का चित्रण हुआ है।

वर्ण्य-विषय—'कुरुक्षेत्र लीला' का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

वर्ण्य-विषय का आधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत—सूर्य ग्रहण स्नानार्थ श्रीकृष्ण जी का साज़ सामान तथा वैभव के साथ गगा स्नान के लिए कुरुक्षेत्र के लिए प्रस्थान—स्नान के अनन्तर यदुनाथ से ब्रज के वासियों के विषय मे वार्तालाप—कृष्ण का आगमन सुनकर देवकी, वसुदेव तथा ब्रज के अन्य निवासियों का स्वकार्य विसार कर दर्शनार्थ दोड़ आना—दर्शनार्थ नागरिको का संकल्प विकल्प—निष्प्रभ कांति हीन पशुओं का दर्शनार्थ दौड पडना—ब्रज की जनता का श्रीकृष्ण से मिलन—सब का आनन्द विभोर हो जाना—मातृ-मिलन पर कृष्ण का आनन्दातिरेक हो जाना और अश्रुप्रवाह—रास के हेतु श्रीकृष्ण का दिव्य शृगार—रास स्थल पर श्रीकृष्ण का यथायोग्य सबसे मिलना—दर्शकों की मुद्राओं का चित्रण—चन्द्रावली राधा तथा अन्य सखियों का दर्शन के लिए आगमन—राधा के हृदय में प्रेम पारावार की उत्तुग तरगे और अश्रुप्रवाह—लज्जा से आरक्त मुख और सौंदर्य का वर्णन—ब्रज की गाया की दशा का चित्रण—पशु जगत् का हर्षातिरेक से किलोल करना—ब्रज की जनता की अपार भीड़—रुक्मिणी के प्रयास से श्रीकृष्ण और मानिनी राधा का मिलन—सतभामा की सहायता से राधा के दर्शन—सकोच शीला, लज्जालु राधा के सौंदर्य का चित्रण—राधा को रुक्मिणी के द्वारा आभूषण पहनाया जाना—राधा और कृष्ण के सयोग और केलि का वर्णन—कुन्ती और कृष्ण का सवाद—द्रौपदी और रुक्मिणी का सवाद—रुक्मिणी के विवाह और शिशुपाल के विच्छेद की चर्चा—सतभामा के विवाह की कथा—बिन्दा, सीता, भद्रा, लछमना, राजकुमारी, आदि के विवाह और विच्छेद की चर्चा—रुक्मिणी से सतभामा के द्वारा द्रौपदी के विवाह के विषय में पूछताछ—द्रौपदी द्वारा स्वविवाह और श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग का वर्णन—हरि-दर्शन के लिए नारद, वेदव्यास, विश्वामित्र, पुलस्त, गौतम, परशुराम, अत्रि, अगिरा, दत्तात्रेय, मारकडे, सतानन्द, मारद्वाज, गर्ग आदि का आगमन—श्री हरि के दर्शन और स्तुतिया—हरि भक्तों के दर्शन की महिमा—ब्रह्म की सर्वव्यापकता—मानव की काया—ब्रह्म की सर्व सामर्थ्यता, उसकी माया और महत्ता का वर्णन—निष्काम भक्ति और कर्म की महत्ता—कर्मयोग का उपदेश—समस्त साधना को कृष्णार्पण कर देने का उपदेश—यज्ञ के हेतु श्रीवसुदेव को शिक्षा—वसुदेव जी द्वारा अपार सम्पत्ति का दान दिया जाना—यदुराज का द्वारिका गमन के लिए सकल्प, ब्रजवासियों मे

व्याकुलता का प्रसार—व्रजवासियों का श्रीकृष्ण को रोकने का आग्रह तथा श्रीकृष्ण के साथ द्वारिका गमन का आग्रह—यशोदा जी एव नन्दराय का श्री देवकी और वसुदेव जी से मार्मिक निवेदन—अखिल ब्रह्मांड मे श्रीकृष्ण की माया का विस्तार—राधा का श्रीकृष्ण के साथ चलने का आग्रह—सतभामा का उपदेश—प्रेम की महत्ता का बखान—राधा के आग्रह की विजय—'कुरुक्षेत्र लीला' ग्रन्थ के पाठ की महत्ता और विशेषता।

विषय-प्रतिपादन—'कुरुक्षेत्र लीला' के विषय प्रतिपादन मे कवि सफल हुआ है। वर्णित विषय मे क्रमबद्धता और शृ खला उपलब्ध होती है। एक विषय के प्रकरण के समाप्त होते ही कवि ने कुशलतापूर्वक उससे सम्बन्धित अन्य प्रसग को प्रारम्भ कर दिया है। कवि इस ग्रन्थ मे मार्मिक स्थलों की अभिव्यजना मे सफलीभूत हुआ है। भाषा और शैली यद्यपि बहुत उत्कृष्ट कोटि की नही है फिर भी ग्रन्थ के विषयानुकूल है। उसमे प्रवाह और शब्दो का चयन सुन्दर है।

विषय-प्रतिपादन का मूल्यांकन करते समय हमारा ध्यान ग्रन्थ मे मनोवैज्ञानिक चित्रण के प्रति आकर्षित हो जाता है। श्रीहरि के आगमन का समाचार सुनकर मानव समाज के हर्ष की सीमा तो नही ही रही परन्तु पशुजगत् का हृदय भी आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठा। इस भाव से सम्बन्धित कवि का एक शब्द-चित्र देखिए :—

रोल बौल सुन गाय चकित सी हो रही।
श्रवन देके वैन थकित सब हो गई।
हरि बिन जोवे धन भई दुख पायसी।
दूध हीन तन छीन रही मुरझाय सी॥
कूदत फादत चोकी सुन यह बात ही।
मन आनन्द बढाय फूली न समात ही।
हरष मान बछरन कू लाते मार ही।
मुख थन नहि दे है जु झिझक बिडा रही॥
बछरा कहैं कहा भयो इन गाइयाँ।
भूखे राभत फिरै और डकराइया॥
धौरी धूमर साँवर और उजागरी।
कजरौटी और पीरी सबते आगरी॥

मानव जगत् के सकल्प-विकल्प, कृष्ण के मनोभावों तथा राधा के मान के सुन्दर चित्र इस ग्रन्थ मे कवि ने व्यक्त किये हैं। ये चित्र मनोवैज्ञानिकता के आधार पर अकित हुए हैं।

कृष्ण का श्री देवकी और वसुदेव जी के साथ द्वारिका लौट जाने का निश्चय सुन कर नन्द और यशोदा की मार्मिक विनय कवि के निम्नलिखित शब्दो मे प्रस्फुटित हुई है। ये पंक्तियाँ मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है :—

नन्द कहे घनश्याम हमे संग लेहु जू।
जसुमत को गृह काज जान किन देहु जू॥
जसुमत कहै नन्दराय सो तुम गृह का चलो।
साजो घर और बार करो कारज भलो॥
लोक बंध की लाज सभी तज डार हूँ।
निशि दिन या ब्रज राज को नैन निहारहूँ॥
दूर करो मत मोहि देवकी माइ जू।
हौ तुम्हरे ब्रज राज कुवर की धाई जू॥

उद्धरण की अंतिम पंक्ति मे वेदना, विनय और विवशता का सुन्दर चित्रण हुआ है।

रचनाकाल—'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना-काल अज्ञात है। इसके सम्बन्ध मे न तो हमे कोई अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होता है और न बहिस्साक्ष्य। किवदन्तियाँ भी इसमे हमारी कोई सहायता नही करती हैं। इन सभी साधनो के अभाव मे हमे अनुमान का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। 'कुरुक्षेत्र लीला' मे गुणधारी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन हुआ है। साथ ही राधा तथा ब्रज के अन्य नर-नारियो का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना श्री-कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थो 'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला,' 'माखन चोरी लीला,' तथा 'काली नथन लीला' के साथ ही हुई है। परन्तु विषय-प्रतिपादन, भाषा, शैली आदि पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कवि कृत कृष्ण चरित्र सम्बन्धित समस्त ग्रन्थो से यह रचना श्रेष्ठ और प्रौढ है। केवल भाषा को ही लेकर जब हम इसकी तुलना कवि लिखित अन्य कृष्ण चरित काव्यो से करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह एक प्रौढ रचना है। कवि ने कौशल के साथ विषय का प्रतिपादन किया है और वर्ण्य-विषय की सलफतापूर्वक अभिव्यजना की है। यह ग्रन्थ 'ब्रजचरित्' के अनन्तर लिखा हुआ प्रतीत होता है। 'ब्रज चरित' का रचना काल सन् १७४० निश्चित किया गया है, अतः इस ग्रन्थ की रचना तिथि सन् १७४२ के लगभग है।

भाव-सौदर्य—ग्रन्थ मे कवि ने अनेक भाव पूर्ण-स्थलो की अभिव्यजना की है। इन भाव-पूर्ण स्थलो मे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. श्री कृष्ण का आगमन सुनकर ब्रज के नर-नारियो का दर्शनार्थ आगमन।

२. श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ व्रज के नागरिको के मन मे सकल्प-निकल्प ।
३. श्रीकृष्ण के वियोग मे पशुओ की दुर्दशा ।
४. विरहिणी राधा की मार्मिक दशा ।
५. देवकी जी से यशादा जी का मार्मिक निवदन ।

इन विषया का लेकर कवि ने भाव-पूर्ण स्थलो की रचना की है । इन स्थला मे कवि की काव्य-प्रतिभा का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है । कवि इन मार्मिक घटनाओ को पहचानने मे सफल हुआ है ।

कालीनथन-लीला

उपलब्ध प्रतियाॅ—'कालीनथन लीला' की दो प्रतिया लेखक को उपलब्ध हुई हैं । जिनमे से प्रथम महन्त गुलाबदास के यहाॅ प्राप्त हुई है और द्वितीय श्री गणेशदत्त मिश्र के यहाॅ । लेखक के अध्ययन का आधार श्री गणेश दत्त मिश्र के यहाॅ से प्राप्त 'कालीनथन लीला' की द्वितीय प्रति है । 'व्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला' और 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ यह प्रति भी एक ही जिल्द मे सम्बद्ध है ।

'कालीनथन लीला' के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास थे । अजपादास जी का परिचय 'व्रज चरित' की विवेचना के साथ दिया जा चुका है । प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त मे कवि ने लिखा है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित कालीनथन लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री स्वामी चरनदास के दास रामरूप महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख नीह दीयने ।"

प्रस्तुत उद्धरण के अन्त मे प्रतिलिपि काल नही दिया गया है । परन्तु लेखन सामग्री और प्रतिलिपि हस्तलेखन यह सिद्ध करता है कि इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल वही है जो 'व्रज चरित,' 'दान लीला' और 'माखन चोरी लीला' का है । इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि सवत् भी सवत् १८४२ विक्रमीय सिद्ध होता है ।

'कालीनथन लीला' की रचना ४४ छन्दो में हुई है । इस प्रति का आकार १०" × ६ है" और रचना देवनागरी लिपि मे हुई है ।

'कालीनथन लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतिया के अतिरिक्त एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध होती है जिसका प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति-सागर' ग्रन्थ मे हो चुका है ।

'कालीनथन लीला' में श्रीकृष्ण द्वारा विषधर सर्प कालिया के नथन का वर्णन हुआ है । श्रीकृष्ण की सर्वसामर्थ्य और शक्ति सम्पन्नता का वर्णन और

कालिया सर्प के दमन का उल्लेख ग्रन्थ मे सविस्तार हुआ है । वर्ण्य-विषय के दृष्टि-कोण से ग्रन्थ के शीर्षक का पूर्ण साम्य है ।

'काली नथन लीला' की रचना ८४ छन्दों मे हुई है । इन छन्दों मे कवि ने केवल एक ही कथा का आद्योपांत धाराप्रवाह चित्रण किया है । कथा का विभाजन विषय, प्रकरण तथा अध्याय आदि मे नहीं किया गया है ।

वर्ण्य-विषय—'कालीनथन लीला' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सत्गुरु वन्दना—ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का आधार—विषधर के उत्पीडन से त्रस्त जनता के दुःख से कातर श्रीकृष्ण का दृढ संकल्प—काली सर्प के गर्व दमन का निश्चय—श्रीकृष्ण का गायों के साथ यमुना की ओर प्रस्थान—सुप्त काली को छेड कर कृष्ण द्वारा जाग्रत किया जाना—काली का प्रकोप और इस असाधारण साहस पर आश्चर्य—गोपाल का जलधारा मे कूद पडना—काली का कृष्ण के शरीरमें लिपट जाना—नन्द यशोदा और ब्रज नर-नारियों की चिन्ता मे विकास—ब्रज के निवासियों की दु:खावस्था—यशोदा का जल मे कूदने का प्रयत्न—कृष्ण के द्वारा रोका जाना और अपनी शक्ति का परिचय देना—कालीनाग के फन पर त्रिभंगी मुद्रा मे श्रीकृष्ण का मुरली-वादन और नृत्यविलास—काली नाग की व्यथा और पीडित अवस्था—उसका गर्व और अभिमान दमन, नाग का पत्नी नागिन का सुता सहित आगमन और श्रीकृष्ण के प्रति विनय निवेदन और स्वपति निन्दा—श्रीकृष्ण से दुःख-मोचन के लिए निवेदन युक्त आग्रह—श्रीकृष्ण के आश्वासन और आशीर्वचन ।

आधार ग्रन्थ—'कालीनथन लीला' के वर्ण्य-विषय का आधार कवि के शब्दों मे निम्नलिखित है :—

> प्रेम कथा की बात अनोखी सुनो सन्त चितलाई ।
> श्री शुकदेव कहे राजा सो अद्भुत चरित बनाई ॥
> मनमोहन प्यारे की बतियां चरणदास मनभाई ।
> काली नथन श्याम जू कीनो ताकी माफ बनाई ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राजा परीक्षित को शुकदेव जी ने काली-नथन की जो वार्ता सुनाई थी, वही गाथा इस रचना का आधार है ।

विषय-प्रतिपादन—'कालीनथन लीला' मे विषय-प्रतिपादन बडे सरल और सुगम ढग से हुआ है । लेखक ने वर्णनात्मक शैली के माध्यम से ग्रन्थ की रचना की है । कवि का ध्यान जितना कथा के वर्णन मे रहा है, उतना कला-पक्ष मे नहीं और इसीलिए नागिन द्वारा पति दुर्दशा पर खेद, व्याकुलता, सकट-मोचन के लिए वन्दना, माता यशोदा की भयविह्वलता आदि भाव-पूर्ण स्थलों को पहचानने और उनका उचित मूल्यांकन करने मे कवि को लेशमात्र सफलता नहीं प्राप्त हुई है ।

इस प्रसग मे यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि कालीनथन प्रक्रिया जैसे महत्वपूर्ण स्थल का वर्णन कवि ने केवल दो-चार पक्तियो में करके विषय को चलता कर दिया है। श्रीकृष्ण के शरीर पर काली के लिपट जाने पर ब्रज के नर नारिया और माता यशोदा तथा पिता नन्द की व्यग्रता केवल रस्म अदायगी सी जान पड़ती है। वर्ण्य-विषय के प्रतिपादन मे मनोवैज्ञानिक तत्वो के समावेश का ध्यान नही रखा गया। नागिन और श्रीकृष्ण तथा यशोदा और श्रीकृष्ण के सभाषण अधिकाश निर्जीव तथा तर्क रहित ह।

रचनाकाल—'कालीनथन लीला' कवि की पूर्व आलोचित 'दान लीला' और 'माखनचारी लीला' की तुलना मे कुछ अधिक प्रौढ रचना है। कला की प्रौढ़ता के दृष्टिकोण से यह 'ब्रज चरित' के समकक्ष रचना है। 'ब्रज चरित' का प्रामाणिक रचना-काल सन् १७४० वि० है अतः 'कालीनथन लीला' का रचना काल भी इस समय के लगभग प्रतीत होता है। 'कालीनथन लीला' और 'ब्रज चरित' कवि की भावनाओ के एक ही प्रवेग मे रचित ग्रन्थ हे।

भाव-सौंदर्य—विषय प्रतिपादन के साथ कहा जा चुका है कि कवि भाव पूर्ण स्थल और मार्मिक घटनाओ तथा चरित्रो को पहचानने में सफलीभूत नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि कवि का ध्यान केवल अपनी बात करने मे सलग्न रहा है। अन्य बातो की ओर से वह प्रायः विमुख ही रहा है। अतः भाव-सौंदर्य के उदाहरणो का प्रस्तुत ग्रन्थ मे सर्वथा अभाव है।

ग्रन्थ का माहात्म्य—ग्रन्थ का माहात्म्य कवि के शब्दो मे निम्नलिखित है :—

यह हरि कथा यथामति गाई जो सुन के मन लावे।
विषधर को भय नाही व्यापै अत परमपद पावे ॥

नासकेत-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'नासकेत लीला' की दो हस्तलिखित प्रतियां और एक मुद्रित प्रति उपलब्ध हुई है। हस्तलिखित प्रतियो मे सर्वप्रथम श्री गणेशदत्त मिश्र के सग्रह से और द्वितीय उन्नाव जिला के निवासी श्री भगवान दास के यहाँ से उपलब्ध हुई है। मुद्रित प्रति का प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुई है। श्री भगवानदास की प्रस्तुत प्रति खडित है। इसके प्रथम के दो पृष्ठ और मध्य "चन्द्रावती विवाहों नामचतुर्थोध्याय" के चार पृष्ठ खोये हुए है, अत-एव 'नासकेत लीला' के अध्ययन का आधार श्री गणेशदत्त मिश्र से प्राप्त प्रति है।

मिश्र जी की इस 'नासकेत लीला' की प्रति का प्रतिलिपिकर्ता कौन और प्रति-लिपि-काल क्या था, यह कहना कठिन है। कारण कि इसके आदि, अंत और मध्य मे इस विषय का कोई उल्लेख नही है। इन साक्ष्यों के अभाव मे हमे प्रतिलिपि-काल

के विषय में अनुमान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। हस्तलेखन और सामग्री के आधार पर अनुमान होता है कि प्रतिलिपि १०० वर्ष से पूर्व प्रस्तुत की गई थी।

ग्रन्थ का आकार १०"× ६½" है। इस कथा का प्रसार १०० पृष्ठों में पूरा हुआ है। रचना-लिपि देवनागरी है।

प्रस्तुत रचना में नासकेत के चरित्र और लीला का वर्णन हुआ है। अतएव वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ का शीर्षक पूर्णतया सार्थक है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

श्री व्यास पुत्र श्री शुकदेव की वन्दना और स्तवन-वैशम्पायन का गगा जी क निकट साधनार्थ बैठना—राजा जन्मेजय का वहाँ पर स्नानार्थ आना—राजा जन्मेजय द्वारा सविनय जिज्ञासु भाव से नासकेत चरित्र के विषय में प्रश्न पूछना—वैशम्पायन द्वारा कथा का वर्णन–उद्दालक नामक एक इन्द्रियजित, तपस्वी योगी था–वह ब्रह्मा का पुत्र था—उद्दालक के तपोभूमि का मनोरम वर्णन—उद्दालक की उग्र तपस्या से इन्द्र का विचलित होना—इन्द्र का ब्रह्मा के पास चिंतित होकर जाना—ब्रह्मा का आश्वासन–ब्रह्मा द्वारा पिप्पलादि का उद्दालक के पास भेजा जाना–उद्दालक के पास पिप्पलादि का गमन और पुत्र प्राप्ति की महत्ता का वर्णन—उद्दालक की तपस्या मे बाधा—पुत्र प्राप्ति की चिन्ता से व्यथा–उद्दालक का ब्रह्मा के पास गमन—ब्रह्मा द्वारा आश्वासन—पुत्र और तदनन्तर नारी प्राप्ति—उद्दालक की नारी चिन्ता मे व्याकुलता—कामाधिक्य से वीर्य स्वलित हो जाना—कमल के पत्ते मे वीर्य को कुशो से आच्छादित करके प्रवाहित करना–उसी समय रघुवशी चन्द्रावती का सखियों सहित गगा स्नानार्थ गमन—चन्द्रावती का उत्सुकता वश कमल को देखना और सूघना—चन्द्रावती का गर्भ धारण करना–राजा एव रानी को इस बात की सूचना—चन्द्रावती का गृह निष्कासन एव वनवास—जगल मे याज्ञवल्क्य से भेंट–याज्ञवल्क्य से परिचय और उनके तपोभूमि मे गमन—प्रसूत समय निकट आने पर चन्द्रावती का रुदन और विधाता से भाँति-भाँति के निवेदन–छीक के साथ बालक का जन्म—उसका नासकेत नामकरण होना—बालक की तेजस्विता—एक वर्ष का होने पर क्रोधवश बालक को गगा मे प्रवाहित कर देना—उद्दालक ऋषि द्वारा बालक को निकालना, पालन-पोषण—कालान्तर मे माता के हृदय में प्रेम जाग्रत होना—पुत्र की खोज में गगा के किनारे किनारे चलना–मार्ग में उद्दालक के प्रयत्न से रघुवंशी राजा के द्वारा चन्द्रावती का कन्यादान—दोनो का सुख-पूर्वक साथ-साथ रहना—एक दिन क्रोधवश नासकेत को उद्दालक का नरक भोग का श्राप—नासकेत का स्वर्ग, नरक आदि का भ्रमण और सभी प्रकार के दृश्य-दर्शन—नरक से लौटने पर सविस्तार वर्णन।

विषय-प्रतिपादन—'नासकेत लीला' के वर्ण्य-विषय का उल्लेख ऊपर अत्यन्त सक्षेप मे किया जा चुका है। इस प्रतिपाद्य विषय का विभाजन कवि ने अष्टादश अध्यायो में निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

१. उद्दालक चिन्तावर्णन नाम प्रथमोध्यायः ।
२. चन्द्रावती कन्यात्यागो नाम द्वितीयोध्यायः ।
३. पितापुत्र सयोगोनाम तृतीयोध्यायः ।
४. चन्द्रावतीविवाहो नाम चतुर्थोध्यायः ।
५. यमदर्शनो नाम पचमोध्याय ।
६. पितापुत्र सवादो नाम षष्ठोध्यायः ।
७. महामार्गस्थाननाम सप्तमोध्यायः ।
८. नरकवर्णनोनाम अष्टमोध्यायः ।
९. नरकवर्णनोनाम नवमोध्यायः ।
१०. नरकवर्णनोनाम दशमोध्यायः ।
११. यमशासनो नाम एकादशोध्यायः ।
१२. स्वर्गमार्गवर्णना नाम द्वादशोध्यायः ।
१३. स्वर्गवर्णनो नाम त्रयोदशोध्यायः ।
१४. स्वर्गवर्णनोनाम चतुर्दशोध्याय ।
१५. विष्णु-भक्तिप्रभाव वर्णनोनाम पचदशोध्यायः ।
१६. यमनारदसवाद नाम षोडषोध्यायः ।
१७. कर्मानुसार योनिप्राप्तिवर्णन नाम सप्तदशोध्यायः ।
१८. शुभाशुभनिर्णय वर्णन नामाष्टादशोध्यायः ।

इन अठारह अध्यायो मे कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ कथा का विभाजन किया है। कवि ने इन कथाओं को अनेक काव्य कोशल से, रोचक रूप प्रदान किया है, और साथ ही मनोवैज्ञानिक तत्वो की अभिव्यजना से कथा मे प्राण प्रतिष्ठा कर दी है।

कवि ने उद्दालक, चन्द्रावती के माता पिता, रानी एव राजा इन्द्र, पिप्पलादि ऋषि, तथा नासकेत के चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इनके वर्णन में चरित्र के उतार चढ़ाव की स्पष्ट रेखाये दृष्टिगत होती है। इन ऋषियों और इन्द्रादि देवताओं के चरित्र भी मानव-चरित्र के सदृश दुर्बलताओं और अभावो से ग्रस्त हैं। लेखक को इन चरित्रो के चित्रण मे अच्छी सफलता मिली है। प्रस्तुत रचना में कहानी की रोचकता और चमत्कार सर्वत्र विद्यमान है। इस ग्रन्थ के रचना काल तक कवि की वर्णन शक्ति पर्याप्त विकसित हो गई है। तपोवनो, स्वर्ग,

नरकादि का कवि ने बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इन वर्णनो को व्यक्त करने मे न अघाता है और न थकता है।

रचना-काल—'नासकेत लीला' का रचना-काल अज्ञात है। परन्तु वर्णित विषय की दृष्टि से यह सबसे अधिक परिपक्व रचना है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मादिक कुछ सगुण देवताओ का वर्णन हुआ है। इस तथ्य से प्रकट होता है कि यह 'भक्ति-सागर' की समकक्ष रचना है। 'भक्ति-सागर' का अन्तस्साक्ष्य के अनुसार रचना-काल सवत् १७८१ है, अतएव इस ग्रन्थ का रचना-काल भी सवत् १७८३ के लगभग निश्चित होता है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से प्रस्तुत रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। चद्रावती परित्याग, चन्द्रावती गगा-स्नान आदि प्रसगा मे भाव सौंदर्य से युक्त अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मज्ञान-सागर

उपलब्ध-प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतिया लेखक को प्राप्त हुई है। प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के पास, द्वितीय श्री गणेश दत्त के सग्रह मे और तृतीय भगवान दास के यहा उपलब्ध हुई। श्री भगवान दास की प्रति 'अष्टाग योग', 'पचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान सागर' एव 'भक्ति सागर' के साथ एक ही जिल्द मे सम्बद्ध है। इस प्रति का सविस्तार परिचय 'अष्टाग योग' ग्रन्थ के साथ दिया जा चुका है। अतएव जो परिचयात्मक विवरण 'अष्टाग योग' का है प्रायः वही 'ब्रह्मज्ञान सागर' का है।

एक ही जिल्द में सम्बद्ध इन चारो पुस्तको के प्रतिलिपि-कर्ता स्वामी महेशानन्द जी थे जिनका विस्तृत परिचय 'अष्टाग योग' मे दिया जा चुका है। इस प्रति का प्रतिलिपि काल चरनदास के स्वर्गवास के दस वर्ष अनन्तर सवत् १८४९ विक्रमी है।

इस ग्रन्थ का आकार "१० × ६" है। कवि ने 'ब्रह्मज्ञान सागर' का प्रसार २५२ छन्दो मे मे किया गया है। ग्रन्थ की रचना का माध्यम देवनागरी लिपि है।

"ब्रह्मज्ञान सागर" की एक मुद्रित प्रति भी देखने मे आई है। जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे लेखक ने ब्रह्म और मानव शरीर, ब्रह्म और ससार, ब्रह्म और आत्मा, ब्रह्म और मानव की इन्द्रिया, ब्रह्म और माया, ब्रह्म का रूप-स्वरूप, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का देश, ससार की विनाशशीलता, ब्रह्म की अद्वैतसत्ता, ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्मानन्द आदि विषयो पर प्रकाश डाला है। ये सभी विषय ब्रह्म की अखण्ड

सत्ता और अनादि रूप के द्योतक हैं। इनकी विवेचना इस ग्रन्थ मे आद्योपात हुई है। अतएव ग्रन्थ का नाम 'ब्रह्मज्ञान-सागर' उचित और सार्थक प्रतीत होता है।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय परिच्छेदो अथवा अध्यायों में न विभक्त होकर एक समान आद्योपांत चलता रहता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

व्यास पुत्र श्री शुकदेव जी की वन्दना—मन की वासना विनष्ट करके निरंजन का ध्यान करने का उपदेश-इन्द्रिय निग्रह और स्वादु लोलुपता निग्रह-शरीर विनाशी है और अविनाशी मनुष्य ही ब्रह्म का रूप है-जाति, वर्ण, कुल देह के साथ क्षय शील—पचतत्वो से विनिर्मित शरीर की विनाशशीलता—त्रिगुणात्मक सत्ता की विवेचना-डिभ, कपट, छल, निन्दा आदि तामसिक गुणो के प्रसाद है-मान, बडाई, नाम आदि राजस गुण के फलस्वरूप जन्मते हैं—दया, क्षमा, अधीनता, शीतल हृदय और सत्य आदि धारण करना सात्विक गुणा के फलस्वरूप होता है—राजस से तामस की वृद्धि होती है—तामस से बुद्धि का विनाश होता है, अतएव इनका विसर्जन करके सतोगुण को धारण करना ही कल्याण है-"सतगुण मे मन थिरकरो, करि आतम सा नेह, आतम निर्गुण जानिये, गुण इन्द्री सग देह—"ससार की सत्ता त्रिगुणात्मक है—अह तत्व से ॐ का विकास—ॐ से तीन देवताओ की उत्पत्ति-"निराकार अद्वै अचल निर्वासो तू जोव, निरालम्ब निर्वैर सा अज अविनाशी सीव" इन्द्रियो—इडा, पिगला, सुषुम्णा की विवेचना—प्राणायाम आदि योग युक्तियों से ब्रह्मोपासना—"काया माया जानिये जीव ब्रह्म है मित्त, काया छुटि सुरति मिटै, तू परमातम मित्त"—पाप, पुण्य, आशा का परित्याग करना चाहिए—कच्छप के समान समस्त चेतना को अन्तर्मुखी करके श्वास साधना—संसार निःसार और असत्य है—द्वैत भावना असत्य है-ब्रह्म की सर्वव्यापकता तिल मे तेल और दूध में घी के समान —उसकी व्यापकता सर्वत्र है—"निर्विकार तो ब्रह्म है अद्वै अचल अपार"—माया और ब्रह्म—माया क्षणिक और झूठी है-ब्रह्म सत्य है-ब्रह्म निराकार है—वह अवतार विहीन है—अवतार स्वप्न और ओले के समान क्षणिक है—वह न हद है न बेहद—ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या-ससार स्वप्न है—"जगत ब्रह्म में यो दीपै ज्यो धरती पर रेख, रेख मिटै धरती रहै ऐसे ही जग देख"-"अद्वै अचल अखड है अगम अपार अथाह, नहीं दूर नहि निकट है सतगुरु दियो बताय"—"भूल हुती जब दो हुते अब नहि एक न दोय'—ब्रह्मज्ञान के बिना द्वैत भावना नही मिटती—ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मानन्द शुकदेव जी की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—'ब्रह्मज्ञान सागर' में कवि ने विषय का प्रतिपादन और दार्शनिक सिद्धातों का समन्वय गम्भीरता-पूर्वक किया है। ससार मे त्रिगुणात्मक सत्ता,

इन्द्रियों द्वारा साधना में विघ्नोत्पादन, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, शरीर की क्षयशीलता, माया और ब्रह्म, अवतारवाद की निःसारता आदि विषयो की विवेचना और प्रतिपादन गम्भीरता के साथ हुआ है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता को सुगम और हृदयग्राही बनाने के लिए देखिये कवि ने किस सुबोध-शैली को ग्रहण किया है :—

एकै सबतन रमि रह्यो, चेतन जड के माहि।
माया दर्शत है सभी, ब्रह्म लखत है नाहि॥
जैसे तिल मे तेल है, फूल मध्य ज्यो बास।
दूध मध्य ज्यो घीव है, लकड़ी मध्य हुलास॥
थावर जगम चर अचर, सब मैं एकै होय।
ज्यो मन को मे डारि है, बाहर नाही कोय।

इसी प्रकार ब्रह्म और माया का भेद तथा ब्रह्म की व्यापकसत्ता की अभिव्यजना निम्नलिखित पक्तियो मे कवि ने की है :—

झूठी माया सो कहै, ज्ञानी पडित लोय।
मर्म मूल साची लगै, समझै सांच न होय॥
सोने को गहनो गढै, कहन सुनन को दाय।
गहना ना सोनो सबै, नेक जुदो नहि होय॥
झूठ साच दो नाव है, झूठ मिटै इक सांच।
नाम मिटै सूरत मिटै, भूषण को लग आच॥

इस उद्धरण से कवि के विषय-प्रतिपादन के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने गम्भीर, दुरूह और नीरस विषयो के प्रतिपादन हेतु मनोवैज्ञानिकता का आश्रय ग्रहण किया है। मनोवैज्ञानिक शैली के कारण विषय मे सर्वत्र रोचकता आ गई है, साथ ही उसमे सुगमता का समावेश भी हो गया है। इस प्रकार कवि को अपेक्षित विषय के प्रतिपादन और अपनो बात को कहने मे पूर्णतया सफलता मिली है। कवि के सोचने और बात कहने की शैलो प्रभावशालो है।

रचना-काल—ग्रन्थ के रचना-काल के विषय मे न कोई अन्तस्साक्ष्य प्राप्त है और न वहिस्साक्ष्य। किवदतियां इस दृष्टि से निर्बल सूत्र होती हे, परन्तु इसके विषय मे कोई किंवदन्ती भी नही उपलब्ध है। अब समय-निर्धारण के लिए हमारे पास विषय प्रतिपादन और शैली का आधार ही रह गया है। इसी के द्वारा हम समय का अनुमान लगा सकते हैं।

'ब्रह्मज्ञान सागर' में अवतारवाद, माया और द्वैतउपासना की निन्दा की गई है। कवि ने इन विषयो की कटु आलोचना करने मे कोई प्रयत्न शेष नही रखा है।

ग्रन्थ की निर्गुण और सगुण सत्ता से परे ब्रह्म की कल्पना कवि ने कबीर के "निर्गुण सरगुण ते परा तहाँ हमारो राम" के आधार पर की है। ये सब बातें इसकी समर्थक है कि रचना लेखक ने सासारिक-जीवन और आध्यात्मिक-क्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के अनतर की थी। पर 'अष्टांग याग,' 'पचोपनिपद् सार,' 'योग सन्देह सागर', तथा 'स्वरोदय' की तुलना में यह ग्रन्थ शैली आदि की दृष्टि से उतना परिपक्व नहीं प्रतीत होता है। इन सभी ग्रन्थो मे प्रस्तुत रचना 'सन्देह सागर' से पूर्व-रचित ग्रन्थ प्रतीत होता है। परन्तु निश्चय ही यह कवि के अन्य सभी ग्रन्थो के बाद का रचना है। यह 'भक्ति सागर,' 'भक्ति पदार्थ' और 'धर्म जहाज' के अनन्तर लिखित रचना है। 'धर्म जहाज' का रचना काल हमारी दृष्टि से सन् १७५७ है, अतएव 'ब्रह्मज्ञान-सागर' की रचना तिथि सन् १७५६ होना सम्भावित है।

भाव-सौंदर्य और काव्य-सौन्दर्य—भावसौंदर्य और काव्यसौंदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ मे अनेक प्रसग उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ माया और ब्रह्म प्रकरण इस दृष्टि से पठनीय होगा। देखिए निम्नलिखित पक्तियो मे माया का तत्वविवेचन कवि ने कितनी सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त किया है :—

जल समान तो ब्रह्म है, माया लहर समान।
लहर सबै वह नीर है, लहर कहै अज्ञान॥
खेल खिलौना खाड के, कीजे लाख पचास।
सकल खिलौना खाड है, ऐसे गहि विश्वास॥
चरणदास खिलौना खांड के, भाजन राखे खाड।
बिन बिनशे भी खाड, विनशि जाय तौ खाड॥
माटी के भाडे भवै, सूरति अरु बहु नाम।
बिगसि फूटि माटी भई, बासन कहु केहि ठाम॥
ऐसे ही माया नहीं, समझि देखु मन माहि।
जो दीखे सो ब्रह्म है, रचक माया नाहि॥
इच्छा मेटै दुइ तजे, एकै मन विश्राम।
ब्रह्म ज्ञान विज्ञान है, समझ परमपद धाम॥

जागरण-माहात्म्य

उपलब्ध प्रतियाँ—'जागरण माहात्म्य' की केवल दो प्रतियां उपलब्ध हैं। एक हस्तलिखित प्रति और द्वितीय मुद्रित। हस्तलिखित प्रति श्री गणेश दत्त मिश्र के संग्रह में उपलब्ध हुई है और मुद्रित प्रति का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है।

मिश्र जी की प्रति में प्रतिलिपिकाल और प्रतिलिपिकर्ता के उल्लेख का अभाव है। इस ग्रन्थ के अंत मे प्रतिलिपिकर्ता ने केवल इतना लिख दिया है :—

"इति श्री स्वामी चरणदास जी महराज कृत जागरण माहात्म्य सम्पूर्णम् लिख्यते जैसा देखा। जै श्री चरणदास जी महराज।"

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ का प्रतिलिपिकर्ता चरणदासी-सम्प्रदाय का कोई श्रद्धालु शिष्य था, जिसने स्वपाठार्थ ग्रन्थ को प्रस्तुत किया।

ग्रन्थ का आकार ६" x ५" है और इसकी रचना १०४ छन्दों मे पूर्ण हुई हैं। ग्रन्थ के रचना का आधार देवनागरी लिपि है।

ग्रन्थ का विषय एकादशी-व्रत और जागरण-माहात्म्य है। इन्ही विषयों के आधार पर ग्रन्थ की रचना हुई है। अतएव ग्रन्थ के विषय का शीर्षक से साम्य है।

ग्रन्थ की रचना श्री युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के सवाद मे हुई है। अतएव वर्ण्य-विषय का प्रकरणो मे विभाजन के लिए यहाँ कोई अवसर नही है।

वर्ण्य-विषय का आधार—ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का आधार है 'भागवत' जैसा कि कवि के निम्नलिखित दो कथनो से स्पष्ट होता है :—

सुनो शिष्य अब कहत हू, अद्भुत कथा पुनीत।
निहचै ताके सुने न, बढ़े भक्ति और प्रीति॥
रास समय श्रीकृष्ण सो, कहत युधिष्ठिर राव।
हो हरि अपनी कृपा सो, कछु इक कथा सुनाव॥
राजासो श्रीकृष्ण ने, जो कुछ कह्यो बनाय।
सो अब तो सू कहत है, सुनो शिष्य चितलाय॥

तथा,

श्री भागौत की कथा कूं, जो मन सूं सुन लेह।
कोटि जनम के पाप सब, हरिहो निस्सन्देह॥

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सतगुरु वन्दना—एकादशी और जागरण का माहात्म्य—भक्ति के प्रसारक श्री गुरुदेव द्वारा श्रीकृष्ण के वचनो और कथा का सारांश सुनाया जाना—एकादशी का माहात्म्य—जागरण की विशेषता—जागरण और व्रत आवागमन के दुःख के निवारक—इससे मन एव तन की शुद्धि—जागरण के उपाय और विधि—श्रीकृष्ण द्वारा एकादशी व्रत रखने वाले भक्त की कथा का वर्णन—एकादशी व्रतरखने वाले का जागरण के हेतु दूसरे स्थान पर गमन—मार्ग में राक्षस से भेंट—भक्त को खाने का प्रयत्न—भक्त द्वारा कीर्तन के लिए जाने की आज्ञा—लौटकर आने की प्रतिज्ञा—

राक्षस द्वारा एक दिनकी क्षमा याचना—भक्त का लौटकर आना—राक्षस के सद्-बुद्धि का जाग्रत होना—क्षुधार्त ब्राह्मण से क्षमा याचना और भक्तियाचना—भक्त का अपनी पुण्य का, राक्षस के लिए दान—व्रत की महिमा और उपयोगिता।

विषय-प्रतिपादन—ग्रन्थ मे विषय का प्रतिपादन सरल और साधारण ढग से हुआ है। कथा का वर्णन भी सरल शैली मे हुआ है। ग्रन्थ मे वर्णित कथा अत्यन्त संक्षिप्त और नीरस सी प्रतीत होती है। संवाद नीरस, निर्जीव और वाग्वैदग्धविहीन प्रतीत होते हैं। विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट है कि लेखक की शैली मे न तो परिमार्जन है, न भाषा में प्रौढ़ता।

रचनाकाल—यह ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचना है। इसे हम रचनाकाल और कला की दृष्टि से 'दानलीला' अथवा 'माखन चोरी लीला' के समकक्ष रख सकते हैं।' दानलीला' का समय सन् १७३५ माना गया है अतः इसका समय भी लगभग सन् १७३३ " लगभग है।

मनविकृतकरणसार

उपलब्ध प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की चार प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। इन चार प्रतियो मे से तीन हस्तलिखित प्रतियाँ हैं और एक मुद्रित। हस्तलिखित प्रतियो मे से प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के यहाँ प्राप्त हुई है। द्वितीय प्रति श्री गणेशदत्त मिश्र के यहाँ से और तृतीय श्री भगवान दास के संग्रह से प्राप्त हुई है। इन प्रतियो मे से लेखक के देखने में अंतिम दो प्रतियाँ आई हैं। श्री भगवान दास की प्रति एक खण्डित प्रति है। मुद्रित प्रति का प्रकाशन नवल किशोर प्रेस से चरनदास जी के 'भक्ति सागर' ग्रन्थ में हुआ है। इन समस्त प्रतियो में से श्री गणेशदत्त मिश्र की प्रति लेखक के अध्ययन का आधार है।

इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता और प्रतिलिपिकाल का ज्ञान नहीं है। प्रति में इसके विषय मे कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु प्रतिलिपि सामग्री आदि के देखने से ज्ञात होता है कि पुस्तक की प्रतिलिपि प्रायः सौ वर्ष पूर्व हुई थी।

इस ग्रन्थ का आकार १०" × ६½" है। विषय का प्रतिपादन ४५४ छन्दों मे हुआ है। ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि मे हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'श्रीमद्भागवत' के ११ वें स्कन्ध के आधार पर दत्तात्रेय की वैराग्य-परक कथा दी गई है। इस ग्रन्थ मे जिस वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन हुआ है वह मन को सांसारिक मायामोहादि के झिलमिले आवरण से दूर रखने तथा भौतिकता से अलग हटाने मे सर्वथा समर्थ होता है। हमारा मन चरनदास की विचारधारा के साथ स्वतः बह चलता है और हम माया तथा वैभव परित्याग के साथ बह चलते हैं। इसलिए ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक और उपयुक्त प्रतीत होता है।

ग्रन्थ का आधार—प्रस्तुत रचना का मूल स्त्रोत है 'भागवत' का एकादश स्कन्ध। ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत में इस स्रोत की ओर लेखक ने इंगित किया है :—

१. एकादश भागवत में, जाकी यह मति जान।
दत्तात्रेयी ने कह्यो, राजा यदु सों ज्ञान॥
अब मैं भाषा कहत हौं, तुमहीं करौ सहाय।
ज्यों की त्यों मुख से निकसि, पूरी ही ह्वै जाय॥
सुनिये ज्ञानी सतजन, रहन गहन की चाल।
जो कोइ ले हिरदय धरे, होवे तुरत निहाल॥
चरणदास हों कहत हों, परमारथ के काज।
जा अग श्रीभागवत में, साधु होन के साज॥
गुरु शुकदेव प्रताप सो, कहूँ विचार विवेक।
दत्तात्रेयी ने किये, चौबीसों गुरु देख॥

२. गुरु के चरणन में धरा, चित बुद्धि मन अहकार।
जब कछु आपा ना रहै, उतरे सबही भार॥
मन विरक्त के करन को, कीन्हो गुटका सार।
पढ़ै सुनै चित मे धरै, भवसागर हो पार॥

इन उद्धरणो से ग्रन्थ का आधार ज्ञात हो जाता है।

ग्रन्थ का विभाजन परिच्छेदों अथवा अध्यायो मे नहीं हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे निम्नलिखित चौबीस विषयों पर लेखक ने अपने मत का प्रकाशन किया है। परन्तु ग्रन्थ का विषय आद्योपात एक ही प्रवाह मे चलता रहता है। कहीं कोई विराम या विश्राम नहीं है :—

१. पृथ्वी २. पवन ३. आकाश ४. नीर ५. अग्नि ६. चन्द्र ७. सूर्य ८. कपोत ९. अजगर १०. सिन्धु ११. पतंग १२. भवरा १३. मक्षिका १४. हाथी १५ मृग १६. मीन १७. पिंगला १८. चील्ह १९. बालक २०. कन्या २१. तीरगर २२. सर्प २३. मकड़ी २४. भृ गी।

वर्ण्य-विषय—'मनविरक्तकरण गुटका सार' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है:—

श्री व्यासपुत्र श्री शुकदेव की वन्दना—सतगुरु स्तवन—ग्रन्थ का आधार—भूप का मृगयार्थ बन प्रस्थान—अवधूत दर्शन—दत्तात्रेय का २४ गुरु करना और उस प्रसग का वर्णन—इन २४ गुरुओ से दत्तात्रेय का विभिन्न प्रकार से शिक्षा ग्रहण करना—सर्वप्रथम पृथ्वी को गुरु बनाना और उससे शिक्षा ग्रहण करना—पृथ्वी से सहिष्णुता, निश्चलता, स्थिरता, समदृष्टि और परोपकार की भावना का उपदेश ग्रहण करना—पवन को गुरु बनाना—पवन से जग को सुखी सुगधित करना एव परोपकार,

सन्तोष, विनम्रता आदि का उपदेश ग्रहण करना—तीसरा गुरु आकाश को बनाना, जिससे विशाल हृदयता, समव्यवहार, स्थिरता, निर्लिप्तता का उपदेश ग्रहण करना —चतुर्थ नीर को गुरु बनाना—नीर से निर्मलता, परसुख कातरता, निःसगता—आत्मोसर्ग की भावना हृदयगम करना—पचम गुरु अग्नि—अग्नि से सर्वदोष दहन करने की प्रवृत्ति, सब को पवित्र करने की भावना, सर्व पापो को विनष्ट करने की क्षमता, समदृष्टि की भावना ग्रहण करना—षष्टगुरु चन्द्र—चन्द्र की क्षय और वृद्धि मे तटस्थता, सर्वभूतो को आनदित करने की भावना ग्रहण करना—सप्तम गुरु सूर्य—सूर्य की सर्वग्राहिता, निर्लोभता, मोह विहीनता को हृदयगम करना–अष्टम् गुरु कपोत मे निर्मोहिता, वैराग्य का भाव प्राप्त करना—नवम गुरु अजगर से निर्द्वन्द्वता, निश्चितता और ब्रह्म के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण धारण करना–दशम गुरु सिन्धु से एकरसता और गम्भीरता—एकादश गुरु पतग से प्रेम तथा लगन की भावना ग्रहण करना —द्वादश गुरु भ्रमर से सर्वग्राहित और मधुकरी वृत्ति सीखना–त्रयोदश गुरु मधुमक्षिका से सारग्राहिता, सग्रहप्रवृत्ति प्राप्त करना—चतुर्दश गुरु हाथी से कामवृत्ति परित्याग—पचदश गुरु मृग से इन्द्रिय लालुपता, स्थिरता और माया विसर्जन का पाठ ग्रहण करना—सोलहवें गुरु मीन से जिह्वा स्वाद परित्याग का उपदेश ग्रहण करना —सत्रहवें गुरु पिंगला से निर्भरता, पर-आशा-परित्याग, सन्तोष और धैर्य का भाव ग्रहण करना—अठारहवें गुरु चील्ह से सयम और लोलुपता परित्याग—उन्नीसवें गुरु बालक से मानापमानहीनता, सरलता, तटस्थता—बीसवें गुरु कन्या से पुण्यपवित्रता और सन्तुलन—इक्कीसवे गुरु तीरगर से एकाग्रता—बाइसवें गुरु सांप से निर्लोभता, निर्मोहिता—तेईसवें गुरु मकडी से जग-जजाल से उन्मुक्ति तथा चौबीसवें गुरु भृगी से एकाग्रता और ध्यानस्थता का उपदेश ग्रहण करना—बाल्यावस्था तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था सभी अवस्थाओं मे शरीर की परवशता—गुरु के समान संसार मे कोई महान नहीं है—गुरु के प्रसाद से भवबाधा का विनाश।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने कथात्मक शैली में विषय का प्रतिपादन किया है। दार्शनिक तत्वो की अभिव्यंजना इतनी सुबोध और रोचक शैली में की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति विषय को सरलता के साथ हृदयगम कर सकता है। दत्तात्रेय के इन २४ गुरुओं से प्रत्येक मानव अपने जीवन को व्यवस्थित और संयमशील बना सकता है। जीवन की सार्थकता जीवन की गति नियन्त्रित और संयमित करने में है। उसको निरुद्देश्य, निर्बोध बहने देने में क्षय और विनाश का चक्र तीव्रतम गति से हमारे शिर पर गतिमान् हो जाता है। इसी संयमशील और मर्यादित जीवन के लिये दत्तात्रेय ने जिन जन्तुओं को गुरु बनाया है, वे किसी भी व्यक्ति के लिए पथ-प्रदर्शक बन सकते है। इस ग्रथ के विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट है कि ससार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के समस्त तत्वगुणों से युक्त है और मानव समाज को उन्नत

बनाने मे सहायक बन सकते हैं। उनके लिए बस एक बात की आवश्यता है और वह है उनको पहचानने की शक्ति। यह शक्ति हम सब में विद्यमान है। बस, उसे जाग्रत करने की आवश्यकता है।

विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में रोचक ढग से सम्पादित हुआ है। इन चौबीसों गुरुओं का उल्लेख लघुकथाओं के रूप में हुआ है। ये कथाये मनोवैज्ञानिक तत्वो को लेकर आगे बढती हैं, इसीलिये इनमें प्रभावित करने की शक्ति आद्योपांत है।

विषय-प्रतिपादन से लेखक की चिन्तन और अध्ययन की गम्भीरता का सम्यक ज्ञान होता है। भाषा मे प्रवाह और प्रौढता है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल ज्ञात नही है। विषय प्रतिपादन, भाषा, शैली, मनोवैज्ञानिक चित्रण और काव्य-कला की सुष्ठुता को देखकर हम इसे कवि की प्रौढ रचना मानते हैं। कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'व्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखनचोरी लीला,' 'कालीनथन लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीरहरण लीला,' 'कुरुक्षेत्र लीला,' 'जागरण माहात्म्य' और 'अमर लोक' ग्रन्थों के बाद की रचना प्रतीत होती है। कला की दृष्टि से यह 'ब्रह्मज्ञान सागर' की समकक्ष रचना है। 'ब्रह्मज्ञान सागर' का रचना काल मन् १७५६ माना गया है, अतः इसकी रचना तिथि भी सन् १७६० के लगभग निश्चित होती है।

भाव-सौंदर्य—दत्तात्रेय के २४ गुरुओ के स्वभाव और प्रकृति के चित्रण मे हमे सुन्दर भाव-सौंदर्य और काव्य-सौंदर्य के उदाहरण उपलब्ध होते है।

चतुर्थ अध्याय

चरनदास की साधना

योग

योग, हिन्दू-दर्शन और धर्म का गौरवपूर्ण अग तथा हिन्दू-जाति की सर्वाधिक प्राचीन एव समीचीन और साथ ही अति प्रसिद्ध थाती है। साधना का यही एक अग है जिसकी साधना-शैली और लक्ष्य क विषय मे काई मत-मतान्तर नही है। इसके आधारभूत सिद्धांतों मे वाद-विवाद के हेतु कोई स्थान भी नही है। योग, मोक्ष प्राप्ति का अद्वितीय साधन है, इस पर भी कोई दो मत नही है। भव-तापो से सतप्त साधक के सर्वसन्तापहारी परब्रह्म की दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त कर, आनन्दोर्मियो में अवगाहन करने के हेतु जिन तीन साधनाओं (योग, भक्ति एव ज्ञान) का उल्लेख होता है, उनमे योग सर्वश्रेष्ठ एव सर्वाधिक सफल साधन माना गया है। धर्म के प्रचारकों, दार्शनिको, प्राचीन ऋषियो ने तथा तत्व-ज्ञानियों ने योग की उपयोगिता एक स्वर से मानी है। प्रत्येक धर्म की साधना मे योग की क्रियाए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपेण वर्तमान है। योग भारतवर्ष का सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन है। शुक्ल यजुर्वेद के ४० वें अध्याय मे 'तत्र को मोह: कः शोक एकत्वमनुपश्यतः 'कथन इस बात का द्योतक है कि वेदो में भी योग विषयक आवश्यक विषयों एव तत्वों का उल्लेख हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के ३३ वें एव ४० वें अध्यायों में भी योग सम्बन्धी विशिष्ट विषयो का समावेश किया गया है। वेदों के अतिरिक्त उपनिषद्[1], श्रीमद्भागवत[2], श्रीमद्भगवद्गीता[3], योगवासिष्ठ[4], तथा तंत्र-ग्रन्थों[5] आदि में भी योग का स्पष्ट उल्लेख एवं साधना के विषय में विचार प्रकट किये गए है। भारतवर्ष के सभी प्राचीन धर्म—बौद्ध, जैन आदि योग की महत्ता के समर्थक हैं। बौद्धधर्म के पाली त्रिपिटकों में योग की प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। महावीर एव जैन धर्म के अन्य साधकों ने योगाभ्यास किया और उस पर अपने विवेचनात्मक मत प्रकट किये हैं। उमास्वामी तथा हेमचन्द्र ने क्रमशः 'तत्वार्थ सूत्र' तथा 'योगशास्त्र' ग्रन्थों में स्वानुभूतियों का चित्रण किया है। तांत्रिकों ने तो अपनी साधना के हेतु योग को ही आधार बनाया। नाथ-सम्प्रदाय की साधना

---

१. कल्याण योगांक, पृष्ठ ६२ २. कल्याण योगांक, पृष्ठ १०६ ३. कल्याण योगांक, पृष्ठ १२२ ४. कल्याण योगांक, पृष्ठ ११७ ५. कल्याण योगांक, पृष्ठ १०५

में भी योग की प्रक्रियाओं का विशिष्ट स्थान रहा है और अन्ततोगत्वा वह 'योगी सम्प्रदाय' के नाम से ही प्रख्यात हुआ। गोरखनाथ एव अन्यान्य सिद्धों के ग्रन्थों मे अमृतनाद, अमृतबिन्दु, तजोबिन्दु, नादबिन्दु, क्षुरिका, हंसकुडलिनी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाथ-पंथियो के पश्चात् हिन्दी के निर्गुण-वादी कवियों में भी योग का वर्णन उपलब्ध होता है। दैनिक जीवन मे भी, प्राचीन भारत के नागरिक यम-नियमादिक का पालन करके किसी न किसी रूप मे योग की साधना मे रत थे।

महर्षि पतंजलि योगसूत्रों के सर्वप्रथम रचयिता हैं। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग के आदि वक्ता थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार पतंजलि ने तो "शिष्टस्य शासनमनुशासन" (त० वं० १।१) केवल अनुशासन वा प्रतिपादित का उपदेश मात्र किया है। श्री बलदेव उपाध्याय के मतानुसार "योग-सूत्र" की रचना विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद मे विज्ञानवाद का खडन सूत्रो (१।१४, १५) में मिलने पर भी इस सिद्धांत को धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है" (भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३४६)। 'पातंजल योग दर्शन' पर व्यासभाष्य सबसे प्रामाणिक रचना है। पर ये व्यास कौन थे, इस निष्कर्ष पर अभी तक कोई निश्चय पूर्वक नहीं पहुँच सका है। व्यासभाष्य की गूढ़ार्थता को सरल करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' तथा 'योगवार्तिक' की रचना की। राघवानन्द सरस्वती ने वाचस्पति मिश्र की 'तत्ववैशारदी' की टीका 'पातंजल-रहस्य' नाम से की। योगसूत्रों की अनेक टीकायें हुई जिनमे भोज कृत 'राजमार्तंड,' 'भाव गणेश की वृत्ति' रामानन्द यति की मणिप्रभा' अनन्त पंडित की 'योग चंद्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती की 'योग सुधाकर' उल्लेखनीय हैं।

'योग' शब्द 'युज्' धातु के पश्चात् करण एव भाववाच्य में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ 'समाधि' है। अतः योग शब्द को हृदयंगम करने के लिए 'समाधि' शब्द का समझना अपेक्षित है। 'समाधि' का अर्थ पूर्णरूपेण परब्रह्म के साथ युक्त हो जाना है। समस्त वासनाओं एव कामनाओं को परित्याग करके स्वरूप में मिल जाना। परब्रह्म से युक्त होने के सहज स्वाभाविक उपाय को भी 'समाधि की संज्ञा दी जाती है। 'योग' शब्द के अन्तर्गत यही दोनों तत्व निहित हैं। जिस अवस्था में परब्रह्म की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने आप ही हमारी वाणी, भाव और कार्य के द्वारा पूर्णरूप से प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसी का नाम 'योग' है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके मनुष्य को भगवान का अवतार कहा जाता है। अतः योग शब्द का प्रधान अर्थ है "भाव वाच्य मे साधित भगवत् मिलन

एवं गौण अर्थ है करण वाच्य साधित ब्रह्म के साथ एकात्मकता स्थापित करने के लिए आवश्यक समस्त साधन प्रणाली।" किसी भी काम की सुन्दर, सहज एव स्वाभाविक साधना प्रणाली को 'योग' कहा जा सकता है। कहा भी गया है कि 'योग. कर्मसु कौशलम्'। 'योग' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे होता है। आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता 'योग' है। देहात्मबुद्धि त्याग कर आत्मभावापन्न होना भी 'योग' है, चित्तवृत्ति का निरोध भी 'योग' है। सुख, दुःख आदि पर विजय प्राप्त करना भी 'योग' ही कहा जाता है। गीता के अनुसार 'समत्वयोग उच्यते', आराधना के लिए भी योग का प्रयोग होता है, कर्म-बन्धन से उदासीन रहना भी योग है, भली प्रकार कृत कर्म भी योग ही है (योगः कर्मसु कौशलम्—गीता)। दो विभिन्न पदार्थों का निज स्वरूपो का खोकर एक ही रूप में परिणत हो जाना भी 'योग' है। योग फल, जादू भी 'योग' ही कहा जाता है। वैद्यक के नुसखे को भी 'योग' कहा जाता है। मारण, मोहन तथ उच्चाटन आदि को 'योग' की सज्ञा दी जाती है। पुराण काल मे युद्ध के लिए सैनिकों को सन्नद्ध हो जाने के लिए 'योगो योगः' शब्दों में आज्ञा दी जाती थी। किसी विशिष्ट उपाय को भी 'योग' कहा जाता है। इस प्रकार कोषकारों ने योग शब्द के तीन चार दर्जन अर्थ दिये है। पर जब हम 'योग' शब्द का प्रयोग दर्शन शास्त्र में करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है—वह विशिष्ट प्रणाली जिसके द्वारा आत्मा एव परब्रह्म मे एकात्मकता स्थापित की जा सके। इस दृष्टि से महर्षि पातजलि के योग-सूत्रों का द्वितीय सूत्र विशेष रूप से विचारणीय एव पठनीय है:—'योगश्चित्त वृत्तिनिरोध.' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध सर्वथा स्थगित हो जाना ही योग है। 'योग वासिष्ठ' के अनुसार ससार सागर से उत्तीर्ण होने की युक्ति ही योग है (६।१।१३।३)। संक्षेप मे वह आध्यात्मिक विद्या जो जीवात्मा एव परमात्मा मे सयोग स्थापना की प्रक्रिया का निर्देश करे वही 'योग' है। 'योग' वह परमार्थ विद्या है जो सद्, चित्, आनन्द स्वरूप के दिव्य रूप का दर्शन कराये। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा मे जुड़ जावे, वही योग है" (कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६८)। यौगिक-क्रियाओं की साधना करने वाला साधक 'योगी' है। परन्तु गीता में योगी शब्द का प्रयोग भी प्रायः नौ विभिन्न अर्थों मे हुआ हैं। गीता में ईश्वर[1], आत्मज्ञानी[2], ज्ञानीभक्त[3], निष्काम कर्मयोगी[4], सांख्य योगी[5], भक्त[6], साधक योगी[7], ध्यान योगी[8], सकाम कर्मयोग[9] आदि का प्रयोग योगी

---

१. गीता अध्याय १० श्लोक १७ २. गीता अध्याय ६ श्लोक ८ ३. गीता अध्याय १२ श्लोक १४ ४. गीता अध्याय ५ श्लोक ११ ५. गीता अध्याय ५ श्लोक २४ ६. गीता अध्याय ८ श्लोक १४ ७. गीता अध्याय ६ श्लोक ४५ ८. गीता अध्याय ६ श्लोक १० ९. गीता अध्याय ८ श्लोक २५

के अर्थ में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त सयमी, तत्वज्ञानी, ध्यान धारणा करने वालों के लिए भी आज 'योगी' शब्द का प्रयोग होता है।

योग-शास्त्र मे योग के तीन भेद मान्य हुए हैं :—

१. सविकल्प योगः—यह पूर्वावस्था है। इसमें विवेक ज्ञान नही होता।

२ निर्विकल्प योग.—इसे निर्विचार समाधि भी कहते है।

३. निर्बीजयोगः—इसमें चित्त की समस्त वृत्तिया नष्ट हो जाती ह। यही योग का अन्तिम लक्ष्य है। इसी से आत्मा का स्वरूप, प्रतिष्ठा और कैवल्य प्राप्ति होता ह। इसी प्रकार योगी के चार भेद कहे गये ह .—

१. प्रथम कल्पितः—योग मार्ग मे सद्यः प्रविष्ट।

२. मधुभूमिकः—अत्यन्त शुद्ध चित्तवाला साधक जिसे अप्सराए प्रलोभन देकर योग भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती ह।

३. प्रज्ञाज्योतिः—पचभूत,पंच अवस्थाओ पर अधिकार प्राप्त भूतजयी योगी।

४. अतिक्रात मानन्ीयः—भूतेन्द्रिय का अतिक्रमण करके आसक्ति मे प्रविष्ट सर्वज्ञ योगी।

योग के अनेक प्रकार होते ह—प्रमयोग, भक्तियोग, साख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, मत्रयोग आदि। योग के इन सभी प्रकारों म पर्याप्त भेद ह। श्वास-प्रश्वास एवं शारीरिक अगो पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित सचालन करते हुए मन को एकाग्र कर परब्रह्म म नियोजित करना हठयोग ह, और मन को एकाग्र करके परब्रह्म के आनन्दस्वरूप का मनन करते हुए आत्म समाधिस्थ हो ब्रह्म से मिलन राजयोग है। शारीरिक अगो का सयम करना हठयोग है और हृदय का सयम करना राजयोग है। हठयोग शरीर से होता ह और राजयोग मन से। हठयोग म साधक यम, नियम, आसनादिक की साधना से वायु तथा श्वासो पर अधिकार करता ह और राजयोग मे साधक वेदान्तवाद या वेदान्त के शून्यवाद म अपने मन को स्थिर करता ह। हठयोग म श्वास स मन का नियत्रित किया जाता है, और राजयोग म मन के नियत्रण से श्वास नियत्रित होता है। अत. अंगो तथा इन्द्रियो का सयत तथा वशीभूत करके बलपूर्वक ब्रह्म से मिलाना ही हठयोग है। हठयोग मे साधक को शारीरिक एव मानसिक साधना एव अध्यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियो एव शरीर के अन्य विभिन्न तत्वो पर विजय प्राप्त करके परब्रह्म मे मिलन ही हठयोग का लक्ष्य है। ससार की स्थिति एव विनाश मन मे टिका हुआ है। मन से कृत साधना को ही 'राजयोग' कहते है। हठयोग के साधक को अपने लक्ष्य पूर्ति के हेतु प्राणायाम, आसनादि का अभ्यास करना आवश्यक होता है।

अष्टांगयोग

चरनदास ने अष्टांग योग विषयक अपने विचारों की अभिव्यक्ति 'अष्टांगयोग वर्णन' ग्रन्थ में की है। इस ग्रन्थ में कवि ने हठयोग का सविस्तार निरूपण किया है। कवि ने हठयोग के सभी भेदों की सविस्तार विवेचना प्रस्तुत की है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्रतिपादित विषय हठयोग की नीरस साधना से सम्बन्ध रखता हुआ भी कवि की शैली और लेखनी से निःसृत होकर सुगम तथा रोचक बन गया है। विषय को रोचक बनाने में कवि ने उपमा, रूपक आदि अलंकारों का सहारा लिया है। हिन्दी के संत कवि जनता के कलाकार थे। इन्होंने जनता के प्रबोधनार्थ हठयोग की वह दुरूह साधना, जो संस्कृत में योग ग्रन्थों तक ही सीमित रह गई थी, उसे भाषा के माध्यम से जनता के लिए सुगम एवं सुलभ बनाया। चरनदास इस सामान्य तथ्य के किसी प्रकार से अपवाद नहीं थे।

'अष्टांगयोग वर्णन' में कवि ने कहीं पर भी इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उसके योग-दर्शन विषयक इस अध्ययन का आधार या सूत्र क्या है। इस विषय का प्रतिपदन गुरु एवं शिष्य के वार्तालाप के रूप में हुआ है। शिष्य जिज्ञासा से प्रेरित होकर हठयोग के विभिन्न विषयों तथा अंगों के विषय में प्रश्न पूछता है और गुरु उनका उत्तर देता हुआ शंका समाधान करता है। प्रश्नोत्तर के रूप में पूर्ण विषय का प्रतिपादन निम्नलिखित शैली में हुआ है :—

शिष्य-वचन

इक अभिलाषा और है, कहि न सकूं सकुचाय।
हिय उठै मुख आयकरि, फिरि उलटी ही जाय॥

गुरु-वचन

सतगुरु से नाहि सकुचिये, एहो चरणहिदास।
जो अभिलाषा मन विषे, खोलि कहो अब तास॥

शिष्य-वचन

सतगुरु तुम आज्ञा दई, कहूँ आपनी बात।
योग अष्टांग बुझाइये, जाते हियो सिरात॥

गुरु-वचन

योग अष्टांग बुझाइ है, भिन्न भिन्न सब अंग।
पहिले संयम सीखिये, जाते होय न भंग॥

अष्टांगयोग साधना अथवा हठयोग की साधना के पूर्व साधक के लिए संयम का अत्यन्त आवश्यक है। जैसा उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि कवि

संयम को हठयोग का प्रवेश द्वार मानता है। बिना संयम धारण किये अष्टांग योग की साधना असम्भव है। कवि के मतानुसार साधक को अल्पाहारी, मिताहारी, अल्पभाषी तथा एकांतवासी होना आवश्यक है। साधक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम धारण करना अपेक्षित है। निद्रा, स्वाद इन्द्रिय एवं पर स्त्रियों के साथ व्यवहार आदि में संयम अत्यधिक आवश्यक है।[1] साधक को अपनी समस्त बहिर्मुखी वृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए, यही योगसाधना का सर्वश्रेष्ठ नियम है।

रुठा रहै जगत लोगन सों। त्यागा रहै सबही भोगन सो ॥
सिमिटि रहै हिय माहि समावै। ऐसे योग सधे सिधि पावै ॥

'योग सूत्र' मे महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
'पातंजल योग दर्शन'—साधन पाद २, सूत्र २६

अर्थात् योग के आठ अंग है :—१ यम २ नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान तथा ८ समाधि।

साधक को समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए यम, नियम आसन, प्राणायाम, आदि योग के समस्त अंगों की साधना करनी होती है। चरनदास ने

प्रथम सूक्षम भोजन खावै। क्षुधा मिटै नहि आलस आवै ॥
थोड़ा सा जल पीवन लीजै। सूक्षम बोलै वाद न कीजै ॥
बहुत नींद भरि सोवै नाहीं। दूजा पुरुष न राखै पाहीं ॥
खट्टा चरपरा खार न खावै। शीतल तीक्षण होन नहि पावै ॥
करै न काहू वैरी मीता। जगत वस्तु की राखै न चीता ॥
निश्चल ह्वै मन को ठहरावै। इन्द्रिन के रस सब बिसरावै ॥
तिरिया तेल नहि देह लगावै। अष्ट सुगन्ध गंध नहि लावै ॥

काम क्रोध मद लोभ अरु राखै ना अभिमान।
रहै दीनताई लिये, लगै न माया बान।[1]

छल नहि करै न छल में आवै। दम्भ झूठ के निकट न आवै ॥
टोना यंत्र भूत नहि ध्यावै। झूठ जान के सब बिसरावै ॥
धातु रसायनि मन नहि लीजै। झूठ जानि याहू तजि दीजै ॥
गहि सन्तोष क्षमा हिय धारै। संयम करि करि रोग निवारै ॥
अहंकार को छोटा करिये। कुटिल मनोरथ मन नहि धरिये ॥

जिस अष्टांगयोग का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है उसका 'पातंजल योग दर्शन' में वर्णित अष्टांगयोग से पूर्ण साम्य है। कवि के अनुसार योग के आठ अंग निम्न लिखित हैं :—

यम के अंग प्रथम सुनि लीजै। दूजे नियम कहूँ चित दीजे ॥
तीजे आसन हित करि साधौ। प्राणायाम चौथे आराधौ ॥
प्रत्याहार पांचवा जानौ। छठे धारणा को पहिचानौ ॥
सतयें ध्यान मिटै सब बाधा। तहँ आठवां अंग समाधा ॥

हठयोग में सर्वप्रथम यम की साधना होती है। यम की साधना से विमुख तथा अन्य अंगों की साधना में रत साधक कभी भी सफलीभूत नहीं हो सकता है। अष्टांग-योग साधना में साधक क्रमशः अग्रसर होता है।[1] यमनियमादि दृढ़ नींव पर ही नये साधन का सुदृढ़ प्रासाद निर्मित हो सकेगा। 'पातंजल योग-दर्शन' में यम के निम्ना-कित पांच भेदों का उल्लेख मिलता है :—

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह[2]।

अहिंसा—मनसा वाचा तथा कर्मणा किसी व्यक्ति के प्रति द्रोह न करना 'अहिंसा' है। इसके अन्तर्गत शुभाशुभ कर्मों से आत्मा का घात न करना भी सम्मि-लित है। यह अहिंसा महाव्रत माना गया है। यह योगसाधन की आधार शिला है। सत्य—अपने मन की अथवा देखी सुनी बात को दूसरों से प्रवचना एवं निरर्थक तथा भ्रान्तजन्यता से रहित शब्दों में व्यक्त करना सत्य है। अस्तेय—निषिद्ध रीति से पराई वस्तु वा द्रव्य को ग्रहण न करना अथवा ग्रहण करने की इच्छा न रखना अस्तेय है। ब्रह्मचर्य—आठप्रकार के मैथुन का सर्वथा परित्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है। उपस्थेन्द्रिय का संयम इसका प्राण है। अपरिग्रह—विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा आदि दोषों को देखकर उनका परित्याग कर देना अपरिग्रह है।

चरनदास ने यम के दश भेदों का वर्णन किया है :—

१ अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. क्षमा ६. धैर्य ७. दया ८. आर्ज्जव ९. मिताहार १०. शौच।

---

1. यमान् सेवते सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ मनुस्मृति ४। २०४

2. अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ॥
पातंजल योगदर्शन—साधन पाद २, सूत्र ३०

कवि द्वारा वर्णित यम के उपर्युक्त दश भेदों का 'हठयोग प्रदीपिका' में उल्लिखित दश भेदों से पूर्ण साम्य है। 'हठयोग प्रदीपिका' में यम के निम्नलिखित दश भेद हैं :—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
> दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥

अब कवि के शब्दों में यम के दश भेदों का परिचय और विवेचना पठनीय होगी। इन उद्धरणों से वर्ण्य-विषय के लक्षणों का भी ज्ञान हो जाता है।

अहिंसा—

> प्रथम अहिंसा ही सुनि लीजै । मन करि काहू दोष न कीजै ॥
> कडुवा वचन कठोर न कहिये । जीव घात तन सों नहिं दहिये ॥
> तन मन वचन न कर्म लगावै । यही अहिंसा धर्म कहावै ॥

प्रस्तुत उद्धरण की तृतीय एवं पंचम पंक्तियां विचारणीय हैं। कटुभाषण को भी कवि ने हिंसा माना है। कवि मनसा, वाचा तथा कर्मणा अहिंसा में रत रहना आवश्यक मानता है।

सत्य—

> दूजे सत्य सत्य ही बोलै । हिरदै तोलि वचन मुख खोलै ॥

अस्तेय—

अस्तेय का अर्थ है दूसरे के स्वत्व का अपहरण न करना। कवि ने दो प्रकार की चोरी मानी है। प्रथम दूसरे के पदार्थ का अपहरण करना तथा द्वितीय मन की चोरी जिसमें छल, कपट, मिथ्या, वासना आदि आते हैं —

> तीजे असते त्याग सुनीजै । तन मन सों कछु नाहि हरीजै ॥
> तन चोरी के लक्षण नाखे । मन की चोरी को नहिं राखे ॥

ब्रह्मचर्य—

मैथुन आठ प्रकार का कहा गया है :—

> श्रवणं स्मरणं चैव दर्शनं भाषणं तथा ।
> गुह्यवार्ताश्च हास्यं च स्पर्शनं चाष्ट मैथुनम् ॥

इन सभी का परित्याग करना ब्रह्मचर्य है। कवि ने भी इन्हीं आठ प्रकार के मैथुना का परित्याग आवश्यक माना है :—

यती होय दृढ काछ गहीजै। वीर्य छीण नहि होने दीजै॥
मैथुन कहूँ अष्ट परकारा। ब्रह्मचर्य रहै इनसे न्यारा॥
सुमिरन तिरिया को नहि करिये। श्रवणन सुरति रूप नहि धरिये॥
रस शृंगार पढै नहि गावै। नारिन मां नहि हँसै हँसावै॥
दृष्टि न देखै विष नहि दौरै। मुख देखे मन होजा औरै॥
बात इकन्त करै नहि कबही। मिलन उपाय जु त्यागै सबही॥
स्पर्श अष्टम निकट न जावै। काम जीति योगी सुख पावै॥
अष्ट प्रकार के मैथुन जानों। इन्है तजे ब्रह्मचर्य पिछानो॥

क्षमा—

पचवी सुखदाई क्षमा, जलन बुझावै सोय।
जो टुक आवै घट विषे, पातक डारै खोय॥

कोई दुष्ट कछू कहिजावो। गाली देकर कोइ खिझावो॥
कै कोइ शिर पर कूडा डारो। के कोइ दुख देवो अरु मारो॥
वाकी कछू न मन मे लावै। उलटा उनको शीश नवावै॥
ऐसी क्षमा हिये मे लावो। बोलै शीतल अग्नि बुझावो॥

इन पंक्तियों मे क्षमा के अन्तर्गत सहनशीलता, मृदुभाषण, क्षोभ परित्याग तथा उदारता पर जोर दिया गया है।

धैर्य—

कवि ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धैर्य को आवश्यक माना है—[1]

छठा अंग धीरज का जानौ। धीरज ही हिरदय मे आनो॥
योग युक्ति धीरज सो कीजै। सब कारज धीरज सो लीजै॥
धीरज सो बैठे अरु डोलै। धीरज राखि समुझि कर बोल॥
आनि परे दुख ना अकुलावै। धीरज सो दृढता गहिलावै॥

धीरज रहा तौ सब रहा, काहू से न डराय।
सिह प्रेत अरु बालका, धीरज सो डर जाय॥

उद्धरण की पाचवी पंक्ति पढते ही मलिक मुहम्मद जायसी की "धीरज धरै तो उतरै पारा। नाही तो बूडै ससारा" उक्ति स्मरण हो आती है। योग के क्षेत्र मे धैर्य धारण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना गया है। दुःख को जीवन का क्षणिक परिवर्तन समझना चाहिए न कि दुःख आने ही जीवन भार स्वरूप प्रतीत होने लगे। इसी प्रकार कवि ने वार्तालाप तथा भाषण में भी धैर्य धारण करने पर जोर दिया है।

---

[1]. तुलना कीजिए गीता १८।३३–३५ में वर्णित धृति के लक्षण।

दया—

समस्त धर्मों का मूल दया है। इसका विकास सर्वप्रथम हृदय में होता है तदनन्तर कर्म और वाणी में प्रसार होता है—

दया सातवीं अब सुनि लीज। सब जीवन की रक्षा कीजे॥
लख चौरासी का सुखदाई। सबके हित को कहै बनाई॥
रहिये तन मन वचन दयाला। सबही सों निर्वैर कृपाला॥

आर्ज्जव—

आर्ज्जव के अन्तर्गत कवि ने कोमलता एवं दयालुता पर विशेष जोर दिया है। साधक को मनसा, वाचा, हृदय से तथा दृष्टि से कोमलता धारण करना चाहिये—

अठवैं करूँ आर्य्यवै खोलै। कोमल हृदय सो कोमल बोलै॥
सबको कोमल दृष्टि निहारै। कोमलता तन मन में धारै॥
कोमल धरती बीज बोवावै। बढ़ै बेगि फूलै फल लावै॥
ऐसे कोमल हिया बनावै। योग सिद्धि करि पद पहुँचावै॥

मिताहार—

शुद्ध, अल्प तथा पोषक भोजन करना ही मिताहार है। कवि के शब्दों में ही—

मिताहार जो नवें की, समझ लेहु मन माहि।
सतगुन भोजन खाइये, ऐसा वैसा नाहिं॥
खावै अन्न विचारिकै, खोटा खरा सभार।
जैसा ही मन होत है, तैसा करे अहार॥

सूक्षम चिकना हलका खावै। चौथा भाग छोड़ि कार पावै॥
वानप्रस्थ कै हो सन्यासै। भोजन सोलह ग्रास गिरासै॥
अरु गृहस्थ बत्तीस गिरासा। आवनीय न बहुत न श्वासा॥
ब्रह्मचारी भोजन करै इतना। बदनमाह बीरज रहै जितना॥

प्रस्तुत उद्धरण में कवि ने सन्यासी, वानप्रस्थी तथा गृहस्थ के लिये क्रमशः सोलह एवं बत्तीस ग्रास भोजन हितकर बताया है।

शौच—

शुद्धि दो प्रकार की होती है—आभ्यन्तरिक तथा वाह्य। सद्भावनाओं से आन्तरिक शुद्धि तथा मज्जन, स्नानादि से वाह्य शुद्धि होती है। इन्हीं दोनों प्रकार की शुद्धियों का उल्लेख कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है:—

दशवां शौच पवित्तर रहिये । कर दातौन हमेश नहइये ॥
जा शरीर मे होवै रोगा । रहै न तन जल छूवन योगा ।
तो तन माटी से शुधि कीजे । अब अंतर की शुधि सुन लीजे ॥
राग द्वेष हिरदय सो टारै । मन सों खोटे कर्म निवारै ॥

यम के पश्चात् साधक नियम की साधना करता है । जन्म के हेतु भूतकाम्य धर्म से निवृत्ति कराके मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में प्रेरणा कराने वाले तपादि नियम कहलाते हैं । कितने ही सिद्धों के मत में एकान्तवास, निःसंगता, औदासीन्य, यथा प्राप्ति में संतोष, विषय में नीरसता और गुरु के प्रति दृढ़ अनुराग द्वारा मनोवृत्ति को नियम में लाना नियम कहलाता है । 'पातंजल योग दर्शन' के अनुसार नियम के निम्नलिखित पांच भेद हैं :—

१ शौच २. सन्तोष ३ तप ४. स्वाध्याय ५. ईश्वर प्रणिधान ।[1]

शौच—

शारीरिक अन्तर्बाह्य शुद्धता, जिससे रोगादि का निवारण हो और आत्मा का प्रकाश प्रसारित हो सके, शौच है । बाह्य शौच सिद्ध हो जाने पर ग्लानि आदि से साधक मुक्त हो जाता है और आभ्यंतर शौच से सत्त्व की शुद्धि होती है ।

संतोष—

प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त अन्न-वस्त्रादि में तृप्ति रखना सन्तोष है । इससे तृष्णा का विलय हो जाता है ।

तप—

ऋतुओं तथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन करते हुए नियमित जीवन व्यतीत करना तप है ।

स्वाध्याय—

पठन, पाठन, श्रवण, मनन द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना स्वाध्याय है ।

ईश्वर प्रणिधान—

समस्त कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वर में समर्पित करके निष्काम हो जाना कर्मक्षेत्र में व्यक्तिगत प्रणिधान है । परन्तु समस्त शारीरिक, मानसिक व्यापारों को ईश्वर में समर्पित करके ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने के अनन्तर समाधिस्थ होना

---

1. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

पातंजल योग-दर्शन, साधन पाद २, सूत्र ३२

ईश्वर प्रणिधान है। 'हठयोग प्रदीपिका' में निम्नलिखित दश नियमो का उल्लेख हुआ है :—

तप : सतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धातवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम् ॥

चरनदास ने भी नियम के दश भेद माने है :—

१. तप २. संतोष ३. आस्तिक्य ४. दान ५. ईश्वरपूजा ६. सिद्धातश्रवण ७. लज्जा, ह्री ८. मति ६. जप १०. होम।

संत सुन्दरदास[1] तथा मलूक दास[2] ने भी अपने ग्रन्थों में नियम के दश भेदों का उल्लेख किया है। चरनदास उल्लिखित नियम के भेदो का 'हठयोग प्रदीपिका' कृत नियम के प्रकारो से पूरा साम्य है। अब यहाँ नियम के उन भेदो के विषय मे विचार कर लेना आवश्यक है।

तप—पहला तप इन्द्री वश कीजे। इनके स्वाद सभी तजि दीजै ॥
खाते पीते सोवत जागत। योगी इन्द्रिन को वश राखत ॥
तिनकू वश कर मन कू मारै। ऐसी विधि तपका अंगधारे ॥

ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि ने तप के अन्तर्गत इन्द्रिय-निग्रह तथा मनके दमन पर विशेष जोर दिया है।

सन्तोष—कवि के अनुसार हानि-लाभ, हर्ष-विषाद को एक ही भाव से देखना सन्तोष है।

दूजा अंग कहू सन्तोषा। हानि भये नहि माने शोका ॥
लाभ भये नाहीं हरषावै। ऐसी समुझ हिये में लावै ॥
परारब्ध तन हीय सु होई। संकलप विकलप रखै न कोई ॥

---

[1]. तप संतोष हि ग्रहै बुद्धि आस्तिक्य सु आनय।
दान संमुक्ति करि देइ मानसी पूजा ठानय ॥
वचन सिद्धांत सु सुनय लाज मति दृढ़ करि राषय।
जाय करय मुख मौन तहाँ लग वचन न भाषय ॥
पुनि होम करै इहि विधि तहाँ जैसी विधि सद्गुरु कहै।
ये दश प्रकार के नियम है भाग्य बिना कैसे लहै ॥

ज्ञानसमुद्र, तृतीयोल्लास

[2]. ईश्वर पूजा आस्तीक जप सन्तोष तप दान।
चहव कर्म सुभ असुभ होम अरु सुनिवो ज्ञान ॥

आस्तिक्य—तीजा आस्तिक अग है, जाको सुनो विचार ॥
समझ समझ मन मे धरो, ताको गहो ससार ॥

शास्त्र सुने परतीत जो कीजे। सत्तब्रह्म निश्चय करि लीजे ॥
बुध निश्चय आतम के मांही। जगत साच करि मानै नाहीं ॥

दान—चौथा दान अग विधि होई। पात्र कुपात्र विचारे सोई ॥
एक दान उपदेश जु दीजै। भव सागर सों पार करीजै ॥
दूजा दान अन्न अरु पानी। दीजै कीजै बहु सनमानी ॥
और पराये दुख की बूझै। सुख दानी परमारथ सूझै ॥

परम्परा से वस्त्र, धन, दान, अन्न आदि का दान प्रसिद्ध रहा है। परन्तु कवि ने यहा अन्न और पानी के दान के अतिरिक्त उपदेश दान को भी महत्त्व प्रदान किया है।

पूजा—पूजा अर्चना निष्काम होकर करनी चाहिए—

पंचम ईश्वर पूजा करिये। तन मन बुद्धि जहा लै धरिये ॥
ह्वै निष्काम तजै सब आसा। सेवा करै होय निजदासा ॥

पान फूल जु भाव सा, सह सुगध करि धूप।
शुकदेव कहै यों कीजिए, पूजा अधिक अनूप ॥

सिद्धांत-श्रवण—साधक को शास्त्रवचन एवं धर्म के सिद्धांतों को सुनना चाहिए। सिद्धांत-श्रवण से मनुष्य को सद्-असद् का विवेक होता है। उसे हंस की-सी मति प्राप्त होती है :—

छठे सिद्धांत श्रवण सुन बानी। करि विचार गहिये मन मानी ॥
सार असार विचार जु कीजै। पानी को तजि पय को पीजै ॥
अरु सतगुरु सो निश्चय करिये। परगिव सभारि हिये में धरिये ॥
करणी करै तिन्हो से मिलना। वचन अयोगी के नहि सुनना ॥

लज्जा (ह्री)—लज्जा साधक का आवश्यक गुण है। लज्जा का लक्षण निम्नलिखित है :—

सतधा यही जु कहिये लाजा। सो वह सकल सवारन काजा ॥
साधु गुरू से लाज करीजै। तन मन डोलन नाही दीजै ॥
कर्म विपर्यय सब परिहरिये। हिय आखिन मे लज्जा भरिये ॥
शुकदेव कहै सुनि चरणहिदासा। लज्जा भवन माहि करि वासा ॥

कुटुम्ब मित्र जग लोग ही, सबसूं कीजै लाज।
बडी लाज हरि सूं करो, नीके सुधरै काज ॥

मति—सुख-दुख, मानापमान, प्रशसा-आलोचना से विमुख रहना, स्वर्गादि की कामना करना, प्रलोभनो मे न पडना—यही निश्चल मति के लक्षण हे।

अष्टम हूँ मति दृढ जो कहिये। सो विशेष साध कू चहिये ॥
शुभ करमन की इच्छा करनी। हो न सकै तौभी हिय धरनी ॥
बहकै ना काहू बहकाये। कैसेहू नहि हले हलाये ॥
जग सुख देखि न मन मे आनै। स्वर्ग आदि सुख तुच्छहि जानै ॥
कोइ अस्तुति आदर करि लेवै। कोइ कुभाव करि गाली देवै ॥
दोनो मे निश्चल रहै जोई। शुकदेव कहै दृढ मति है सोई ॥

जप—जप का परिचय एवं लक्षण निम्नलिखित है :—

नवयें जाप करै गहिं मौना। मन जिह्वा सू कीजै जोना ॥
होय सकै मन पवन गहीजै। गुरूमन्तर जप तामे कीजै ॥

हरिगुरु की अस्तुति पढै, सो भी कहिये जाप।
शुकदेव कहै रणजीत सुनि, त्रैविधि नाशै ताप ॥

होम—कवि के अनुसार होम दो प्रकार के हैं। प्रथम है माकल्ययज्ञ एवं द्वितीय ज्ञानयज्ञ। ज्ञानयज्ञ का उल्लेख उपनिषदों एवं गीता मे भी मिलता है।[1]

दशवें समझौ होम ही, कीजै दोय प्रकार।
अगन माहि माकिल्ल कूं, वेद कहै ज्यो डार ॥
दूजे पावक ज्ञान की, तामे इन्द्री होम।
वाकू परगट भूमि है, याकू हिरदा भौम ॥

आसन

यम एव नियम की साधना के अनन्तर आसन की साधना अपेक्षित होती है। हठयोग की साधना में आसन की साधना तीसरी मजिल है। महर्षि पतंजलि के शब्दो में :—

"स्थिरसुखमासनम्"—

'पातजल योग-सूत्र', साधना पाद २, सूत्र ४६

अर्थात् "निश्चल होकर एक ही स्थिति मे चिरकाल तक बैठने का अभ्यास ही आसन है।" शरीर को सीधा एव स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जाने के अनन्तर

१. देखिये, गीता अध्याय ४।१६, २३ तथा ३२

शरीर विषयक समस्त चेष्टाओं का परित्याग कर देना ही प्रयत्न शैथिल्य है। इस साधन से एव परब्रह्म में मन नियोजित करने से आसन की सिद्धि होती है।[1] आसन सिद्धि अधिक से अधिक ४ घटा ४८ मिनट तक एक ही स्थिति मे बैठने पर तथा कम से कम ३ घंटा ३६ मिनट अभ्यास करने पर होती है। आसन सिद्धि हो जाने के अनन्तर साधक का शरीर शीतोष्णादिक द्वन्द्वों से प्रभावित नही होता है। शरीर मे सब प्रकार की पीड़ा सहने की शक्ति का विकास हो जाता है। अन्त में ये द्वन्द्व चित्त को चचल बनाकर साधना मे विघ्न नही डालते है।[2] शिवसहिता मे चौरासी आसनो का उल्लेख हुआ है।[3] इनमे से प्रमुख आसन हैं—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन एव स्वस्ति आसन। प्रत्येक आसन शरीर को निरोग एव शक्तियुक्त बनाता है तथा आसनसिद्ध साधक का हृदय सदैव ब्रह्मकी आराधना मे सलग्न रहता है। घेरड ऋषि के अनुसार ससार में जितने जीवजन्तु हैं उतने ही आसन हैं। सर्वप्रथम देव-शकर ने चौरासी लक्ष आसन बताये हैं। उनमें ८४ आसन श्रेष्ठ है। मनुष्य लोक मे उन ८४ आसनो मे बत्तीस ही मगल प्रद हैं।[4] ये बत्तीस आसन निम्नलिखित हैं :-

सिद्ध पद्म तथा भद्र मुक्तं वज्र च स्वस्तिकम्।
सिंह च गोमुख वीर धनुरासनमेव च॥
मृत गुप्त तथा मत्स्य मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्ष पश्चिमोत्तान उत्कट संकट तथा॥
मयूरं कुक्कुट कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमडुकं वृक्ष मंडक गरुडं वृषम्॥
शलभ मकरं उष्ट्र भुजग योगमासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके च सिद्धिदम्॥

घे० सं०, द्वितीयोपदेशः ३ – ६

---

1. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। पा०यो० द०, साधन पाद २, सूत्र ४६
2. ततो द्वन्द्वानभिघातः। वही, सूत्र ४८
3. चतुरशीत्यासनानि सति नानाविधानि च। शिवसहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४
4. आसनानि समस्तानि यावतोजीवजन्तवः।
   चतुरशीतिं लक्षाणि शिवेन कथित पुरा॥
   तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोन शत कृतम्।
   तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्॥
   घेरंड सहिता, द्वितीयोपदेशः, १ तथा २

चरनदास के अनुसार योग का आधार आसन है। आसनों के दृढ़ हो जाने पर ही योग की सिद्धि हो जाती है। आसन चौरासी लक्ष है परन्तु इनमे चौरासी आसन साधना के लिए विशेष उपयोगी हैं। इन चौरासी आसनो मे दो योग साधना के लिए विशेष उपयोगी हैं—ये हैं सिद्ध आसन तथा पद्मासन। इनकी साधना से समस्त रोग, विकार, ताप आदि विनष्ट हो जाते हैं। ये ध्यान समाधि की साधना मे विशेष सहायक एवं उपयोगी होते है।[1] सत सुन्दरदास ने इन्ही दोनो आसनो को अष्टांगयोग साधना के लिए विशेष उपयोगी माना है।[2] 'गोरक्ष पद्धति' में भी सिद्धासन एव पद्मासन को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है।

> आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
> एक सिद्धासन प्रोक्त द्वितीय कमलासनम् ॥१०॥

'हठयोग प्रदीपिका' में उपर्युक्त इन दोनों आसनो को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। सिद्धासन, के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि 'नासन सिद्धसदृशं'। 'हठयोग प्रदीपिका' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है :—

> सिद्ध पद्म तथा सिंह भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
> श्रेष्ठ तत्रापि च सुखे तिष्ठे सिद्धासने सदा ॥

इसी प्रकार दूसरे शास्त्रो में भी इन दोनो आसनों की महत्ता का उल्लेख मिलता है।[3]

अब सिद्धासन एवं पद्मासन की पृथक्-पृथक् विवेचना करना अपेक्षित है। उभय आसनों में सिद्धासन प्रथम है।

---

१. चौरासी लख आसन जानौ। योनिन की बैठक पहिचानौं ॥
तिनमें चौरासी चुगलीन्हें। दुरलभ भेद सुगम सो कीन्हें ॥
सो तुमकूं पहिले बतलाये। तिनकूं साधौगे चितलाये ॥
तिनमें दोय अधिक परधानै। तिनकूं सब योगेश्वर जानै ॥
आसन सिद्धपद्म कहलावै। इनकू करि निश्चय ठहरावै ॥
अरु आसन सब रोग भजावै। ये दो आसन योग सधावै ॥
इनकूं साधै जो जन कोई। ध्यान समाधि लगावै सोई ॥

२. चतुरासी आसननि में, सारभूत द्वै जानि ॥
सिद्धासन पद्मासनहिं, नीके कह्यौ बखानि ॥

३. चतुरशीत्यासनानि संति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥
सिद्धासन पद्मासन चोग्रक चैव स्वस्तिकम् ।........

घेरंड ऋषि के अनुसार सिद्धासन का परिचय निम्नलिखित है :—

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटिक सम्पीड्यगुल्फेरतम् ।
मेढ्रे स प्रणिधायत तु चिबुक कृत्वा हृदि स्थापिनम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरम् ।
मोक्ष चैव विधीयते फलकर सिद्धासनम् प्रोच्यते ॥[१]

अर्थात् "जितेन्द्रिय साधक पैर की एडी को योनि स्थान अडकोश एव गुदा के मध्य में भिडावे तथा दूसरी एडी को लिंग के ऊपर रख कर ठोढी को हृदय मे लगावे, फिर स्थिर और सीधा रह कर अचल दृष्टि से दोनो भौ के मध्य स्थान को देखे। इसे सिद्धासन कहते है। इसके अभ्यास से साधक को मोक्ष प्राप्त होता है।" 'तत्रातर' मे उल्लेख किया गया है कि योगज्ञ साधक एक पैर की एडी से यत्नपूर्वक योनिस्थान को दबाये तथा दूसरे पैर की एडी को लिग के ऊपर रख कर ऊपर को दोनो भौ के मध्य स्थान को देखे। इस समय उद्वेग शून्य, नियतेन्द्रिय तथा सरल देह होकर विचरण करे, इसी का नाम सिद्धासन है।[२] सिद्धासन के अभ्यास से शीघ्र ही सिद्धि मिलती है। यह मोक्षप्रद आसन है। पवनाभ्यासी को इसका आश्रय लेना चाहिए[३]। सत चरनदास ने सिद्धासन का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है :—

दूजा आसन सिद्ध जु कीजै। बावा पांव गुदा ढिग लीजै ॥
दाहिन पाव लिग पर आवै। दृष्टि सु भृकुटी पै ठहरावै ॥
अचरज जहां अधिक दरशावै। खुले कपाट मोक्ष गति पावै ॥
आसन साधि व्याधि परिहरै। भूख नीद जो पै वश करै ॥

---

१. घेरंड सहिता, द्वितीयोपदेशः, श्लोक ७

२. योनि सपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरि पादमूल विन्यसेद्योगवित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्य निश्चलो नियतेन्द्रियः ।
विशेदवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ॥
एतत् सिद्धासन प्रोक्त सिद्धाना च शुभप्रदम् ॥
शि० सं०, तृतीय पटल १०७

३. येनाभ्यासवशाच्छीघ्र योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं तदा सेव्य पवनाभ्यासिभिः परम् ॥
येन ससारमुत्सृज्य लभ्यते परमागतिः ।
नातः परतरं गुह्यमासन विद्यते भुवि ॥

एड़ी पावै पांव की, सीवन मध्ये राख ।
लिंग गुदा के मध्य में, मूल बोलिये साख ।।
सयम सूं इन्द्री गहै, राखै सरल शरीर ।
दृष्ठि उठा भृकुटी धरै, मिटै जु दोनों पीर ।।
दहिनी लावै लिंग पर, भाग बराबर राखि ।
बारी बारी कीजियै, शुकदेवा कहै भाखि ।।

कवि द्वारा वर्णित सिद्धासन के वर्ण्य-विषय का 'घेरड सहिता' तथा 'शिव सहिता' द्वारा प्रतिपादित विषय से पूर्ण साम्य है। कवि द्वारा वर्णित विषय परम्परा-गत है।

चरनदास ने सिद्धासन के अनन्तर पद्मासन का वर्णन किया है। पद्मासन का वर्णन 'घेरड सहिता' मे निम्नलिखित शब्दो म हुआ है :—

वामोरूपरि दक्षिण हि चरण सस्थाप्य वाम तथा ।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्या दृढम् ।।
अगुष्ठे हृदय निधाय चिबुक नासाग्रमालोकयेत् ।
एतद्व्याधिनाशकारणपर पद्मासन चोच्यते ।।[1]

अर्थात् दाहिना चरण बाये जघा पर तथा बाम चरण दक्षिण जघा पर रख कर हाथो को पीठ की ओर ले जाकर दाये हाथ से बाये पैर का अगूठा और बाये हाथ से दक्षिण पर का अगूठा दृढता से पकड़ कर ठोढी को हृदय पर रख कर नासिका के अग्रभाग को देखता रहे, इस आसन का नाम है पद्मासन। पद्मासन का अभ्यास करने से समस्त रोगो का विनाश हो जाता है तथा साधक समस्त, तापो से उन्मुक्त होकर ससार मे परमहस के रूप म विचरण करता है। 'शिव सहिता' के अनुसार उभय चरणो को उत्तान करके यत्नपूर्वक ऊरू (जघा) पर रखे, उसी प्रकार उभय हाथो को सीधा करके ऊरू के मध्य मे रखे तथा नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि तथा दाँत के मूल मे जिह्वा स्थित करे तथा वक्ष अर्थात् हृदयस्थान में चिबुक स्थापन करे और अपानवायु को उठा के प्राण शनैः-शनैः रेचक करे। इसको पद्मासन कहते हैं। यह आसन समस्त व्याधियो का विनाशक है और बुद्धिमान् साधको द्वारा प्राप्त होता है।[2] उपर्युक्त अनुष्ठान करने से उसी समय प्राण सम होके सुषुम्णा मे प्रवेश करेगा।

---

1. घेरंड संहिता, द्वितीयोपदेशः ७ तथा ८

2. उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरूसस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरूमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ।।
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूल च जिह्वायाः ।।

इसके अभ्यास से साधक का वायु सम हो जाता है।[1] पद्मासन स्थित योगी प्राण, अपान के विधान से वायु पूर्ण करता है और वह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।[2] चरनदास ने पद्मासन की प्रक्रिया का वर्णन 'शिव संहिता' के समान विस्तार के साथ नहीं किया है। परन्तु कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का वर्ण्य-विषय बहुत कुछ 'घेरंड संहिता' से साम्य रखता है। कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का परिचय निम्नलिखित है :—

पहिले आसन पदम बताऊ। ज्यो की त्यो मूरति दिखलाऊ ॥
पहिले बॉवा पॉव उठावै। दहिनी जंघा ऊपर लावै ॥
दहिना पॉव फेरि यों लावै। बॉवी साथल ऊपर राखै ॥
बॉवर कर पीछे सो लावै। बाम अगूठा गहितन लावै ॥
ऐसे हाथ दाहिना लावै। दहिन अगूठा पकड दृढ़ावै ॥
ग्रीवालटक चिबुक हिये आवै। नासा आगे दीठि लगावै ॥
दिव्य दृष्टि हो कौतुक दरशै। कहै शुकदेव अभै पद परशै ॥

कै हिरदै राखै चिबुक, कै सम राखै देह ।
कै घौटों दोउ हाथ रखि, कै अगुठा रखि लेह ॥

कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का यह विषय 'घेरंड संहिता' के आधार पर लिखित प्रतीत होता है।

उत्तोल्य चिबुक वक्षे उत्थाप्य पवनं शनैः ।
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
यथाशक्त्यवपश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ।
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमतालभ्यते परम् ।

शि० सं०, तृतीय पटल १०५-१०८

1. अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥

वही, १०६

2. पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

वही, ११०

प्राणायाम

हठयोग में आसन सिद्ध हो जाने के अनन्तर प्राणायाम की साधना का विधान है। महर्षि पातंजल के शब्दो मे :—

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः"
'पातजल योग दर्शन'—साधन पाद २, सूत्र ४९

अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने के अनन्तर श्वास एव प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास म प्रकाश व ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है और तभी साधक का ज्ञान स्वतः सूर्य के समान प्रकाशित हो जाता है।

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'
'पा० यो० द०'—साधनपाद २, सूत्र ५२

प्राणायाम की साधना से मन मे धारणा की योग्यता आ जाती है अर्थात् उसे अपेक्षित समय एव स्थान पर स्थिर किया जा सकता है :—

"धारणासु च योग्यता मनसः"
'पा० यो० द०'—साधन पाद २, सूत्र ५३

'बोधसार' के मतानुसार प्राणायाम ही मन को स्वाधीन करने का सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न अस्त्र है :—

"प्राणद्वारा मनः साध्य मत हि हठयोगिनाम् ।
मनसैव मनः साध्यमिति विज्ञानयोगिनाम् ॥"
'बोध सार'—पृष्ठ १८९ श्लोक ७

प्राणायाम की साधना से मन तो नियन्त्रित होता ही है परन्तु साथ ही जिस प्रकार धातुओं को अग्नि मे तपाने से उनका मैल विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणों को अवरुद्ध करने से इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं। मनु के अनुसार :—

"दह्यन्ते ध्यानमानानां धातूना हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणाम् दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य सञ्चयात् ॥"

मल से भरी हुई नाड़ियो मे पवन भलीभांति प्रवाहित नहीं हो पाता है फिर प्राणायाम की साधना किस प्रकार हो सकती है और तत्वज्ञान की उपलब्धि कैसे

सभव है । अनएव साधक सर्वप्रथम नाडी शोधन कर ले तदनन्तर प्राणायाम का अभ्यास करे ।[1]

प्राणायाम के श्वास-प्रश्वासादि की वायु के निम्नांकित तीन भेद माने गए है :—

१. पूरक—अपान वायु को नासिका द्वारा भरने की क्रिया ।

२. कुम्भक—भरी हुई वायु को यथा साध्य रोकने की क्रिया ।

३. रेचक—भरी हुई वायु को नासिका द्वारा शनैः शनैः निकालने की क्रिया ।

'शिव सहिता' के अनुसार दाहिने हाथ से पिंगला को रोक करके, इडा से वायु पूरक करे अर्थात् ग्राह्य कर तथा यथाशक्ति वायु को अवरुद्ध करे । तदनन्तर पिंगला से शनैः शनैः रेचक करे । इसी प्रकार पुनः पिंगला से पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक के और फिर इडा से शनैः शनैः रेचक करे । इस योग विधान से बीस कुम्भक करे तथा सर्वद्वन्द्वों से मुक्त होकर एकाकार वृत्ति धारण करे ।

ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगला सुधीः ।
इडया पूरयेद्वायु यथाशक्ति तु कुम्भयेत् ॥
ततस्त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिंगलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत् ॥
इडया रेचयेद्वायु न वेगेन शनैः शनैः ।
इद योगविधानेन कुर्याद्विंशति कुम्भकान् ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यह विगतालसः ॥

'शि० स०'—तृतीय पटल २४—२६

चरनदास विरचित निम्नलिखित पंक्तियों मे प्राणायाम की उसी विधि का प्रतिपादन हुआ है जो 'शिव सहिता' की उपर्युक्त पंक्तियो मे उपदिष्ट है :—

बाये खैंचना पूरक जानौ । ठहरावन को कुम्भक जानौ ।
फेरि उतारै रेचक सोई । प्राणायाम कहावै सोई ॥

इडा पवन पूरक करै, कुम्भक राखै रोक ।
रेचक पिंगल सों करै, मिटै पाप के थोक ॥

---

१. मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति ।
प्राणायामः कथ सिद्धस्तत्त्वज्ञान कथ भवेत् ।
तस्मादादौ नाडीशुद्धि प्राणायाम ततोऽभ्यसेत् ॥

घे० स०—पञ्चमोपदेशः, ३४

समस्त प्राणायाम में मात्राओं का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। इन मात्राओं के विषय में कवि का निम्नलिखित कथन विशेष रूप से पठनीय होगा —

पिंगल रोकै पवन न जावै। इडा और सो वायु चढावै॥
कुम्भक करि हिय चिबुक लगावै। जित का तित मन को ठहरावै॥
सोलह मात्रा पूरक लीजै। चौसठ कुम्भक में जप कीजै॥
रेचक फिरि बत्तीस उतारे। धीरे धीरे नाहि निवारै॥
पहिल पहिल ही कीजै आवे। तीनि महीने ऐसे साधे॥
यासे आगे फरि बढ़ावै। होय आठ अरु चारि चढावै॥
बढ़त बढ़त ऐसे ही बढ़ै। योही चौसठि ताही चढ़ै॥
इडा वायु सो पूरक कीजै। पिंगला सो रेचक तजि दीजै॥
फिरि पिंगल सो पूरक धारै। बहुरि इडा ही सो निरवारै॥
ऐसे वारी वारी करिये। जीते प्राण वायु अघ हरिये॥
होय सकै कुम्भक सरकावे। चौसठि से भी परै बढावै॥

कवि द्वारा वर्णित प्राणायाम की मात्राओं का स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिका से होगा :—

	पूरक की मात्रा	कुम्भक की मात्रा	रेचक की मात्रा
निकृष्ट प्राणायाम में	४	१६	८[1]
मध्यम प्राणायाम मे	८	३२	१६
उत्तम प्राणायाम मे	१६	६४	३२

प्राणायाम की इस वैज्ञानिक साधना में कुण्डलिनी महाशक्ति जागरित होती है।

नाड़ी एवं षट्चक्र

प्राणायाम के अभ्यास एवं सतत साधना से शरीरस्थ नाड़ियाँ सक्रिय एवं चक्र उत्तेजित हो जाते हैं। प्राणायाम का सर्व प्रथम शरीर पर पड़ने वाला महत्व-पूर्ण प्रभाव है, नाड़ियों का विशुद्धीकरण। इन चक्रो एवं नाड़ियो मे उत्तेजना एवं नव जीवन का समावेश हो जाने के अनन्तर साधक मे यौगिक-शक्तियो का विकाश शनैः-शनैः होता है।

---

१. मात्रा के काल का निर्णय ॐ अथवा गणना द्वारा किया जा सकता है।

शिव सहिता के अनुसार मानव शरीर मे ३,५०,००० नाडियाँ है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार इन नाडिया की सख्या ७,२०,००० है।

"द्वासप्तति सहस्राणि द्वाराणि पजरे"

'ह० यो० प्र०'—उप० ४ श्लोक १८

चरनदास ने इन नाडियो की सख्या ७२८६४ मानी है जैसा कि निम्नलिखित पक्तियो से स्पष्ट है :—

बहत्तर हजार आठ सौ चौसठ नारी।
सब की जड़ है नाभि मझारी॥

परन्तु

तिनमेंह दश नाडी शिरमौरी। पच बायें पच दाहिनी ओरी॥
दश नाड़ी अस्थान बताऊँ। ठौर ठौर तेहि कहि समझाऊँ॥

चरनदास ने शरीर मे दश नाड़ियों को प्रधानता दी है।[1] इन मे से पाँच शरीर के दाहिनी ओर है और पाँच बाई ओर। इन दश नाड़ियों के स्थान (ठौर) निम्न लिखित हैं :—

संख्या	नाड़ियाँ	शरीरस्थ स्थान
१	शखिनी	गुदा में
२.	किरकल	लिग मे
३.	पोषा	दाहिने कान में
४.	जसनी। यशस्विनी।	बाये कान मे
५.	गधारी	बांये नेत्र मे
६.	हस्तिनी	दाहिने नेत्र मे
७.	लम्बका	जिह्वा मे
८.	पिंगला	शरीर के दाहिनी ओर
९.	इडा	शरीर के बाई ओर

१. सुन्दरदास ने भी ३५०,००० या ७२०,००० नाड़ियो में दश को प्रमुख माना है—

नाडी कही अनेक विधि, है दश मुख्य विचार।
इडा पिंगला सुषुमना, सब मति ये त्रय सार॥

देखिए, मेरे ग्रन्थ "सुन्दर दर्शन" मे प्राणायाम प्रकरण।

१०. सुषुम्णा शरीर के मध्य में ।[1]

उपर्युक्त दश नाड़ियों में कवि ने निम्नलिखित तीन को प्रधान माना है। कवि ने इन तीन नाड़ियों को ब्रह्म नाडी कहा है :—

१. इडा २. पिंगला ३ सुषुम्णा ।

इन प्रमुखतम तीन नाड़ियों की विस्तृत विवेचना अपेक्षित है। 'शिव संहिता' के अनुसार मानव शरीर में इडा नाडी मेरुदंड की बाईं ओर रहती है तथा सुषुम्णा से लिपटती हुई नाक के दक्षिण ओर जाती है।[2] पिंगला नाड़ी की स्थिति मेरुदंड के दक्षिण की ओर है और यह सुषुम्णा से लिपटती हुई नासिका के वाम ओर जाती है।[3] इन उभय नाड़ियों के मध्य सुषुम्णा नाड़ी की स्थिति है। इन नाड़ी की ६ स्थितियां है, ६ शक्तियां है तथा उसमें षट् कमल है।[4] सुषुम्णा, नाभि-प्रदेश से

---

१. नाडी शंखिनी गुदा में किरकल लिंग स्थान।
पोषा सरवन दाहिने जसनी बाये कान॥
गधारी दग बामही हस्तिनी दाहने नैन।
नारि लम्बका जीभ में सब सवाद सुख दैन॥
नासा दहिने अंग है पिंगल सूरज वास।
इडा सु बायें ओर है जह ससियर परकास॥
दोऊ मध्य में सुषमना अद्भुत वाको भेव।
ब्रह्म नाडि हू कहत है यो कह सो शुकदेव॥

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार प्रमुख दश नाडियाँ है :—इडा (शरीर की बाई ओर), पिंगला (शरीर के दाहिनी ओर), सुषुम्णा (शरीर के मध्यस्थ), गंधारी (बांई आँख में), हस्त जिह्वा (दाहिनी आँख में), पुष्प (दाहिने कान में), यशस्विनी (बांये कान में), अलमबुश (मुख में), कुहू (लिंग स्थान में) तथा शंखिनी (मूल स्थान में)।

२. इडा नाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्ष नासापुटे गता॥
शि० सं०—द्वितीय पटल, श्लोक २५

३. पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
मध्यनाडी समाश्लिष्य वामनासापुटे गता॥
शि० सं०—द्वितीय पटल, श्लोक २६

४. इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
षट् स्थानेषु च षट् शक्ति षट्पद्म योगिनोविदुः॥
शि० सं०—द्वितीय पटल, श्लोक २७

ि सृत होकर मेरुदण्ड से होती हुई ब्रह्म-चक्र में प्रवेश करती है। कंठ के समीप आने पर इसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग त्रिकुटी में जाकर ब्रह्मरन्ध्र से मिल जाता है और द्वितीय भाग शिर के पृष्ठ भाग से आता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाता है। साधक का इस द्वितीय भाग की शक्ति को जटाना आवश्यक होता है। इन तीनों नाडियों में सुषुम्णा ही योगियों को सिद्धि प्रदान कराती है। चरनदास के शब्दों में अब सुषुम्णा का महत्व पठनीय होगा :—

इडा ब्रह्मा जमुना जहाँ, सुषमन विष्णु निवास।
और सरस्वति जानिये, ये हो चरणहि दास ॥
शिव पिंगल गंगा सहित, सो वह दहिने अंग।
तिरवेणी याते भई, मिली जु तीनों संग ॥
कबहु इडा स्वर चलत है, कबहू पिंगल माहिं।
मध्य सुषमना बहत है, गुरु बिन जानै नाहिं ॥
सो वह अग्नि स्वरूप है, बड़ी योग सरदार।
याही ते कारज सरे, ऐसी सुषमन नार ॥

ये तीनों नाडियाँ प्राणायाम की साधना में विशेष सहायक होती हैं। सुषुम्णा की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसी की साधना एवं प्रयत्न से महा शक्ति कुंडलिनी जाग्रत होती है और जाग्रत होने के अनन्तर वह सहस्रारचक्र में प्रविष्ट होती है। चरनदास जी के मतानुसार इन तीनों नाडियों की सहायता से साधक प्राणायाम के तीन विशेष अंगों पूरक, कुम्भक एवं रेचक को धारण कर सकता है। जब इडा एवं पिंगला प्राणायाम की साधना करते थक जाती हैं अथवा कार्य पूरा कर देती है तो सुषुम्णा सक्रिय एवं गतिमान् बनती है और प्राणायाम की शेष साधना को सम्पन्न करती है। प्राणायाम की समस्त क्रिया वायु को खींचने (पूरक करने), रोकने (कुम्भक करने) तथा विसर्जित (रेचक करने) करने में सीमित है। इस पूरक और रेचक की क्रिया को क्रमशः इडा और पिंगला नाडियाँ सम्पन्न करती हैं।[1]

सुषुम्णा नाडी के अधोभाग में एक सर्पाकार दिव्य शक्ति निवास करती है

---

१. इनसा प्राणायाम करीजै। पूरक कुम्भक रेचक ही जै ॥
इडा पिंगला मारग थकै। उलटि सुषमना चालन लगै ॥
बायें खैचना पूरक जानौ। ठहरावन को कुम्भक मानौ ॥
फेरि उतारे रेचक बोई। प्राणायाम कहावै सोई ॥
इडा पवन पूरक करै, कुम्भक राखै रोक।
रेचक पिंगल सों करै, मिटै पाप के थोक ॥

जिसे योग शास्त्रियों ने कुंडलिनी कहा है। शिव संहिता में इस कुंडलिनी महाशक्ति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता।
सार्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता॥

शि० सं०—द्वितीय पटल, श्लोक २३

कुंडलिनी के स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, स्थिति एवं महत्व के विषय में 'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं :—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीव पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत्॥
उद्घाटयेत्कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुंडलिन्याप्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः ४९-५१

अर्थात् परमदेवता कुंडलिनी शक्ति साढे तीन लपट वाली सर्पिणी के समान मूलाधार कमल में सोई हुई पड़ी है। जब तक यह कुंडलिनी शक्ति सुप्तावस्था में रहेगी तब तक करोड़ों योगाभ्यास करने पर भी जीव को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है और तब तक यह जीव पशुवत् अज्ञान से परिवेष्ठित रहेगा। यथा ताली से ताला खोल कर द्वार को हठात् खोला जा सकता है, उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करके ब्रह्म द्वार को उद्घाटित किया जा सकता है। इस प्रकार जीव को ज्ञान का संचार होता है। चरनदास के शब्दों में कुंडलिनी का परिचय निम्नलिखित है :—

ब्रह्म नाडिका के छिद्र माही। रोकि रही मुख दे रही छाही॥
लाय लपेटै नाभी ठाही। दृढ ह्वै बैठी सरकै नाही॥
सवा बिलस्त की जाकी देही। तामें अस्थित जीव सनेही॥
शक्तिनागिनी यही जु कहिये। याके भेद गुरू सो लहिये॥
महा अपरबल जागै नाही। ताते नर सब मरि मरि जाहीं॥
कोइ इक योगी ताहि डुलावै। सुषमन बाट गगन लै जावै॥
ब्रह्म रन्ध्र में जाय समावै। लगै समाधि बहुत सुख पावै॥
जो कछु होय सो कहा न जावै। चरण दास शुकदेव सुनावै॥

शिव शक्ति में लाभ वय, रहै न द्वितीया भाव।
कुंडलिनी परबोध का, जो कोइ करै उपाव।।

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि सुषुम्णा नाड़ी के निम्न मुख मे कुंडलिनी का निवास स्थान है। प्राणायाम के अभ्यास से जाग्रत होकर यह दिव्य शक्ति सुषुम्णा के सहारे आगे बढ़ती है और विभिन्न चक्रों (सुषुम्णा के अंगा) से होती हुई कुंडलिनी ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। कुंडलिनी की गति के साथ-साथ मन को भिन्न-भिन्न शक्तिया प्राप्त होती चलती है और सहस्र दल कमल मे प्रविष्ट हो जाने के अनन्तर साधक मन और शरीर से पूर्णतया अलग हो जाता है। कुंडलिनी के निवास स्थान एवं शक्तिमत्ता का वर्णन अब कवि के शब्दों मे सुनिये :—

नाभि स्थान नागिनि रहै, कुंडल शशी अकार।
प्राण पियारा वही है, आगे सुनौ विचार।।
कुंभक कर्म्म कोई करै, देवै शक्ति जगाय।
जैसे लागी लष्टिका नागन शीश उठाय।।

सीखी गुरु सों कुम्भक साधै। नीकी विधि ताको अवराधै।।
पवन ठवकलग ताहि जगावै। तब ऊरध को शीश उठावै।।
नाभि ठौर ताका है बासा। पद्म पराग मणि ज्यो परकासा।।
सात लपेट वाई जानौ। ताते शुक्र कुंडली मानौ।।
नाड़ी सहस लगी हैं वाको। सो पर छुटी जानिको ताको।।
जिनमें तीन नारि अधिकाई। इड़ा पिंगला सुषमन गाई।।
तिनके माहिं शिरोमणि सुषमन। नाल कमल जानत योगी जन।।
जाय पहुँचि ब्रह्मरधर ताही। ऊरध कमल सातवे माहीं।।
आवन जो न पवन की बाटा। सकत चढन ऊरध का घाटा।।

नागिनि सूक्ष्म जानिये, बाल सहस वा भाग।
शुकदेव कहैं अकारही, रक्त बरण ज्यों नाग।।
कुंभक हो अत्यन्त जब, तब ऊरध को जाय।
ब्रह्मरन्ध्र मे आयकर, घड़ी दोय ठहराय।।
अमृत का करि पान ही, पूरण हो अभ्यास।
उड़ते देखै सिद्धि तब, वाको माहि अकास।।

कुडलिनी प्रबुद्ध हो जाने के अनन्तर साधक को अनेक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।[1]

कुडलिनी के प्रबुद्ध होने की रीति को अधिक स्पष्ट एव बोधगम्य बनाने के हेतु विभिन्न प्राणो का ज्ञान परम आवश्यक है। इन प्राणो को वायु भी कहते हैं। इसी तत्व के आधार पर हमारे शरीर का जीवन निर्भर है। वायु दश प्रकार की मानी गई है—पच शरीरस्थ एव पच बाह्य। घेरड सहिता के अनुसार प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान—ये पच वायु अन्तःस्थ हैं तथा नाग कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनजय ये पच बहिःस्थ हैं।[2] इनकी स्थिति निम्न लिखित है :—[3]

---

१. पर देखत है नैन बिना ही। चहै करै लीला उन माहीं ॥
खेचर मिलि खेचर है जावै। यह भी शक्ति उडन की पावै ॥
अधिकी ठहरै लगै समाधा। यह तौ कहिए खेल अगाधा ॥
शिवशक्ती जह मेला होई। होय लीन मन उनमन सोई ॥
योग युक्ति करि याको पावै। परासक्त अपने बल लावै ॥
चाहै अर्ध ठौर लै आवै। जब चाहै ऊरध लै जावै ॥
कबहू हिरदय के मधि आनै। याही को आपन पौ जानै ॥
इच्छा करै सिद्धि की जैसी। होय प्राप्ति सो वेगिहि तैसी ॥
चहै अस्थूल सूक्ष्म तन धारू। वैसा ही होय जाय सवारू ॥
कुंडलिनी परकाश ही, भौरा एक अनूप।
ओउ प्रकाशत है तहा, सुवरण को सो रूप ॥
हिरदय में उजियार ही, होत चपल यहि भाति।
जैसे धूमर मेघ मे, बिजली ही दमकाति ॥

२. प्राणोपानः समानश्च व्यानोदानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥
घे० स०—पचमोपदेशः ५६

३ हृदि प्राणो वहेन्नित्य अपानो गुदमडले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठमध्यमः ॥
व्यानो व्याप्त शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः।
प्राणाद्याः पच विख्याता नागाद्याः पचवायवः ॥
तषामपि च पचानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उदगारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः ॥
कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृंभणे।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनंजयः ॥
घे० स०—पचमोल्लासः ६०-६३

संख्या	वायु	स्थान
१.	प्राण	हृदय देश में
२.	अपान	गुह्य में
३.	समान	नाभि में
४.	उदान	कंठ में
५.	व्यान	समस्त देह मे
६.	नाग वायु	डकार में
७.	कूर्म वायु	नेत्रो मे
८.	कृकर वायु	छींक मे
९.	देवदत्त	जम्भाई मे
१०.	धनजय	मृत्यु हो जाने पर शरीर में व्याप्त रह जाती है।

सत कवि सुन्दरदास ने भी उपर्युक्त दश पवनो का उल्लेख (ज्ञान समुद्र) में किया है।[1] परन्तु चरनदास ने केवल दो वायु, प्राण तथा अपान का उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी प्राणायाम के सम्बन्ध में है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि ने प्राणायाम के लिए तो इन दो वायु को महत्व प्रदान किया है, शेष कवि की दृष्टि में उपेक्षणीय है। संत कवि सुन्दरदास ने भी उपर्युक्त दश पवनों का उल्लेख ज्ञान समुद्र में किया है। इस प्रकार चरनदास ने दश पवनो का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

चौरासी अस्थान पर, चौरासी ही वायु।
ता मे दश ये मुख्य है, वरणौ सुनिये ताय॥
प्राण अपान समान ही, और व्यानि उदान।
नाम धनजय देव दत्त, कूरम किरकल जान॥
दश वायू जो एक ही, तिन में दीरघ दोय।
सोवै प्राण अपान है, तिन्है पिछानै कोइ॥

---

१. प्राणापान समानहि जानौ। व्यानोदान पचमन मानै॥
नागवु कूर्म कृकल सो कहिये देवदत्त सुधनजय लहिये॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ४७

कवि के अनुसार इन प्राणों के स्थान निम्नलिखित है :—

प्राणवायु हिरदै के ठाही। बसै अपान गुदा के माहीं ॥
वायु समान नाभि अस्थाना। कठ माहि बाई उधाना ॥
व्यान जु व्यापक है तन सारे। नाग वायु सों उठै डकारै ॥
पलक उघाड़ कूरमबाई। देवदत्त सू होय जभाई ॥
किरकल वायु जु भूख लगावै। मुखै धनजय देह फुलावै ॥
सब मे प्राण वायु मुख जानौ। सो हिरदय के मध्य पिछानौ ॥

प्रस्तुत वायु तथा वायु स्थान वर्णन परम्परा-गत वर्णन से पूर्णरूपेण साम्य रखता है।

कवि द्वारा वर्णित वायु प्रसग न तो शिव सहिता से मत साम्य रखता है और न घेरड सहिता से ही। योगी प्राणायाम के द्वारा सब प्रकार के प्राणों को नाभि के मूल से ऊपर उठाता है और उन्हें यथा सम्भव अवरुद्ध करता है। इस प्रक्रिया से साधक को कुडलिनी शक्ति जाग्रत करने मे सफलता प्राप्त होती है। इस सूर्य भेद कुम्भक की क्रिया का योग शास्त्र में बडा माहात्म्य वर्णित है।[1]

कुंडलिनी महाशक्ति मेरुदड के अधोभाग तथा गुदा एवं लिग के मध्यस्थ मूलाधार चक्र मे स्थित है।[2] यह चक्र षट्चक्रो मे से सर्व प्रथम है। यह चक्र चार दल युक्त तथा पीतवर्णवान् है। व श ष स इस दल की मातृकाएँ हैं। इस चक्र मे गणेश का स्वरूप आराधना का प्रतीक माना गया है। इसके मडल का आकार चतुष्कोण के अन्तर्गत एक त्रिकोण है, जो कुण्डलिनी का निवास स्थान है। त्रिकोणाकृत अग्नि चक्र में अवस्थित कुन्डलिनी स्वयम्भू लिंग से साढ़े तीन वलयों में लिपटी अपने मुख से अपनी पूछ दबाये सुषुम्णा के छिद्र के पास सुप्तावस्था में पड़ी रहती है।[3] मूलाधार चक्र पर मनन करने से साधक को दर्दुरी शक्ति प्राप्त होती है।[4]

---

१. कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः।
बोधयेत् कुडली शक्ति देहानल विवर्धयेत् ॥
घे० स०—पचमोपदेशः श्लोक ६७

२. गुदा द्व्यगुलतश्चोर्ध्वं मेद्रैकागुलतस्त्वधः।
एव चास्ति सम कदं समत्वांच तुरगुलम् ॥
शि० सं०—पचमपटल ५

३. मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णा विवरे स्थिता ॥
शि० स०—पंचमपटल २७

४. यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धि भूमि त्यागक्रमेण वै ॥
शि० सं०—पंचमपटल ६४- ७६

इस चक्र का चित्र इस प्रकार है।
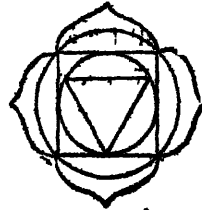
चरनदास जी ने मूलाधार चक्र का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

लाल रङ्ग पहिला कहूँ चक्रधार तिहि नांव।
चार पैखरी तासु की हैं जु गुदा के ठांव॥
है जु गुदा के ठाव देह ताही पर राजै।
चारौ अच्छर तहाँ देव गन्नेस विराजै॥

पहिला कमल अधार सुनाऊँ। व श ष स अक्षर वरण बताऊँ॥

इस उद्धरण में मूलाधार का रङ्ग लाल बताया गया है पर 'शिव संहिता' मे इसका पीत वर्ण बताया गया है। शेष समस्त वर्णन, मातृकाओं के अच्छर आदि पूर्णतया शुद्ध हैं।

स्वाधिष्ठान द्वितीय चक्र है। इसकी स्थिति लिंग मूल में मानी गई है। इस चक्र के षट् दल हैं एवं दल की मातृकाएं ब भ म य र ल है। यह शुभ्रवर्ण है।[१] इस चक्र पर विचार करने वाला साधक मृत्युंजय एवं समस्त सिद्धियों का स्वामी और भव बन्धन से रहित हो जाता है, स्वाधिष्ठान चक्र का रेखाङ्कन निम्नांकित है :—
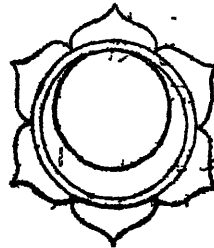
चरनदास ने स्वाधिष्ठान का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है :—

पवन सुरत दूवां लै धरै खोलि कहै शुकदेव।
दूजा लिंग स्थान ही जाको सुन अब भेव॥
पीत वरण षट् पैखड़ी नाम जु स्वाधिष्ठान।
षट् अच्छर जापै दिपै ब्रह्मा दैवत जान॥

१. द्वितीयं तु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
ब-आदिलान्तं च षड् वर्णं, परिभास्वर षड्दलम्॥
शि० सं०—पंचम पटल, श्लोक ७५

ब्रह्मा दैवत ज्ञान सग सावित्री दासा।
इन्द्र सहित सब देव तहाँ सबही का बासा ॥
दूजा कमल जु स्वाधिष्ठाना। बा भा मा या र ल जु बखाना ॥

इस वर्णन मे भी चक्र के रंग भेद के अतिरिक्त समस्त उल्लेख 'शिव सहिता' मे साम्य रखता है।

तृतीय चक्र है मणि पूरक। प्रस्तुत चक्र की स्थिति नाभि के समीप है। इसे योगियो ने नाभि चक्र भी कहा है। इसके दश दल होते हैं। इस दल की मातृकाएँ ड ढ ण त थ द ध न प फ हैं। यह हेम वर्ण का है।[1] इस चक्र पर ध्यान करने से साधक अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। मणिपूरक का चित्र निम्नाङ्कित है। कवि ने मणिपूरक का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है :—
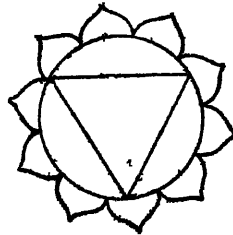
मणिपूरक चक्कर कहूँ तीजा नाभि-स्थान।
नील वरण दश पैखरी दश अक्षर परमान ॥
विष्णु तहाँ का देवता महा लछिमी सग।
तृतिये मणिपूरक जो कहिये। डा ढा णा ता था ही लहिये ॥
दा धा ना पा फा जो गाये। ये दश अक्षर वरण बताये ॥

मणिपूरक का 'शिव सहिता' मे हेम वर्ण माना गया है पर चरनदास ने उसका वर्ण नील लिखा है। शेष दोनों के दृष्टिकोण में साम्य है।

चतुर्थ चक्र अनाहत है। इसका स्थान हृदय में है।[2] इसे हृत्पद्म भी कहते हैं। इसका वर्ण रक्त वर्ण है। इसमे १२ दल होते हैं। इसकी मातृकाएं क ख ग घ ङ छ ज झ ञ ट ठ है। इस चक्र पर ध्यान करने वाले साधक को खेचरी शक्ति की प्राप्ति होती है और साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है। चक्र निम्नाकित है :—

---

१. तृतीय पकजं नामौ मणिपूरक-सज्ञकम्।
दशारडाभिंकाताण शोभित हेमवर्णकम् ॥
वही, ७६

२. हृदये नाहत नाम चतुर्थं पकज भवेत्।
कादिठार्थसंस्थान द्वादशा रसमन्वितम् ॥
वही, ८२

चरनदास के शब्दो में अनाहत चक्र का वर्णन सुनिये :—
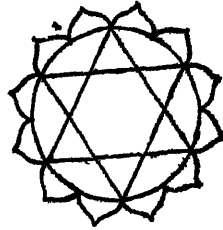
अनहद चक्र हिरदय विषे, द्वादशदल अरु श्वेत।
शिव शक्ति जहाँ देवता, द्वादश अक्षर भेद ॥

चौथे चक्र अनाहद माही। द्वादश अक्षर वरण बताहीं ॥
का खा गा घा ङा जो जान। चा छा जा झा ञ ट ठ जु मान ॥

'शिव सहिता' में अनाहत का रक्त वर्ण माना गया है और हमारे कवि के अनुसार इसका रग श्वेत है।

पचम चक्र विशुद्ध चक्र है।[1] इसका वर्ण हेमवत् है और वह सोलह दलो से सम्पन्न है। यह स्वर ध्वनि का स्थान है। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इसकी मातृकाएँ हैं। जीव यहाँ भ्रूमध्य स्थित परब्रह्म का दर्शन पाकर वासनाओं से उन्मुक्त हो जाता है। इसीलिए इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। अर्ध नारी नटेश्वर इसके देवता हैं। यही मोक्ष का द्वार है। विशुद्ध चक्र का रूप इस प्रकार है :—
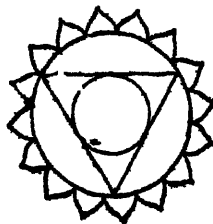
कवि के अनुसार विशुद्ध चक्र का स्वरूप प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होगा :—

पंचवा चक्कर कठ में, विशुद्ध नाम जिहि केर।
षोडश दल जीव देवता, षोडश अक्षर हेर ॥

---

१. कठस्थान स्थितं पद्मं विशुद्धनाम पञ्चमम्।
हेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम् ॥
वही, ६०

पचवा षोडश विशुद्ध जो आछे। आदि अकार अक्षर सुणाछे ॥

अतिम चक्र आज्ञा है जिसकी स्थिति त्रिकुटी में मानी गई है। यह शुभ्रवर्ण एव दो दलों से सम्पन्न है।[१] सहस्रार में स्थित गुरु से इसी स्थान में आज्ञा मिलती है और इसलिए इसे आज्ञा चक्र कहते हैं। इसकी मातृकाएँ 'ह' 'क्ष' हैं। यह इड़ा एव पिगला के मध्यस्थ है। इसका चित्र इस प्रकार है :—
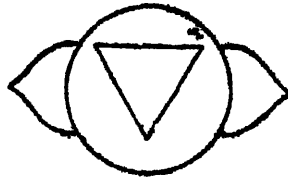
अब चरनदास के शब्दों मे इसका वर्णन पढ़िये :—

छठयों मोहन बीच में अज्ञा चक्कर सोय।
ज्योति देवता जानिये दो दल अक्षर दोय ॥

छठा जो अज्ञा चक्कर मानौ। इस वरण दो अक्षर जानौ ॥

सहस्रार चक्र की स्थिति मूर्धा में हैं।[२] इसकी मातृकाएँ अ से क्ष तक है। इसमें सहस्र दल होते हैं। इसके देवता कामेश्वरी कामनाथ है। यह तत्वातीत है। इसमें पूर्णचन्द्र निराकार वर्तमान है। इसमे ध्यान करने से साधक अमर तथा भव-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही ब्रह्म रन्ध्र है। तालु मूल से सुषुम्णा का निम्नाभिमुख विस्तार है[३] तथा मूलाधार चक्र मे इसका अत है। यहीं से कुडलिनी प्रबुद्ध होकर सुषुम्णा में ऊपर की ओर अग्रसर होती है और अंततः ब्रह्मरन्ध्र मे पहुंच जाती है। इसी ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का निवास है। इस रन्ध्र के षट् द्वार हैं जिन्हें कुडलिनी खोलती है। इस रन्ध्र का स्वरूप विन्दु (०) है। प्राणायाम की चरम स्थिति में इसी विन्दु में आत्मा लाई जाती है और आत्मा भय बन्धनों से उन्मुक्त होकर इसी विन्दु में सोऽहम् का अनुभव करती है।

---

१. आज्ञा पद्म भ्रवोर्मध्येहक्षोपेत द्विपत्रकम्।
शुक्लाभ त महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥
वही, ९६

२. अतः ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारसरोरुहम
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूल सविवर स्थितम् ॥
वही, १२०

३. तालु मूले सुषुम्णा सा आधोवक्त्रा प्रवर्तते।
वही, १२१

कुम्भक

प्राणायाम के चार भेद माने गये हैं :—

१. पूरक २. रेचक ३. आन्तर कुम्भक ४. वाह्य कुम्भक

बाहर से श्वास लेना पूरक है। वायु का परित्याग करना रेचक है। वायु को बाहर त्याग कर श्वास न लेना अर्थात् ठहराना वाह्य कुम्भक है। इन तीनों शब्दो को वाह्यान्तर स्तम्भवृत्ति भी कहा गया है। वाह्य से रेचक, आभ्यतर से पूरक तथा स्तम्भ से कुम्भक का अभिप्राय है। प्राणायाम, देश (यहाँ देश से अभिप्राय है श्वास के लेने और त्यागने मे जितना लम्बा भीतर प्रवेश करे उतना ही लम्बा बाहर जाय। यह दीर्घता देश है), काल (यहाँ काल से तात्पर्य यह है कि पूरक में जितना समय लगे उससे चतुर्गुण समय तक कुम्भक करना चाहिए) एव सख्या के अनुसार दीर्घ एवं सूक्ष्म होता है। योगी को प्राणायाम मे देश, काल एव सख्या का विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है। योगियो ने कुम्भक के दो भेद माने हैं— प्रथम वाह्य कुम्भक तथा द्वितीय आभ्यन्तर कुम्भक। 'हठयोग प्रदीपिका' मे कुम्भक के आठ भेद मान्य हुए हैं। कथन के समर्थन हेतु प्रस्तुत श्लोक पठनीय होगा :—

सूर्य भेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छाप्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥

ह० यो० प्र०—उपदेश २ श्लोक ४४

सत कवियो मे चरनदास तथा सुन्दरदास[1] ने अपने ग्रन्थो मे बड़ी स्पष्टता के साथ इन्ही आठ कुम्भको का उल्लेख किया है। चरनदास के शब्दो मे कुम्भक के अष्ट भेद निम्नलिखित हैं :—

अब आठौ कुम्भक कहूँ, नाव भेद गुण रूप।
शुकदेव कहैं परसिद्ध हैं, योगहि माहिं अनूप ॥
प्रथमे कुम्भक ही कहूँ, नाव जु सूरज भेद।
दूजे ऊजाई सुनो, साधे छूटे खेद ॥
शीत कार अरु शीतली, पचवी भस्त्रक जान।
छठी जु भ्रमरी नाम है, नीके समझ पिछान ॥
नाव मूर्छा सातवीं, अठवी केवल होय।
रणजीता सबसे बडी, आयु बढावै सोय ॥

---

१ सूर्य भेदन प्रथम द्वितीय उज्जाई कहिये।
शीतकार पुनि त्रितियं शीतली चतुरथ ग्रहिये ॥
पंचम है भस्त्रिका, भ्रामरी षष्टसु जानहु।
मूरछना सप्तमं अष्टम केवल मानहु ॥

'घेरंड संहिता' में भी इन्हीं आठ प्रकार के कुम्भक को मान्यता दी गई है :—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी, शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भिकाः ॥
घे० सं०—पचमोपदेशः श्लोक ४५

अर्थात् सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली भेद से कुम्भक आठ प्रकार के हैं।

कवि ने सर्वप्रथम कुम्भक की परिभाषा एव प्रक्रिया अथवा साधना का वर्णन किया है, तदनन्तर कुम्भक के विभिन्न अष्ट भेदों का परिचय दिया है। कुम्भक की प्रक्रिया और परिचय से सम्बन्धित निम्नलिखित पक्तियाँ उद्धृत करने योग्य हैं :—

पवन पूर पूरक ही कीजै। पाछे बन्ध जलन्धर दीजै ॥
कुंभक रेचक के माध जानै। झाई बन्ध उड्यान पिछानै ॥
पवन जोर ही सू गहि लीजै। अर्ध ऊर्ध्व संकोच न कीजै ॥
मध्यम कीजै पश्चिम तानै। ब्रह्म नारिके माहि समानै ॥
नाडी पवन खैचिये ऐसे। भरिये सब सध्यान जु जैसे ॥
अपान वायु कू ऊपर लावै। प्राण वायु नीचे लै जावै ॥
जोपै यह साधन बनि आवै। योगी बूढा होन न पावै ॥
तरुण अवस्था देखे ऐसी। नितही रहै जानिये जैसी ॥

कुम्भक की प्रक्रिया, लक्षण, स्वभाव तथा गुण आदि का वर्णन करने के अनन्तर कवि ने कुम्भक के अष्ट भेद का प्रारम्भ किया है। इस वर्णन में सर्वप्रथम प्रक्रिया का वर्णन किया है, तदनन्तर उसके लक्षण और महत्त्व का उल्लेख किया है। प्रायः यही क्रम आद्योपांत कुम्भक के समस्त भेदों का वर्णन करने में रखा गया है। कवि के मत से सूर्यभेद कुम्भक का सर्वप्रथम भेद है। योगशास्त्र के कुशल आचार्य घेरंड के मत से कुम्भक करते समय प्राणादि समस्त वायुओं को पिंगला नाड़ी से विभिन्न कर नाभिमूल देश से समान वायु को उठावे, पुनः धैर्य के साथ वेग पूर्वक वाम नासिकापुट से रेचन करे। तदनन्तर दक्षिण नासापुट से वायु भर कर सुषुम्णा से कुम्भक कर वाम नासा से रेचन करे। इस क्रिया को बारम्बार करना सूर्यभेद कुम्भक कहा जाता है।[1] दूसरे शब्दों में सावधानी पूर्वक सुगम आरामदेह आसन

१. सर्वे ते सूर्यसभिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत्।
इडया रेचयेत्पश्चाद्धैर्येणाखडवेगतः ॥
पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ।
रेचयित्वा साधयेत् क्रमेण च पुनः पुनः ॥
घे० सं०—पचमोपदेशः ६५-६६

में बैठकर साधक दक्षिण नासिका से पूरक करे और यथाशक्ति कुम्भक करके वाम नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। यह क्रिया साधक बारम्बार करता रहे। इसकी साधना से शरीर मे उष्णता बढती है और शिरोरोग तथा कृमिरोग नष्ट होते हैं। चरनदास जी के मतानुसार सूर्यभेद का साधना के लिए साधक सुखासन या वज्रासन मे बैठकर दाहिने नासिका पुट से पूरक करे। इस प्रकार यथाशक्ति वायु को शरीर में रोकता हुआ साधना से वायु विकार एव कृमिरोग विनष्ट हो जाते हैं —

कुम्भक सूरज भेद ही, पहिले देहुँ सुनाय।
सुख आसन कै कीजिये, अथवा वज्र लगाय ॥
अथवा वज्र लगाय, पूरक दहिने स्वर कीजै।
नख शिख सेती रोकि, वायु कू बन्ध करीजै ॥
बाये सेती रेचिये, हौरे हौरे जान।
कपाल धौकनी जानिये, चरणदास पहिचान ॥
वायु किरन पीडा हरै, कीजे बारम्बार।
कुम्भक सूरज भेदनी, सुकदेव कहै हियधार ॥

सूर्यभेद कुम्भक का यह वर्णन परम्परा गत वर्णन से बहुत कुछ साम्य रखता है।

कुंभक का द्वितीय भेद है उज्जायी। साधक उभय नासिकाओं से पूरक भर के यथाशक्ति कुंभक करे। तदनन्तर बाम नासिका से शनैः शनैः रेचक करे। इसकी साधना से क्षय, श्वास रोग तथा जालन्धर रोग का नाश होता है। घेरंड ऋषि के मत्यानुसार बहिःस्थित वायु को नासिकाद्वय से और अतःस्थ वायु को हृदय एव गले से खीचकर कुंभक योग से मुख के भीतर धारण करे। फिर मुख प्रक्षालन कर जालन्धर मुद्रा का अनुष्ठान करके शक्ति के अनुसार कुंभक करता हुआ निर्विघ्न रीति से वायु को धारण करे। इसको उज्जायी कुंभक कहते हैं। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण कर्म सिद्ध हो जाते हैं और अजीर्ण, क्षय, आमवात आदि अनेक रोग विनष्ट हो जाते हैं।[1] चरनदास द्वारा उपदिष्ट 'उज्जाई' का वर्णन पूर्णरूप से परम्परागत होते हुए

---

१. नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ॥
मुखं प्रक्षाल्य संवन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्तिकुंभकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ॥
उज्जायी कुंभकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत्कफरोगं च [illegible] ॥
आमवातं क्षयं कासं ज्वरप्लीहा न विद्यते।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः ॥
घे० स०—पचमोपदेशः ६८-७१

भी 'घेरंड संहिता' द्वारा प्रतिपादित वर्ण्य विषय के समान विस्तृत नहीं है। कवि ने समस्त क्रिया का संक्षेप मे वर्णन कर दिया है। अब कवि के शब्दों मे ही उजायी क्रिया पढ़िये :—

अब ऊजाई कुम्भक सुनिये। समझ सीख मन माहीं जुनिये॥
दोउ सुर समकर पवन चढावै। पेट कंठ लौ ताहि भरावै॥
ताको रोकै दृढ़ करि राखै। सहज इडा सो रेचक नाखै॥
ऐसे जो कोई साधन करैं। रोग सलेषम के सब हरै॥
हृदय कठ माहि जो होई। कफ का रोग रहै नहि कोई॥
रोग जलधर ही का भागै। भजै वायु दुख पावक जागै॥
बैठत चलत पवन को भरै। यही उजाई कुभक करै॥
चरणदास शुकदेव बतावै। तीजी शीतकार समुझावै॥

तृतीय कुभक शीतकारी है। उभय नासिका रन्ध्र बन्द करके ओष्ठों एवं जिह्वा के द्वारा वायु का पूरक भरे। तदनन्तर यथाशक्ति कुभक करके दोनो नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे करे। यह प्राणायाम शीतल है। इसकी साधना से साधक मे किसी प्रकार का विष नहीं व्याप्त होता है। यह प्रत्येक ताप का विनाशक है। चरनदास द्वारा वर्णित शीतकारी कुभक परम्परागत होते हुए भी इसमे स्पष्टता अधिक है। उभयनासा-पुट बन्द करके ओठों एवं जिह्वा के द्वारा वायु के पूरक की क्रिया को धीरे-धीरे खींचये,—"सी सी शब्द उचार के" इस रूप मे अभिव्यक्त किया है। कवि के शब्दा में शीतकारी निम्नलिखित है :—

ओड़ जंभाई नासिका, लीजै खिचै जु पौन।
ताहि कछू ठहराव कै, छोड़ै मुख सो जौन॥
धीरे धीरे खैचिये, सी सी शब्द उचार।
सुन्दर होवे तेजवन्त, अधिक रूप को धार॥
भूख प्यास ब्यापे नहीं, आलस नीद न होय।
तन चेतन ही होत है, रहै उपाधि न कोय॥
यहि विधि साधत ही रहै, होय योगिन में भूप।
चरणदास शुकदेव कहि, कुम्भक यही अनूप॥

चतुर्थ कुम्भक शीतली है। साधक उभय नासिकारन्ध्रों को अवरुद्ध करके जिह्वा को कौवे की चोच की शक्ल देकर, जिह्वा द्वारा वायु का पूरक भरे। अभ्यास एव शक्ति के अनुसार कुम्भक करके उभय नासिकारन्ध्रो से शनैः-शनैः रेचक करे। यही शीतली की साधना है। घेरंड ऋषि के शब्दों मे शीतली कुम्भक निम्नलिखित है :—

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुंभकं कृत्वा नासाभ्या रेचयेत्पुनः॥
घे० सं०—पचमोपदेशः श्लोक ७२

अर्थात् जिह्वा द्वारा वायु को खींच कर धीरे धीरे पेट को वायु से भर दे, फिर कुछ समय तक कुम्भक योग से वायु को धारण करके दोनों नासापुटों मे बाहर निकाल दे। इसको 'शीतलीकुम्भक' कहते हैं।

सत चरनदास का निम्नलिखित 'शीतली वर्णन' भी परम्परागत वर्णन से साम्य रखता है :—

कहूँ शीतली कुम्भक आगे। जो कोइ करै भाग तिहि जागे॥
तालु मूल जिह्वा बल सेती। प्राण वायु पीवै कर हेती॥
कुभक राखै सबतन मांही। ढीला गात रमावै छाही॥
नासा सेती रेचक कीजै। एक मास सिधि हो सुखलीजै॥
पीजै पवन जीभ को मोडे। सहजै छोडे नासा ओडे॥
दोनों रंध्र से तजि दीजै। यो अभ्यास पूर करि लीजै॥

शीतली साधना का प्रभाव कवि के शब्दों में निम्नलिखित है :—

ताप तिली गोला ज्वर होई। वाके तन मे रहै न कोई॥
देह पुरानी नूतन होय। तीनि वरष साधै जो कोय॥
जैसे सार कैंचुली भौहि। श्वेत बाल तजि काले होहि।
काहू भांति का दुख नहि व्यापै। भूख प्याम तिस भाजै आपै॥

प्रस्तुत उद्धरण मे यह अश विचारणीय है—पीजै पवन जीभ को मोडे मे जिह्वा को कौए की चोंच की भाति बल देकर कवि ने केवल विषय को ही परम्परागत बनाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उस अभिव्यजना शैली का भी अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

शीतली कुम्भक के पश्चात् कवि ने भस्त्रिका कुंभक का वर्णन किया है। यथा लोहार की धौंकनी मे वायु भरी जाती है उसी प्रकार उभय नासिका द्वारा वायु को पेट में भरके धीरे धीरे पेट में परिचालित करे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करके वायु को धारण करे, फिर भस्त्रिका से जैसे वायु निकलती है उसी प्रकार नासिका से वायु निकाल दे। इसे भस्त्रिका कुम्भक कहते हैं। इस प्रकार यथा नियम तीन बार आचरण करे।[1] भस्त्रिका दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम वाम नासारन्ध्र से क्रम से

---

१. भस्त्रैव लौहकाराणां यथा क्रमेण सभ्रमत्।
तती वायुश्च नासाभ्यामुभाभ्या चालयेच्छनै:॥
एव विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्त च यथाविधि॥
त्रिवारं साधयेदेन भस्त्रिका कुंम्भकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने॥
घे० स०—पचमोपदेशः श्लोक ७४-७

क्रम दश घर्षण करने के पश्चात् ग्यारहवीं बार उसी नासिका से पूरक करे। साधक यथाशक्ति कुम्भक करने के अनन्तर दक्षिण नासिका से शनै-शनै रेचक करे और फिर दक्षिण नासिका से दश घर्षण करके उसी से पूरक भर ले। यथाशक्ति साधक कुंभक करके धीरे-धीरे वाम नासिका से रेचक करे। द्वितीय दक्षिण नासिका से वाम नासिका की ओर कम से कम दश घर्षण करके वाम नासिका से पूरक भरे। योगी यथाशक्ति कुम्भक करके दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। चरनदास का भस्त्रिका वर्णन परम्परागत है। इसका वर्ण्य विषय योगदर्शन के आचार्यों के मत से साम्य रखता है परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने भस्त्रिका की प्रक्रिया और साधना का सविस्तार वर्णन किया है। साथ ही इसमे आसनादि का जो उल्लेख हुआ है उसका योग ग्रन्थो मे उल्लेख नही हुआ :—

अब कहुँ कुम्भक भस्त्रिका, पित कफ वायु नशाय।
अगिनि बढै अभ्यास सो, तीनि गाठि खुलि जाय॥
आसन पद्म सु या विधि करै। वाम जघ दहिनो पग धरै॥
बावों पग दहिनी पर लावै। जाघन सो दोउ हाथ मिलावै॥
ग्रीवा पेट बराबर राखै। आगे सुनु शुक देवा भाखै॥
मुख मूंदै रेचै नासा सूं। पूरक चपल करै श्वासा सूं॥
रेचक पूरक ऐसे कीजै। बारम्बार तजै अरु लीजै॥
जैसे खाल लगे हार भरै। रेचक पूरक आतुर करै॥
करत करत जबहि थकि जावै। नेक ठहरि दूजी विधि लावै॥
फिरि पूरक सूरज सो करै। पवन उदर के माही भरै॥
तर्जनि अगुली सों दृढ रोकै। नासामध्य धार करि जाखै॥

कुमक पिछली भाँति करि, रेच इड़ा सों बाय।
कफ पित वायु नशाय के लेवै अग्नि बढ़ाय॥
कुडलिनी देवै जगा, यह कुम्भक सुखदाय।
करै जु हित व्रत धारिकै, चरनदास चित लाय॥
कुडलिनी सरकाय कै, वेधै तीनों गाँठ।
ऐसी पचवी भस्त्रिका, रहै न कोई आँठ॥

इसके अनन्तर कवि ने भ्रामरी कुंभक का उपदेश दिया है। यह भ्रामरी कुमक की साधना लोम विलोम की तरह होती है। अतर यह है कि साधक वाम नासिका से पूरक भरते समय भ्रामरी का-सा नाद स्वर में उत्पन्न करे तथा दक्षिण नासिका से रेचक करते हुए भ्रमर का-सा नाद करै। यही क्रिया योगी विपरीत क्रम

में भी करता रहे। 'घेरड संहिता' में भ्रामरी कुम्भक का वर्णन बड़े रोचक ढंग से हुआ है। कतिपय पंक्तियाँ पठनीय होंगी :—

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिञ्झिनादं च वंशीनादं ततः परम्॥
मेघ झर्झरभ्रमरी घंटा कांस्यं ततः परम्।
तूरीभेरीमृदंगादि निनादानकदुन्दुभिः॥
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यसात्।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरन्तर्गतं मनः।
तन्मनोविलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात्॥

घे० स०—पञ्चमोपदेशः ७८-८१

अर्थात् इस प्रकार कुम्भक का अनुष्ठान करने पर साधक को दाहिने कान में नाना प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। ये सब शब्द देह के भीतरी भाग में उदित होते हैं। पहले झींगुर का शब्द सुनाई देता है, तदनन्तर वंशी ध्वनि, फिर मेघ शब्द, फिर झर्झर नामक वाद्य, तदनन्तर भ्रमर का सा भनभनाहट शब्द सुनाई देता है, तदनन्तर क्रमशः घंटा, कांसे के पात्र, तुरही, भेरी, मृदंग और नगाड़े जैसा शब्द सुनाई देता है। इस प्रकार नाना ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। अन्त में हृदय स्थित अनाहद नामक बारह कली वाले कमल में होने वाले शब्द की प्रतिध्वनि प्रतिश्रुत होती है। तदनन्तर साधक निमीलित नेत्रों से हृदय के उस द्वादश दल कमल की प्रतिध्वनि के अन्तर्गत ज्योति का निरीक्षण करता है। यह ज्योति ही परब्रह्म है। योगी का मन उस ब्रह्म में लगकर ब्रह्मरूपी विष्णु के परमपद में लय को प्राप्त होता है। इस प्रकार भ्रामरी कुम्भक सिद्ध होने पर समाधि स्वतः सिद्ध हो जाती है। चरनदास ने भ्रामरी का जो उल्लेख किया है वह न तो इतना विस्तृत है और न इतना रोचक। कवि ने 'घेरंड संहिता' में वर्णित विभिन्न स्वरों एवं ध्वनियों का वर्णन नहीं किया है, फिर भी भ्रामरी साधना के आवश्यक अंगों पर लेखक ने उचित प्रकाश अवश्य डाला है। भ्रामरी कुम्भक का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

छठी जु कुम्भक भ्रामरी सुनिये चरणहिदास।
शब्द देवा हौ कहतहूँ तामें करो बिलास॥
जैसे भृंगी धुनि करै यो उपजै हियमाहि।
दोनो स्वर सों कीजिए परगट सुनिये नाहिं॥

वलसेती पूरक करै यही शब्द लै साथ।
भृंगी की सी धुनि सहत रैचै मन्द सुहात ।।
या अभ्यास के किये से चित चचश रहै नाहिं।
योगीश्वर लीला करै चिदानन्द के मांहि ।।

प्रस्तुत उद्धरण में भ्रामरी कुंभक के केवल आवश्यक तत्वो का उल्लेख हुआ है।

भ्रामरी के पश्चात् कवि ने मूर्छा कुंभक का वर्णन किया है। भ्रामरी कुंभक का अभ्यास पूर्ण हो जाने के अनन्तर साधक सिद्ध आसन से बैठकर उभय नासा रन्ध्रों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाये। तत्पश्चात् दोनो कान, नेत्र, नासिका एव मुंह पर क्रमशः अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एव कनिष्ठिका को स्थिर कर ६ सेकेंड कुंभक करे। इसके अनन्तर नासिका के रन्ध्र से अनामिका को शिथिल करके जालन्धर बन्ध रखते हुए शनैः-शनैः दोनो नासापुटो से रेचक करे। अन्य प्राणायामो के साथ मूर्च्छा प्राणायाम करने से कुंभक अधिक होता है। परन्तु रेचक उभय नासापुटो से होता है। यदि अधिक कुंभक अपेक्षित हो तो उड्डीयान बन्ध का लगाना अपेक्षित होता है एव रेचक के समय जालन्धर बन्ध खोल दिया जाता है। मूर्च्छा मे रेचक करते समय बन्द नेत्रो से भ्रूमध्य मे प्राणतत्व का श्वेत, नीला, काला और लाल प्रकाश दृष्टिगत होता है। अब घेरंड ऋषि का मत पठनीय होगा—

सुखेन कुंभक कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
संत्यज्य विषायास्सर्वान् मनोमूर्छासुखप्रदम् ।।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ।।[1]

अर्थात् पहले सुख से पूर्वकथित (भ्रामरी) कुंभक करके सम्पूर्ण विषयो से मन को लौटा कर भ्रू-युगुल के मध्यस्थल मे स्थित आज्ञा पर शुभ्र द्विदल नामक कमल मे मन को लगाकर, इस पद्म मे स्थित परमात्मा मे लीन कर दे। इसको मूर्छाकुंभक कहते हैं। इस कुंभक से साधक को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। 'घेरंड संहिता' से चरनदास का इस विषय पर पूर्ण मत साम्य है। इस दृष्टि से कवि ने मूर्छाकुंभक का परम्परागत वर्णन किया है। अब कवि के शब्दा मे ही मूर्छा कुंभक पठनीय होगा :—

सतवी कुंभक मूरछा, पूरक ऐसे होय।
खैचत हौवै सोरसा, मेघधार ज्यो जोय ।।
बन्ध जलन्धर दीजिए, सहज कठ तल ताज।

---

१. घे० सं०—पचमोपदेशः श्लोक ८२

रेचत बाई मूरछित, होय यही पहिचान।
सुखदायी सुख की करन, कही सोइ शुकदेव ।।

कुंभक प्रकरण में अन्तिम भेद है, केवली कुभक। श्वास के निकलने (पूरक) एव प्रवेश (रेचक) के समय ह और सः का उच्चारण होता है। अर्थात् जिस समय श्वास निकलता है उस समय हकार और जिस समय श्वास वायु प्रविष्ट होता है उस समय सःकार उच्चारित होता है। 'हकार' को शिव स्वरूप और 'सःकार' को शक्तिरूप समझना चाहिए। 'हंसः' एव 'सोऽहं' ये दोनों एक शब्द है। ये दोनों शब्द परम पुरुष एव प्रकृतिमय शब्द ही अजपा गायत्री के नाम से विख्यात हैं। मूलाधार के मध्यस्थल मे, हृदय में एव नासापुटद्वय मे हंसः स्वरूप अजपाजाप होता है। कर्म-रूप शरीर का परिमाण छियानबे अगुलि का है। वायु की स्वाभाविक वहिर्देश गति का परिमाण बारह अगुल का है। गायन मे सोलह अगुल का होता है। श्वासवायु की स्वाभाविक वहिर्देशगति बारह अगुल की होती है। यदि यह बारह अगुल से न्यून हो जावे तो परमायु बढ सकती है। जीव का शरीर जब तक रहे, केवली करके परिमित सख्या में अजपा मत्र को जपे। केवली करने पर पहले निर्णय की हुई सख्या में कमी हो जाती है। अत. केवली करना आवश्यक होता है। अजपा की सख्या से केवली को दुगुनी करे तो चित्त मे बड़ा आनन्द होता है। नासापुटो से वायु को खीचकर केवली कुभक का अनुष्ठान करे। पहले दिन इस कुभक का साधन करने पर एक बार से चौसठ बार तक श्वासवायु को धारण करे। इस कुभक की साधना प्रतिदिन आठ प्रहर में आठ बार साधन करे।[1] चरनदास के मत से केवली कुभक निम्नलिखित है :—

पूरक रेचक ही सहित ये कुंभक करि लेहि।
केवल कुभक नामधौ जब लग छा चित देहि ।।
केवल कुभक आशधरि येहू साधत लोग।
बलयावै वशपौन हो और भगे तन रोग ।।

---

१. हंकारेण वहिर्याति सकारेण विशत्पुनः।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति ।।
अजपा नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा।
मूलाधारे यथा हंसस्तथाहि हृदि पकजे।
तथा नासापुटे द्वन्द्वौ त्रिविध सगमागमम् ।।
षण्णवत्यगुलीमान शरीर कर्मरूपकम्।
देहाद् वहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशांगुलिः ।।

आयु बढ़ावै सिद्धि दे लागै और समाधि।
केवल कुम्भक गुणभरी बिन परमाण अगाधि ॥
केवल कुम्भक जब सधै तब ये सब रहि जाहि।
जैसे सूरज उदय ते तारे सब लुकि जाहि ॥
केवल कुम्भक योग में ज्यो नगरी में भूप।
रेचक पूरक के बिना जैसे बधा जु कूप ॥

अनहद नाद

कुम्भक की अष्टांग साधना के अनन्तर अनहद नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है। मन के लय होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है नादानुसंधान। शंकराचार्य के मतानुसार:—

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयाऽवधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहेमान्यतमं लयानाम् ॥

—योगतारावली

अर्थात् "योग शास्त्र के प्रवर्तक भगवान शिव ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बताये हैं, उन सब में नादानुसंधान सुलभ एवं श्रेष्ठ है।" 'शिव संहिता' में भी इस नाद-साधना को सर्वोत्कृष्ट साधन माना गया है :—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरी सदृशा मुद्रा न नाद सदृशो लयः ॥

गायेन षोडशांगुल्य भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशांगुलिर्मार्गे निद्रायां त्रिंशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम् ॥
यावज्जीवो जपेन्मंत्रमजपा संख्य केवलम्।
अद्यावधि धृतं संख्याविभ्रमं केवलीकृते ॥
अतएव हि कर्तव्यः केवली कुम्भको नरैः।
केवली चाजपा संख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥
नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्।
एकादिकं चतुःषष्टिं धारयेत्प्रथमे दिने ॥
केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने।
अथवा पंचधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते ॥
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके।
त्रिसंध्यमथवा कुर्यात्सममाने दिने दिने ॥

अर्थात् "सिद्धासन के सदृश कोई आसन नहीं है, केवल कुम्भक के समान कोई बल नही हैं, खेचरी के तुल्य कोई मुद्रा नहीं है तथा मन लय करने वाले साधनों मे अनहद नाद की तुलना करने वाला कोई भी अन्य साधन नही है।"

चरनदास जी के निम्नलिखित छन्दो में शिव संहिता की विचारधारा पूर्ण रूप से लहरें ल रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने 'शिव संहिता' का 'नाद-महत्व' निम्नलिखित पंक्तियो मे अनूदित कर दिया है।—

अनहद के सम ओर ना फल बरणे नहि जाहि।
पटतर कछू न दे सकू सब कछु है वा. माहि॥
पाँच थकै आनन्द बढ़ै अरु मनुआ वश होय।
शुकदेव कहि चरनदास सुनि आप अपन जा खोय॥
नाडिन मे सुषमन बड़ो सो अनहद की मात।
कुम्भक मे केवल बड़ा सो वाही का भ्रात॥
मुद्रा बड़ी जु खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद सा बाजा नही और न या सम ध्यान॥
सेवक से स्वामी भवै सुनै जु अनहद नाद।
जीव ब्रह्म ह्वै जात है पावै अपनी आद॥

मानव के शरीर में साढे तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढे तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। यह विधि वायुप्रकृति वालों के लिए है। जिनकी पित्त प्रकृति है उनकी नाडी शुद्ध रहती है, अतएव सवा कोटि नाम जप करने से ही उन्हे अनहद नाद प्रतिश्रुत हो जाता है। योग शास्त्र में नाद दश प्रकार का कहा गया है।[1] अंतिम प्रकार का नाद है, बादल का गर्जन। इस अंतिम अवस्था मे साधक के प्राण वायु एव मन दोनों ही लय हो जाते हैं। सुषुम्ना ब्रह्मनाडी के अन्तर्गत प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना प्रारम्भ हो जाता है। अनहद नाद को सुरत के आधार पर दक्षिण कान से सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। नाद मानसिक लय का कारण है। 'त्रिपुरसार समुच्चय' मे नाद के पाच भेद वर्णित हुए हैं।[2]

---

१. आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवाः।
मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घटा काहलजास्तथा॥८५॥
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देह मध्यगाः॥८६॥
हठ यो० प्र०—३ पृ० ४,

२ भ्रमर, वंशी, घंटा, समुद्र गर्जन तथा मेघ गर्जन॥

चरनदास के मतानुसार साधक अपानवायु की साधना करता हुआ जब उसे मोड़कर ऊपर ले आता है, तब कमल उलटा होकर आकाश की ओर मुख कर लेता है। ज्यों-ज्यों अपान वायु विभिन्न चक्रों से होती हुई अग्रसर होती है, त्यों-त्यों समस्त साधना सिद्ध होती जाती है। जब अपानवायु अनहद चक्र मे प्रवेश करती है उस समय दश प्रकार के नाद प्रकट होते हैं।[1] ये नाद निम्नलिखित हैं :—

१. पक्षी रव (ची) २. पक्षी रव (ची चीं) ३. क्षुद्र घंटा ४. शख नाद ५. वीणा ध्वनि ६. ताल ध्वनि ७ मुरली ध्वनि ८. पखावज ध्वनि ६. नफीरि ध्वनि १०. सिंह गर्जन।[2]

सुन्दरदास ने भी नाद के दश ही भेद माने हैं।[3] चरनदास वर्णित नाद के प्रकारों का 'हठयोग प्रदीपिका' मे वर्णित प्रकारो से भेद है। इस प्रकार सुन्दरदास और 'हठयोग प्रदीपिका' द्वारा वर्णित प्रकारों मे भी भेद है। तथ्य यह है कि जिस

---

१. अपान वायु कू साधि करि ऊपर लावै मोड़।
जब होवै उलटे कमल मुख आकाश को ओड़॥
अपान वायु ज्यों ज्यों बढ़ै चक्र चक्र के पास।
त्यों त्यों सीधे होय सब पूरा जान अभ्यास॥
अपान वायु आवै जबै चक्र अनाहद माहि।
दश प्रकार के नाद हो शनैः शनैः खुलि जाहि॥

२. पहिले नाद सुने जो ऐसा। चिड़ी चीकला बोलै जैसा।
एकहि बार कहै यो चिन्न। दूजी बार कहे चिन चिन्न॥
क्षुद्र घंट ज्यों तीजी जानौ। चौथी नाद शंख पहिचानौ॥
पचवीं नाद बीन ज्यों गावै। छठवीं उपज ताल ज्यों बाजै॥
सतवीं नाद मुरलिया ऐसी। अठवीं उठै पखावज जैसी॥
नवै नफीरी नाद सुनावै। दशवैं सिंह गरज उपजावै॥
नौ तजि दशवै सू हितलावै। अनहद हनि अनहद हो जावै॥
सोय जीव सों ब्रह्म अगाधा। जो कोइ सुनै सो अनहद नादा॥

३. प्रथम भ्रमर गुंजार शष धुनि दुतिय कहिज्जै।
त्रितिये बजहि मृदग चतुर्थे ताल सुनिज्जै॥
पंचम घटा नाद षष्ट बीणा धुनि होई।
सप्तम बज्जहि भेरि अष्टम दुद्रभि दोई॥
अब न वमै गर्ज्ज समुद्र की दशम मेघ घोषहि सुनै।
कहि सुन्दर अनहद नाद कौ दश प्रकार योगी सुनै॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ६७

प्रकार के नाद का अनुभव साधक को होता है, उसी की वह अभिव्यक्ति कर देता है। नाद श्रवण के विषय में कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

यह तो हुआ अपान वायु और नाद को जाग्रत करने का उपाय। अब कवि के मुख से अनहद नाद जाग्रत करने की विधि सुन लीजिये। कवि द्वारा वर्णित वह विधि सरल एवं स्पष्ट है अतएव उसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है :—

खुलै जो अनहद नाद ज्यों सो साधन सुनि लेहु।
जासों पहुँचे सिद्धि को या करणी चित देहु॥
चक्राधार सों खैंचि करि अपान वायु सजलेहु।
स्वाधिष्ठान के पास ही तीन लपेटे है देह।

वाकी विधि सब तोहि सुनाऊँ। जैसे है तैसे समझाऊँ॥
पहले मूल द्वार को शोधै। बध लगाय अपान निरोधै॥
पहिले चक्कर में ठहरावै। खैंचि दूसरे के ठिक लावै॥
वाके आसो पास फिरावै। दहिने तीनि लपेट लगावै॥
फिरि मणिपूरक में पहुँचावै। फेरि अनाहद में ले जावै॥
अनहद खुलै सुनै सुख पावै। फिरि ह्वा प्राण अपान मिलावै॥
हिरदय कठ मध्य ठहरावै। सयम सो ताको पर चावै॥
बन्ध दूसरो तहाँ लगावै। चरणदास शुकदेव बतावै॥

पहिले अनहद नाद खुलै हिय ऊपरै।
कंठ सु नीचे रोंकि ध्यान ह्वाई धरै॥
जहा अपरबल होय जु अनहद शब्द ही।
फिरियों जानो जाय कठ के मध्य ही॥
तहां किये अभ्यास ध्यान राखे घना।
होवै अधिकीनाद सुनै साधू जना॥
केतक द्योसन मांहि ब्रह्मरन्धर कनै।
जाय खुलै जह नाद सुरति दे ह्वा सुनै॥
शनै शनै यों होय जानैं कोइ साध ही।
हिरदय अरु ब्रह्म लोकलों एकै नाद ही॥
मीठी और सवाद बहुत ही पाइये।
सतगुरु के परताप जहा मन लाइये॥
ब्रह्म लोक की बात सुनै होवै जुहां।
सब ही सभै वस्तु जु कछु होवै वहां॥

षट्कर्म

हठयोग की साधना में षट्कर्मों के प्रति बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में षट्कर्मों के कर्तव्याकर्तव्य पर सविस्तार विचार किया गया है। हठयोग की साधना में षट्कर्म एवं प्राणायाम का महत्व समान रूप से माना गया है, परन्तु अन्तर केवल समय या काल का है। प्राणायाम से शारीरिक विकार या आन्तरिक दोष विलम्ब से दूर होते हैं परन्तु षट्कर्म के द्वारा यही कार्य अल्प समय में सुसाध्य बन जाता है, इसीलिए हठयोगी के लिए षट्कर्म विशेष प्रिय होता है। 'हठयोग प्रदीपिका' के मतानुसार जिस व्यक्ति के मेद और श्लेष्मा अधिक हों, उस पुरुष को प्राणायाम से पूर्व षट्कर्म की साधना अपेक्षित रहती है। परन्तु इसके समुपस्थित न रहने पर दोषों की समानता के कारण षट्कर्म की साधना न करनी चाहिए :—

> मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
> अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥
>
> —हठयोग प्रदीपिका

योग दर्शन के अन्तर्गत षट्कर्मों को 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् शरीर को शुद्ध करने वाला एवं 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणों का सधान करने वाला भी कहा गया है।

'घेरण्ड संहिता' में षट्कर्म को शरीर के सप्तसाधनों की संज्ञा दी गई है।[1] योगाभ्यास करने की वासना होने पर सबसे पहले सप्त साधनों के माध्यम से शरीर को विशुद्ध करना होता है। इन कर्मों का साधक निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी होता है।[2]

'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार षट्कर्म निम्नलिखित है :—

१. धौति २. वस्ति ३. नेति ४. नौलि ५. कपालभाति ६. त्राटक ।

---

१. शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तंच घटस्थं सप्तसाधनम् ॥

ह० प्र०—प्रथमोपदेशः, श्लोक ६

२. षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारे धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना च निर्लिप्त मुक्तिरेव न संशयः ॥

वही; श्लोक १० तथा ११

'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित षट्कर्मों का उल्लेख मिलता है :[1]—

१. धौति २. बस्ति ३. नेति ४. लौलिकी ५. त्राटक ६. कपालभाति।

'ब्रह्मयामल के' अनुसार षट्कर्म निम्नांकित हैं :[2]—

१. धौति २. गजकरिणी ३. बस्ति ४. लौलिका ५. नेति ६. कपालभाति।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरंड संहिता' तथा 'ब्रह्मयामल' के षट्कर्म विषयक दृष्टिकोण मे पर्याप्त भेद है। प्रथम दो ग्रन्थों में 'बस्ति' को द्वितीय कर्म माना गया है परन्तु 'ब्रह्मयामल' मे द्वितीय कर्म 'गजकरिणी' और तृतीय कर्म 'बस्ति' माना गया है। दूसरा भेद यह है कि प्रथम दो ग्रन्थों में 'नेति' को तृतीय कर्म माना गया है और 'ब्रह्मयामल मे' नेति पंचम कर्म है। तीसरा भेद यह है कि प्रथम ग्रन्थ मे चतुर्थ कर्म का नाम 'नौलि' है और अंतिम दो ग्रन्थों के अन्तर्गत चतुर्थ कर्म 'लौलिकी' माना गया है। तथ्य यह है कि नौलि और लौलिकी में केवल शाब्दिक भेद है परन्तु आत्मा में पूर्ण साम्य है। चौथा भेद यह है कि प्रथम दो ग्रन्थो मे पंचम कर्म 'त्राटक' माना गया है और 'ब्रह्मयामल' मे नेति है। अंतिम उल्लेखनीय बात यह है कि 'कपालभाति' कर्म को प्रथम ग्रन्थ मे पंचम कर्म का स्थान दिया गया है और शेष दो मे षष्टम् कर्म का। संक्षेपतः षट्कर्मों की दृष्टि में प्रथम दो में पूर्ण साम्य है। अब यहाँ पर चरनदास का षट्कर्म विषयक मत उल्लेखनीय है। चरनदास के ही शब्दों मे :—

> अरु साधा षट्कर्म बताऊँ। तिनके तोको नाम सुनाऊँ॥
> नेती धोती बसती करिये। कुंजर करम रोग सब हरिये॥
> न्योली किये भजै तन बाधा। देखि देखि जिन गुरु सो साधा॥
> त्राटक कर्म दृष्टि ठहरावै। पलक पलक सर लगन न पावै॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि चरनदास के मत से षट्कर्म निम्नलिखित है :-

१. नेति २. धौति ३. बस्ति ४. गजकर्म ५. न्योली ६. त्राटक।

---

१. धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटक तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्। वही, श्लोक १०

२. धौतिश्च गजकरिणी नबस्तिर्लौलिकिस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि महेश्वरि।
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारणम्॥
मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यथा नाचरेत्तानि दोषाणामप्यभावतः।

चरनदास ने षट्कर्मों के अन्तर्गत चार कर्म और माने हैं। ये चार कर्म हैं, कपाल-भाति, धौकनी, बाघी तथा शखपषाल। यहाँ पर कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा :—

कपाल भाँति अरु धौकनी बाघी शख पखाल ।
चारि कर्म ये और हैं इनहि छहौ के नाल ॥

प्रस्तुत उद्धरण की द्वितीय पक्ति विशेष रूप से विचारणीय है। कवि के कथन, 'चारि कर्म ये और हैं इनहि छहौ के नाल' से स्पष्ट है कि इन चार कर्मों का अस्तित्व कवि ने स्वतत्र रूप से न मानकर उपर्युक्त षट्कर्मों के अन्तर्गत ही माना है। इन चार कर्मों की स्थिति की कल्पना करना कवि की मौलिकता है। इन दोनो में गजकर्म एव कपालभाति को षट्कर्म के अन्तर्गत रखने में अन्तर पड़ता है। परन्तु ये षट्कर्म के शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेद का कोई वास्तविक अर्थ नही है।

इस विवेचन के अनतर अब चरनदास द्वारा वर्णित षट्कर्मों का विवेचन तथा व्याख्या आवश्यक है। यहाँ पर हम इस बात का भी अध्ययन करेंगे कि चरनदास द्वारा वर्णित षट्कर्म के प्रत्येक अग मे परम्परागत शास्त्रीय वर्णन से कहाँ तक साम्य एव भेद है।

चरनदास ने सर्वप्रथम नेति कर्म का वर्णन किया है। अतः नेति कर्म के परम्परागत पक्ष का अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा। नेति कर्म दो प्रकार का होता है, प्रथम जलनेति तथा द्वितीय सूत्रनेति। साधक को सर्व प्रथम जलनेति करनी चाहिए। प्रातःकाल दन्त धावन के अनन्तर जो भी सास चलती हो उसी से चुल्लू में जल लेकर तथा दूसरी सांस बन्द करके उस जल को नासिका के माध्यम से खींचा जाय। तदनन्तर यही जल दूसरे नासापुट से बाहर निकाल देना चाहिए। इससे नेत्रज्योति, मुख काति और बौद्धिक कुशाग्रता की वृद्धि प्राप्त होती है। नासापुट से जल पीने की क्रिया को नेतिकर्म नही कहा जायगा। यह क्रिया साधक के लिए अहितकर है, कारण कि नासिका मे सचित मल आमाशय मे प्रविष्ट होगा जिससे नये नये विकारो की उत्पत्ति होगी। जलनेति के पश्चात् सूत्रनेति करना चाहिए। स्वच्छ महीन सूत के दस पन्द्रह तारों को एक मे बट कर पतला बना लेने के बाद मोम से चिकना बना ले और फिर जल मे भिगो दे। फिर जिस नासा छिद्र से प्राणवायु का सचार होता हो उसमे सूत की रस्सी लगाना चाहिए। इसी समय दूसरे नासिका पुट को अगुली से बन्द करके जोर से पूरक करने से सूत मुख में आ जाता है। इस सूत को तर्जनी और अगुष्ठ से ग्रहण कर बाहर कर लेना चाहिए। इस सूत को धोकर पुनः द्वितीय नासिका पुट में डालकर यही क्रिया करनी चाहिए। 'हठयोग प्रदीपिका' में लिखा है कि नेतिकर्म कपाल को शुद्ध करती है, दिव्य ज्योति प्रदान

करती हैं, स्कन्ध, भुजा तथा शिर-सम्बन्धी समस्त रोग एवं विकारों को विनष्ट करती है।[1] 'घेरंड संहिता' में नेति कर्म की क्रिया तथा महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि आधा हाथ का सूक्ष्म सूत नासिका में डाले और उसको मुख के मार्ग से निकाले। इस क्रिया को 'नेतिकर्म' कहते हैं। नेतिकर्म की साधना से खेचरी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कफ दोष नष्ट होता है और दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।[2] 'ब्रह्यामल' में लिखा है कि एक बालिश्ता डोरा नासिका के छिद्र में डालकर मुख के मार्ग से निकालने को नेतिकर्म कहते हैं। इस कर्म के साधन से शिर के रोग नष्ट हो जाते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[3] चरनदास के शब्दों में अब नेतिकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

मिहीं जु सूत मगाय कै, मोटी बाटै डोर।
ऊपर मोम रमाय कै, साधै उठकर भोर॥
साधै उठकर भोर, डेढ़ बालिश्त की कीजै।
ताके सीधी करै, हाथ अपने में लीजै॥
नासा रन्ध्र मे मेल कर, खैंचै अंगुली दोय।
फेरि बिलोवन कीजिए, नेती कहिये सोय॥

उपर्युक्त उद्धरण मे नेति कर्म की जिस प्रक्रिया का वर्णन चरनदास ने किया है वह 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरंड संहिता' तथा 'ब्रह्यामल' में वर्णित प्रक्रिया से पूर्ण साम्य रखती है। अंतर केवल सूत की रस्सी की लम्बाई पर है। 'हठयोग प्रदीपिका' में सूत की लम्बाई एक हाथ, 'घेरंड संहिता' मे आधा हाथ तथा 'ब्रह्यामल' में एक

---

१. कपाल शोधिनी चैव दिव्यदृष्टि-प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥
—हठ योग प्रदीपिका

२. वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्प्रोच्यते नेतिकर्मकम्॥
साधनान्नेति कर्माणि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, श्लोक ५०,५१

३. सूत्रं वितस्तिमात्रं तु नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखेन गमयेच्चैषो नेतिः स्यात् परमेश्वरि॥
कपालशोधिनी कष्ठा दिव्यदृष्टि प्रदायिनी।
न ऊर्ध्वं जायते रोगोनयत्याशु च स नेतिः॥

बालिश्त का उल्लेख मिलता है। परन्तु चरनदास नेइस रस्सी की लम्बाई डेढ़ बालिश्त मानी है, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है। चरनदास द्वारा वर्णित नेति कर्म का निम्नलिखित सद् प्रभाव भी 'हठयोग प्रदीपिका' से पूर्ण साम्य रखता है :—

नाक कान अरु दात को, रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवै नैनहीं नित नेती करि सोय ॥

इन पक्तियो में भी 'हठयोग प्रदीपिका' का "कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी जत्रूर्ध्वजात रोगौघ नेतिराशु निहन्ति च" भाव अभिव्यक्त हुआ है।

नेति के पश्चात् चरनदास ने षट्कर्म वर्णन मे धौति कर्म का उल्लेख किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार चार अगुल चौडे तथा पन्द्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्र को गरम जल मे भिगो कर निचोड़ ले। तदनन्तर गुरु प्रदिष्ट मार्ग से नित्य-प्रति यह वस्त्र एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निकालने का अभ्यास किया जाय।[1] प्रायः आठ दश दिन मे पूरी धौती निगलने का अभ्यास किया जा सकता है। यह वस्त्र एक हाथ बाहर रखा जाय और दाढो से भली भॉति दबा कर धौतिकर्म किया जाय। वस्त्र निगलने के पूर्व पूर्णतया जल पी लेना आवश्यक हैं। जल पी लेने से वस्त्र को निगलने मे सरलता रहती है। 'घेरड सहिता' मे धौति चार प्रकार की मानी गई है:—

अन्तर्धौतिदन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घट कुर्वन्ति निर्मलम् ॥[2]

अर्थात् धौति चार प्रकार की है—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूल-शोधन। इन चार प्रकार की धौतियों को करके शरीर को निर्मल करना चाहिए। अन्तर्धौति के चार भेद है—वातसार, वारिसार, वह्निसार तथा बहिष्कृत।[3] दन्त धौति के पांच भेद माने गये है—दन्तमूल धौति, जिह्वामूल धौति, कर्णरन्ध्र धौति तथा कपालरन्ध्र धौति।[4] हृद्धौति के तीन भेद है—दडधौति, वमन धौति तथा

---

१. चतुरंगुलविस्तार हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरुपदिष्टमार्गेण सिक्त वस्त्र शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदित धौतिकर्म तत्।

२. घेरड सहिता—प्रथमोपदेशः, श्लोक १३

३. वातसार वारिसार वह्निसार बहिष्कृतम्।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥
वही, १४

४. दन्तमूल जिह्वामूल रन्ध्रतं कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्र पञ्चैते दन्तधौति विधीयते ॥
वही, २६

वासधौति।[1] इसके अनन्तर चौथे प्रकार की धौति है, मूल शोधन। जब तक मूल शोधन नहीं होता है तब तक अपानक्रूरता विद्यमान रहती है अर्थात् गुह्यवायु कुटिल रूप में रहती है, अतएव यह गुह्यशोधन यत्नपूर्वक करना चाहिए। मूल शोधन से कोष्ठ काठिन्य और आमाजीर्ण दूर हो जाता है, शरीर कांतिमान् और पुष्ट हो जाता है तथा जठरानल बढ़ जाती है।[2] धौतिकर्म के विषय में 'रुद्र यामल' में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है :—

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं वस्त्रं द्वात्रिंशद्धस्तमानतः।
एकहस्तक्रमेणैव यः करोति शनैः शनैः॥
यावद् द्वात्रिंशद्धस्तं च तावत्कालं क्रिया चरेत्।
एतत् क्रिया प्रयोगेन योगी भवति तत्क्षणाम्॥
क्रमेण मंत्र सिद्धिः स्यात्कालजालवशं नयेत्॥

अर्थात् बत्तीस हाथ लम्बे अति सूक्ष्म वस्त्र को एक एक हाथ करके धीरे-धीरे पूरा निगल जाने पर शनैः शनैः पुनः निकाले। इस प्रक्रिया का नाम वासधौति है। इस धौति के द्वारा योगित्व की प्राप्ति हो जाती है और मंत्र सिद्धि प्राप्त हो सकती है। मृत्यु उस पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं कर सकती है। चरनदास के मत में धोतिकर्म की क्रिया निम्नलिखित है :—

धौती कर्म यासेन करै, पट्टी सोलह हाथ।
कोठ अठारह नामवैं, करे जुनित परभात॥
चौड़ी अंगुल चारिकी, मिही वस्त्र की होय।
जल मे भेय निचोय करि, निगल कंठ सो सोय॥
निगल कंठ सों सोय, सिरा बाहर रहि जावै।
फेरि निकासे ताहि, पित्त कफ दोऊ लावै॥
काया होवै शुद्ध ही, भजे पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहै धौती करम, साकै योगी लोग॥

---

1. हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद् दंडवमनवाससा॥
वही, ३६

2. अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत्॥
वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च दीपनं वह्निमंडलम्॥

चरनदास के अनुसार वस्त्र १६ हाथ लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके निगलने की क्रिया वही है जो संस्कृत के उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित हुई है। कवि के मत से धौति साधना से काया निर्मल होती है, पित्त कफ आदि रोग एव विकार विनष्ट हो जाते हैं तथा शरीर को विनष्ट करने वाले अठारह प्रकार के कुष्टादि क्षीण हो जाते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में भी धौतिकर्म के चमत्कारी प्रभाव को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :—

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न सशयः ॥

'घेरड संहिता' में इसे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ट, कफ, तथा पित्त आदि का विनाशक तथा आरोग्य, बल एव पुष्टि का बढ़ाने वाला कहा गया है।[1] इस दृष्टिकोण से भी चरनदास का मत 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'घेरड सहिता' से पूर्ण साम्य रखता है।

चरनदास ने धौतिकर्म के पश्चात् वस्तिकर्म का उल्लेख षट्कर्म वर्णन प्रकरण में किया है। 'घेरंड सहिता' के अनुसार नाभि पर्यन्त जल में उत्कटासन से बैठकर गुह्य देश के संकुचन एवं प्रसारण को जलवस्ति कहते है।[2] 'ब्रह्मामल के' अनुसार नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन बैठकर गुह्यक्षालन और हस्तद्वारा आकुंचन और प्रसारण की प्रक्रिया को वस्तिकर्म कहते हैं।[3] वस्ति की स्थिति मूलाधार के निकट है। इसका रग लाल है और इसके देवता गणेश है। वस्ति को साफ करने वाले कर्म को वस्ति कर्म कहा जाता है। वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम जलवस्ति है और द्वितीय पवनवस्ति जिसे शुष्कवस्ति भी कहा जाता है। जलवस्ति को जल में और शुष्कबस्ति को सदा स्थल में करना चाहिए।[4] जल मे पश्चिमोत्तान आसन

---

१. गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठ कफपित्त विनश्यति ।
आरोग्यबलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥
घे० स०—प्रथमोपदेशः, श्लोक ४१

२. नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम् ।
आकुंचन प्रसारच जलवस्ति समाचरेत् ॥
घे स०—प्रथमोपदेशः, ४६

३. नाभिनिम्नजले वायु न्यस्तनालोत्कटासनम् ।
आधाराकुञ्चन कुर्यात्क्षालन वस्तिकर्म तत् ॥
ह० यो० प्रदीपिका

४. जलवस्तिः शुष्कबस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधा स्मृता ।
जलवस्तिं जले कुर्यात् शुष्कवस्ति सदा क्षितौ ॥
घे० स०—प्रथमोपदेशः, ४५

से बैठकर क्रमशः अधोभाग मे वस्ति का संचालन तथा अश्विनी मुद्रा से गुह्य स्थान को संकुचित और प्रसारित करना चाहिए। इस प्रकार कर्म करने से जलवस्ति सिद्ध हो जाती है।[1] जलवस्ति के प्रयोग से प्रमेह, उदावर्त्त तथा क्रूरवायु ध्वस हो जाता है और साधक स्वस्थ्य देह वाला होकर कामदेव के समान हो जाता है। इसकी साधना से कोष्ठदोष और आमवात नष्ट हो जाते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है।[2] वस्तिकर्म के परम्परागत शास्त्रीय विवेचन के अनन्तर चरनदास के शब्दों में वस्ति-कर्म की प्रक्रिया पठनीय होगी :—

तीजे बस्ती कर्महीं, कहौ सुनौ चितलाय।
क्रिया करै गन्ने सही, कुजी तहाँ लगाय॥
कुंजी तहाँ लगाय मूल को धोवन कीजै।
पसारन संकोच सुरति दै यह करि लीजै॥
नीर गुदा सों खैंच करि, थांभै उदर मझार।
कछू डोल अस बैठकर फिरि दै ताहि उतार॥
यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिन पावै नाहि।
लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नशि जाहि॥

इन पक्तियों मे कवि ने केवल जलवस्ति की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रस्तुत प्रक्रिया वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'घेरंड संहिता' से पूर्ण साम्य रखती है। कवि ने शुष्कवस्ति अथवा पवनवस्ति का वर्णन वस्तिकर्म के अन्तर्गत नहीं किया है।

षट्कर्म वर्णन प्रकरण के अन्तर्गत चरनदास ने वस्ति वर्णन के अनन्तर गजकर्म का उल्लेख किया है। यह गजकर्म विषयक वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। कवि ने केवल दो पक्तियों में गजकर्म की प्रक्रिया और महत्ता का वर्णन कर दिया है। जिस प्रकार हाथी सूंड से जल को खींचता है और फिर बाहर फेंक देता है उसी प्रकार गजकर्म की साधना होती है। इसी कारण इसका नाम गजकर्म या गजकरणी रखा

---

१. वस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुंचयेत्प्रसारयेत्॥
वही, ४८

२. प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्॥
एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषं न विद्यते।
विवर्धयेज्जठराग्निं आमवातं विनाशयेत्॥
वही, ४७ तथा ४६

गया है। इसकी साधना भोजन से पूर्व होती है। दन्तधावन के अनन्तर इच्छा भर जल पीकर अगुली से उलटी कर दे। अभ्यास हो जाने पर यह जल इच्छा मात्र से बाहर निकाला जा सकता है। पेट मे प्रविष्ट जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर फेंकना और भी श्रेष्ठ होता है। पित्त प्रधान पुरुषों के हेतु यह क्रिया बड़ी हित-कर होती है। चरनदास के शब्दो मे गजकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

गजकर्म याही जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्ति सो काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

इस उद्धरण की द्वितीय पक्ति मे ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'फेरि युक्ति सों काढ़िये'। युक्ति से यहाँ पर कवि का तात्पर्य है भीतर गए हुए जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर निकालना।

चरनदास ने गजकर्म के पश्चात् न्योली कर्म का उल्लेख किया है। न्योली को नल क्रिया, नौलिक, नौलि आदि नामों से भी जाना जाता है हठयोग प्रदीपिका के मतानुसार —

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्द सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलि: सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

अर्थात् कन्धों को नवाये हुए बड़ी तेज गति से जल भ्रमरवत् अपनी तुन्द को दक्षिण वाम भागो से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि कर्म कहा है। पेट को दायें बायें घुमाने की प्रक्रिया ग्रन्थों से नहीं सीखी जा सकती है। इसके लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन प्रत्येक क्षण पर परमावश्यक है जैसा कि चरनदास के अनुभव से ज्ञात होता है :—

जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

शौचादि से प्रातःकाल निवृत्त हो जाने पर पद्मासन धारण करके साधक रेचक के द्वारा वायु को बाहर रोके और बिना देह हिलाए हुए मनोबल से पेट को दाये से बायें और बायें से दाये चलाने का प्रयत्न करे। प्रातः एव सायं यह प्रयत्न और अभ्यास करने से पेट की स्थूलता समाप्त हो जाती है। तदनन्तर साधक को सोचना चाहिए कि दोनों कुक्षियों के दब जाने से बीच में दोनों ओर से नलें जुट कर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खभ खड़ा हो गया है। इस खंभ के बँध जाने पर नौलि सुगम हो जाती है। अभ्यास से यह न्यौली दायें बायें घूमने लगती है। इसके संचालित हो जाने पर वक्षस्थल के समीप कठ पर तथा ललाट पर नाड़ियों का द्वन्द्व अनुभव होता है। विस्तार के साथ वर्णित इस प्रक्रिया का उल्लेख चरनदास ने अत्यन्त सक्षेप मे सूत्र रूप में किया है।

से बैठकर क्रमशः अधोभाग में वस्ति का संचालन तथा अश्विनी मुद्रा से गुह्य स्थान को संकुचित और प्रसारित करना चाहिए। इस प्रकार कर्म करने से जलवस्ति सिद्ध हो जाती है।[1] जलवस्ति के प्रयोग से प्रमेह, उदावर्त्त तथा क्रूरवायु ध्वस हो जाता है और साधक स्वस्थ्य देह वाला होकर कामदेव के समान हो जाता है। इसकी साधना से कोष्ठदोष और आमवात नष्ट हो जाते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है।[2] वस्तिकर्म के परम्परागत शास्त्रीय विवेचन के अनन्तर चरनदास के शब्दो में वस्ति-कर्म की प्रक्रिया पठनीय होगी :—

तीजे बस्ती कर्महीं, कहौ सुनौ चितलाय।
क्रिया करै गन्ने सही, कुजी तहाँ लगाय॥
कुंजी तहाँ लगाय मूल को धोवन कीजै।
पसारन संकोच सुरति दै यह करि लीजै॥
नीर गुदा सों खैंच करि, थांभै उदर मझार।
कछू डोल अस बैठकर फिरि दै ताहि उतार॥
यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिन पावै नाहि।
लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नशि जाहि॥

इन पक्तियों मे कवि ने केवल जलवस्ति की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रस्तुत प्रक्रिया वर्णन अत्यन्त सक्षिप्त होते हुए भी 'हठयोग प्रदीपिका' तथा घेरंड सहिता' से पूर्ण साम्य रखती है। कवि ने शुष्कवस्ति अथवा पवनवस्ति का वर्णन वस्तिकर्म के अन्तर्गत नहीं किया है।

षट्कर्म वर्णन प्रकरण के अन्तर्गत चरनदास ने वस्ति वर्णन के अनन्तर गजकर्म का उल्लेख किया है। यह गजकर्म विषयक वर्णन अत्यन्त सक्षिप्त है। कवि ने केवल दो पक्तियों में गजकर्म की प्रक्रिया और महत्ता का वर्णन कर दिया है। जिस प्रकार हाथी सूंड से जल को खींचता है और फिर बाहर फेंक देता है उसी प्रकार गजकर्म की साधना होती है। इसी कारण इसका नाम गजकर्म या गजकरणी रखा

---

१. वस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुचयेत्प्रसारयेत्॥
वही, ४८

२. प्रमेह च उदावर्त क्रूरवायु निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्॥
एवमभ्यासयोगेने कोष्ठदोष न विद्यते।
विवर्धयेज्जठराग्नि आमवातं विनाशयेत्॥
वही, ४७ तथा ४९

गया है। इसकी साधना भोजन से पूर्व होती है। दन्तधावन के अनन्तर इच्छा भर जल पीकर अगुली से उलटी कर दे। अभ्यास हो जाने पर यह जल इच्छा मात्र से बाहर निकाला जा सकता है। पेट मे प्रविष्ट जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर फेकना और भी श्रेष्ठ होता है। पित्त प्रधान पुरुषो के हेतु यह क्रिया बड़ी हित-कर होती है। चरनदास के शब्दो मे गजकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

गजकर्म याही जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्ति सो काढिये, रोग न होय शरीर॥

इस उद्धरण की द्वितीय पक्ति मे ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'फेरि युक्ति सो काढिये'। युक्ति से यहाँ पर कवि का तात्पर्य है भीतर गए हुए जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर निकालना।

चरनदास ने गजकर्म के पश्चात् न्योली कर्म का उल्लेख किया है। न्योली को नल क्रिया, नौलिक, नौलि आदि नामों से भी जाना जाता है हठयोग प्रदीपिका के मतानुसार —

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्द सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

अर्थात् कन्धो को नवाये हुए बड़ी तेज गति से जल भ्रमरवत् अपनी तुन्द को दक्षिण वाम भागो से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि कर्म कहा है। पेट को दायें बायें घुमाने की प्रक्रिया ग्रन्थो से नहीं सीखी जा सकती है। इसके लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन प्रत्येक क्षण पर परमावश्यक है जैसा कि चरनदास के अनुभव से ज्ञात होता है :—

जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

शौचादि से प्रातःकाल निवृत्त हो जाने पर पद्मासन धारण करके साधक रेचक के द्वारा वायु को बाहर रोके और बिना देह हिलाए हुए मनोबल से पेट को दायें से बायें और बायें से दायें चलाने का प्रयत्न करे। प्रातः एव सायं यह प्रयत्न और अभ्यास करने से पेट की स्थूलता समाप्त हो जाती है। तदनन्तर साधक को सोचना चाहिए कि दोनों कुक्षियों के दब जाने से बीच में दोनों ओर से नलें जुट कर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया है। इस खंभ के बँध जाने पर नौलि सुगम हो जाती है। अभ्यास से यह न्यौली दायें बायें घूमने लगती है। इसके संचालित हो जाने पर वक्षस्थल के समीप कठ पर तथा ललाट पर नाड़ियों का द्वन्द्व अनुभव होता है। विस्तार के साथ वर्णित इस प्रक्रिया का उल्लेख चरनदास ने अत्यन्त सक्षेप में सूत्र रूप में किया है।

न्योली पदमासन सो करै। दोनो कर घुटनों पर धरै ॥
पेटरु पीठ बराबर होय। दहने बायें नले बिलोय ॥
जो गुरु करके ताहि दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै ॥

कवि के शब्दों में न्यौली साधना का प्रभाव सुनिये :—

मैल पेट में रहन न पावै। अपान वायु तासों वश आवै ॥
ताप तिली अरु गोला शूल। होन न पावै नेक न मूल ॥
और उदर के रोग कहावै। सो भी वै रहने नहि पावै ॥

'हठयोग प्रदीपिका' में इसकी साधना का सत्प्रभाव इस प्रकार वर्णित हुआ है:—

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

नौलि साधना से मन्दाग्नि का उद्दीपन होता है और अन्नादि का पाचन होता है। इससे समस्त वातादि दोष नष्ट होते हैं और रोग का शोषण होता है। यह नौलि हठयोग की समस्त क्रियाओं में उत्तम है।

न्यौली की आवश्यकता धौति और वस्ति साधना में भी पड़ती है। यह प्रा णा-याम का महत्वपूर्ण स्तर है। इसकी सिद्धि हो जाने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं।

न्यौली कर्म के अनन्तर त्राटक कर्म आता है। चरनदास ने त्राटक का वर्णन न्यौली के अनन्तर ही किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के मतानुसार एकाग्रचित साधक निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य पर तब तक दृष्टिपात करे जब तक अश्रुपात न होने लगे। आचार्यों ने इसे त्राटक कर्म कहा है।[1] सफेद दीवाल पर सूक्ष्म काला चिह्न अंकित करके उसी पर दृष्टि नियोजित करते-करते चित्त समाहित हो जाता है और शक्ति सम्पन्न हो जाती है। उपनिषदों में त्राटक के निम्लिखित तीन भेद माने गए हैं :—

१. आन्तर त्राटक—नेत्र बन्द करके हृदय या भ्रूमध्य में एकाग्रता स्थापित करने की भावना को आन्तर त्राटक कहते हैं।

२. बाह्य त्राटक—चन्द्र, प्रकाशवान् नक्षत्र, पर्वत की शिखर वा किसी अन्य दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि सूर्य पर त्राटक नहीं किया जाता है।

---

१. निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥

३. मध्य त्राटक—बिन्दु, किसी देवमूर्ति, भगवान के चित्र, नासिका के अग्र-भाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि केन्द्रित करने की क्रिया को मध्य त्राटक कहते हैं।

'घेरण्ड संहिता' में लिखा है कि जब तक आँसू न गिरे तब तक पलक मारे बिना किसी सूक्ष्म वस्तु पर दृष्टिपात करते रहने का नाम त्राटक है।[1]

त्राटक के इस शास्त्रीय और परम्परागत विवेचन के अनन्तर अब संत चरन-दास के त्राटक विषयक अनुभव पठनीय होंगे। कवि के शब्दों में—

त्राटक कर्म टकटकी लागै। पलक पलक सो मिलै न ताकै॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि थिर शुकदेव कहै॥
आँखि उलटि त्रिकुटी मे आनो। यह भी त्राटक कर्म्म पिछानो॥
जेते ध्यान नैन के होई। चरनदास पूरण हो होई॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि ने त्राटक के विषय मे स्थूल रूप से अपने विचारों को व्यक्त कर दिया है। फिर भी इन पक्तियों से त्राटक के विषय मे विचार स्पष्ट होता है।

योगियो का कथन है कि त्राटक के अभ्यास से शांभवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है, नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं और दृष्टि दिव्य हो जाती है।[2] त्राटक नेत्ररोग-नाशक होता है। तन्द्रा, आलस्यादि शरीर में नहीं ठहरने पाते हैं।[3]

चरनदास ने जिन षट्कर्मों का वर्णन किया है उनका सविस्तार विवेचन यहा समाप्त होता है। इन षटकर्मों के अतिरिक्त कवि ने कपालभाँति, धौकनी, बाधी तथा शखपषाल को भी कर्मो की सज्ञा दी है परन्तु कवि ने इन्हें उपर्युक्त षट्कर्मो के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि निम्नलिखित पक्तियों से प्रकट होता है :—

कपाल भाँति अरु धौकनी बाधी शख पखाल।
चारि कर्म ये और हैं इनहिं छहो के नाल॥

---

१. निमेषोन्मेषक त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्य निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि पतन्ति त्राटक प्रोच्यते बुधैः॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५३

२. एवमभ्यासयोगेन शाभवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५४

३. मोचन नेत्ररोगाणां तन्द्रादीना कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटक गोप्य यथा हाटकपेटकम्॥
ह० यो० प्रदीपिका

इनमें से कपालभाँति का अध्ययन तथा विवेचन आवश्यक है। कारण कि कपाल भाँति को अनेक विद्वानों एव हठयोगियो ने षट्कर्म का एक अग और महत्वपूर्ण साधना माना है।

'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार लोहार की भट्ठी के सदृश्य तीव्रता के साथ क्रमशः रेचक, पूरक, प्राणायाम को शातिपूर्वक करना योग शास्त्र मे कफ दोष का विनाशक माना गया है और यह क्रिया कपालभाँति नाम से ज्ञात है।[1] जिस समय सुषुम्ना नाड़ी से वा फुफ्फुस में से श्वासनालिका के द्वारा कफ बारम्बार ऊपर आता हो या प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो उस समय सूत्रनेति अथवा धौतिक्रिया से शोधन नही सम्भव हो पाता है। ऐसी दशा मे इसी कपालभाँति साधना से कफवाहा नाड़ियाँ एव फुफ्फुस में इकट्ठा हुआ कफ जल विनष्ट हो जाता है। सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होने से पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है। इस क्रिया को अधिक तीव्रगति से नहीं करना चाहिए अन्यथा नाड़ी को आघात पहुँचता है और फुफ्फुसो मे शिथिलता आती है। कपालभाँति तीन प्रकार की है—वातक्रमकपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाँति तथा शीत्क्रम कपालभाँति।[2] इडा अर्थात् बाये नासिकारन्ध्र से वायु को भरे और पिंगला अर्थात् दाहिने नासारन्ध्र द्वारा उसका रेचन करे, एवं दाहिने नासारन्ध्र से वायु को खींचे और बाये निकाल दे। वायु के खींचने या छोड़ने में वेग नहीं धारण करना चाहिए। इस योग साधना से कफ दोष विनष्ट हो जाता है। इसका नाम वातक्रम कपालभाँति कहते हैं।[3] नाक के दोनों रन्ध्रो से जल खींचे और उसे मुख से निकाल दे। इसी प्रकार मुख से जल ग्रहण कर नासिका छिद्रों से निकाल दे। इस क्रिया को वातक्रम कपालभाति कहते हैं।[4] मुख द्वारा शीत करके

---

१. भस्त्रावल्लोकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥
ह० यो० प्रदीपिका

२. वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभाँति त्रिधा कुर्यात् कफदोष निवारयेत्॥
घे० स०—प्रथमोपदेशः, ५५

३. इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिंगला पुनः।
पिंगलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥
पूरकम् रेचक कृत्वा वेगेन नतु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोष निवारयेत्॥
घे० स० प्रथमोदेशः, ५६-५७

४. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पाय पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोष निवारयेत्॥
घे० स०—प्रथमोपदेशः, ५८

जल ले और नासिका रन्ध्र से निकाल दे। इस क्रिया को 'शीत्क्रम कपाल भाँति' कहते हैं। इस योग का अभ्यास करने से मनुष्य कामदेव के समान कांतिमान् हो सकता है। इसके अभ्यास से वार्धक्य और जरा के हाथ से परित्राण प्राप्त कर सकता है।[1]

मुद्राएँ

'हठयोग प्रदीपिका' मे मुद्राओ का बड़ा महत्त्व वर्णित हुआ है।[2] इन मुद्राओ को योग दर्शन में "जरामरणनाशकम्, अष्टैश्वर्यं प्रदायकम् क्षीयन्तेमरणादयः' आदि कहा गया है। प्रत्येक साधक को इन मुद्राओं को साधना करनी पड़ती है तभी कुण्डलिनी जाग्रत होती है। जाग्रत होने के अनन्तर कुण्डलिनी षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार मे प्रवेश करती है। ये मुद्रायें दस मानी गई है :—

१ महामुद्रा २. महाबन्ध ३. खेचरी ४. मूलबन्ध ५. उड्डीयान ६. जालन्धर-बंध ७. विपरीतकरणी ८. वज्रोली ९. शक्तिचालिनी १०. महावेध।

घेरण्ड ऋषि ने अपनी पुस्तक 'घेरण्ड संहिता' मे निम्नलिखित मुद्राओ को मान्यता प्रदान की है :—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयान जलन्धरम्।
मूलबन्ध महाबन्ध महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकारिणी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पचधारणा।
अश्विनी पाशिनी काकी मातगी च भुजगिनी।
पचविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चैव योगिनाम्॥

अर्थात् निम्नलिखित पच्चीस मुद्राये योगिया को सिद्धि देने वाली है :—

१. महामुद्रा २. नभामुद्रा ३. उड्डायान ४. जलन्धर ५. मूलवन्ध ६. महाबन्ध ७. खेचरी ८. विपरीकरिणी ९. यानि १०. वज्रोली ११. शक्तिचालिनी १२. ताडागी १३. मांडवी १४. शाम्भवी १५. पचधारणा अयोधारणा १६. आम्भसीधारणा १७. वैश्वनिरीधारणा १८. वायवीधारणा १९. नभोधारणा २०. अश्विनो २१. पाशिनी २२. काकी २३. मातगी तथा २४. भुजगिनी।

---

१. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासनालैर्विवर्जयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्॥
न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोष निवारयेत्॥
वही, ५९ तथा ६०

२. हठयोग प्रदीपिका—उप० ३।६.१४

'रुद्रयामल' के मत से शरीर के अन्दर कुंडलिनी महाशक्ति निद्रावस्था में पड़ी हुई है। सर्वराज शेषनाग यथा वन, पहाड़ आदि से संयुक्त पृथ्वी के एकमात्र आधार है उसी प्रकार यह कुंडलिनी शक्ति भी समस्त योग दर्शन का आधार है। इस महाशक्ति के जाग्रत होने पर देहस्थ षट्चक्र में सकल पद्म एवं ग्रंथियों का भेद खुल जाता है और तभी प्राणवायु सुषुम्नारन्ध्र में प्रविष्ट होकर आनन्दपूर्वक विचर सकती है। जब मन अवलम्ब के बिना भी स्थिर रहने लगता है, तब अमरत्व या मुक्ति प्राप्त होती है। अतः इस कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना उचित और आवश्यक है।[1]

चरनदास ने 'अष्टांगयोग-वर्णन' प्रकरण में निम्नलिखित पाँच मुद्राओं का प्रतिपादन किया है :—

१. खेचरी मुद्रा २. भूचरी मुद्रा ३. चाचरी मुद्रा ४. अगोचरी मुद्रा ५. उनमनी मुद्रा।

इन उपर्युक्त पाँच मुद्राओं में से प्रथम खेचरी मुद्रा का विवेचन एवं प्रतिपादन करने में कवि का ध्यान विशेष रहा है। कवि ने प्रायः २७ छन्दों में खेचरी मुद्रा धारण करने की विधि, क्रिया और महत्व का वर्णन किया है। शेष चार मुद्राओं का वर्णन केवल १८ छन्दों में समाप्त हो गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि ने खेचरी मुद्रा को योग साधना में विशेष महत्वपूर्ण और सहायक माना है।[2]

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारो हि नायकः।
सर्वेषां हठतन्त्राणां तथा धाराहि कुंडली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा पद्मानि सर्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदा चित्त निरालम्ब तदा कालस्य बन्धनम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्ता मुद्राभ्यास समाचरेत्॥

२. संत सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ से कवि का मुद्रावर्णन छन्द यहाँ उद्धृत किया जाता है :—
सुनि महामुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी।
उड्यान बंध सु मूल बंधहि बन्ध जालंधर करी॥
बिपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिये।
इमि होइ योगी अमर काया शशि कला मित पीजिए॥

चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का विवेचन करने के पूर्व इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना आवश्यक है। खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में 'घेरड संहिता' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है :—

जिह्वाधो नाडीं सछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवतीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥
एव नित्य समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद् गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैश्शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥[1]

अर्थात् जिह्वा के निम्न प्रदेश में जिह्वा और जिह्वा की जड़ को मिलाने वाली नाड़ी है। उसका भेदन करता हुआ सतत रसना के नीचे रसना के अग्रभाग को परिचालित करे तथा रसना को मक्खन से मल कर चिमटे से खींचा करे। नित्य प्रति यह क्रिया करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रमशः अभ्यास के द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी कर ले कि वह भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। पुनः जिह्वा को क्रमशः तालु के मध्य में ले जाय। तालु के मध्यस्थ गढ्ढे को कपाल कुहर के मध्य में ऊपर को उलटी करके ले जाय और उभय भ्रू-मध्य अपनी दृष्टि को स्थिर करे। इसको खेचरी मुद्रा कहा गया है।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टि विधाय सुदृढां सुधीः ।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ॥
लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्ते रसना विपरीतगाम् ।
सयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः ॥

अर्थात् वज्रासन से निरुपद्रव शांत स्थान में बैठकर भ्रू- द्वय के मध्य दृष्टि दृढ़ता से लगाने तथा जिह्वा के ऊपर जो तालुकुहर है वहाँ पर रसना को उलटी उठाकर लगाने की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं।

अब चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का वर्णन पठनीय होगा। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने जिह्वा का छीलन, छेदन तथा दोहन बताया है। जिह्वा दोहन मक्खन से होता है। जिह्वा-दोहन छेदन के अनन्तर होता है। जिह्वा सामा-

---

1 घे० सं०—तृतीयोपदेशः, २५-२७

न्यतया तीन प्रकार की होती है—नाग जिह्वा, हस्ति जिह्वा तथा धेनु जिह्वा। नाग-जिह्वा निसर्गतः बड़ी होती है। शेष दो का छेदन, छीलन तथा दोहन करना पड़ता है। चरनदास के मत से सर्वप्रथम क्रिया इस सम्बन्ध मे है जल कुल्ला करना। इसके अनन्तर जिह्वा में चौबस्त चूर्ण की मालिश करनी चाहिए। इसके बाद साधक जिह्वा का दोहन, तानन (तानना या खींचना) करे और उसे दाँतो के नीचे दबाये। इन सब के पश्चात् उसका छीलन और छेदन करे। इस क्रिया के पश्चात् तोतू के कट जाने पर ब्रह्मरन्ध्र को धोकर उसका मैल निकाल डाले और जिह्वा को दो अगुली की कूची से पकड़ कर (उसे उलट कर) उसी ब्रह्मरन्ध्र मे नियोजित करे। इस क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं। कवि के ही शब्दों में पूरा वर्णन पठनीय होगा। अतएव यहाँ एक अष्टपदी उद्धृत की जाती है :—

पहिले मुद्रा खेचरी को साधन मनूं।
जैसे आगे करी सबी ऋषि मुनि जनूं॥
ताते जल के कुरले करि जुबगाइये।
ता पाछे चौबस्त को चूरण लगाइये॥
जिह्वा हाथ में पकरि मर्दन छीलन करै।
दोहन तानन करै बहुरि दशनन धरै॥
फिरि करि छीलन ताहि छेदनहि कीजिए।
तोतू ज्यों कटि जाय यत्न सोइ लीजिए॥
ब्रह्मरन्ध्र को धोय कै मैल निवारिये।
बाये अगूठे ऊपर काग को धारिये॥
सहज सहज सरकाय कै आगे लाइये।
यह सब साधन कठिन गुरु से पाइये॥
दो अंगुली कूंची सूं करि मेलना।
जिह्वा उलटि राख जु नितप्रति खेलना॥
यह उपाय षट मास करै तजिमान ही।
रसना यों बंधि जाय चढ़ै अस्थान ही॥

प्रस्तुत उद्धरण में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि सत चरनदास इस खेचरी वर्णन को पम्परागत सैद्धातिक खेचरी वर्णन की शृखला की एक कड़ी मानते हैं जैसा कि उद्धरण की प्रथम दो पक्तियों से प्रकट होता है। कवि ऋषियों एव मुनियों द्वारा वर्णित परम्परा में ही अपनी रचना को रखता है। अब इस प्रस्तुत कथन का परीक्षण आवश्यक है। कवि का खेचरी मुद्रा वर्णन पूर्ण रूप से शास्त्रीय वर्णन से साम्य न रखता हुआ भी उससे बहुत अंश में मिलता-जुलता है।

इसका कारण यह है कि इन संतो ने हठयोग की दुरूह और दुःसाध्य प्रक्रिया को सरल तथा रोचक बनाने के लिए उसमे यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया है, परन्तु इतना होते हुए भी वर्ण्य विषय की आत्मा में क्रांतिकारी परिवर्तन नही समुपस्थित हुआ है। दूसरे हठयोग के विशिष्ट ग्रन्थो मे खेचरी मुद्रा साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु का निर्देश अतीव आवश्यक माना गया है। प्रायः गुरुपदेश अभाव मे साधक अपनी वाणी खो बैठता है तथा नाड़ियों पर भाँति भाँति के व्याघात समुत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए गुरु का निर्देशन अनिवार्य माना गया है। संत चरनदास ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है। तीसरी बात यह है कि कवि ने इस प्रक्रिया का वर्णन बड़ी ही स्पष्ट और सुगम शैली में किया है जिसमें कि अल्पज्ञ भी उसके सन्देश को हृदयंगम कर सके।

योग-ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा साधना का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। 'घेरंड सहिता' में उल्लेख हुआ है कि जो खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं उनको मूर्च्छा, क्षुधा और पिपासा कुछ भी कष्ट नही देती है। आलस्य, रोग, बुढापा, एवं मृत्यु का उसे डर नहीं रह जाता। उसका शरीर देवशरीरवत् हो जाता है।[1] खेचरी साधक को अग्नि नहीं जला सकती, पवन शुष्क नहीं कर सकता, जल उसे गीला नहीं कर सकता और सर्प उसे काट नहीं सकता है।[2] इस मुद्रा के साधक के शरीर में अपूर्व लावण्य विकसित हो उठता है और उसे समाधि की प्राप्ति होती है। कपाल और मुख के मिलन से उसकी रसना से नाना प्रकार के श्रेष्ठ रस उत्पन्न होते हैं।[3] जो साधक इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से दिन प्रतिदिन अद्भुत रस संचार हुआ करता है और मन नित्य प्रति नये आनन्द में निमग्न रहता है। साधक की जिह्वा में क्रमशः लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दही, मट्ठा, मधु, द्राक्षा और अमृत आदि नाना प्रकार के रसो का आविर्भाव होता

---

१ न च मूर्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्य प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेह प्रपद्यते॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक २८

२. नाग्निना दह्यते गाम न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दशयेन्न भुजगमः॥
वही, श्लोक २९

३ लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसयोगे रसना रसमाप्नुयात्॥
घे० स—तृतीयपदेशः, श्लोक ३०

है ।[1] संत चरनदास के शब्दों में खेचरी साधना का महत्व निम्नलिखित है । 'घेरंड संहिता' तथा चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी साधना का महत्त्व प्रायः एक-सा है । कवि की रचना से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत कर देना असंगत न होगा :—

एक जु प्राणायाम जीमसू कीजिये ।
दूजे बन्ध उड्यान यहीं स दीजिये ॥
तीजे करि करि ध्यान निरखि जहूँ ज्योति ही ।
चोथे अमृत पिवै खुलै तह सोत ही ॥
खैंचे त्रिकुटी पाट सहज अरु फेरिये ।
द्रवै सुधा रसनीर जहां मन घेरिये ॥
अमृत ही के स्वाद को कौन बखानई ।
जो कोइ अचवै हस सोइ पुनि जानई ।
दिन दिन पलटै देह रक्त दूधाभवै ।
बीस बरस अरु चारि माहि ऐसा हवै ॥
इच्छा चारी होय बरस छत्तीस में ।
सब लोकन में जाय अपनी शक्ति तें ॥
जेते विषय व्यापै नहि, रोग न दहै शरीर ।
जो कोइ पीवै युक्ति सू, काम धेनु को क्षीर ॥
भूख प्यास अरु नींद, रहै न तीनौ लेव ।
नाद बिन्दु गुटका बधै, कहै यही शुकदेव ॥
तीन महीने चार का बालक गोदी माय ।
ना वह पीवै नीर ही अन्न नही वह खाय ॥
वह तो जीवै दूध सूं वाकू वही जुकाम ।
लगो रहै माताकुचन निसरे एक न याम ॥
अमृत पीवै योगिया ऐसे चरणहिदास ।
पहरहु यह छाडै नहीं कामधेनु को पास ॥
ऐसे धारै तौ बनै, सुधा रसाला सत ।
दिवि काया हो जाय जब धनि कहै कमलाकत ॥

---

१. नानारससमुद्भूमानन्द च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षार-तिक्तकषायकम् ॥
नवनीत' घृत क्षीर दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारस च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक ३१ तथा ३२

आठ पहर लागा रहै पीवै कै कै ध्यान।
मैं कहा जैसा ही, परसै पद निरवान॥
भेद गुरु से ये लहै, और छिपावै वाहि।
जो जो फल याके अधिक, होय परापति ताँहि॥
योगेश्वर अरु देवता, मुनी ऋषीश्वर जान।
रखवारे वाके घने, करन न देवै ध्यान॥
टेक गहै सो जापिये और करै इा ध्यान।
यती सती अरु गुरुमुखी, जाकी ऐसी आन॥
बड़ी जु मुद्रा खेचरी, मुख में याका वास।
जो कहि मैं शुकदेव जी, जानलेहु चरणदास॥

उपर्युक्त उद्धरण के वर्ण्य विषय की तुलना 'घेरड सहिता' में वर्णित खेचरी मुद्रा के माहात्म्य वर्णन से करने पर ज्ञात होता है कि चरनदास ने खेचरी साधना का माहात्म्य बड़े विस्तार के साथ वर्णित किया है। योग दर्शन के किसी भी ग्रन्थ मे इस मुद्रा साधना का महत्व इतने विस्तार के साथ नहीं उपलब्ध होता है। इस उद्धरण की प्रथम बारह पक्तियों मे कवि ने खेचरी साधना से हठयोग साधना में जो सहायता प्राप्त होती है उसका उल्लेख किया है। शेष अश मे उसके महत्व या माहात्म्य की अभिव्यक्ति हुई है।

कवि द्वारा वर्णित द्वितीय मुद्रा भूचरी है। शास्त्रकारो का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अगुल दूर रहे हुए अवकाश में मन को स्थिर करना भूचरी है। अष्टांग योग की साधना मे धारणा के सिद्धि के हेतु प्रस्तुत मुद्रा का अभ्यास श्रेयस्कर हैं। इसकी साधना से योगी को अलौकिक सुख प्राप्त होता है। उसे दैहिक, दैविक तथा भौतिक सताप दग्ध नही करते। सासारिक कष्ट उसे व्यथित और पीड़ित नही करते। 'घेरड सहिता' में इस मुद्रा के विषय मे कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। चरनदास के शब्दा में अब भूचरी मुद्रा की प्रक्रिया पढिये :—

दूजी मुद्रा - भूचरी, नासा जाको वास।
प्राण अपान जुदी जुदी, एक करै चरणदास॥
जितकी तित रख प्राण को, वा घर लाय अपान।
ताहि मिलावै युक्ति सू, करि करि संयम ध्यान॥
जब वह जीतै पवन कू, मन चचल ठहराय।
गगन चढ़न की आश हो, कहै शुकदेव सुनाय॥
गुदा द्वार बध दीजिए, एंडी पाँव लगाय।
आसन सिद्ध जु कीजिए, मन पवनावश लाय॥

अपान वायु जब वशभवै, ऊरध खैंच लचाय।
सनई सनई जाचढै, प्राण वायु ह्वै जाय॥

चांचरी मुद्रा का वर्णन कवि ने भूचरी के अनन्तर किया है। आज्ञा चक्र में भव को अवरुद्ध करना चाचरी मुद्रा है। शास्त्रकारो के मत्यानुसार पक्षान्तर मे इसको खेचरी मुद्रा भी कहते हैं, परन्तु चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी और चाचरी की साधना, प्रक्रिया और महत्व एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं, अतः इससे स्पष्ट है कि कवि योगशास्त्रकारों की भाँति पक्षान्तर मे इसको खेचरी नहीं मानता है। कवि के शब्दो में चाचरी मुद्रा निम्नलिखित है :—

तीजी मुद्रा चाचरी जाको नैनन वास।
नासा आगे दृष्टि कू राखै मन धर आस॥

अगुल चार नासिका आगे। चित अस्थिर करि देखन लागे॥
खुले पाँच तत करै जु कोई। मन अरु पवन जहाँ थिर होई॥
फिरि ह्वासू नासा परि आवै। अचल टकटकी तहाँ लगावै॥
जह् बहुतक अचरज दरसावै। विभव स्वर्ग के आगे आवै॥
जित सू पलट तिरकुटी माही। ध्यान करै कहु अन्त न जाहीं॥
दीरघ तारा सा परकासै। उदय होय सूरज ज्यों भासै॥
चित चेतन दोउ मेला करै। लै उपजै अरु दुविधा हरै॥
यही चाचरी मुद्रा जानै। चरनदास याकू पहिचानै॥

विगत पृष्ठों में भूचरी की विवेचना करते हुए लिखा गया है कि शास्त्रकारों का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अगुल दूर रहे हुए अवकाश मे मन को स्थिर करना भूचरी है। अब प्रस्तुत उद्धरण के निम्नलिखित शब्द विचारणीय है :—

"नासा आगे दृष्टि कू राखै मन धर आस।
अगुल चारि नासिका आगे॥
चित अस्थिर करि देखन लागै।
खुलै पाँच तत करै जु कोई॥
मन अरु पवन जहाँ थिर होई।
फिरि ह्वासूं नासा परि आवै॥
अचल टकटकी तहाँ लगावै॥"

स्पष्ट है शास्त्रकार नासिका के अग्रभाग में चार अगुल पर दृष्टि लगाने को भूचरी मानते हैं और चरनदास इसी क्रिया को चाचरी मुद्रा मानते हैं। 'घेरड-संहिता' में इस मुद्रा का उल्लेख नहीं मिलता है।

खाचरी मुद्रा के अनन्तर कवि ने 'अगोचरी मुद्रा' का वर्णन किया है। योग दर्शन के विद्वानों के मतानुसार नासिका के अग्रभाग पर मन को रोक कर स्थिर करना अगोचरी मुद्रा है। इसकी साधना से मन के समस्त विकार, भ्रम और मायादि बन्धन विच्छिन्न हो जाते है। 'घेरण्ड संहिता' मे जिन पचीस प्रमुख मुद्राओं का उल्लेख हुआ है उसमें अगोचरी को मान्यता नहीं दी गई है। चरनदास ने अगोचरी मुद्रा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

कहू अगोचरि चौथी मुद्रा। तामे सुख पावै योगीन्द्रा ॥
या मुद्रा का संखन बासा। शुकदेव कहै सुन चरणहि दास।
ज्ञान सुरति दोउ एक ह्वै पलट अगोचर जाय।
शब्द अनाहद म रतै मन इन्द्री थिरपाय ॥

मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत कवि द्वारा वर्णित अंतिम मुद्रा है उनमनी मुद्रा। इसकी स्थिति दशवें द्वार मे मानी गई है। इसकी साधना से समाधि सिद्ध होती है और समस्त वासनाएँ विनष्ट हो जाती है। इसके द्वारा द्वैत की भावना विनष्ट होती है तथा साधक और साध्य, ध्याता और ध्येय में एकात्मकता स्थापित होती है। इस स्थिति मे समस्त क्रियाए विनष्ट हो जाती है और योगी परमहंस के रूप में विचरण करता है। उनमनी मुद्रा का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों मे किया है :—

पचवी मुद्रा उनमनी दशवें द्वारे वास।
सिद्धि समाधि मिलै जहा दग्धहोय सब आस ॥
आनदहि आनन्द जहा तहां न काल कलेश।
तीनौ गुन नहि पाइये ज्ञानहि माया लेश ॥
जीवातम परमात्मा होय जाय वा ठौर।
ध्याता ध्यानन ध्येह जह तहां न किरिया और ॥

बंध

'अष्टांग योग वर्णन' के अन्तर्गत कवि ने चार बंध—महाबंध, मूलबंध, जलंधर बंध तथा उड्डान बंध, का वर्णन किया है। प्राणायाम साधना मे बंधों का बड़ा महत्व है। बंधों के बिना प्राणायाम करना लाभप्रद नहीं है। बंधो के बिना प्राणायाम मे साधक सफल भी नहीं हो सकता। बंधो के प्रयोग की विधि निम्नलिखित है:—

१. पूरक के समय—मूलबंध तथा उड्डियान बंध।

२. कुम्भक के समय—मूल बंध तथा जालन्धर बंध।

३. रेचक के समय : मूलबंध तथा उड्डियान बंध।

मूलबंध प्राणायाम के प्रारम्भ से अंत तक रहता है। इसके अतिरिक्त एक और बंध का रहना आवश्यक होता है। गुदा के दृढ़तापूर्वक सकोच को मूलबंध, ठुड्डी के कंठकूप में दृढ़तापूर्वक स्थापन को जालंधर बंध और पेट के नाभि से

नीचे एव ऊपर के आठ अगुल भाग को पश्चिमोत्तान करना उड्डियान बध है। इन बन्धो को मुद्रा भी कहा जाता है।

चरनदास द्वारा वर्णित विविध बधो मे महाबन्ध सर्वप्रथम है। महाबध मे योगी अपने वाम पाद को सीवन मे तथा दक्षिण पाद को वाम पाद की जघा के मूल में ऊपर की ओर रखे। तदनन्तर पाँच घर्षण करके वाम नासिका से पूरक करे। कुभक करते समय उभय हस्तो से दक्षिण पैर के घुटने को ग्रहण किये रहे तथा मन को सुषुम्णा नाडी मे नियोजित करके अपने हृदय मे कुडलिनी शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्म रन्ध्र मे ले जाने की भावना को दृढ करे। योगी स्वशक्ति तथा अभ्यासानुसार कुभक करके दक्षिण नासिका से शनैः-शनैः रेचक करे। वाम अग मे उसे (योगी को) जितनी मुद्राए करनी अपेक्षित हो, इसी प्रकार करे। वाम अग की मुद्राए कर लेने के अनन्तर फिर उतनी ही (जितनी वामाग मे हुई हैं) मुद्राए दक्षिणांग मे करे। इस क्रिया से वही फल प्राप्त होता है जो कि महामुद्रा से प्राप्त होता है। महाबध दो प्रकार का माना गया है। प्रथम मे योगी सिद्धासन से बैठकर मूलबन्ध को बराबर दृढता से लगा के दोनो हाथ चूतडो के समीप स्थित करके पाच घर्षण करे। इसके अनन्तर वह दोनो नासिकाओं से पूरक करे। कुभक करता हुआ योगी मन मे यह भावना दृढ करे कि वह कुडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा है। ऐसी भावना को दृढ करता हुआ योगी शिरासना सहित ऊपर उठकर कन्द स्थान को रगडे। अपनी इच्छा के अनुसार कुभक करके दोनो नासिकाओ से धीरे-धीरे रेचक करे। महाबन्ध के दूसरे प्रकार मे योगी पद्मासन से बैठकर वाम नासिका से पच घर्षण करे। तदनन्तर उसी नासिका से पूरक को भरे। कुभक के समय लीलासन से स्थित होकर अपने मन मे यह भावना दृढ करे कि मैं कुडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा हूँ। इसके पश्चात् योगी यथाशक्ति कुभक कर लेने के अनन्तर दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। योगी वामाग मे जितनी मुद्राए करनी हो उन्हें करके फिर दक्षिणांग मे इसके विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्राए करे जितनी चन्द्राग मे की है।

महाबध की उपर्युक्त क्रिया जिसका इतने विस्तार मे वर्णन हुआ है, वही 'घेरड सहिता' में अत्यन्त सक्षिप्त शब्दो मे वर्णित है। ऋषि घेरड के अनुसार बाईं एडी से पायुमूल (गुदा) का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बाईं एडी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्य देश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्य देश को सिकोड और जालधर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसका नाम महाबध है :—

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूल निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद् गुल्फ सपीड्य यत्नतः सुधीः॥
शनैःशनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुंचयेच्छनैः।
जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १८ तथा १९

महाबंध का जो सविस्तार विवेचन ऊपर भिन्न भिन्न योगदर्शन के ग्रन्थों मे हुआ है, उसको सूत्र रूप मे चरनदास के निम्नलिखित पद्यांश मे पढ़िये। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि की महाबंध विषयक धारणा और शास्त्रीय-मत में कोई अन्तर नहीं है। अत: कवि की इस रचना मे परम्परागत सैद्धांतिक विचार-धारा ही प्रमुख है। अब कवि के शब्दों मे इस वर्णन को सुनिये :—

महाबन्ध ताहि पहल बताऊ। पाछे मूलबन्ध सम भाऊ ॥
बाया पांव सिवन गहि दीजे। मूलद्वार एडी बध कीजै ॥
दहिनी जंघ जघ पर लावै। गउमुख आसन नाम कहावै ॥
राखै चिबुक हृदय पर लाय। पवनराह पूरब को जाय ॥
ध्यान त्रिकुटी सयम करै। प्राणवायु हिरदे मे धरै ॥
महाबन्ध ऐस करि साधै। गुरु प्रताप याही आराधै ॥
बिना पुरुष तिरिया कू जानो। बन्ध बिना मुद्रा पहिचानो ॥
निरफल जाय पुरुष बिन नारी। महाबन्ध बिनु मुद्रा वारी ॥
माहि कठ के ध्यान लगावै। सुरत निरत हाई ठहरावै ॥
महाबन्ध अस्थत करै, सो योगी ह्वै जाय।
पवन पथ मुदित करै, ध्यान कठ मे लाय ॥

शशियरकू सूरज पर लावै। रेचक पूरक पवन फिरावै ॥
पहर-पहर भर पवन भरीजै। प्रथम अल्प अभ्यास करीजै ॥

महाबध की साधना का बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। कवि के मत से जो योगी इसकी साधना करता है वह जरा, मृत्यु, मन्दाग्नि आदि पर विजयी होकर अमरत्व प्राप्त करता है।[1]

---

१. महाबन्ध करै अभ्यासा। अमृत अच पियासा ॥
जरा मृत्यु देही नहि आवै। महाबन्ध तीनौ गुन पावै ॥
जठर अग्नि परचै बहुभारी। निशिदिन मांहि करै अठवारी ॥

'घेरंड संहिता' मे इसे जरामरणविनाशिनी तथा सकलसिद्धिप्रदायिनी मुद्रा कहा गया है :—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ॥
—तृतीयोपदेशः, श्लोक २०

महाबंध के पश्चात् कवि ने मूलबंध का वर्णन किया है। गुह्य प्रदेश को एड़ी से दबाकर भली-भाँति बधे हुए अपान वायु को बल के साथ शनैः-शनैः ऊपर को खीचे। इस क्रिया का नाम मूलबध है। यह बुढ़ापे और मृत्यु को दूर करती है।[१] 'घेरंड संहिता' के अनुसार वाम एड़ी से गुह्यप्रदेश को सकुचित करे तथा यत्न के साथ मेरुदड मे नाभिग्रथि को लगाकर दावे तथा दक्षिण एड़ी से उपस्थ को दृढता के साथ दाबकर रखे, इसको मूलबन्ध कहते है। इस मुद्रा से बुढापा निकट नहीं आता है।[२] मूलबन्ध के इस शास्त्रीय विवेचन मे चरनदास का पूर्ण मतैक्य है। कवि ने परम्परागत विचार धारा के अनुसार बाई एड़ी से गुदा प्रदेश के सकुचन और यत्न के साथ मेरुदड नाभिग्रन्थ को लगाकर दबाने तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढता के साथ दाबकर रखने की क्रिया का वर्णन तो किया ही है परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने कपडे की एक गेंद को गुदा के मध्य कस कर वायु को अवरुद्ध करने के उपाय का भी उपदेश दिया है। इस उपाय से भी नीचे की पवन ऊपर जाती है और सहज ही प्राण तथा अपानवायु मिलकर एक हो जाती है। कवि द्वारा वर्णित मूलबन्ध प्रकरण मे कतिपय महत्वपूर्ण पक्तियो को यहाँ उद्धृत करना असगत नहीं होगा :—

अब मै मूलबन्ध बतलाऊँ। ज्यो का त्यो साधन दिखलाऊँ ॥
गुदा वास याका तुम जानो। गुदा द्वार बन्धन है ठाना ॥
बायें पाव की एड़ी सेती। मूल द्वार रोकै करि हेती ॥
ऊरध ही कू खैचन कीजै। शुकदेव कहै नीके सुन लीजै ॥
अरु कबहू मन ऐसी धरै। आसन पदम करन कू करे ॥
कपड़े की इक गेंद बनावै। गुदा मध्य कसबध लगावै ॥
यौं भी वायु सधै वा भाती। जोपै लाग रहै दिन राती ॥
पवन तले की ऊपर जावै। प्राण अपान सहज मिल जावै ॥
नाद बिंद रल मिलजा दोई। एक वर्ण साधै जो कोई ॥

---

१. पादमूलेन सम्पीड्य गुदामार्गं सुयंत्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत् ॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।

२. पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुचयेत्ततः।
नाभिग्रंथि मेरुदंडे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥
घे॰ सं॰—तृतीयोपदेशः, श्लोक १४-१५

मूलबन्ध की साधना का महत्व निम्नलिखित है :—

मूलबन्ध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई ॥
रेता ऊरध यामे सधै। दिन दिन आयु सवाई बधै ॥
यासू कारज सब वनि आवे। रोगरक्त को सभी नशावै ॥
योग माहि यह भी परवान। बूढ़ो देह पलट का ज्वान ॥
जठर अगन बाढ़ै अधिकाय। जो चाहै तो बहुतै खाय ॥

'घेरंड संहिता' के अनुसार जो साधक भवसागर के पार जाने के आकांक्षी है, व एकांत वा निर्जन स्थान में इस मुद्रा का अभ्यास करे। इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से निश्चय ही मरुसिद्धि हो सकती है। अतएव साधक आलस्य का त्याग, मौनधारण करके, यत्न के साथ इसकी साधना करे।[1]

महाबन्ध तथा मूलबन्ध के अनन्तर कवि ने जालन्धर बंध का वर्णन किया है। कंठ को संकुचित कर के हृदय पर ठोढी को रखने की क्रिया का नाम जालंधर बन्ध है। इससे सोलह प्रकार का आधारबन्ध हो सकता है और यह मृत्यु को पराजित करता है।[2] 'ग्रहयामल' में लिखा है कि कंठ को सिकोड़ कर ठोढी को दृढता के साथ हृदय पर रखे, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरंतर परिपूर्ण रहता है।[3] एक अन्य संहिता में उल्लेख हुआ है कि गले की नसों को बांधकर ठोढी को हृदय पर रखकर कुंभक करने की क्रिया को जालंधर बन्ध कहते है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है।[4] संत चरनदास के शब्दों में जालंधर बन्ध निम्नलिखित है :—

तीजा बंध जलंधर जानौ। कंठ वास नाका पहिचानौ ॥
ग्रीवा लटक चिबुक हिय लावै। कंठ पवन रोके परचावै ॥

---

१ संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनीतु विजितालसः ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १६–१७

२. कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥

३. कंठमाकुच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः ॥

४. बद्ध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरो प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥

हिरदै प्राण पूरकरि रहिये । बंध जलधर यासू कहिये ॥
अरध पवन नीचे को जाय । अरध पवन ऊरध कू लाय ॥
उदर मध्य लै ताहि विलोय । ब्रह्म रन्ध्र जा पहुंचै सोय ॥
इह विधि ब्रह्म पथ कू धावै । सहजै सहजै मध्य समावै ॥
जरामरण जह भय नहि व्यापै । लहै अमर पद होरह आपै ॥
चरणदास शुकदेव बतावै । जांपै बध उड्यान लगावै ॥

प्रस्तुत उद्धरण की पक्तिया म वर्णित जालधर बन्ध का विषय 'ग्रहयामल' एव 'घेरड सहिता' से पूर्णरूपेण साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त कवि ने वायु सचार और नियत्रण पर विचार व्यक्त करके विषय को और भी अधिक बोधगम्य बना दिया है। शैली की दृष्टि से दुरूह विषय को कवि ने सरल एव स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है।

जालधर बन्ध के पश्चात् कवि ने उड्डीयानबन्ध का उल्लेख 'अष्टांगयोग' प्रकरण मे किया है। शास्त्रकारो के मत से नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव मे सिकोडे अर्थात् उदर के अधोभाग मे स्थित गुह्यादिचक्र स्थित समस्त नाडियो को नाभि के ऊपर को उठावे। इसी का नाम उड्डीयानबन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के हेतु सिह सदृश्य है।[1] योगयुक्त व्यक्ति प्रतिदिन चार बार इस उड्डीयान बन्ध का आचरण करे तो उसकी नाभि शुद्ध और मरुत् शुद्धि हो जाती है। षट्मास तक इस बन्ध का अभ्यास करने मात्र से योगी मृत्युजय हो सकता है। इसका आचरण करने वाले व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है एव शरीर मे पुष्टि करने वाला रस सचालित होता है। इसके प्रसाद से योगियों के रोग नष्ट हो जाते हैं।[2] 'दत्तात्रेयसहिता' मे भी उल्लेख मिलता है कि उड्डीयानबन्ध का

---

१. उदरे पश्चिम तान नाभेरूर्ध्वन्तु कारयेत् ।
उड्डीयान कुरुते यस्तदविश्रान्त महाखगः ॥
उड्डीयान त्वसौ मृत्युमातगकेसरी इव ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १०

२. नित्य यः कुरुते योगी चतुर्वार दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत् ॥
षण्मासमभ्यसेद्योगी मृत्यु जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते ॥
रोगाणा सक्षेपश्चापि योगिना भवति ध्रुवम् ।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः ॥
निर्जने सुस्थिते देशे बन्ध परमदुर्लभम् ।

अभ्यास करने पर वृद्ध पुरुष भी तरुण बन जाता है। जो इसका षट् मास पर्यन्त अभ्यास कर लेता है वह साधक मृत्यु को पराजित कर देता है।[1] अब चरनदास के उड्डीयान-बन्ध विषयक विचार अध्ययनीय है। कवि के शब्दों मे प्रस्तुत बन्ध निम्नांकित है :—

बध उड्यान आगे कहा, जिह्वा उलट लगाय।
कान आँख मुख नाक के, स्वर सब बध कराय॥
इह सुबन्ध महिमा अधिक, लागे बजर किवार।
सात द्वार की बाट ही, निकसै नाहि बयार॥
पाचौ मुद्रा बध सब, दिखलाया यह देश।
शुकदेव कहै रणजीत सुन, और कहूँ उपदेश॥

उड्डीयानबन्ध विषयक उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राणायाम मे रेचक के समय नाभि को पीछे खीचकर मेरुदंड से मिलाए। इससे वायु सुषुम्णा मे प्रवेश करेगा। अभ्यास से वायु का ब्रह्म रन्ध्र मे लय हो जाना उड्डीयान बन्ध है। परन्तु चरनदास के मत से जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश मे लगाए। साधक कान, आँख, मुँह, नाक के समस्त स्वरो को अवरुद्ध करे और वायु को किसी मार्ग से बाहर निकलने न दे। यह क्रिया उड्डीयान बन्ध है। इस प्रकार से दोनो के चिन्तन और प्रक्रिया वर्णन मे जो अतर है वह पूर्णतया स्पष्ट है।

प्रत्याहार

विषयो से असम्बद्ध होकर इन्द्रियाँ जब चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है, तो उस अवस्था का नाम प्रत्याहार है। जितेन्द्रिय साधक अथवा योगी की इन्द्रियाँ ध्येयवस्तु मे अनुरक्त अथवा सलग्न चित्त के सदृश्य हो जाती हैं। चित्त के निरुद्ध हो जाने पर वे स्वतः बिना परिश्रम निरुद्ध हो जाती हैं। इस दशा मे इन्द्रियाँ चित्तानुगामिनी समझी जाती है। सक्षेप मे विषयासम्प्रयोगकाल मे चित्तानुगमन प्रत्याहार है। प्रत्याहार मे इन्द्रियो का स्वरागद्वेषात्मक विषयो से विवेक रूपी बल के द्वारा निवृत्त करके उनका चित्त के आधीन करना परमावश्यक है। 'योगदर्शन' के अनुसार :—

"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार"

—योगदर्शन २-५४

अर्थात् "अपने विषयो के सग से रहित होने पर, चित्त के सदृश्य रूप मे अपरिश्रुत हो जाना प्रत्याहार है।" प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर साधक बाह्यज्ञान शून्य हो जाता है। यदि किसी अन्य साधन से मन का निरोध हो जाता है तो इन्द्रियों का

---

१. अभ्यसेद्यस्तु सत्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥

निरोध रूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है। 'घेरंड संहिता' के मत से प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर काम, क्रोध, लोभ मोह एवं मद तथा मात्सर्य विनष्ट हो जाते हैं। चित्त जिस विषय में चचल होकर भ्रमण करे, प्रत्याहार के द्वारा उस विषय से मन को हटाकर आत्मा को वश मे करे। चाहे सम्मान हो, चाहे अपमान, कर्णप्रिय हो अथवा कर्ण कटु, किसी मे भी चित्त को न लगाकर आत्मा मे लगाए। साधक सुगंधि-दुर्गन्धि आदि पर विजय प्राप्त कर मन को आत्मा मे नियोजित करे। मन को विभिन्न स्वादो, रसो और चचल विषयो से हटाकर आत्मा मे लगाना ही प्रत्याहार है।[1] 'योग दर्शन' के एक अन्य आचार्य का मत है कि यदि अठारहो मर्म स्थानो मे से प्रत्येक स्थान मे मन से परमात्मा को धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।[2] 'विष्णु-पुराण' मे प्रत्याहार के महत्त्व एवं उपयोगिता के विषय मे अनेक श्लोको की रचना हुई है। उक्त ग्रन्थ मे उल्लेख हुआ है कि योग के साधक के हेतु यह आवश्यक है कि वह प्रत्याहार परायण होकर शब्द आदि विषयो मे अनुरक्त इन्द्रिया का निरोध करके उन्हे चित्तानुगामिनी बना ले। इसमे जितेन्द्रियता मे दृढता आती है।[3]

---

१. अथात. सप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारमनुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥
ततस्ततो नियम्य तदात्मन्येव वशनयेत् ।
पुरस्कार तिरस्कार सुश्राव्य भावमानकम् ॥
मनस्तस्मान्नियम्येत्तदात्मन्येव वश नयेत् ।
सुगन्धो वापिकदुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः ॥
तस्मात्प्रत्याहरे देतदात्मन्येव वश नयेत् ।
मधुराम्लकतिक्तादि रसान्याति यदा मनः ॥
तदा प्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येव वश नयेत् ॥

घे० स०—चतुर्थोपदेशः, श्लोक १–५

२. यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात् स्थान समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥
अठारह मर्म स्थान निम्नलिखित है :—

पादांगुष्ठ, गुल्फ, जघामध्य, ऊरुमध्य, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकर्पूर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्र मडल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय एवं करमूल।

३. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहार परायणः ॥
वश्यता परमातेन जायते निष्कलात्मनाम् ।
इन्द्रियाणाम वश्यैस्तैर्न योगी योग साधकः ॥

विष्णुपुराण

प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ चित्त के अनुरूप हो जाती हैं। यदि साधक बाह्य जगत् से विमुख है और उसे नहीं देखना चाहता है तो भी पूर्णरूपेण खुले रहने पर भी उसके नेत्र बाह्य संसार के चित्र को नहीं ग्रहण करते। इसी प्रकार स्वादेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय आदि अपने-अपने कार्य को भूल जाती हैं और मन के अनुरूप बन जाती हैं। ये इन्द्रियां मन के इतनी वशीभूत हो जाती हैं कि स्वतः मनो-वांछित पदार्थ मन के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "यदि मन संगीत सुनना चाहता है तो कर्णेन्द्रिय, मधुर से मधुर शब्द-तरंगों को ग्रहण कर मन के समीप उपस्थित कर देती है। यदि मन सुन्दर दृश्य देखना चाहता है तो नेत्र, चित्र तरंगो को ग्रहण कर मन के पटल पर परम सुन्दर चित्र अंकित कर देता है"।[1] प्राणायाम मन को नियंत्रित कर देता है और प्रत्याहार इन्द्रियों को।

चरनदास के मतानुसार प्रत्याहार की परिभाषा निम्नलिखित है :—

प्रत्याहार पाचवां कहिये। सो योगी को निश्चय चहिये॥
विषय ओर इन्द्री जो जावै। अपने स्वादन को ललचावै॥
तिनकी ओर न जाने देई। प्रत्याहार कहावै सोई॥

संत चरनदास ने इन्द्रिय-निग्रह पर बहुत जोर दिया है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ, पैर एवं सर को अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार साधक को अपनी सब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए। जिस प्रकार माता अपनी संतान को विषधर, अग्नि तथा घातक शस्त्रों से दूर रखती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् साधक को अपनी इन्द्रियो का निग्रह कर लेना परमावश्यक है। कवि के शब्दों में :—

रोकि रोकि इन्द्रिन को लावै। ध्यान आतमा माहि लगावै॥
जैसे कछुआ अंग समेटै। रक सीत काला मे लेटै॥
जैसे माता पूत खिलावै। बालक वस्तू को ललचावै॥
सरप आग अरु शस्तर कोई। कछू और दुखदायी होई॥
तिनको बालक नाही जानै। पकड़न को दौड़ मन आनै॥

बालक जानत है नहीं, दुखदायी सब एह।
जो पकरूंगा हाथ से, दुख पावैगी देह॥
माता जानत है सबै, खोटी खरी विकार।
राखै सुत को खैंचि करि, बारंबार निहार॥
ऐसे ही बुधि ज्ञान सों, पांचौ इन्द्री रोक।
विषय ओर सो फेरिये, लहै न अपना भोग॥

---

1. 'कबीर का रहस्यवाद', चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७२

इन पंक्तियों में कवि ने सुन्दर उपमाओं एव उदाहरणो के द्वारा विषय को रोचक एव बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार की उपमाओ का प्रयोग संत सुन्दरदास ने भी 'ज्ञान-समुद्र' ग्रन्थ में प्रत्याहार-प्रकरण के अन्तर्गत किया है।[1]

इन्द्रियाँ भोग्य सामग्री पाने से और भी प्रबल पड़ती हैं। नैन रूप का भोग करते हैं, नासिका सुगन्ध का, त्वचा स्पर्श का, कर्ण शब्द का एव जिह्वा षट्रस का। इन्द्रियाँ आहार मिलते रहने से बिगड़ जाती हैं। इन्द्रियों के निरोध से मन का निरोध होता है और समस्त विषय विनष्ट हो जाता है। कवि के मतानुसार :—

ज्यो-ज्यो इनको भोग है, परबल होती जाहि।
बिना भोग होही नहीं, वह बल रहै जु नाहि ॥
नैन जु भोगै रूप को, और गन्ध को घ्रान।
षटरस भोगै जीभ ही, शब्दहि भोगै कान ॥
त्वचा भोगि अस्पर्श को, बाढै अधिक विकार।
पांचौ इन्द्री जानि ले, इनका यही अहार ॥
इनसे मिलि मिलि मन बिगड़ि, होय गया कछु और।
इन्द्री रोकै मन रुकै, रहै जु अपनी ठौर ॥
ज्यों ज्यो इन्द्री थिर रहै, विषय जाय सब खोय ॥

ध्यान

गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि जिन व्यक्तियो के मन वश में नहीं हैं उनके लिए योग साधना अत्यन्त दुरूह वा दुःसाध्य कार्य है, परन्तु मन को वश में किये हुए प्रयत्नशील साधक साधन के द्वारा योग प्राप्त कर लेते हैं:-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्यो वाप्तुमुपायतः ॥—गीता ६।३६

---

१. श्रवण शब्द को ग्रहत है नयन ग्रहत है रूप।
गंध ग्रहत है नासिका, रसना रस की चूप ॥
रसना रस की चूप तुचा सु स्पर्श हि चाहै।
इनि पचनि कौ फेरि आतमा नित्याराहै ॥
कूर्म अंगहि ग्रहै प्रभा रवि कर्षय द्रवणं।
इम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक श्रवण ॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ६६

इतने चचल मन का निग्रह करना बड़ा ही कठिन काम है परन्तु फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह वश मे हो सकता है।[1] यह मत आत्म एवं अनात्म-तत्वो के मध्य विकसित होने वाली विलक्षण वस्तु है। मन स्वतः अनात्म तथा जड़ है, फिर भी समस्त बन्धन एव मोक्ष इसी के आधीन है।[2] मन ही जगत् है और जगत् का कारण है। यही सकल्प-विकल्पों का जनक है। यह ग्रहीत पदार्थों के आकार को धारण करके तदाकार बन जाता है। अभ्यास एव वैराग्य के द्वारा ही इस चित्त वा मन का निरोध सम्भव है। महर्षि पतजलि के अनुसार—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"—पातंजल यो०सूत्र, समाधिपाद, १२

यह चचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ से हटाकर बारबार परब्रह्म मे नियोजित करना चाहिए।[3] मन को समस्त शरीर का राजा कहा गया है। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ इसी मन की अनुगामिनी हैं। मन समस्त क्लेशो और आपदाओं का कारण है। ध्यान, मन का ही परिवर्तित स्वरूप है। किसी वस्तु विशेष मे अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करना चाहिए। प्रत्यय की एकतानता को ध्यान कहते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अभीष्ट शक्ति व स्वकीया ब्रह्म मूर्ति के चिन्तन करने का नाम ही ध्यान है। ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ही ध्यान है। चित्त-वृत्ति का गगा के प्रवाह की भाति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत रूप से लगा रहना ही ध्यान है।

'अष्टागयोग' मे 'ध्यान' का सप्तम स्थान है। यम, नियमादि प्रथम छः साधन ध्यान में विशेष सहायक होते हैं। अष्टाग योग के इन प्रथम छः की साधना करते-करते ध्यान की योग्यता साधक को स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। 'ध्यान' के अनेक प्रकार हैं। परन्तु योगी वा साधक स्वरुचि एव सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी एक की साधना कर सकता है। सत्य तत्त्व परब्रह्म एक ही है, परन्तु उस तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। मार्ग भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं। ध्यान अभेद या भेद अथवा अद्वैत या द्वैत उभय भेदों से किया जाता है। अभेद के अन्तर्गत ब्रह्म के ध्यान के निम्नलिखित चार भेद माने गये हैं :—

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रह चल।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ —गीता ६।३५

२. मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः —गीता

३. यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ —गीता ६।२६

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

इसी प्रकार भेद मे भी भगवान् के 'ध्यान' के निम्नलिखित चार भेद माने गए हैं :—

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

'ध्यान योग' के तीन प्रकार माने गये हैं :—

१. स्थूल ध्यान २. ज्योतिर्ध्यान ३. सूक्ष्म ध्यान।

'घेरड संहिता' मे इन तीनों प्रकार के ध्यान का उल्लेख निम्नलिखित शब्दो मे हुआ है :—

> स्थूल ज्योतिस्तथा सूक्ष्म ध्यानस्य त्रिविध विदुः।
> स्थूल मूर्तिमय प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
> सूक्ष्मं विन्दुमय ब्रह्म कुडली परदेवता॥
>
> घे० स० —षष्ठोपदेशः, १

अर्थात् ध्यान तीन प्रकार का है—स्थूल, ध्यान ज्योतिर्ध्यान तथा सूक्ष्म ध्यान। जिसमें मूर्तिमान् अभीष्ट देवता का अथवा गुरु का चिन्तवन किया जाता है, उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। जिसमे तेजोमय ब्रह्म या प्रकृति की भावना की जाती है, उसे ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और जिस 'ध्यान' के द्वारा विन्दुमय ब्रह्म और कुन्डलिनी शक्ति का दर्शन लाभ हो उसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

चरनदास जी के मतानुसार 'ध्यान' चार प्रकार का होता है। इस दृष्टिकोण से कवि की निम्नलिखित पक्तियां पठनीय होंगी :—

> चरणदास अब ध्यान सुन, कहूँ तोहि समुझाय।
> कहि शुकदेव सो सुनि समुझि, करौ ताहि चितलाय॥
> ध्यानजु चारि प्रकार के, कहूँ जु उनकी रीत।
> पदस्थ पिंड रूपस्थ है, चौथा रूपातीत॥

स्पष्ट है कि कवि ने पदस्थ ध्यान, पिंडस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान तथा रूपातीत ध्यान को मान्यता दी है।

अब यहा पर योगशास्त्र के प्रतिपादित ध्यान के विभिन्न अग विचारणीय होगे। घेरड ऋषि के मतानुसार साधक नेत्र मूद कर अपने मन मे ऐसा ध्यान करे कि एक अनुत्तम सागर बह रहा है। उस समुद्र के बीच में एक रत्नमय द्वीप है। वह पद्मी

रत्नमयी बालुका वाला होने से चारो ओर शोभा पा रहे हैं। बहुत से पुष्पो के प्रफुल्लित होने से वृक्षों की शोभा असीम होती है। कदम्ब वन के चारो ओर मालती, मल्लिका, केसर, चम्पा तथा स्थल पद्मों के अनेक वृक्ष इस द्वीप की खाई के समान प्रतीत होते हैं। इन समस्त वृक्षों के पुष्प-सौरभ से दिशाए सुरभित हैं। योगी मन मे चिन्तवन करे कि उस सुन्दर वन के मध्य में एक सुन्दर कल्पवृक्ष विद्यमान है। उस कल्पवृक्ष मे चतुर्वेदमय शाखायें हैं जो कमनीय कुसुमों से लदी हुई हैं। इस वृक्ष की शाखाओ पर भ्रमर गुजार एवं कोकिलाए कुहू-कुहू शब्द कर रही हैं। इस कल्पतरु के नीचे महामाणिक्य जटित एक रत्नमडप शोभायमान है जिसके नीचे एक मनोहर पलग बिछा है और इसी पर अभीष्ट देव बिराजमान हैं। सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट अभीष्ट देव के रूप, भूषण, वाहन आदि का ध्यान करे। इसे ही स्थूल ध्यान कहते हैं।[1]

स्थूल ध्यान के अनन्तर तेजोध्यान या ज्योतिर्मय ध्यान है। इस ध्यान से योग सिद्धि और आत्मप्रत्यक्षताशक्ति उत्पन्न होती है। मूलाधार मे कुंडलिनी सर्पाकार विद्यमान है। इस स्थान में जीवात्मा दीपशिखा के समान अवस्थित है। इस स्थान पर ज्योतिब्रह्म का ध्यान करे। इसको तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। एक और प्रकार का नाम है तेजोध्यान। उभय भ्रू के मध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग मे जो

---

१. स्वकीय हृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नवालुकामयम्॥
चतुर्दिक्षु नीपतरुर्बहुपुष्प समन्वितः।
नीपो पवनसंकूले वेष्टित परिखा इव॥
मालतीमल्लिका जाती केशरैश्चपकैस्तथा।
पारिजातैः स्थलैः पद्मैर्गंधामोदितदिङ्मुखैः॥
तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुःशाखचतुर्वेद नित्यपुष्पफलान्वितम्॥
भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुंजन्ति निगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्य मंडपम्॥
तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यंकं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम्॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथाभूषणवाहनम्।
तद्रूप ध्यायते नित्य स्थूलध्यानमिदं विदुः॥

घे० सं०—षष्ठोपदेशः २-८

ॐकारमय और शिखामाला समन्वित ज्योति विद्यमान है, उसी ज्योति का साधक ध्यान करे। इसे भी ज्योतिर्ध्यान कहते हैं।[1]

'ध्यान' का तृतीय भेद है 'सूक्ष्म ध्यान' साधक को शरीरस्थ कुंडलिनी बड़े प्रारब्ध का उदय होने पर जाग्रत होती है। यह आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध मार्ग से निकल ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल मे परिभ्रमण करती है। भ्रमण करते समय सूक्ष्मत्व और चचलता के कारण ध्यानयोग मे कुंडलिनी को देखना कठिन होता है। योगी शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ कुंडलिनी का ध्यान करे। इसी का नाम सूक्ष्म ध्यान है। यह ध्यान अति गोपनीय और देवताओ को भी दुर्लभ है। स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है और ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है।[2]

ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास के ध्यान के निम्नलिखित चार भेद हैं :—

१. पदस्थ ध्यान २. पिंडस्थ ध्यान ३. रूपस्थ ध्यान ४. रूपातीत ध्यान।

कवि का यह ध्यानभेद योगशास्त्र-प्रतिपादित ध्यान भेद से पृथक है। 'घेरड-सहिता' मे ध्यान के तीन भेद माने गये हैं जिनका उल्लेख ऊपर सविस्तार हो-

---

१. कथितं स्थूलध्यानस्तु तेजोध्यान शृणुष्व मे।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ॥
मूलाधारे कुडलिनी भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः ॥
ध्यायेत्तेजोमय ब्रह्म तेजोध्यानात्परात्परम्।
भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम् ॥
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्त तेजोध्यान तदेव हि।

घे० स० —षष्ठोपदेशः, १६ तथा १७

२ तेजोध्यान श्रुत सूक्ष्मध्यान वदाम्यहम्।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुडली जाग्रता भवेत् ॥
आत्मनः सहयोगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्गता।
विहरेद् राजमार्गे च चचलत्वान्न दृश्यते ॥
शाम्भवी मुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिद्ध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिद गोप्य देवानामपि दुर्लभम् ॥
स्थूलध्यानाच्छतगुण तेजोध्यान प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यान विशिष्यते ॥

घे० स० —षष्ठोपदेशः, १८-२१

चुका है । यह ज्ञात नहीं है कि प्रस्तुत ध्यान भेद कवि ने किन ग्रन्थो के आधार पर किया है । इस सूत्र का उल्लेख स्वतः कवि ने भी नही किया है ।

अब कवि द्वारा वर्णित 'ध्यान भेद प्रकरण' विचारणीय है । कवि के अनुसार सर्वप्रथम ध्यान भेद है पदस्थ ध्यान । साधक, हृदय में ब्रह्म के चरण कमल का ध्यान करने के अनन्तर उसके समस्त अगों पर ध्यान दे । ब्रह्म की मूर्ति का नखशिख पर्यन्त ध्यान करके पुनः उसके चरणो मे ध्यान नियोजित करे । इसके अनन्तर वह कुम्भक को धारण करता हुआ प्रणव का जप करे । इसको करने से ब्रह्म मे मन नियोजित होता है और त्रिविध ताप विनष्ट हो जाते हैं । कवि ने पदस्थ ध्यान का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है :—

हिय पद पंकज ध्यानकरि, फिरि करि सारी देह ।
नखशिख लौ छवि निरखि के, चरणन मे चितदेह ॥
कै कुम्भक ही कीजिए, हां प्रणव का जाप ।
मन निश्चल हो सहज •में, भाजै त्रैविधि ताप ॥
पदस्थ ध्यान याको कहै, करै सो जानै भेद ।
पिडस्थ ध्यान वर्णन करै, खोलि खोलि शुकदेव ॥

उपर्युक्त उद्धरण को देखने से ज्ञात होता है कि ध्यान का यह अग परम्परागत न होकर कवि की मौलिक उद्भावना है । कवि के पदस्थध्यान विषयक विचार पढने पर ऐसा ज्ञात होता है कि यह नवधा भक्ति का पाद सेवन वर्णित हो रहा है।

'पदस्थ ध्यान' के अनन्तर कवि ने पिडस्थ ध्यान का वर्णन किया है । पिडस्थ-ध्यान का वर्णन निम्नलिखित शब्दों मे हुआ है :—

ब्रह्म सोई यह पिड है, यामें करि कर्ण वास ।
कमलन के लखि देवता, लहो परायत तास ॥
सोधे सिगरे पिड को, षट् चक्रहु को ध्यान ।
शोधत शोधत आचढै, भवर गुफा अस्थान ॥
तिरवेणी सगम बहै, ज्योति जहाँ दरशाय ।
सातजन्म सुधि होय जब, ध्यान करै मन लाय ॥
आगे कमल हजार दल, सतगुरु ध्यान प्रधान ।
अमृत द्रवै बहि चलै, हस करै जहँ न्हान ॥
ऊपर तेजहि पुज है, कोटि भानु परकास ।
शून्य शिखर ता ऊपरै, योगी करै विलास ॥

सहस्र दल कमल मे कोटिशः सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान् परब्रह्म का निवास है । उसके दर्शन या प्राप्ति विभिन्न (ऊपर वर्णित) योग तथा क्रियाओं और

साधनाओं से होती है । संक्षेप में शरीर को विभिन्न मुद्राओं एवं बन्धो द्वारा शुद्ध करने के अनन्तर साधक षट्चक्र का ध्यान करे और भँवर गुफा मे प्रवेश करे। यही वह त्रिवेणी विद्यमान है जहाँ दिव्य ज्योति के दर्शन उपलब्ध होते हैं । इससे आगे सहस्र दल कमल है जहाँ तेजपुंज ब्रह्म का निवास है। इस शून्य शिखर पर चढ़ कर योगी विलास करे। कवि के मतानुसार यही पिण्डस्थ ध्यान है। कवि द्वारा उल्लिखित इस ध्यान भेद का समर्थन 'घेरण्ड सहिता', तथा 'पातजल योग दर्शन' से किसी प्रकार नही होता है।

इसके अनन्तर रूपस्थ ध्यान का वर्णन है। कवि द्वारा वर्णित रूपस्थ ध्यान बहुत कुछ 'घेरण्ड सहिता' मे वर्णित स्थूल ध्यान से साम्य रखता है जैसा कि निम्न-लिखित उद्धरण से प्रमाणित होगा :—

रूपस्थ ध्यान को भेद सुनि, कीजै मन ठहराय।
देखै त्रिकुटी मध्य ह्वै, निश्चल दृष्टि लगाय॥
ध्यान किये पहिले जहाँ, अगन फूल दृष्टाय।
केते ग्रोसन मांहिहीं, दीप ज्योति प्रकटाय॥
शनै शनै आगे जहाँ, दीप माल दरशाय।
फिरि तारो की मालसी, दामिनि बहु दमकाय॥
बहुत चन्द सूर घने, देखे कोटि अनन्त।
अणुज्योकरि सूमर भरे, ध्यान माहि दरशन्त॥
झिलमिल झिलमिल तेजमय, भासै सब संसार।
तन मन उपजै सुख घना, आनन्द अधिक अपार॥
जल अथाह में डूब ज्यों, देखै दृष्टि उघार।
जो दीखै तौ नीर ही, दश दिशि अपरम्पार॥
यही ध्यान प्रत्यक्ष है, गुरु कृपा सो होय।
कहि शुकदेव चरणदास करि, तन मन आलस खोय॥

'घेरण्ड सहिता' द्वारा प्रतिपादित स्थूल ध्यान मे भी एक विशिष्ट द्वीप का वर्णन हुआ है जिसमें असीम पुष्प,कदम्ब, मालती,मल्लिका, केसर, चम्पा, पारिजात आदि वृक्ष तथा कल्पतरु का उल्लेख हुआ है। चरनदास ने उपर्युक्त छन्द में प्रायः ऐसे ही लोक या द्वीप का वर्णन किया है। अन्तर यह है कि 'घेरण्ड सहिता' में वर्णित स्थलों में मडप, मनोहर पलंग, और उसके ऊपर विराजमान ब्रह्म की कल्पना की गई हैं जो चरनदास के इस प्रकरण में कहीं नहीं उपलब्ध होती। चरनदास ने पलंग और उस पर विराजमान ब्रह्म की कल्पना सम्भवतः इसलिए नहीं की कि उनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार अलख, अनाम, अनादि और

अजन्मा है। अतः उसे रूप एव आकार की सीमाओ मे बांधना उपयुक्त नही प्रतीत हुआ है।

इसके अनन्तर कवि ने 'रूपातीत ध्यान' का उल्लेख किया है। इसको कवि ने 'ध्यान' के समस्त भेदो मे श्रेष्ठ माना है, जैसा कि निम्नलिखित पक्तियो से स्पष्ट है :—

इस परम शून्य का अधिकी ध्यान।
सब ध्यानन मे है परधान॥

अब इसके लक्षण, परिचय तथा महत्व कवि के शब्दों मे पढ़िये:—

रूपातित शून्य ध्यानहि जानो। शून्यहि को परब्रह्म पिछानो॥
त्रिकुटी परै शून्य अस्थान। सो वह कहिये पद निर्वान॥
चिदानन्द ताकी हिय आनो। वाही के मन ही को सांनो॥
आठ पहर जह चित्त लगावो। याके कीन्हे सो लय पावो॥
ज्यो अकाश मे पक्षी धावै। धावत धावत दृष्टि न आवै॥
बहुरि अचानक दीखै आई। वह ध्यानो ऐसा ह्वै जाई॥
सो योगी यह लहै ठिकाना। सायुज्य मुक्ति होइ जाय निदाना॥

कवि द्वारा उल्लिखित इस 'रूपातीत ध्यान' का समर्थन योग शास्त्र के ग्रन्थो से नहीं होता है। यह कवि की मौलिक उद्भावना है।

धारणा

योगशास्त्र मे प्रत्याहार के पश्चात् 'धारणा' की साधना का विधान है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक आदि देशों मे से किसी उपयुक्त ध्येय देश के विषय मे चित्त को एकाग्र करना ही 'धारणा' है। 'धारणा' मे मन को किसी स्थान या वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत किया जाता है। महर्षि पतजलि के शब्दों मे :—

"देश बन्धश्चित्तस्य धारणा" —विभूति पाद ३, सूत्र १

अर्थात् ध्येय के आश्रय भूत स्थान पर चित्त की वृत्तियो को एकाग्र करके नियोजित करना ही 'धारणा' है। इस पांच भौतिक देह के पचभूतों मे यमादि से युक्त मन की वृत्तियो का 'धारण' करना ही 'धारणा' है। यह 'धारणा' ससारसागर से तारने वाली है।[1] 'गरुण पुराण' मे ध्यान लगाने के हेतु शरीर में दश स्थान निर्धारित किये गये हैं :—

---

१. पचभूतये देहे भूतेष्वेतेषु पचसु।
मनसो धारण यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः॥
धारणा सा च संसारसागरोत्तार कारणम्॥

१. नाभि २. हृदय ३. वक्षःस्थल ४. कंठ ५. मुख ६ नासिकाग्र ७. नेत्र ८. भ्रूमध्य ६. मूर्धस्थान १० प्राङ[1] ।

ये समस्त मिलाकर 'दशविध धारणा' कही गयी हैं। 'धारणा' मे केवल चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय स्थान पर बाधा जाता है, ध्येय से इसका कोई सम्बन्ध नही रहता है। 'धारणा' सिद्धि के हेतु निम्नलिखित चार मुद्राओ का अभ्यास परमावश्यक है :—

१. अगोचरी २. भूचरी ३ चाचरी ४ शाम्भवी[2] ।

चरनदास जी ने 'धारणा' प्रकरण को निम्नलिखित पचतत्वों मे विभाजित किया है :—

१. पृथ्वीतत्व की धारणा । २. जलतत्व की धारणा । ३. पावकतत्व को धारणा । ४. वायुतत्व की धारणा । ५ व्योमतत्व की धारणा ।

कवि ने 'धारणा' पर स्वमत की अभिव्यक्ति चार खडों मे की है। प्रथम खड मे कवि ने धारणा के विभिन्न पच तत्वों के लक्षण, विशेषता, महत्व और स्वरूप का उल्लेख किया है। द्वितीय खड में इन तत्वों के आकार का वर्णन है, तृतीय में तत्वों की प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई है और अन्तिम मे तत्वों के चमत्कारी प्रभाव का उल्लेख हुआ है।

प्रत्येक तत्व की 'धारणा' के विषय मे कवि के विचारो को अविकल्प यहा उद्धृत किया जाता है :—

भूमितत्व की धारणा

पहिले भूमि धारणा कीजै। ठौर काल जे मे चित्त दीजै ॥
पीताम्बर चौकोर अकारो। विधि दैवत है तहॉ विचारो ॥
प्राणलीन कर पांच घड़ी ही। चित अस्थिर होवैगा जब ही ॥
यासों पृथिवी को वश कीजै। यही धारणा जो चित दीजै ॥

सुन्दरदास ने 'भूमितत्व धारणा' का वर्णन निम्नलिखित शब्दो में किया है। पाठक दोनों कवियों द्वारा वर्णित इन तत्वो की तुलना करने पर इस निष्कर्ष पर

---

१. प्राङ नाभ्याम हृदये चाथ तृतीय तथोरसि।
कंठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्य मूर्ध्य सु ॥
किंचित् समासरस्मिश्च धारणो दश कीर्तिकः ॥ —गरुड़ पुराण

२. इन चारों मुद्राओं का सविस्तार परिचय, लक्षण एव महत्व इस ग्रन्थ के मुद्रा प्रकरण मे देखिये। पुनरुक्ति दोष से बचने के कारण यहा परिचय देना अपेक्षित नहीं है।

पहुँचेगें कि दोनो की शैली, वर्ण्य विषय मे विचित्र साम्य है। अब सुन्दरदास द्वारा वर्णित भूमि अथवा 'पृथ्वीतत्व की धारणा' पढ़िये :—

> यह चारे कोण लकार हि युक्त जानहुं पृथ्वी रूप।
> पुनि पीत वर्ण हृदि मडल कहिये विधि अंकित सु अनूप ॥
> तह घटिका पच प्राण करि लीन चित्त स्थम्भन होई।
> सुनि शिष्य अवनि जय करै नित्य ही भूमि धारणा सोई ॥

'जलतत्व की धारणा'

> हिरदे से ऊपर जल जानो। कठतई ताको पहिचानो ॥
> चन्द फाक अरु श्वेत अकारो। हृषीकेश तहँ देव निहारो ॥
> ह्या हूँ पाँच घरी अस्थापै। प्राणलीन करि चितदै आपै ॥
> व्यापै ना विष काहू विधिको। शुकदेव कहै फल जलके सिधिको ॥[1]

'पावकतत्व की धारणा'

> कंठ से ऊपर तालुका, लो पावक अस्थान।
> लाल रंग तिरकोन है, रुद्र देवता मान ॥
> तेहा लीन करि प्राण को, पांच घड़ी परमान।
> मय व्यापै नहि ज्वाल को, अग्नि धारणा जान ॥

सुन्दरदास ने इस 'धारणा' का नामकरण तेज तत्व की धारणा किया है। दोनों कवियो का विपय साम्य पठनीय है।[2]

'वायुतत्व की धारणा'

> जाके आगे वायु है, भृकुटी लौ मर्य्याद।
> मेघ वरण षटकोण है, ईश्वर देवत साध ॥

---

१. सुन्दरदास द्वारा वर्णित जलतत्व की धारणा :—
अक्षर वकार सयुक्त जानि जल चन्द्र खड निहार।
पुनि ऋषीकेश अकित अतिशोभित कठ परदाकाण ॥
तह घटिका पच प्राण करि लीन चित्त धारिकै रहिये।
विष कालकूट व्यापै नहि कबहूँ वारि धारणा कहिये ॥

२. यह अग्नि त्रिकोण रेक सयुक्त पद्मपराग आभास ॥
पुनि इन्द्र गोपु दुति मध्य तालुका कहिये रुद्र निवासं ॥
तह घटिका पच प्राण करि लीन ग्रन्थ हि उक्त बषान।
सुनि शिष्य अग्नि भय हन्ता कहिये तेज धारणा जान ॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास

प्राणलीन तह कीजिए पाच घड़ी रे तात।
पैहै खेचर सिद्धि ही तत पदही ह्वै जात॥

यह भाव सुन्दरदास के 'वायुतत्व की धारणा' मे लहरे ले रहे है। पाठको को तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।[1]

'व्योमतत्व की धारणा'

ब्रह्म रन्ध्र आकाश है, बडा जु तत्वन माहि।
श्याम बरण ब्रह्मदेवता, योगी जहां सिराहि॥
प्राणलीन घटि पाच करि, पावै मुक्ति अनूप।
व्योमतत्व की धारणा, जहा छाह नहि धूप॥

प्रस्तुत उद्धरण की तुलना कीजिए सुन्दरदास कृत 'आकाशतत्व की धारणा' से।[2]

विभिन्न तत्वो का परिचयात्मक विवरण देने के अनन्तर कवि ने इनके साथ सयुक्त अक्षरो का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों मे किया है :

पृथ्वी संग लकार ही, जल के सग बकार।
पावक संग रकार है, मारुत सग मकार॥
पच तत्व आकाश ही, सबके ऊपर जान।
अक्षर जहा हकार है, शुकदेव कहे बखान॥

उपर्युक्त इन पच तत्वों की पाँच धारणाए हैं जिनका वर्णन कवि ने निम्नलिखित छन्द मे किया है।

पहिली धारणा थमनी, दूजी द्रावण होय।
तीजी दहनी जानिये, चौथी भ्रामनी सोय॥
पंचवी नाम जु शखिनी, इनको लैवो जान।
शुकदेवा अब कहत है आगे और विधान॥

---

१. ध्रुव मध्य यकार सहित षट् कोण ऐसी लक्षविचार।
पुनि मेघ वर्ण ईश्वर करि अकित बारम्बार निहार॥
तह घटिका पच प्राण करि लीन खेचर सिद्धिहि पावै।
सुनि शिष्य धारणा वायु तत्व जो नीकै करि आनै॥

२. अब ब्रह्म रंध्र आकाश तत्व है सुभ्र वर्त्तुलाकार।
जह निश्चय जानि सदाशिव तिष्ठति अक्षर सहित हकार॥
तह घटिका पंच प्राण करि लीनं परम मुक्ति की दाता।
सुनि शिष्य धारणा व्योम तत्व की योग ग्रन्थ विख्याता॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास

पचतत्वो की 'धारणा' की तालिका निम्नलिखित होगी .—

पृथ्वीतत्व की धारणा थभिनी।
जलतत्व की धारणा द्रावणा।
तेजतत्व की धारणा दहनी।
वायुतत्व की धारणा भ्रामनी।
आकाशतत्व की धारणा शखिनी।

इन पच तत्वो की पच धारणाओं का वर्णन सुन्दरदास ने भी बड़ी रोचकता के साथ निम्नलिखित छन्द मे किया है :—

यह येक थभिनी एक द्राविणी एक सु दहनी कहिये।
पुनि येक भ्रामिणी येक शोषिणी सद्‌गुरु बिना न लहिये ॥
ये पच तत्व की पच धारणा तिनके भेद सुनाये।
अब आगे ध्यान कहों बहुविधि करि जो ग्रन्थनि महि गाये ॥

—'ज्ञान समुद्र' तृतीयोल्लास

योग की अष्टसिद्धियाँ

योग साधना का चरम लक्ष्य या सिद्धि है, ज्ञाता एव ज्ञेय की एकता। साधक जीवनपर्यन्त इसी शुभ क्षण के लिए अष्टाग योग की दुःसाध्य प्रक्रिया की साधना करता रहता है। योगशास्त्र के आचार्यों ने साधना की चरम सिद्धि ध्याता एव ध्येय की एकता मानी है। परन्तु इस सिद्धि प्राप्ति के पूर्व साधक को अन्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो सामान्यतया लौकिक सिद्धियाँ कही जाती हैं। चरनदास जी ने 'अष्टांग योग वर्णन' के अन्त में योग की अष्ट सिद्धियो का उल्लेख किया है। ये सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं।

१. अणिमा २. महिमा ३. लघिमा ४. गरिमा ५. प्राप्ति ६. पराकाम्य ७. ईशता सिद्धि ८. वशीकरण।

अणिमा सिद्धि के प्रभाव से मनुष्य अत्यन्त सक्षिप्त रूप धारण कर सकता है। इसकी साधना से साधक अणुवत् शरीर धारण कर लेता है। महिमा की सिद्धि से वृहद् रूप धारण किया जा सकता है। लघिमा से पुष्प के सदृश शरीर को हल्का बनाया जा सकता है। गरिमा से साधक गुरुता धारण कर लेता है। प्राप्ति सिद्धि से मनोजवा (मनोवाछित स्थानों में भ्रमण करने की) शक्ति प्राप्ति होती है। पराकाम्य गुण से मानव सर्वसामर्थ्यवान बन जाता है। ईशिता सिद्धि से शासन करने की शक्ति

प्राप्त होती है और वशीकरण से सब को वश मे कर लेने की शक्ति का सचार होता है। पर यह सिद्धियाँ निःसार है।[1]

साधक को इन सिद्धियो के चमत्कार एव आकर्षण से सदैव सावधान एव सतर्क रहना अपेक्षित है। यद्यपि योग साधना से ये समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथापि इनके प्रति लोभ का सवरण करके मन को ब्रह्म के चरणो मे नियोजित करना आवश्यक है। योग की तपस्या व साधना को कामना रहित होकर करना चाहिए। ये समस्त सिद्धियाँ माया के बन्धन हे अतः इनसे दूर रहना ही उपयुक्त और कल्याणकारी है। कवि के शब्दों मे यह चेतावनी पठनीय है :—

योग किये आठो सिधि पावै। कै भोगै कै चित न लगावै ॥
योग किये मन जीता जावै। पलटै जीव ब्रह्म गति पावै ॥

योग तपस्या कीजियो, सकल कामना त्याग।
ताको फल मत चाहियो, तजो दोष अरु राग ॥
अष्ट सिद्धि जो पै मिलै, नेक न दीजै नेह।
धरि हृदय परमातमा, त्यागे रहियो देह ॥
जेती जग की वस्तु है, तामें चित्त न लाय।
सावधान रहियो सदा, दियो तोहि समुझाय ॥
बार बार तोसे कहूँ, ह्या मत दीजो चित्त।
सिद्ध स्वर्गफल कामना, तजि कीजो हरिमित्त ॥

---

1. प्रथमै अणिमा सिद्धि कहावै। चाहै तो छोटा ह्वै जावै ॥
अणु समान छिप जावै सोई। ऐसी कला जु पावै कोई ॥
दूजी महिमा लक्षण एता। चाहै बड़ा होय वह जेता ॥
तीजी लघिमा वह कहवावै। पुष्प तुल्य हलका ह्वै जावै ॥
चौथी गरिमा कहूँ विचारी। चाहै जितना होवै भारी ॥
पचवी प्रापति सिद्धि कहावै। जित चाहै तित ही ह्वै आवै ॥
छठवी पराक्राम्य गुण धरै। भक्ति पाप चाहै सो करै ॥
सतवी सिद्धि ईशिता रानी। सबको आज्ञा माहि चलानी ॥

वशीकरण सिधि आठवी, कहै श्री शुकदेव।
चाहै जिसको वश करै, अपना ही करि लेव ॥
चरनदास सिद्धै कही, समझ लेहि मन माहि।
जो है जनुआ राम के, इनमें उरझै नाहि ॥

समाधि

हठयोग की साधना का लक्ष्य तथा अंतिम स्तर 'समाधि' है। यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा की साधना में उत्तीर्ण साधक 'समाधि' की अवस्था में प्रविष्ट होता है। इसी अवस्था पर पहुँचने के अनन्तर साधक सांसारिक माया, मोह तथा भ्रमों के जंजाल से ऊपर उठ जाता है। संसार के तुच्छ आदान-प्रदान, विधि व्यवहार तथा सम्बन्ध उसे निःसार प्रतीत होने लगते हैं। साधना की इस स्थिति पर पहुँचने पर साधक की समस्त इंद्रियां शिथिल होकर स्वकार्य को भूल जाती हैं और साधक आत्मानन्द होकर विचरण करता है। समाधि के स्तर पर साधक इन्द्रियजित होकर वासनाओं से रहित हो जाता है। समाधि में मन की एकात्मकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस अवस्था में साधक के समस्त शरीर में ध्येय का आतंक छा जाता है। साधक के हृदय एवं मस्तिष्क में केवल एक ही विचार और एक ही प्रकाश रह जाता है और यह विचार या प्रकाश है परब्रह्म का। साधक इसी प्रकाश पुंज में स्वतः तल्लीन हो जाता है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में :—

> "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥
>
> —पा० यो० द०, विभूतिपाद ३, सूत्र ३

अर्थात्, ध्यान करते-करते चित्त ध्येय के ही आकार में परिणत हो जाता है। उस ध्येय और ध्याता की एकात्मकता, ज्ञाता एवं ज्ञेय की भिन्नता का अभाव ही 'समाधि' है। यथा नमक एवं पानी मिला देने से दोनों भेद रहित हो जाते हैं अथवा दुग्ध-दुग्ध में, घृत-घृत में जल-जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार 'समाधि' की अवस्था में ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। 'समाधि' का आश्रय ग्रहण किये बिना प्रत्येक चैतन्य का साक्षात्कार नहीं होता है। साधक का मन जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के माध्यम से रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द के रूप में बाह्य प्रपंच का अनुभव किया करता है, उस समय प्रत्येक चैतन्य अन्तर्हित रहता है। परन्तु प्रत्येक चैतन्य के दर्शन इन्द्रियों के निरोध तथा निरुद्ध मन के द्वारा समाधि की अवस्था में सच्चिदानन्द स्वरूप में होता है। इसी के फल समस्त बाह्य प्रपंच तिरोभूत हो जाता है। 'जाबालदर्शनोपनिषद्' के मतानुसार जब साधक परब्रह्म के दर्शन परमार्थतः कर लेता है उस समय अखिल दृश्यजगत विलीन हो जाता है।[1] 'तेजोबिन्दुपनिषद' के अनुसार ब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा अथवा सर्व-संकल्पनिवृत्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों को सर्वथा भूल जाने का नाम ही समाधि

१. जाबालदर्शनोपनिषद १०।१२

है।[१] 'अन्नपूर्णोपनिषद' के मत से ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, समाधि शब्द उस सशयरहित मानसिक पूर्णता का वाचक है जिसमे आसक्ति का सर्वथा अभाव है और जिसमे सद-असद् विवेक भी नहीं है।[२] जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।[३] 'मुक्तिकोपनिषद' मे समाधि की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है :—"मुनियो के द्वारा साधित समाधि उस सकल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमे न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार ही, जो आत्म ज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस प्रत्येक चैतन्य के अतिरिक्त सबका बाध है।"[४] शाडिल्योपनिषद'मे कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्माकी एकता की अवस्था जिसमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी का अभाव है तथा जो परमानन्द रूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।[५] इन समस्त परिभाषाओ पर विचार करने से प्रकट होता है कि क्षुद्र अह बुद्धि की निवृत्ति ही समाधि की स्थिति है। इस स्थिति मे साधक का मन सकल्पो से सर्वथा शून्य हो जाता है। घेरड ऋषि के मतानुसार शरीर से मन को भिन्न करके परमात्मा के साथ मिलाने की क्रिया को समाधि कहते हैं। इसके द्वारा सब प्रकार की अवस्थाओं से छूट कर साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।[६]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से समाधि के जितने आवश्यक तत्व एव विशेषताए प्राप्त होती हैं वही चरनदास द्वारा वर्णित 'अथ आठवा समाधि अग वर्णन' मे उपलब्ध होती हैं। कवि के अनुसार समाधि योग की चरम अभिव्यक्ति वही है जहा साधक को अपार सुख वा आनन्द का अनुभव होता है। जब सभी कामनाए क्रियाए और वासनाए शात हो जाती हैं, तभी समाधि की सिद्धि समझनी चाहिए। समाधि सिद्ध हो जाने की अवस्था मे द्वैतभाव अर्थात् ध्याता एव ध्याय का भेद विनष्ट हो जाता है। इस अवस्था में साधक को मुक्ति का लाभ होता है और वह निरुपाधि एव निर्विकार प्रदेश मे विचरता है। इस अवस्था में कर्म, भ्रम तथा धर्म की निस्सार शृङ्खलाए विच्छिन्न हो जाती हैं। समाधि की स्थिति मे पच

---

१. तेजोबिन्दुपनिषद १।३७
२. अन्नपूर्णोपनिषद १।५०
३. वही ५।७५
४. मुक्तिकोपनिषद २।५५
५. शाडिल्योपनिषद
६. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्य कुर्यात्परात्मनि ।
   समाधिं तद्विजानीयान्मुक्तसज्ञो दशादिभिः ॥
   घे० स०—सप्तमोपदेशः, श्लोक ३

विषय और गुणों का संस्पर्श विनष्ट हो जाता है और साधक ब्रह्मस्वरूप होकर जीवन मुक्त हो जाता है। वेद, विद्या, ऋद्धि-सिद्धि आदि से परे समाधिस्थ साधक की स्थिति होती है। जिस भाग्यवान् साधक की आत्मा में रति समुपस्थित हो गई, जिसका मन पूर्ण शुद्ध वासनादि विकारों से रहित हो जाता है तथा जिस साधक को अनुपम विश्राम उपलब्ध हो गया है, उसके लिए संसार की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप त्रिपुटी का अभाव है। कवि के शब्दों में ही समाधि का वर्णन पठनीय होगा :—

जबही लगै समाधि योगी आनन्द लहै।
योग भया सिध जानि क्रिया कोइ ना रहै॥
मिलि ध्याता अरु ध्यान एक होव जहा।
दूजा रहै न भाव मुक्ति बर्तै जहा॥
निरउपाधि निर्खेद ऐसा वह देश है।
करम भरम अरु धरम नहीं कोइ लेश हैं॥
आपार है न कोय सकल आशा गरै।
चिन्ता का दुख नाहि वासना सब जरै।
पंच विषय जहँ नाहि नहीं गुणती नहीं।
होवै ब्रह्म स्वरूप जीवता छीन ही॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति जहाँ होवै नहीं।
चौथे पद को पाय होय जहँ लीन ही॥
ऐसे कहै शुकदेव सुनौ चरणदास ही।
यह निर्द्वन्द्व समाधि करौ जहँ वास ही॥
जहा कछू गम ना रहै विद्या वेद न वाद।
ऋद्धि सिधि मिटि आनद लहै ऐसी शून्य समाधि॥

चरनदास के मत से समाधि की स्थिति में चित्त अपनी चैत्य दशा से अर्थात् विषय चिन्तन से मुक्त हो जाता है तथा सद्भाव की भावना के प्रबल हो जाने से वासना का लय हो जाता है। वासना का निःशेषरूप ही मोक्ष है। इस स्थिति में साधक अपने आकार को विसर कर ब्रह्म में एकात्मकता प्राप्त करता है। समाधि में हर्ष विषाद, सुख-दुख, निजत्व, परत्व, मायामोहादिक बन्धन, ऋतुओं के प्रभाव, मानसिक विकार, समय का प्रभाव एवं विभाजन आदि भावनाएं विच्छिन्न हो जाती हैं। साधक अपने अस्तित्व को खोकर ब्रह्म में उसी प्रकार मिल जाता है यथा जल में जल और दुग्ध में दुग्ध मिला देने से वे तद्रूप हो जाते हैं। समाधि में मोक्ष की लालसा भी विनष्ट हो जाती है :—

तहाँ किये परवेश रहै न अकार ही।
रूप नाम गुण क्रिया यही साकार ही।

पाप पुण्य सुख दुख जहाँ नहि पाइये।
सतमारग कुल धर्म न देत दिखाइये॥
भूख प्यास अरु उष्ण जहाँ नहि शीत है।
हर्ष शोक नहि नेक वैर नहि प्रीत है॥
इन्द्री मन नहि रहत गलत ह्वै जात है।
सिध साधक गुरु शिष्य न भाव रहात है॥
उडुगन चन्द्र न सूर न दिवस न रात है।
त्वं पद ईश्वर ब्रह्म न जान्यो जात है॥
जैसे जल में नीर क्षीर में क्षीर ही॥
असि पद में यों जीव नीर में क्षीर ही॥
अहं मिटै मिटि जाय जु आपा थोकही।
ना परमातम आतम बंधन मोषही॥
ऐसे कह शुकदेव यो होय समाधि में।
वैसो ही ह्वै जाय सोई था आदि में॥
हुता आदि परमातमा बिच उठि लगा विकार।
मिलि समाधि निर्मल भवै, लहै रूप ततसार॥[1]

---

१. चरनदास का 'समाधि वर्णन' सुन्दरदास के 'समाधि वर्णन' से बहुत कुछ साम्य रखता है। दोनों संत कवियों का इस दृष्टिकोण से तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक होगा। सुन्दरदास द्वारा वर्णित 'समाधि लक्षण' निम्नलिखित है :—

सुनि शिष्य अबहि समाधि लक्षण मुक्त योगी वर्त्तते।
तहं साध्य साधक एक होई क्रिया कर्म निवर्तते॥
निरुपाधि नित्य उपाधि रहितं इहै निश्चय आनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषांनिये॥
नहिं शीत उष्ण क्षुधा तृषा नहिं मूरछा आलस रहै।
नहिं जागरं नहिं सुप्न सुषुपति तत्पदं योगी लहै॥
इभ नीर मंहि गरि जाइ लवनं एक में कहि जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषांनिये॥
नहिं हर्ष शोक न सुखं दुःखं नहिं भान अमानयो।
पुनि मनौ इन्द्रिय वृत्य नष्टं गतं ज्ञान अज्ञानयो॥
नहिं जाति कुल नहिं वर्ण आश्रम जीव ब्रह्म न जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषांनिये॥

प्रस्तुत उद्धरण की अंतिम चार पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। 'समाधि' की स्थिति साधक अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य आदि में परब्रह्म स्वरूपी था किन्तु माया के आवरण में पड़कर वह विकारों से युक्त हो गया। 'समाधि' की स्थिति में पहुँच कर फिर उसका सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकट हो गया और वह तत्व में मिलकर तत्त्व स्वरूपी बन गया।

प्रस्तुत उद्धरण के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। चरनदास ने समाधि की अवस्था मे ज्ञाता एव ज्ञेय अथवा ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता को दो उपमाओं के द्वारा बहुत ही रोचक एव स्पष्ट बना दिया है। जिस प्रकार पानी से पानी मिल जाने पर दोनो में कोई भी भेद नहीं रह जाता है अथवा दूध से दूध मिलकर दोनों एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार 'समाधि' की अवस्था में ध्याता और ध्येय मिलकर एक हो जाते हैं, उनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं उपलब्ध होता है। इसी प्रकार सत कवि सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' के तृतीयोल्लास में ध्याता एव ध्येय की एकात्मकता को उपमाओं के द्वारा बड़ी रोचकता के साथ व्यक्त किया है।[1] प्रथम उपमा है जल में जल के मिल जाने की एकात्मकता से सम्बन्धित और द्वितीय है दुग्ध में मिल कर एकत्व स्थापना की। इन दो उपमाओं के अतिरिक्त सुन्दरदास ने समाधिस्थ साधक और परब्रह्म की एकात्मकता को व्यक्त करने के लिए नमक और पानी की एकता

नहि शब्द सपरश रूप रसे गन्ध जानय रचहूँ।
नहिं काल कर्म स्वभाव है नहिं उदय अस्त प्रपचहूँ॥

ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास, ८५-८६

इन पंक्तियों की तुलना चरनदास के समाधि लक्षण वर्णन से करने पर ज्ञात हो जाता है कि दोनों में वर्ण्य विषय का कितना साम्य है। दोनों की साधनात्मक अनुभूति में कोई अन्तर नहीं है। संत कवि दादू ने कितना सत्य कहा है कि:—

जे पहुँचे ते कह गए तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात॥

१. क्षीर क्षीरे आज्य आज्ये जले जलहि मिलाइये।
कछु भिन्न भाव न रहै कोऊ सो समाधि बषानिये॥
नहि देव दैत्य पिशाच राक्षस भूत प्रेत न सचरै।
नहिं पवन पानो अग्नि भय पुनि सर्प सिंहहि ना डरै॥
नहि मन्त्र-मंत्र न शास्त्र लागहि यह अवस्था जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषानिये॥

ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास, ८५-८६

की उपमा दी है।[1] इस प्रकार सत कवि चरनदास और सुन्दरदास के विषय प्रतिपादन से विषय स्पष्ट और बोधगम्य बन जाता है।

सत चरनदास के मत से समाधि की अवस्था मे पूजा, अर्चना, उपासना, भक्ति, ज्ञान तथा ध्यान आदि समस्त साधन निस्सार हो जाते हैं। साधक ब्रह्ममय हो जाने के अनन्तर इन समस्त साधनो को बिसर जाता है अथवा कहिए कि ये इतने हीन और क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं कि वह इनके प्रति ध्यान ही नही देता है। यही नहीं समाधिस्थ साधक जड़ और चेतन के भेद को भी नगण्य मानता है। कारण कि ब्रह्ममय हो जाने के अनन्तर वह सत कवि मलूकदास के समान अनुभव करने लगता है कि :—

सबहिन के हम सबहिं हमारे।
जीव जन्तु मोहि लगै पियारे॥

साधक समाधिस्थ हो जाने के अनन्तर सृष्टि और माया के वास्तविक रहस्य को समझ लेता है, इसीलिए वाह्याडम्बर और वाह्याचार से उसकी आस्था डिग जाती है। इस दृष्टि से सत चरनदास का समाधि विषयक निम्नलिखित अनुभव पठनीय होगा :—

जह आतमदेव अभेव सेव्य नहि सेव है।
स्वामी जी हां नाहि पूजा नहि देव है॥
नौधा नेम न प्रेम ज्ञान नहि ध्यान है।
जड़ चेतन कछु नांहि सुरति नहि ज्ञान है॥
विधि निषेध नहि भेद अन्वैवितरेकना।
निश्चय अरु व्यवहार कछू ता में न हा॥
उत्तम मध्यम भाव न शुभना अशुभ है।
सिह सर्प डर नांहिं औ शस्तर कौन भै॥
पावक दग्ध न करे बहावै जल नहीं।
हां नहि पहुँचै काल न ज्वाला है तहीं॥
ऐसा भवन समाधि भाग्य सों पाइये।
तजि के जक्त उपाधि तहा मठ छाइये॥
यतन करै लख मांहि और सब भेष ही।
कोटिन में कोइ होय समाधी एक ही॥
हा तक पहुँचै जाय सोई सिध साध है।
कहै शुकदेव पुकारि जु कठिन समाधि है॥

---

१. इम नीर मंहि गरि जाइ लवन एक मेकहि जांनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषानिये॥

समाधि के लक्षणों, अनुभवों और विभिन्न स्थितियों के वर्णन के अनन्तर कवि ने समाधि के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि कवि ने समाधि के इन भेदों का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है तथापि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनका अपना महत्व और उपयोगिता है। चरनदास के 'समाधि भेद प्रकरण' पर विचार करने के पूर्व समाधि के शास्त्रीय भेद विभेदों का अध्ययन अपेक्षित होगा।

समाधि के छः भेद माने गये हैं :—

१. अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि। २. अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। ३. अन्तर्निर्विकल्प समाधि। ४. वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि। ५. वाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। ६ वाह्यनिर्विकल्प समाधि।

अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि :—आन्तरिक दृश्य रूप वृत्तिया को साक्षी मे लीन करना ही अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। 'अत्राय पुरुषः स्वयज्योतिः' आदि श्रुति के श्रवण एव चिन्तन से स्वय प्रकाश रूप आत्माकार वृत्ति धारण करना अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है। चित्त की स्थिति का 'यथा दीपो निवातस्थो नैगत सोपमा स्मृता' अथवा अचल दीपवत् हो जाता है, अर्थात् दृश्य एव शब्द दोनो ही सम्बन्धों से छूटकर अचल दीप शिखा सी साक्ष्याकार वृत्ति हो जाना ही अन्तर्निर्विकल्प समाधि है। वाह्यजगत् के पदार्थों के देखने से समुत्पन्न होने वाली नाम रूपाकार वृत्ति का परित्याग करके ब्रह्मांश का अनुसधान करना वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। "सत्य ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म सदेव सौम्येदमग्र आसीत" आदि वाक्यो से चराचर जगत का ब्रह्म रूप से चिन्तन करना वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि तथा वाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियों के अभ्यास से समुत्पन्न स्थिति जिसमें वृत्ति निस्तरंग होकर ब्रह्माकार होता है, उस स्थिति को वाह्यनिर्विकल्प समाधि कहते हैं। इन षट्समाधियों मे से प्रथम तीन समाधिया की साधना साधक अपने ही अन्दर करता है। परन्तु शेष तीन की साधना के हेतु उसे समस्त द्वैतनिवृत्ति के लिए वाह्य दृश्य जगत् का भी सहारा लेना पड़ता है।[1]

'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित षट्समाधियो का उल्लेख मिलता है:-[2]

---

१. यथासमाधित्रितय यत्नेन क्रियते हृदि।
तथैव वाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये॥

—सर्ववेदांतसिद्धांतसार संग्रह

२. शाम्भव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यान नाद रसानन्द लयसिद्धिश्चतुर्विधा॥
पंचधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।
षड्विधोऽय राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्॥

घे० सं०—सप्तमोपदेशः, ५ तथा ६

१. ध्यानयोग समाधि २. नादयोग समाधि ३. रसानन्द योग समाधि ४. लयसिद्धि योग समाधि ५. भक्तियोग समाधि ६. राजयोग समाधि।

साधक सर्वप्रथम शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करके आत्म प्रत्यक्ष करे और फिर विन्दुमय ब्रह्म का दर्शन करता हुआ उस विन्दु-स्थल मे मन को नियोजित करे। तदनन्तर शिर मे स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश के मध्य में आत्मा को लाये और इसके पश्चात् शिर मे स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश को जीवात्मा मे लीन करे। इस प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म में लीन करके मुक्त हो जाना ही 'ध्यान योग समाधि' है।[1] खेचरी मुद्रा का अनुष्ठान करके रसना को ऊपर रखे। इस क्रिया के द्वारा समस्त साधारण क्रियाएँ छूट जाती हैं तथा साधक समाधि सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस 'समाधि' को 'नादयोग समाधि' कहते हैं।[2] भ्रामरी कुम्भक को करता हुआ योगी शनैः-शनैः श्वाँस वायु को छोड़ दे। इस साधना को करते समय शरीर के अन्तर्गत भौरे के गुञ्जन का शब्द प्रतिश्रुत होता है। शरीर मे जिस स्थान पर यह भ्रमर का गुंजन नाद होता है उस स्थान पर मन को लगा देना ही रसानन्दयोग समाधि है।[3] योनि मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ साधक अपने मन मे शक्ति रूप की भावना करे अर्थात् अपने में ही स्त्री और परमात्मा में पुरुष रूप की भावना करे। तदनन्तर पुरुष स्वरूप ब्रह्म के साथ स्त्री रूप अपने शरीर के विहार की कल्पना करे। इस काल्पनिक विहार से समुत्पन्न आनन्द रस मे योगी पूर्णतया निमग्न होता हुआ ब्रह्म के साथ एकात्मकता की भावना को दृढ करे। इस प्रकार की समाधि को

---

१. शाम्भवीमुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्म सकृद् दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खेमध्ये कुरु चात्मान आत्ममध्ये च ख कुरु।
आत्मान खमय दृष्ट्वा न किंचिदपि बाध्यते॥
सानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥

घे० स०—सप्तमोपदेशः, ३ तथा ८

२. साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वगता सदा।
तदा समाधिसिद्धिस्स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥

घे० स०—सप्तमोपदेशः,

३ अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भक चरेत्।
मन्द मन्द रेचयेद्वायु भृङ्गनाद ततो भवेत्॥
अन्तःस्थ भ्रामरी नाद श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिः जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्युत॥

घे० स०—सप्तमोपदेशः, १० तथा ११

लय सिद्धियोग समाधि कहते हैं।[1] परम भक्ति और आह्लाद के साथ साधक हृदय में ब्रह्म का चिन्तन करे। इस प्रकार की भावना के घनीभूत होने पर शरीर पुलकायमान हो जाता है और आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। साधक का मन अचेत हो जाता है और एकाग्रता बढ़ जाती है। इसी स्थिति को भक्तियोग समाधि कहते हैं।[2] मनोमूर्च्छा कुम्भक का अभ्यास करता हुआ साधक परब्रह्म में मन को नियोजित करे। परब्रह्म के साथ संयोग की भावना से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति को राजयोग समाधि कहते हैं।[3]

योग दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लिखित समाधि के भेदों पर विचार कर लेने के अनन्तर अब संत कवि चरनदास द्वारा वर्णित समाधि के विविध भेदों का विवेचन करना अपेक्षित है। चरनदास ने 'समाधि' अंग वर्णन के अन्तर्गत समाधि के तीन भेदों का उल्लेख किया है :—

भक्ति योग और ज्ञान की, त्रैविधि कहूं समाधि।
गुरु मिलै तौ सुगम है, नाहि कठिन अगाधि॥

कवि द्वारा वर्णित समाधि के तीन भेदों में भक्ति समाधि सर्वप्रथम है। कवि के अनुसार समस्त इन्द्रियों का निरोध और स्ववश करने के अनन्तर मन को ब्रह्म में नियोजित करे। चित्त से अहंकार और द्वैत भावना के मिट जाने पर जब ध्याता, ध्येय तथा ध्यान का भेद न रह जाय, जब क्षिप्त मन के समस्त संकल्पाभाव विनष्ट होकर निर्मूल हो जाय और साधक की समस्त सुरति मिट जाय तो उस स्थिति को

---

१. योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरत्परमात्मनि॥
आनन्दमयः स भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वा द्वैतं समाधिस्तेन जायते॥
घे० सं०—सप्तमोपदेशः, १२ तथा १३

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद्भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः संभवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनिः॥—वही, १४-१५

'भक्ति समाधि' कहते हैं। संत चरनदास के शब्दों में अब भक्ति समाधि का वर्णन पढ़िये :—

सब इन्द्रिन को रोकिकै, करि हरि चरणन ध्यान।
बुद्धि रहै सुरत रहै, तौ समाधि मत मान ॥
ध्याता बिसरै ध्यान मे, ध्यान होय लय ध्येह।
बुद्धि लीन सुरत न रहै, पद समाधि लखि लेह ॥

प्रस्तुत उद्धरण में 'भक्ति समाधि' के तीन आवश्यक तत्त्व माने गये हैं। प्रथम है इन्द्रियों का निरोध, द्वितीय है सुरति का विनाश तथा तृतीय है ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकात्मकता। चरनदास द्वारा उल्लिखित 'भक्ति समाधि' और विगत पृष्ठ में 'घेरड सहिता' द्वारा प्रतिपादित भक्तियोग समाधि की तुलना करने पर प्रकट होता है कि दोनों में प्रायः कोई भी साम्य नहीं है। ऋषि घेरड ने भक्ति योग समाधि मे चार तत्वों को आवश्यक माना है। ये तत्त्व हैं अचल भक्ति पूर्वक इष्ट देव का स्मरण, चित्त की एकाग्रता, आनन्दाश्रु का प्रवाह एव शरीर का पुलकायमान होना तथा परब्रह्म का साक्षात्कार। परन्तु साधक की जिन-जिन मानसिक एवं शारीरिक अवस्थाओं का वर्णन चरनदास ने किया है उनमें से इसमे एक भी नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चरनदास वर्णित 'भक्ति समाधि' परम्परागत सैद्धातिक विचार धारा का आधार लेकर नही चलती हैं, वरन् यह कवि के मौलिक चिन्तन का फल है।

कवि द्वारा वर्णित समाधि का द्वितीय भेद है योग समाधि। कवि के मत से साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि के द्वारा प्राण वायु का नियन्त्रण करता हुआ षट्चक्र का भेदन करके, अपना अस्तित्व और समस्त सकल्प-विकल्प एवं क्रियाओं का लोप करता हुआ चित्त को शून्य ब्रह्म में नियोजित करता है और यही योग समाधि है। कवि के शब्दों में :—

आसन प्राणायाम करि, पवन पथ गहि लेहि।
षट् चक्कर को छेद करि, ध्यान शून्य मन देहि ॥
आपा बिसरै ध्यान मे, रहै सुरत नहि नाद।
लीन होय किरिया रहित, लागै योग समाध ॥

यह 'योग समाधि', अष्टाग योग की अंतिम अवस्था है। 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'पातजलि योग सूत्र' में इसका वर्णन योग साधना की अंतिम अवस्था या स्थिति के रूप में किया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि कवि ने उसका सीधे-साधे शब्दों में तथा सक्षेप में वर्णन कर दिया है और सविस्तार प्रतिपादन नहीं किया है।

चरनदास के अनुसार 'समाधि' का तृतीय भेद है 'ज्ञान समाधि' जिसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

जब लग तत्व विचारि करि, कहै एक अरु दोय।
ब्रह्मव्रत बांधे रहे, या लग ध्यानहि होय॥
मैं तू यह वह भूलि करि, रहै जु सहज स्वभाव।
आपा देहि उठाय करि, ज्ञान समाधि लगाय॥
ज्ञान रहित ज्ञाता रहित, रहित ज्ञेय अरु जान।
लगी कभी छूटै नहीं, यह समाधि विज्ञान॥
पूछें आठो अंग तें, योग पथ की बात।
शुकदेव कहै ता मे चलौ, गुरु कृपा लै साथ॥

इस ज्ञान 'समाधि' का उल्लेख न तो 'पातंजलि योगसूत्र' में मिलता है और न 'घेरंड संहिता' आदि ग्रन्थों में ही, अतः यह भी कवि का अपना मौलिक चिन्तन है।

भक्ति

महर्षि शाण्डिल्य के मत से, "ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है।"[१] महर्षि नारद के शब्दों में, "भगवान में परम प्रेम का होना ही भक्ति है।"[२] भक्त प्रवर प्रह्लाद के अनुसार, "अज्ञानियों का इन्द्रिय-विषयों में जितना अधिक आग्रह देखा जाता है, उसके प्रति वैसा ही आग्रह और आसक्ति ही भक्ति है।[३]" स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, "कपट छोड़कर ईश्वर की खोज का नाम भक्ति है।"[४] 'श्रीमन्न्यायसुधा' में योगिराज श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजी ने भक्ति की परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"तत्र भक्तिर्नामनिरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तराय सहस्त्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।"

अभिप्राय यह है कि अपरिमित, अनवद्य, कल्याणकारी गुणों के ज्ञान से समुत्पन्न, अपने सभी सम्बन्धियों एवं पदार्थों से ही क्या, प्राणों से भी कई गुना अधिक सहस्त्रों विघ्नों के समुपस्थित हो जाने पर भी न विच्छिन्न होने वाले, अत्यन्त सुदृढ, अखंड प्रेम के प्रवाह को 'भक्ति' कहते हैं। 'भक्ति' की इसी परिभाषा से साम्य

---

१. 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—शांडिल्य सूत्र, प्रथम अ० सूत्र २
२. 'ॐ सा कस्मै परमप्रेमरूपा'—भक्ति सूत्र १।२
३. या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्वनपायिनी।
तामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
—विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय २०, श्लोक १९

रखती हुई एक और परिभाषा है। श्रीनरसिंहाचार्य बरखेडकर के मत से, "जिस अखंड स्नेह धारा में सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय है, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य, 'भक्ति योग' है"।

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है जिसका अर्थ सेवा करना होता है। भगवत् सेवा करने की स्थिति मे ही 'भक्ति' का स्वरूप विनिर्मित होता है हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भक्ति का जन्म कब हुआ, यह प्रामाणिक और अधिकृत रूप से नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इसका विकासशील प्रारम्भिक स्वरूप वेद मन्त्रों मे भी दृष्टिगत होता है। कालान्तर मे इसका विकास वेद मन्त्रों[1], ब्राह्मण ग्रन्थो, वेदो, उपनिषदो[2] मे हुआ। 'भक्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों में हुआ है, किन्तु जिस 'भक्ति' का बीजन्यास वेद मन्त्रो मे और प्रस्फुटन उपनिषदों में होता है, वह महाभारत काल के आस-पास पूर्ण विकास को प्राप्त होती है।[3]

प्रेम, अनुग्रह और भक्ति तीनों शब्द पर्याय हैं। 'माठर श्रुति' के अनुसार "भक्ति ही मोक्ष का कारण है। ब्रह्म भी इसी भक्ति के आधीन है।"[4] 'कठश्रुति' मे भी "भगवान् की प्रसन्नता का असाधारण कारण भक्ति ही मानी गई है।"[5]

'भक्ति' का प्रकाशन अनेक भावों से सम्भव होता है।[6] इनमें से श्रद्धा हृदय की वस्तु है। श्रद्धा का मूल प्रेम है। जहा प्रेम का अभाव है वहा श्रद्धा नहीं हो सकती है। भक्ति प्रकाशन का द्वितीय भाव भगवच्चिन्तन में आनन्द का अनुभव करना है। तृतीय भाव है विरह, प्रेम अथवा भक्ति के साध्य का अभाव दुख ही विरह है। इन तीनों के माध्यम से भक्ति का प्रकाशन होता है। भगवान् रामानुज ने अपने 'वेदान्तभाष्य' में भक्ति प्राप्ति के सप्त साधनों का उल्लेख किया है। ये सप्त साधन निम्नलिखित है:—

---

१. 'भक्ति'—स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ ४८, प्रथम सस्करण १६८० वि०

२. तैत्तरीय उपनिषद्, २७ तथा श्वेताश्वतर उप० ६-२३

३. 'हिन्दी साहित्य पर सस्कृत का प्रभाव', १४-३

४. भक्तिरेवैन नयति भक्तिवशः पुरुषः।

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू-स्वाम्॥

६. सम्मावहुमान प्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमाख्यति तदर्थ प्राणस्थानतदीयता सर्व्वतदभावा प्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।
—शांडिल्य सूत्र

१. विवेक २. विमोक ३. अभ्यास ४. क्रिया ५ कल्याण ६. अनवसाद तथा ७. अनुद्धर्ष।

दि पाथ आव् डिव्हाशन' में स्वामी परमानन्द ने भक्ति के निम्नलिखित आवश्यक आधार माने हैं :—

१. पवित्रता, २. स्थिरता, ३. निर्भयता एव ४. आत्म समर्पण।

इन सप्त साधनों और चतुष्ट आधारो के माध्यम से भक्ति दृढ और स्थायी बनती है। भक्ति स्वय फलरूपा मानी गई है।[1] इसीलिए वह निःहेतुक मानी गई है। गीता में भक्ति के इसी रूप को प्रमुखता प्रदान की गई है। प्रेम की अखडता और अक्षुण्णता निष्काम भाव में ही सीमित है। भक्ति अमृत-स्वरूपा मानी गई है। उसके स्वाद और माधुर्य का अनुभव लोकोत्तर माना गया है। इस स्वाद का आस्वादन कर लेने के अनन्तर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ऋद्धि-सिद्धिया सभी तुच्छ प्रतीत होती हैं।

'आध्यात्म रामायण' में भक्ति को नवविद्या माना गया है।[2] 'भागवत' में इसे नवलक्षणा कहा गया है।[3] गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में भक्ति को नवधा माना है।[4] भागवत में प्रयुक्त नवलक्षणा शब्द भी इस अर्थ का वाहक है। भागवत में भक्ति के नौ भेदों का उल्लेख किया गया है :—

श्रवण कीर्तन विष्णोस्स्मरणं पादसेवनं।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—भागवत ७. ५. २३

चरनदास जी ने भक्ति सम्बन्धी अपने विचारों का प्रकटीकरण विशेष रूपेण दो ग्रन्थो—'भक्ति सागर वर्णन' तथा 'भक्ति पदार्थ वर्णन' मे किया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कवि ने इन ग्रन्था में भी भक्ति के शास्त्रोय पक्ष पर अपने विचारों को अधिक नही प्रकट किया है। इन ग्रन्थों में कवि ने भक्ति की महत्ता, भक्ति के द्वारा मुक्ति अर्जन करने वाले साधकों के नाम, भक्ति की आवश्यकता, भगवान् को प्रसन्न करने में भक्ति का स्थान और महत्ता आदि का वर्णन किया है।

---

१. स्वय फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा—नारदभक्तिसूत्र ३०

२. नवविद्या भक्ति—आध्यात्म रामायण, आरण्यकाण्ड, १०।२७

३. भक्तिश्चेन्नवलक्षणा—भागवत ७।५।२३

४. नवधा भगति कहउं तोहि पाही।

'भक्ति पदार्थ वर्णन' में कवि ने गुरु की महत्ता, सद्गुरु के लक्षण, सद्गुरु की साधना में योगदान, सद्गुरु के समक्ष आत्म-समर्पण, हरि और गुरु की एकता, भक्तों एवं संतों की सेवा का माहात्म्य और फल, सत्संग, ब्रह्म की सर्वशक्ति सम्पन्नता, ब्रह्म का रूप और महत्ता, सद्गुरु की कृपा से ज्ञाता ज्ञेय-और ज्ञान में ऐक्य स्थापन, नवधा भक्ति की विशेषता और उसके अंग तथा अंत में उसके महत्वपूर्ण प्रभाव का वर्णन कवि ने किया है। इस वर्ण्य-विषय सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है। यों तो वर्णित सभी विषय एक-दूसरे से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनका सम्बन्ध भी भक्ति से स्थापित किया जा सकता है, परन्तु सत्य तो यह है कि नवधा भक्ति पर उल्लिखित लेखक के विचारो का ही भक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

अब 'भक्ति पदार्थ वर्णन' में भक्ति विषयक लेखक की विचार-धारा का परीक्षण आवश्यक है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय है नाम, नाम जप का माहात्म्य, नाम की महिमा, नाम का भक्ति में बाधक काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान, माया, मन तथा सहायक तत्व, शील, दया[1] गुरुमुख का लक्षण। इस वर्ण्य-विषय को देखने पर भी स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने भक्ति के शास्त्रीय पक्ष की विवेचना नही की है वरन् उसने भक्ति की स्थूल रूपरेखा अभिव्यक्त करके भक्ति के विषय मे सामान्य जनता को उपदेश देने का प्रयत्न किया है।

इन दोनों ग्रन्थों में 'भक्ति' से सम्बन्धित वर्ण्य विषय 'भक्ति' की किसी एक विशिष्ट शैली, प्रक्रिया अथवा प्रणाली का क्रमबद्ध रूप एव आकार प्रस्तुत करने में सहायक नहीं है। इससे स्पष्ट है नवधा-भक्ति के अतिरिक्त भक्ति विषयक अन्य किसी विचार धारा अथवा प्रणाली को महत्वपूर्ण नहीं माना है।

अब कवि द्वारा वर्णित 'नवधा भक्ति' का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम नवधा भक्ति के परम्परागत शास्त्रीय पक्ष की विवेचना कर लेना उपयोगी होगा। कारण कि तभी हम निश्चय पूर्वक यह सिद्ध कर सकते हैं कि हमारे कवि ने कहाँ तक परम्परागत चिन्तन को अपनी विचार धारा का आधार बनाया है और कहाँ तक वह स्वतः मौलिक प्रतिपादन करने में सफल हुआ है।

'नवधा भक्ति' का सर्वप्रथम अंग है 'श्रवण'। ब्रह्म के नाम, चरित्र एव गुण आदि के 'श्रवण' का नाम ही 'श्रवण-भक्ति' है।[2] गरुणपुराण में कहा गया है कि "संसार रूपी विषैले सर्प से डस जाने के कारण जो मनुष्य चेतन हीन

---

१. दार्शनिक विचारों के साथ इन विषयों पर विचार प्रकट किये जा चुके हैं।

२. श्रवणं नामचरित गुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।

हो गया है उसके लिये श्रीकृष्ण रूपी वैष्णव मन्त्र एकमात्र औषधि है जिसके श्रवण-मात्र से मानव मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[1]"

'श्रवण' के अनन्तर 'कीर्तन' नवधा भक्ति का द्वितीय अंग है। ब्रह्म के नाम, लीला एवं गुण आदि का उच्च स्वर से उच्चारण करने का नाम कीर्तन है।[2] 'श्री विष्णु धर्म' के अनुसार कृष्ण, यह परम मंगल मय नाम जिसकी वाणी में रहता है उसके कोटिशः महापातक विनष्ट हो जाते हैं।"[3] 'श्रीमद्भागवत' में भी लिखा है कि "श्री कृष्णचन्द्र के गुणों का कीर्तन ही उत्तम श्लोक है। कवियों ने तपस्या, यज्ञ, मन्त्र पाठ और दान का नित्य फल वर्णन किया है।"[4]

'कीर्तन' के अनन्तर 'स्मरण' नवधा भक्ति का तृतीय अंग है। ब्रह्म के साथ मन का किसी प्रकार से सम्बन्ध हो जाना ही 'स्मरण' है।"[5] 'पद्मपुराण' के अनुसार "मृत्यु के समय वा जीवन काल ही में, जिनके नाम का स्मरण करने वाले पुरुषों के पाप अविलम्ब विनष्ट हो जाते हैं उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं।"[6]

'पाद सेवन' नवधा भक्ति का चतुर्थ अंग है। ब्रह्म के पादपद्म की सेवा अथवा ध्यान अथवा भजन करना ही 'पाद सेवन' है। प्रथम प्रकार की पाद सेवा दुर्लभ है। यह सेवा गोपियों तथा हनुमान आदि को ही सुलभ थी।

'अर्चन' का स्थान 'पाद सेवन' के अनन्तर आता है। शुद्धि, मातृकान्यास आदि का निर्वाह करके मन्त्रों के द्वारा पुष्प, गंधादि उपचारों का समर्पण ही सेवा

---

१. संसारसर्पसन्दष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मंत्र श्रुत्वा मुक्तोभवेन्नराः॥

२. नाम लीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।

३. कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मी भवन्ति राजेन्द्र महापातक कोटयः॥

४. इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥

५. यथा कथंचिन्मनसा सम्बधः स्मृतिरुच्यते।

६. प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम्।
सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने॥

है ।[१] 'अर्चन' वाह्य सामग्रियो के द्वारा अथवा मनः कल्पित सामग्रियों के द्वारा भी सम्भावित हो सकता है ।

'अर्चन' के अनन्तर 'वन्दन-भक्ति' का स्थान है । 'वन्दन' का अर्थ है 'प्रणाम' । ब्रह्म के श्री चरणों में श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्य भाव से प्रणाम करना 'वन्दन भक्ति' है । श्रीमद्भागवत में भगवान ने स्वय प्रणाम करने की निम्नलिखित विधि बताई है :—

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत् दण्डवत् ॥
शिरोमत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्न पाहि मामीश भीत मृत्युग्रहार्णवात् ॥
—श्रीमद्भागवत ११।२७।४५,४६

'दास्य भक्ति' का नवधा भक्ति में सप्तम स्थान माना गया है । श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक दास की भांति ब्रह्म की सेवा करना 'दास्य भक्ति' है । भगवान् में कर्मों का अर्पण करना दास्य कहलाता है ।[२] परिचर्या आदि भी इसी के भाग हैं । प्रत्येक भक्त को मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्म का दास बनने की लालसा जाग्रत करना चाहिए ।

'सख्य भक्ति' का स्थान दास के पश्चात् आता है । "विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यद्विविधमीरितम्" अर्थात् ब्रह्म में अटल विश्वास और उनके साथ सखा का बर्ताव, ये दोनों ही सख्य भक्ति कहे गये हैं । इसमें मित्रता की भावना प्रधान रहती है । सख्य भक्ति का अधिकार ब्रह्म की इच्छा पर ही निर्भर है ।

'आत्म निवेदन' नवधा भक्ति का अंतिम भेद है । मन से समस्त अहंकार का परित्याग करके तन, मन, धन और परिजन सहित अपने पाप को श्रद्धा सहित अर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन भक्ति' है । 'आत्म निवेदन' करनेवाला भगवान का अनन्य भक्त माना गया है । उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता । शरणागति भी 'आत्मनिवेदन' ही है । भगवान् के अतिरिक्त शरणागत साधक को कैवल्य तक की आकांक्षा शेष नहीं रहती है :—

न पारमेष्ठ्य न महेन्द्रधिष्ण्य न सार्वभौम न रसाधिपत्य ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥[३]

---

१. शुद्धिन्यासादिपूर्वांककर्मनिर्वाहपूर्वकम् ।
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् ।

२ दास्य कर्मार्पणं तस्य कैंकर्यमपि सर्वथा ।

३. श्रीमद्भागवत ११।१४।१४

कवि चरनदास के अनुसार 'नवधा भक्ति' के विविध अंग निम्नलिखित हैं:—

नवधा भक्ति सभारि अग नौ जानि ले।
स्रवन चितवन और कीर्तन मानि ले॥
सुमिरन बंदन ध्यान और पूजा करो।
प्रभु सू प्रीति लगाय सुरति चरनन धरो॥
होकर दासहि भाव साधु संगति रलो।
भक्तन की करि सेव यही मति है भलो॥
आपा अर्पन देह धीर्ज दृढ़ता गहो।
छिमा सील संतोष दया धारे रहो॥

प्रस्तुत उद्धरण में कवि ने जिन भक्ति के नौ प्रकारों का उल्लेख किया है वे सभी परम्परागत नवधा भक्ति सम्मत हैं। इस नवधा भक्ति का उल्लेख कर देने के अनन्तर कवि ने नवधा भक्ति का महत्व निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:—

यह जो मैंने कहा वेद का मूल है।
जोग ज्ञान वैराग सबन का फूल है॥
प्रेमी भक्त के ताप पाप तीनों नसें।
अर्थ धर्म काम मोछ सकल ता में बसें॥
जो राखै मन माहि विवेक विचार कूं।
पावै पद निर्वान बचै जग भार सूं॥

कलिकाल में भवसागर से उत्तीर्ण होने के लिए नवधा भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। प्रह्लाद, अक्रूर, लक्ष्मी, राजा पृथु, बलि, हनुमान, अर्जुन, परीक्षित, शुकदेव आदि धर्म के क्षेत्र में इसी नवधा भक्ति के कारण ही आज पूज्य हैं। इनमें से प्रत्येक ने भक्ति के एक न एक प्रकार को ग्रहण किया और साधना में सफलता प्राप्त की। कवि के शब्दों में :—

जन प्रह्लाद तरो सुमिरन ते बन्दन सूं अक्रूर।
चरन कमल की सेवा सेती लछमी रहत हजूर॥
चन्दन चर्चत हूं पृथु राजा उतरो भो जल पार।
बलिराज तन अर्पन कीन्हो सदा रहै हरि द्वार॥
परम दास हनुमंत ही हुं उबरो उत्तम पदवी पाई।
सखा सुभाव तरो है अर्जुन ताकी महिमा गाई॥
मुक्त भयो है परिछित राजा सुन भागवत पुराना।
श्री शुकदेव मुनी से वक्ता हुए रूप भगवाना॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चरनदास की यह नवधा-भक्ति पूर्णरूप से सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित है। जिन-जिन उपमाओं, दृष्टांतों, सन्तों तथा साधकों

के नामों का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध सगुण ब्रह्म से है। नवधा भक्ति निराकार गुणातीत ब्रह्म के प्रति भी सभव हो सकती है। उदाहरणार्थ, सत सुन्दरदास द्वारा वर्णित नवधा भक्ति गुणातीत ब्रह्म के प्रति ही है।[1] परन्तु चरनदास की रचना नितांत सगुण ब्रह्म के लिए है और इसीलिए यह कवि के प्रारम्भिक रचनाओं मे से एक है।

प्रस्तुत नवधा भक्ति वर्णन से कवि की चिन्तन प्रणाली, शैलीगत विशेषता एवं मौलिकता का कोई परिचय नही प्राप्त होता है। अत्यन्त सक्षेप में कवि ने सीधी-सादी भाषा मे अपने भावा को व्यक्त कर दिया है।

स्वरादय-साधना

'स्वरादय' ज्ञान अनेक कारणा स आवश्यक एव उपयागी माना गया है। साधना, सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन और व्यावहारिकता के क्षेत्र में स्वरोदय उपयोगी माना गया है। किसी श्वास के प्रबल होने को स्वरूर कहा गया है। समस्त स्वरोदय-विज्ञान का एक मात्र आधार मानव के नासिका छिद्रों से संचालित श्वास-प्रश्वास की गति है। श्वास-प्रश्वासों की गति बड़ी रहस्यपूर्ण है। श्वासोच्छ्वास की गति और शक्ति बड़ी प्रबल है। इन्हीं श्वासों का नियत्रण-क्रम मानव जीवन और दीर्घायु का कारण होता है और इसी का अनियन्त्रित प्रवाह मानव को काल का कौर बना देता है। चरनदास ने इसी स्वरोदय-विज्ञान का प्रतिपादन अपनी रचना 'ज्ञान स्वरोदय' में किया है।

मानव जीवन की समस्त क्रियायें, शारीरिक एवं मानसिक व्यथायें, दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापादि सभी कुछ श्वासोच्छ्वास की शक्ति से अज्ञात रूप में प्रभावित है। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से सुख-दुख, मृत्यु, घटना-दुर्घटना आदि का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। मानव शरीर-रथ के सचालन का आधार यही श्वास-प्रश्वास है।

२४ घटे मे २१,६०० श्वास-प्रश्वास की सख्या जितनी ही कम होगी उतना ही मनुष्य दीर्घजीवी होगा और जितना आधिक्य होगा ठतना ही अल्पायु। इसीलिए हठयोगी श्वास पर विजय और नियंत्रण प्राप्त कर चिरजीव होता है। श्वास का यह क्रम एक ही नासिका-रन्ध्र से सदैव नहीं चलता रहता है। अव्याहत गति से श्वासों के प्रवाहमान होने का क्रम क्रमशः परिवर्तित होता रहता है। एक नासाछिद्र का निश्चित समय पूर्ण हो जाने पर वह दूसरे से निःसृत होता है। श्वास-प्रश्वास की इस गति का नाम तो स्वर है और इस गति का एक नासिका-रन्ध्र से द्वितीय में प्रवेश 'उदय' कहा गया है।

---

१. देखिये, मेरा ग्रन्थ—'सुन्दर दर्शन' में भक्ति योग प्रकरण।

किस नासिका से किस समय श्वास गतिमान् है, यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है। नासा छिद्रों के नीचे हाथ करने से हम श्वास के आगमन-प्रत्यागमन के क्रम का शीघ्र ही अनुभव कर सकते हैं। अथवा दूसरा उपाय यह भी है कि एक नासा छिद्र को बन्द करके दूसरे से दो-चार बार सांस ले और इसी प्रकार द्वितीय छिद्र से। इस क्रिया में जिस छिद्र को अवरुद्ध करने में कष्ट हो उसे ही खुला हुआ समझना चाहिए। स्वरोदय के अनन्तर प्रत्येक नासिका-रन्ध्र में स्वर एक घटा विद्यमान रहता है। इसके अनन्तर स्वरोदय द्वितीय नासिका मे होता है। आवश्यकतानुसार एक नासिका-रन्ध्र से दूसरी मे श्वास उच्छ्वास बदला भी जा सकता है। सब से सरल विधि यह बताई गई है कि कुछ देर के लिए जिस नासा छिद्र से श्वास चल रहा है, उसी करवट से लेट जाने से स्वयमेव क्रम परिवर्तित हो जाता है।

स्वरोदय-ज्ञान के साथ पचतत्व का ज्ञान परमावश्यक है। एक के अभाव मे दूसरा कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। स्वरोदय के साथ पचतत्व का भी उदय होता है। श्री चरनदास को स्वरोदय का ज्ञान उनके गुरु श्री शुकदेव जी से मिला था, जिनके वास्तविक नाम के विषय में विभिन्न शकाएँ हैं [1] और जो पुरुषोत्तम परमात्मा है, आदि पुरुष है और अविचल है। गुरु की महत्ता का वर्णन प्रायः परम्परागत ही है। [2] हाँ, इतना अवश्य है कि वे इन गुरु को ही अपने ज्ञान का कारण मानते हैं जिन्होंने रणजीत नामक अबोध बालक को दिल्ली में घूमते देख कर योग की युक्ति, हरि की भक्ति, और ब्रह्म ज्ञान की गठरी सहेज कर दी और चरनदास की सज्ञा गुरु प्रसाद रूप में दी। उनका दिया आत्म तत्त्व का विचार उनके मन में पूर्णतया बैठ गया।[3] स्वरोदय का ज्ञान अनेक कारणों से महत्व-पूर्ण है। स्वर किसी श्वास के प्रबल होने को कहते हैं। श्वास से सोऽहं की उत्पत्ति है। सोऽह ही ॐकार है,ॐकार ही ररों की उत्पत्ति का कारण है। 'शिव स्वरोदय' में स्वर की महत्ता इस प्रकार निश्चित की गई है :—

---

१. उत्तर भारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ ५६८।

२ एवं प्राणविधिः प्रोक्तः सर्वकार्यफलप्रदः।
जायते गुरुवाक्येन न विद्याशास्त्रकोटिभिः ॥ २६८ ॥
—शिवस्वरोदय, पृष्ठ ७८

३. बाल अवस्था माँहि बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले शुकदेव नाम चरणदास धरायो ॥
जोग जुक्ति हरि भक्ति करि ब्रह्मज्ञान दृढ़करि गह्यौ।
आतम तत्व विचारि कै अजपा मे मन सनि रह्यौ ॥

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम् ।
स्वरे च सर्व त्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम् ॥
ब्रह्मांडखडपिडाद्याः स्वरेणैव हि निर्मिताः ।
सृष्टिसहारकर्ता च स्वरः साक्षान्महेश्वरः ॥

अर्थात् सम्पूर्ण वेद शास्त्र, उत्तम गांधर्व विद्या और सम्पूर्ण त्रिलोकी, ये सब स्वर में ही हैं और स्वर ही आत्मस्वरूप है। ब्रह्माड के खड और पिड आदि स्वर के ही रचे हैं, सृष्टि और सहार का कर्ता साक्षात् महेश्वर (शिव) रूप स्वर ही है। इसी पुस्तक में इस ज्ञान को नास्तिकों की प्रतीति और आस्तिकों के विश्वास के आधार का कारण बनाया गया है :—

"आश्चर्य नास्तिके लोके, आधारंत्वस्ति के जने।"

श्री चरनदास सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर स्वरोदय ज्ञान को "सब जोगन का जोग" और "सब ज्ञानों का ज्ञान" मानने के साथ-साथ सर्वसिद्धियों का दाता भी मानते हैं। इनका तो यहा तक कहना है कि स्वर ज्ञान के आभास स कही गई बात नहीं टल सकती, भले ही पृथ्वी ढले और गिरिवर चलने लगे :—

सब जोगन को जोग है, सब ज्ञानन को ज्ञान।
सर्वसिद्धि को सिद्धि है, तत्व स्वरन को ध्यान॥
धरणि टरै गिरिवर टरै, ध्रुव टरै सुन मीत।
वचन स्वरोदय ना टरै, कहै दास रणजीत॥

चरनदास का ध्यान लौकिक सिद्धियों की ओर उतना नहीं था इसीलिए वे 'ज्ञान स्वरोदय' की बातचीत करते हैं। इन्हीं कारणों से उनके स्वरोदय वर्णन में अजपा जाप, निरजन, कमल दल, अनहद, अमरपुर भोग की बात प्रायः प्रधान रूप से कही गई जान पड़ती है और आत्मरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई है।

साधो करो विचार उलटि घर अपने आवो।
घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहा समावो॥
चारि वेद का भेद है, गीता का है जीव।
चरणदास लखि आपको, तो मैं तेरा पीव॥

सन्तों की फक्कड़ मस्ती में वे अपने को अवधूत कहकर सहजियों की परम्परा को जैसे बनाए रखना चाहते हैं :—

जोग जुक्ति कै कीजिए, कै अजपा को ध्यान।
आपा आप बिचारिए, परम तत्व को ज्ञान॥
शूद्र वैश्य शरीर है, ब्राह्मण और राजपूत।
बूढा बाला तू नहीं, चरणदास अवधूत॥

काया माया जानिए, जीव ब्रह्म है मित्त।
काया छुटि सूरत मिटे, तू परमातम नित्त॥
पाप पुण्य आशा तजौ, तजौ मान और थाप।
काया मोह विकार तजि, जपै सु अजपा जाप॥
आप भुलानो आप में, बन्धो आप ही आप।
जाको ढूढत फिरत है, सो तू आपहि आप॥
इच्छा छुई विसरि कर, होय न क्यों निर्वास।
तू तौ जीवन मुक्त है, तजो मुक्ति की आस॥

स्वरोदय के अनेक भेद-प्रभेद के वर्णन के बीच इस प्रकार के कथन उनके उस सिद्धांत की ओर सकेत करते हैं जिसका सम्बन्ध विशुद्ध आत्म-तत्व से है।

शैव-सम्प्रदाय के 'शिव स्वरोदय' में स्वरों और नाड़ियों का ज्ञान शिवचरण प्राप्ति के अनन्तर लौकिक सिद्धियों के हेतु विशेष कर लाभप्रद प्रमाणित किया गया है। इसीलिए अनुरूप-विपरीत लक्षण, वशीकरण, गर्भप्रकरण, सवत्सर प्रकरण, रोग प्रकरण, काल प्रकरण आदि का विधान किया गया हैं। यह योगियों का प्राचीन सम्प्रदाय है और उसमें शिव को सर्वोच्च स्थान दिया गया। श्री चरनदास शिव और हरि, दोनों को शून्य महल का अधिकारी मानते हैं :—

सुषमन मारग ह्वै चलै, देखै खेल अगाध।
शक्ति जाय शिव सो मिले, जहां होय मन लीन॥

× × ×

काल जीति हरि सों मिलैं, शून्य महल अस्थान।
आये जिन साधन करी, तरुण अवस्था जान॥

इस स्थान की प्राप्ति करने के लिए दशों द्वारों को पार करना पड़ता है। उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार की समाधि लगाने पर काल तक वश में हो जाता है :—

जोगी प्राण उतारिए, लेहि समाधि जगाय।
काल जीति जग में रहै, मौत न व्यापै ताहि॥
दशौ द्वार को फोरि कै, जब चाहै तब जाहि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरनदास का मन्तव्य योगमार्ग का व्यावहारिक स्वरूप सामने रखना था, जो 'शिवस्वरोदय' की परम्परा का वह विकास है जहाँ कुछ समानताएं भी हैं और भिन्नता भी। उनका स्वरोदय गगा और यमुना का वह संगम है जहाँ दोनों की लहरें प्रकाश पाती हुई एक नये मार्ग की ओर चल रही हैं और कहना असत्य न होगा कि यह नया मार्ग भक्ति के सजल घनों से भी

प्रतिच्छादित है और सूर्य की बन्धुर ऊष्मा से तापित भी। यहाँ सूर्य और चन्द्र का योग, हठयोग की साधना का विवरण भी मिलता है।

'शिव स्वरोदय' और 'ज्ञान स्वरोदय' की समानताओं पर विचार करने के पूर्व हमें दो प्रश्नों का समाधान कर लेना आवश्यक है। पहला यह कि स्वरोदय दर्शन क्या है? उसका तन्त्र की परम्परागत विचारधारा में क्या स्थान है? और दूसरा यह कि हठयोग की साधना का स्वरोदय-साधना से कितना और क्या सम्बन्ध है? ससार के अविद्याजन्य दुख के निवारण की कामना प्रत्येक योगी की रही है। यह एक विरोधाभास ही है कि जिस देह को सब ने प्रायः क्षणभगुर माना है उसे ये योगी बड़े काम की वस्तु मानते हैं। इस शरीर में तीन नाड़ियां इडा, पिंगला और सुषुम्ना स्थित है। सूर्य और चन्द्र का ध्यान करते हुए जो श्वास में लीन रहता है, सुरति से लव लगाता है, वह निश्चय ही ज्ञानी है। यह उसी प्रकार अपने मे सिमिट जाता है जिस प्रकार कछुवा सिमिटकर एक हो जाता है[1] अर्थात् फिर उसे पाँचों तत्वों का स्वाद नहीं रह जाता है, उसे तो निरजन का नाम ही याद आता है। निरजन शब्द की व्युत्पत्ति अत्यन्त विचारपूर्ण है। गोरखनाथी ग्रथों में निरजन का स्थान इसी शरीर में मेरुदड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच में स्थित स्वयभूः लिंग को माना गया है। इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वयभूः चक्र को साढे तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुडलिनी स्थित है। साधारणतया यहाँ जिस निरजन की ओर चरनदास का सकेत है वह शिव का वाचक जान पड़ता है। अजपा जाप की साधना करने पर इसी शिव से शक्ति का मिलान होता है। शैव सिद्धांतों के अनुसार यह शक्ति परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुडलनी अवस्थाओं को पार कर सृष्टि का कारण बनती है। इस अवस्था की सम्प्राप्ति हेतु चरनदास का कहना है कि जो महाखेचरी मुद्रा को धारण करता है वही इस सिद्धि को पाता है। मेरुदड को सीधा कर गगन के कमल से सुरति लगाने और चन्द्र-सूर्य को समान कर षट्चक्रों को भेद कर सुषुम्ना के सहारे मन जिस झिलमिलाती ज्योति को देखता है वहाँ मन भी विश्वास से भर जाता है। यह विश्वास बड़ी लम्बी यात्रा की प्राप्ति का फल है। कुछ स्थलों पर चरनदास ने सायुज्य मुक्ति की चर्चा भी की है। इनकी अनहद की कल्पना भी कुछ कम विचित्र और रमणीय नहीं है। इनका कहना है कि जीवन के बाए अग्नि, दाहिने जल और पवन का नाभि में वास है। मूल कमल की चार पंखुड़ियाँ हैं जो लाल रंग की हैं और जिस पर गौरी सुत का वास है। षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल आदि की कल्पनायें भी विभिन्न वर्णों और देवताओं की स्थापना हेतु

---

१. जैसे कछुआ सिमिटि करि, आपी माहि लगाय।
ऐसे ज्ञानी श्वास में, रहै सुरति लवलाय॥

की गई है और फिर अनहद नाद की कल्पना है जो दश प्रकार से बजता है। उसमें भवर का गुंजार होता है, घुघरु की ध्वनि भी होती है, शखनाद भी है और ताल की थाप भी, मुरली और भेरी का नाद है, मृदग की गमक है, नफीरी भी बज रही है और है सिंह की गर्जना भी। इसके उपरान्त मनुआ दीन होकर चित्त को स्थिर कर लेता है। यह तो इनकी हठयोग सम्बन्धी बात है जो इन्होंने एक जगह न कह कर स्वरों की चर्चा के बीच कहा है। योग की इस साधना के बीच उन्होंने स्वर-दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका कहना है कि समग्रतत्वों का पता श्वास को दृष्टि मे रखकर लगाना चाहिए। बैठे, लेटने और चलते-फिरते श्वास की ही आराधना करना चाहिए।[1] स्वर-विचार के लिए उन्होंने इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सूर्य, चन्द्र आदि पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को छोड़ दिया है। इसलिए जो सुषुम्ना योग के लिए कठिन और लाभप्रद मानी जाती है वह यहाँ हेय है। पक्षों और दिनों के आधार पर विशेष स्वरों का प्रचलन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में वर्णित है। इसका उद्देश्य विशेष कार्यों के शुभाशुभ फल पर विचार करना है और इसीलिए चंद कारज और थिर कारज के लिए क्रमशः भानु और चन्द्र स्वर की प्रबलता सिद्ध की गई है। सुषुम्ना अर्थात् दोनों स्वरों का चलना इसलिए वर्जित है क्योंकि फिर तो द्वन्द्व ही मिलता है लाभ नहीं।[2] इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि श्री चरनदास का स्वरोदय दर्शन उनके आध्यात्मिक विचारों से भिन्न है। मोक्ष मुक्ति की चाह पूरी करने के लिए कामना और काम दोनों का नाश आवश्यक है।[3]

श्री चरनदास के 'ज्ञानस्वरोदय वर्णन' की सज्ञा से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे ज्ञान के स्वर के उदय का वर्णन करना चाहते हैं। अतः उनकी विचार वस्तु के दो विभाग किए जा सकते हैं :—

---

१. आसन सयम साधि करि, दृष्टि श्वास के माहि।
   तत्व भेद यो पाहिये, बिन साधे कुछ नाहिं ॥
   आसन पदम लगाय के, एक बरत नित साध।
   बैठे लेटे डोलते, श्वासा ही आराध ॥
२. चर कारज को भानु है, थिर कारज को चन्द।
   सुषमन चलत न चालिए, तहाँ होय कुछ द्वन्द ॥
३. "मोक्ष मुक्ति तुम चहत हौ, तजौ कामना काम।"

१. स्वरों का शुभाशुभ फल २. हठयोग का ज्ञान ।

इनका यह अर्थ नहीं कि इन दोनों विभागों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। वस्तुतः ये दोनों योगक्रिया के श्वास विभाग विषयक तत्व ही हैं। योग-साधना के इन्होंने तीन विभाग किए हैं :—

१. भक्ति समाधि—ध्यान का ध्येय में लीन होकर सुरति बुद्धि से परे की अवस्था।

२. योग समाधि—सुरति नाद मे लीन होकर क्रिया शून्य हो जाती है।

३. ज्ञान समाधि—ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी का नाश और आत्मानुभूति की एकरस अवस्था।

ज्ञान-स्वरोदय में मुख्यतः अन्तिम दो अवस्थाओ का वर्णन विशेष रूप से है। स्वरोदय-दर्शन इन दोनो के बीच की अवस्था है। स्वरों के ज्ञान से यदि अशुभ बात का पता चले तो 'योग समाधि' काल का निवारण भो कर सकती है। यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि सम्भवतः स्वरोदय दर्शन तांत्रिक विचार परम्परा का ही विकास हो। हम इसका विरोध नहीं करते हैं। कहना केवल इतना है कि यह तंत्र-साधना की परम्परा का विकसित रूप अवश्य जान पड़ता है। यह निश्चित करने के लिए हमें तन्त्र साधना की परम्परा पर विचार करना आवश्यक है।

प्रार्थना और पूजनादि से कहीं अधिक महत्व जब याज्ञिक-अनुष्ठानों का दिया जाने लगा तब कर्म प्रधान हो चला। योगमार्ग का प्रचलन ज्ञानवाद के साथ तपोविद्या के योग से हुआ और फिर तो काल क्रमानुसार योगसाधना यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि से धीरे-धीरे सम्पर्क हटाते हुए चित्तवृत्तियों के विरोध की बात प्रधान हो गई। तत्र की साधना जो वेदों से चली आ रही थी, बौद्धतत्र, शक्तितत्र आदि में विकसित हो गई और इस प्रकार तत्रोपचार की प्रणाली में जहाँ मूर्ति पूजा विषयक नियमादि बने वहाँ कुछ गुप्त साधना की पद्धति चली जो अनेक सम्प्रदायों के अनुसार विकसित हो चली। यही तंत्र साधना कहलाई। इस तंत्र साधना में विशेषकर मुद्राओं, स्त्री जीवन, मांस भक्षण को इतना महत्व दिया गया कि भक्ति भाव लुप्त हो गया। वाह्याचार की प्रधानता और शिव मात्र को योगाभ्यास का आदर्श माना गया है। श्री चरनदास का 'ज्ञान स्वरोदय' इस अर्थ में स्वतः पूरा तांत्रिक ग्रन्थ नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने उस स्वरूप का विचार किया है जहाँ योगी सब प्रकार की साधना कर घट-घट वासी अनूप ब्रह्म में सिमिट जाता है।[1]

---

१. साधो करो विचार उलटि घर अपने आवो।
घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहाँ समावो॥

इसीलिए चाहे योग कीजिए, चाहे युक्ति, चाहे अजपा जाप, किन्तु परमतत्व के ज्ञान आपाआप का विचार करना आवश्यक है ।[1] यही आत्मदर्शन की बात है। अतः इनका ज्ञान स्वरोदय तंत्र परम्परा का हठयोग की साधना पर परिष्कार है। उनके लिए स्वर का ज्ञान, ज्ञान के लिए उपयोगी है । नीर, नभ, धारणा, वायु, पावक की क्रमशः इन्द्रिया जिह्वा, कान, नासा, त्वचा, और नयन को जो विचार कर पहिचान लेता है वही साधु है और उसे ही सदा सुख मिलता है ।[2] शस्त्रो से अछिद्य, पावक से न जलने वाला, जो अविनाशी जीव है इसको कोई विरला ही जानता है ।[3] इसने पाँच तत्वों के गढ़ मे वास किया है और इसके साथ तो तीनों गुन भी लगे हैं ।[4]

पहले इस ओर सकेत किया जा चुका है कि स्वर, श्वास व प्रश्वास की गति का ही दूसरा नाम है, जो निरन्तर एक ही नासिका छिद्र से प्रवाहित न रहने के कारण कभी बांए, कभी दाए और कभी बाए-दाए दोनों मार्ग से प्रवाहित होता है। स्वर की गति में परिवर्तन ही उदय कहलाता है । श्री चरनदास की कृति के पहले दरियादास का 'स्वर विज्ञान' पुस्तक भी देखने को मिलती है जिसका शुद्ध सत मत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।[5] किन्तु दो सम्प्रदायों में स्वर-विज्ञान की चर्चा से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि स्वर विज्ञान सन्तों के मन में बैठ रहा था । जन जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाले इन सन्तों से लोक में प्रचलित इस तांत्रिक साधना का फिर भला बहिष्कार होता भी तो कैसे ? इसीलिए चरनदास अपनी कृति और उसके विषय को भली प्रकार महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं।

चारि वेद का भेद है गीता का है जीव।
चरणदास लखि आपको तो मैं तेरा पीव॥

१. जोग जुक्ति कै कीजिए, कै अजपा को ध्यान।
आपाआप विचारिए, परम तत्व को ज्ञान॥

२. त्वचा सुइन्द्री वायु की, पावक इन्द्री नैन।
इनको साधै साधु जो, पद पावै सुख चैन॥

३. शस्तर छेदि सकै नहीं, पावक सकै न जारि।
मरै मिटै सो तू नहीं, गुरुगम भेद निहारि॥

४. पाँच तत्व के कोट में, आय कियो तै वास।
पाँच पचीसो देह सग, गुन तीनो हैं साथ॥

५. उत्तरभारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ ५७५।

यह तो उनके गुरु की देन है ।[1] हमारे शरीर में नाभि स्थान के कन्द के ऊपर अंकुर के समान निकली हुई ७२००० नाड़ियां हैं । शरीर के नवों द्वारों को घेरे हुए जो कूरम, नाग, धनजय, देवदत्त, दश वाई आदि नाड़ियाँ हैं, उनमें तीन उत्तम नाड़ियां हैं इडा, पिंगला, सुषुम्ना जो अनेक प्रकार के खेल रचती रहती हैं । प्राणायाम कर इनको वश में करने वाले न जाने कितने पतित तिर गए हैं ।[2]

स्वर एवं तत्व विचार—चरनदास के मतानुसार साधना के साथ यदि हम किसी कार्य में प्रवृत्त हों तो हमें पूर्ण सफलता प्राप्त होती है । कवि के अनुसार मानव का स्वर सामान्यतया दक्षिण अथवा वाम नासिका रन्ध्र से गतिमान् रहता है । परन्तु कभी-कभी वह सुषुम्णा से भी प्रवाहित होता है । प्रत्येक स्वर के साथ तत्वों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है । इसीलिए किसी कार्य के लिए स्वर-विशेष के साथ तत्व-विशेष की भी आवश्यकता पड़ती है, तभी कार्य सफलीभूत होता है अन्यथा नहीं ।

तत्व पांच माने गये हैं—पृथ्वीतत्व, जलतत्व, तेजतत्व, वायुतत्व एव आकाश तत्व । अब स्वरोदय साधना में इनकी क्या महत्ता है, यह भी विचारणीय है । सब से प्रथम पृथ्वी तत्व है । मानव शरीर में इसका निवास मूलाधार चक्र मे माना गया है । सुषुम्णा का विकास स्थान यही है । इसका आकार कमल के पुष्प का सा होता है । यह भूः लोक का प्रतिनिधि है । इसी चक्र से पृथ्वी तत्व का ध्यान किया जाता है । उसका रग पीला, आकृति चतुष्कोण, गुण गन्ध है । चरनदास के शब्दों में पृथ्वी तत्व का वर्णन निम्नलिखित है :—

पृथ्वी काल जो ठौर है, मुखै जानिये द्वार ।
पीलो रग पहिचानिए, पीवन खान अहार ॥

अग्नि तत्व—शरीर में इसका स्थान मणिपूरक है । यह नाभि में स्थित है । स्वः लोक का यह प्रतिनिधित्व करता है । इसका रंग लाल तथा गुण रूप है । इसकी

---

१. भेद स्वरोदय सो लहै, समझै श्वास उसास ।
बुरी भली तामैं लखै, पवन सुरति मन गांस ॥
शुकदेव गुरु कृपा करी, दियो स्वरोदय ज्ञान ।
जब सों यह जानी परी, तमि होय कै ज्ञान ॥

२. इड़ा पिंगला सुषुमना, केलि करैं परवीन ।
करते प्राणायाम के, तिर गए पतित अनेक ॥

आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय क्रमशः आँख और पैर हैं। कवि के शब्दों मे :—

पित्ते मे पावक रहै, नैन जानिये द्वार।
लाल रग है अग्नि को, मोह लोभ आहार ॥

जलतत्व—यह तत्व स्वाधिष्ठान चक्र मे है। इसकी स्थिति जननेन्द्रिय के मूल मे है। यह शरीर मे भुवःलोक का प्रतिनिधि है। इसमे जलतत्व का निवास है। इसका रग श्वेत, आकृति अर्ध चन्द्राकार, गुण रस, तथा ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा एव कर्मेन्द्रिय लिग है। कवि के अनुसार :—

जल को बासा माल है, लिंग जानिये द्वार।
मैथुन कर्म अहार है, धौलौ रग निहार ॥

वायुतत्व—यह अनाहत चक्र में स्थित है। इसकी स्थिति हृदय-प्रदेश मे है। महःलोक का यह प्रतिनिधि है। इसका रग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल, गुण स्पर्श तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ है। कवि के मत से :—

पवन नाभि मे रहत है, नासा जानि दुआर।
हरो रग है वायु को, गन्ध सुगन्ध अहार ॥

आकाश तत्व—यह विशुद्ध चक्र मे स्थित है। इसका स्थान कठ और चक्र जनःलोक का प्रतिनिधि है। इसका रग नीला, आकृति अडाकार, गुण शब्द तथा ज्ञानेन्द्रिय कान और कर्मेन्द्रिय वाणी है। कवि के अनुसार :—

आकाश शीश मे बास है, श्रवण दुआरो जान।
शब्द कुशब्द अहार है, ताको श्याम पिछान ॥

इन सभी का ६ मास तक अभ्यास करने से तत्व सिद्धि हो जाती है। सिद्धि प्राप्त होते ही तत्वों को पहचानना सरल हो जाता है।

इन तत्वों की अवधि निम्नलिखित है :—

सख्या	तत्व का नाम	पल	मिनट
१	पृथ्वी	५०	२०
२.	जल	४०	१६
३.	अग्नि	३०	१२
४.	वायु	२०	८
५.	आकाश	१०	४

स्वरोदय-विज्ञान के अनुसार तत्व-दर्शक तालिका निम्नलिखित है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि चरनदास ने इन तत्वों का इतने विस्तार के साथ वर्णन कहीं नहीं किया है :—

यह तो उनके गुरु की देन है ।[1] हमारे शरीर में नाभि स्थान के कन्द के ऊपर अंकुर के समान निकली हुई ७२००० नाड़ियां हैं । शरीर के नवों द्वारों को घेरे हुए जो कूरम, नाग, धनजय, देवदत्त, दश वाई आदि नाड़ियाँ हैं, उनमें तीन उत्तम नाड़ियां हैं इडा, पिंगला, सुषुम्ना जो अनेक प्रकार के खेल रचती रहती हैं । प्राणायाम कर इनको वश में करने वाले न जाने कितने पतित तिर गए हैं ।[2]

स्वर एवं तत्व विचार—चरनदास के मतानुसार साधना के साथ यदि हम किसी कार्य में प्रवृत्त हो तो हमे पूर्ण सफलता प्राप्त होती है । कवि के अनुसार मानव का स्वर सामान्यतया दक्षिण अथवा वाम नासिका रन्ध्र से गतिमान् रहता है । परन्तु कभी-कभी वह सुषुम्णा से भी प्रवाहित होता है । प्रत्येक स्वर के साथ तत्वों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है । इसीलिए किसी कार्य के लिए स्वर-विशेष के साथ तत्व-विशेष की भी आवश्यकता पड़ती है, तभी कार्य सफलीभूत होता है अन्यथा नहीं ।

तत्त्व पांच माने गये हैं—पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, तेजतत्त्व, वायुतत्त्व एव आकाश तत्त्व । अब स्वरोदय साधना में इनकी क्या महत्ता है, यह भी विचारणीय है । सब से प्रथम पृथ्वी तत्त्व है । मानव शरीर में इसका निवास मूलाधार चक्र मे माना गया है । सुषुम्णा का विकास स्थान यही है । इसका आकार कमल के पुष्प का सा होता है । यह भूः लोक का प्रतिनिधि है । इसी चक्र से पृथ्वी तत्त्व का ध्यान किया जाता है । उसका रंग पीला, आकृति चतुष्कोण, गुण गन्ध है । चरनदास के शब्दों में पृथ्वी तत्त्व का वर्णन निम्नलिखित है :—

पृथ्वी काल जो ठौर है, मुखै जानिये द्वार ।
पीलो रंग पहिचानिए, पीवन खान अहार ॥

अग्नि तत्त्व—शरीर में इसका स्थान मणिपूरक है । यह नाभि में स्थित है । स्वः लोक का यह प्रतिनिधित्व करता है । इसका रंग लाल तथा गुण रूप है । इसकी

---

१. भेद स्वरोदय सौ लहै, समझै श्वास उसास ।
बुरी भली तामैं लखै, पवन सुरति मन गांस ॥
शुकदेव गुरु कृपा करी, दियो स्वरोदय ज्ञान ।
जब सौं यह जानी परी, तभि होय कै ज्ञान ॥

२. इड़ा पिंगला सुषुमना, केलि करैं परवीन ।
करते प्राणायाम के, तिर गए पतित अनेक ॥

आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय क्रमशः आँख और पैर हैं। कवि के शब्दों में :—

पित्ते मे पावक रहै, नैन जानिये द्वार।
लाल रग है अग्नि को, मोह लोभ आहार॥

जलतत्व—यह तत्व स्वाधिष्ठान चक्र मे है। इसकी स्थिति जननेन्द्रिय के मूल मे है। यह शरीर मे भुवःलोक का प्रतिनिधि है। इसमे जलतत्व का निवास है। इसका रग श्वेत, आकृति अर्ध चन्द्राकार, गुण रस, तथा ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा एव कर्मेन्द्रिय लिग है। कवि के अनुसार :—

जल को बासा माल है, लिग जानिये द्वार।
मैथुन कर्म अहार है, धौलौ रग निहार॥

वायुतत्व—यह अनाहत चक्र मे स्थित है। इसकी स्थिति हृदय-प्रदेश मे है। महःलोक का यह प्रतिनिधि है। इसका रग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल, गुण स्पर्श तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ है। कवि के मत से :—

पवन नाभि मे रहत है, नासा जानि दुआर।
हरो रग है वायु को, गन्ध सुगन्ध अहार॥

आकाश तत्व—यह विशुद्ध चक्र मे स्थित है। इसका स्थान कठ और चक्र जनःलोक का प्रतिनिधि है। इसका रग नीला, आकृति अडाकार, गुण शब्द तथा ज्ञानेन्द्रिय कान और कर्मेन्द्रिय वाणी है। कवि के अनुसार :—

आकाश शीश मे वास है, श्रवण दुआरो जान।
शब्द कुशब्द अहार है, ताको श्याम पिछान॥

इन सभी का ६ मास तक अभ्यास करने से तत्व सिद्धि हो जाती है। सिद्धि प्राप्त होते ही तत्वों को पहचानना सरल हो जाता है।

इन तत्वों की अवधि निम्नलिखित है :—

सख्या	तत्व का नाम	पल	मिनट
१.	पृथ्वी	५०	२०
२.	जल	४०	१६
३.	अग्नि	३०	१२
४.	वायु	२०	८
५.	आकाश	१०	४

स्वरोदय-विज्ञान के अनुसार तत्व-दर्शक तालिका निम्नलिखित है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि चरनदास ने इन तत्वो का इतने विस्तार के साथ वर्णन कहीं नहीं किया है :—

संख्या	तत्व का नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वास की गति	श्वास का प्रमाण	समय	
										पल	मिनट
१	पृथ्वी	मूलाधार चक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	धुमर	ल	नसकोरे के मध्य	१२ अंगुल	५०	२०
२.	जल	स्वाधिष्ठान चक्र	अर्ध चन्द्राकार	रस	श्वेत	कसैला	व	नसकोरे के निचले भाग मे	१६ अंगुल	४०	६०
३.	तेज	मणिपूरक चक्र	त्रिकोण	रूप	लाल	तीखा	र	नसकोरे के ऊपर के भाग मे	४ अंगुल	३०	१२
४.	वायु	अनाहत चक्र	षट्कोण या गोल	स्पर्श	हरा	खट्टा	य	नसकोरे के किनारे	८ अंगुल	२०	१०
५.	आकाश	विशुद्ध चक्र	अंडाकार	शब्द	रंग-विरंगा	कड़वा	ह	आवर्त	२० अंगुल	१०	४

स्वर चलने के नियम—सामान्यतया स्वरों के चलने के नियम निम्न-लिखित हैं :—

१. शुक्ल पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ६, १३, १४, १५ तिथियों मे सूर्योदय से लेकर अमुक समय तक वाम नासिका से ।

२. शुक्ल पक्ष की ४, ५, ६, १०, ११, १२ इन छः तिथियों मे दक्षिण नासिका से ।

३. कृष्ण पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ६, १३, १४, १५ में सूर्योदय से अमुक समय तक दक्षिण नासिका से ।

४. कृष्ण पक्ष की ४, ५, ६, १०, ११, १२ इन ६ तिथियों में वाम नासिका से श्वास को चलना चाहिए ।

स्वर-चालन के इस नियम का उल्लेख चरनदास के ज्ञान स्वरोदय मे नहीं हुआ है । परन्तु स्वरोदय विज्ञान को समझने के लिए इसे जान लेना आवश्यक है ।

स्वर तथा कार्य विचार—परम्परागत स्वरोदय विज्ञान मे स्वर तथा कार्य विचार एक वृहद् प्रकरण है । परन्तु हमारे कवि ने अपेक्षाकृत उतना विस्तार नहीं दिया है । कवि-उल्लिखित स्वर तथा कार्य-विचार निम्नलिखित हैं[1] :—

---

१. विवाह दान तीरथ जो करै । बस्तर भूषण घर पग धरै ॥
वायें स्वर मे ये सब कीजै । पोथी पुस्तक जो लिखि लीजै ॥
जोगाभ्यासरु कीजै प्रीति । औषधि बाडी कीजै मीत ॥
दीक्षा मतर बोवै नाज । चन्द्र जोगथिर बैठे राज ॥
चन्द्र जोग मे स्थिर जानौ । थिर कारज सबही पहिचानौ ॥
करै हवेली छप्पर छावै । बाग बगीचा गुफा बनावै ॥
हाकिम जाय कोटि में वरै । चन्द्र जोग आसन पग धरै ॥
× × × ×
जो खाडा कर लीयो चाहै । जाकर वैरी ऊपर बाहै ॥
युद्ध वाद रणजीतै सोई । दहिने स्वर मे चालै कोई ॥
भोजन करै करै असनाना । मैथुन कर्म ध्यान पर धाना ॥
बही लिखै कीजै व्यवहारा । गज घोड़ा वाहन हथियारा ॥
विद्या पढ़ै नई जो साधै । मतर सिद्धि ध्यान आराधै ॥
वैरी भवन गवन जो कीजै । असकाहू को ऋण जो दीजै ॥

कार्य का नाम	स्वर का नाम	तत्व का नाम	वार
१. विवाह	वाम	.	
२. दान	वाम	.	.
३. तीर्थ	वाम	..	..
४ वस्त्राभूषण बनवाना	वाम		
५ ग्रन्थ-रचना	वाम	..	.
६. दीक्षा	वाम	.	
७ मन्त्र-साधना	वाम	.	..
८. योगाभ्यास	वाम	..	..
९. गृह-निर्माण	वाम	.	..
१०. बाग बगीचा, गुफा-निर्माण	वाम	..	..
११. हाकिम से भेंट	वाम	.	.
१२ युद्ध, रण	दक्षिण	..	..
१३. वाद-विवाद	दक्षिण	..	..
१४. भोजन	दक्षिण	..	..
१५. स्नान	दक्षिण	.	.
१६. मैथुन	दक्षिण	..	..
१७. बही लिखना	दक्षिण	..	.
१८. विद्यार्जन	दक्षिण	.	..
१९. ऋण याचना या दान	दक्षिण	.	..
२०. विष तथा भूत उतारना	दक्षिण	..	..

स्वर यात्रा विचार—कवि के मत से :—

चर कारज को भानु है, थिर कारज को चन्द।
सुषमन चलत न चालिये, तहा होय कुछ दन्द ॥

१. सुषुम्णा नाड़ी के चलते समय ग्राम, परगना या खेत यात्रा, मित्र-मिलन नहीं करना चाहिए।[1]

---

[1]. गाव परगने खेत पुनि, ईधर ऊधर मीत।
सुषमन चलन न चालिये, बरजत है रणजीत ॥
छण बाये छण दाहिने, सोई सुषमन जानि।
ढील लगै कै ना मिलै, कै कारज की हानि ॥
होय क्लेष पीडा कछू, जो कोई कहि जाय।
सुषमन चलत न चालिये, दीन्हो तोहि बताय ॥

२. वाम स्वर में पूर्व-उत्तर की यात्रा वर्जित है परन्तु दक्षिण-पश्चिम की यात्रा शुभ है।[1]

३. दक्षिण स्वर मे, दक्षिण-पश्चिम की यात्रा वर्जित है परन्तु उत्तर-पूर्व की यात्रा शुभ है।[2]

स्वर एवं आहार-व्यवहार विचार—कवि द्वारा वर्णित आहार-व्यवहार तथा निद्रा-विचार निम्नलिखित है :—

बाईं करवट सोइये, जल बाये स्वर पीव।
दहिने स्वर भोजन करै, तौ सुख पावै जीव॥
बाये स्वर भोजन करै, दहिने पीवे नीर।
दशदिन भूलो यों करै, आवै रोग शरीर॥
दहिने स्वर झाड़े फिरै, बाये लघु शकाय।
जुक्ती ऐसी साधिये, दीन्हो भेद बताय॥
चन्द चलावै द्यौस को, रात चलावै सूर।
नित साधन ऐसे करै, होय उमर भरपूर॥

इसी प्रकार कवि ने स्वर और मृत्यु-विचार, स्वर और गर्भ-विचार, स्वर तथा युद्ध-विचार, स्वर तथा मृत्यु-निवारण-विचार आदि पर सविस्तार गभीर प्रकाश डाला है। कवि ने स्वर और वर्ष विचार, तथा स्वर और रोग विचार पर भी मौलिक विचारों को प्रकट करके विषय को उपयोगी बना दिया है।

यह स्वरोदय-विज्ञान दुष्ट, दुर्जन, नास्तिक, गुरु-स्त्री-गामी, अधीर और दुराचारी को नहीं देना चाहिए। यह जितना गोप्य है उतना ससार मे कोई विज्ञान

---

१. पूरब उत्तर मत चलै, बाये स्वर परकाश।
हानि होय बहुरै नहीं, आवन की नहि आश॥
बाये स्वर में जाइये, दक्षिण पश्चिम देश।
सुख आनन्द मगल करै, जोर जाइ परदेश॥

२ दहिने चलत न चालिये, दक्षिण पश्चिम जानि।
जोर जाय बहुरै नहीं, तहां होय कछु हानि॥
दहिने स्वर में जाइये, पूरब उत्तर राज।
सुख सम्पति आनद करै, सभी होय शुभ काज॥

नही, फिर भी उपकारार्थ इसका प्रकाशन होता है। 'शिव-स्वरोदय' मे कहा गया है कि :—

दुष्टे दुर्जने चैव क्रुद्रे गुरुतल्पगे ।
हीन सत्वे दुराचारे स्वर ज्ञान न दीयते ॥
गुह्याद्‌गुह्यतर सारमुपकार-प्रकाशनम् ।
इदं स्वरोदय ज्ञान ज्ञानाना मस्तके मणिः ॥

———

पंचम अध्याय

चरनदास की विचार-धारा

राम

चरनदास के युग की राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी अशांति, सघर्ष, क्रांति और धार्मिक उत्पीड़न का युग था। देश मे चतुर्दिक् अशांति व्याप्त थी। राजनीतिक परिवर्तनों का दुष्प्रभाव धर्म और समाज पर सबसे पहले पडता था। औरगजेब से लेकर शाहआलम तक देश का शासन सात शासको के हाथ मे परिवर्तित हुआ और प्रत्येक बार नये शासक ने अपने मन और इच्छा के अनुकूल प्रयोग किया। औरगजेब स्वतः निरकुश शासक था। उसके लिए कठोरता और क्रूरता की कोई सीमा नही थी। काफिरों के अस्तित्व को मिटा देने के लिए वह दृढव्रती था। उसके युग मे हिन्दुओ के प्रसिद्ध देवमदिर विनष्ट कर दिये गए और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है कि औरगजेब के युग मे हिन्दुओ का एक भी नवीन मंदिर नही बनाया गया। हिन्दुओ के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों मे यात्रियों से कर वसूल होता था। काफिरो पर जजिया कर बिना किसी अपवाद के लगा दिया गया था। हिन्दुओं की धर्मशालाएँ विनष्ट करके उनमे मुसलमान बालको की पाठशालाएँ स्थापित कर दी गई। ज्ञानार्जन के प्रसाधन हिन्दुओ के पुस्तकालयों की होली लगा दी गई। समस्त हिन्दू राज्यो को मिटा दिया गया। उनकी कला, सस्कृति, साहित्य, धर्म और स्वातत्र्य पर बड़े-बड़े आघात और प्रहार हुए। इतिहास के अनुसार औरगजेब के राज्यकाल में हिन्दुओ को पान खाकर राजमार्ग पर चलने और घोड़े पर चढ़कर बाजार से निकलने की आज्ञा नहीं थी। बहादुरशाह, औरगजेब के पश्चात् सन् १७०७ मे दिल्ली का शासक हुआ। राज्यसिंहासन के साथ उसे विरासत मे औरगजेब से धार्मिक नीति भी प्राप्त हुई। परन्तु बहादुरशाह एक निर्बल शासक था। वह अधिक समय तक उस नीति को कायम न रख सका। बहादुरशाह के अनन्तर मुगल राज्य का दीपक बुझने लगा। उसके पश्चात् फर्रुखसियर (सन् १७१३-१७१६), मुहम्मदशाह (१७१६-१७४८), अहमद शाह (१७४८-१७५४), आलमगीर द्वितीय (१७५४-१७५६) और अततः

शाह आलम (१७५६) दिल्ली के सिंहासन पर बैठे । इनमे से एक भी दृढ़ मति और कुशल शासक नहीं था । फिर भी हिन्दुओं के साथ उनकी नीति उग्र ही बनी रही । सन् १७१६ से १७५६ के मध्य, देश पर अनेक आक्रमण हुए । सन् १७३८ मे नादिरशाह का आक्रमण और सन् १७४७ तथा सन् १७५४ मे अहमद शाह दुर्रानी के हमले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इन अभियानों मे चाहे वह कत्ले-आम रहा हो और चाहे लूट-खसोट, मात्र हानि हिन्दुओं की ही अधिक रही । नादिरशाह ने, आक्रमण मे हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ-स्थानो और मंदिरो को नष्ट करने मे कोई कसर न रखी । सन् १७०३ से लेकर सन् १७८० तक देश मे अनेक अकाल एव दुर्भिक्ष पडे । इनमे से कुछ तो बड़े व्यापक अकाल थे । इस सक्षिप्त राजनीतिक और ऐतिहासिक विवेचन से हिन्दुओं की दुर्दशा और हीनावस्था का ज्ञान हो जाता है । परन्तु हिन्दू धर्मावलम्बी केवल मुसलमानों से ही उत्पीडित नहीं थे वरन् वे अपने दोषो से भी पर्याप्त उत्पीडित थे । यह अभाव अथवा दोष हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष से प्रकाश में आया । यह दोष वर्णव्यवस्था का था । युगों पूर्व समाज की सुविधा के लिए जो वर्ण-विभाग किया गया था, वह कालान्तर मे अभिशाप बन गया । समाज का अन्त्यज वर्ग सभ्य समाज के प्रायः समस्त अधिकारो से वञ्चित हो गया । वेद, शास्त्र, तीर्थ, मंदिर और मूर्ति-उपासना, सभी कुछ उनकी पहुँच से परे हो गया । इस प्रकार अन्त्यज शूद्रों का जीवन भार स्वरूप प्रतीत हो रहा था । बाह्य शक्तियों से उत्पीड़ित और आभ्यन्तरिक जीवन से अपमानित शूद्रो का जीवन पूर्णतया दुःखमय हो गया था । हिन्दू जाति नैराश्य के गर्त मे पड़ी हुई जीवनाशा से वियुक्त हो चुकी थी । सौभाग्य से दोनों जातियों मे ऐसे भी महामना थे जिनको यह अवस्था शोचनीय प्रतीत हुई । वे इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर खदेड़े जा सकते हैं और न धर्म-परिवर्तन अथवा हत्या से हिन्दुओं की इति-श्री की जा सकती है । उस समय की यही स्पष्ट आवश्यकता थी कि हिन्दू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहे और इन उदारचेताओं को भी इस आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव हुआ । दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं को, जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि लाभ, सुख दुख और हर्ष-विषाद से परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ ।[1] दसवीं शताब्दी में गुरु गोरखनाथ, बाबा रतन तथा हाजी ने हिन्दू और मुसलमान धर्मों के अन्तर्गत व्याप्त दोषों को स्पष्ट रूप से भारतीय जनता के समक्ष व्यक्त किया और दोनो

---

[1]. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ १५

जातियों को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया। उन्होने जाति, वर्ण और कुलीनता की आलोचना करके अलखनिरंजन की उपासना का सदेश जनता को सुनाया। गोरखनाथ ने कहा कि "काजी मुल्लाओं ने कुरान पढा, ब्राह्मणों ने वेद, कापड़ी और सन्यासियों को तीर्थ ने भ्रम में डाल रखा है, इनमें से किसी ने निर्वाण पद का भेद नहीं पाया।[1]—हिन्दू देवालय मे ध्यान करते हैं, मुसलमान मसजिद मे; किन्तु योगी परमपद का ध्यान करते हैं जहाँ न देवालय है न मसजिद।[2]—हिन्दू कहते हैं कि राम है, मुसलमान कहते हैं कि खुदा है किन्तु योगी जिस अलक्ष्य का आख्यान करते हैं वहाँ न राम है, न खुदा।[3]—काजी तुम मुहम्मद मुहम्मद व्यर्थ ही कर रहे हो। मुहम्मद को समझना बहुत कठिन है। उसके हाथ मे जो छुरी थी वह ईस्पात की नहीं बनी हुई थी।[4]—हिन्दू और मुसलमान मे अतर नहीं है कारण कि जिस विन्दु से हिन्दू एव मुसलमान पैदा होते हैं वह न तो मुसलमान है और न हिन्दू। ये दोनों एक ही खुदा के बन्दे हैं। योगी लोग हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव नहीं करते हैं। उनके दृष्टिकोण मे सभी समान हैं, सभी महान् और सम्मानित हैं।[5]"

गोरखनाथ से लगभग दो-सौ वर्ष बाद युग-प्रवर्तक रामानन्द का आविर्भाव हुआ जिसने भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत एक क्रान्तिकारी परिवर्तन समुपस्थित कर

---

[1] काजी मुलां कुरांण लगाया ब्रह्म लगाया बेद।
कापडी सन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृवांण पद का मेवं॥
—डॉ० बड़थ्वाल, गोरखवानी, पृष्ठ ३३

[2] हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत॥—गोरखवानी, पृष्ठ २५

[3] हिन्दू आवैं राम कौं मुसलमान षुदाइ।
जोगी आषैं अलष कौं तहाँ राम अछै न षुदाइ॥—गोरखवानी, पृष्ठ २५

[4] मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचार।
मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहै गढ़ी न सार॥—गोरखनाथ, पृष्ठ ४

[5] जिस पाणी से कुल आलम उतपनां।
ते हिन्दू बोलिए कि मुसलमानां॥
हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे।
हम जोगी ना रखे किस ही के छन्दे। —पौडी हस्तलेख, पृष्ठ २४३; हिन्दी काव्य के निर्गुण सम्प्रदाय से उद्धृत—पृष्ठ १६

दिया। रामानन्द ने भक्ति की सकीर्ण धारा को जनता के विशाल धरातल पर लाकर प्रवाहित किया जिसके अवगाहन मे जाति, कुल, वर्ण और वर्ग का विचार किसी प्रकार भी मान्यता न प्राप्त कर सका। रामानन्द ने जनता की परिस्थिति और भावनाओं के अनुकूल अपनी धार्मिक विचारधारा को स्वरूप प्रदान किया। युगों से अवरुद्ध मन्दिरो के द्वारों की अवहेलना करके उन्होने भक्ति का एक नवीन स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित किया जिसे सुनकर और पाकर भारतीय जनता अभिनन्दित हो उठी। चिर उपेक्षित और अपमानित शूद्र वर्ग मे भी स्वाभिमान एव भगद्भक्ति की भावना जाग्रत हुई। यह नवीन सन्देश और उपदेश था निर्गुण ब्रह्म का, जो मन्दिर-मस्जिद की सीमाओ से भी विशाल है। मूर्ति उपासको को दुख झेलते और मूर्ति-भजको को ऐश्वर्य के पालने झूलते देखकर भारतीय जनता के हृदय से मूर्ति के अन्तर्गत सन्निहित ब्रह्म के प्रति पहले ही से विश्वास उठ चुका था। अब रामानन्द के पीयूष-वर्षी उपदेशो और धर्म-साधना के सहज पथ और निर्देशन को पाकर भारतीय जनता का विश्वास परम्परागत धार्मिक रूढियों से पूर्णतया विलग होने लगा। रामानन्द ने बताया कि धर्म, चन्दन-माला और गगा-स्नान मे नहीं है वरन् वह सीधे-सादे ब्रह्म के नाम जप मे हैं। ब्रह्म, तीर्थ-स्थानों और मन्दिरो में ही नहीं वरन् सर्वव्यापक है। वह सर्वव्यापक द्वैत से रहित और रूपरेखा, आकार-प्रकार से सर्वथा परे और दूर है। आपत्काल मे समस्त हिन्दू जाति के लिये यह मोहक-मन्त्र था। शूद्र और कुलीन, दोनो ही के लिए यह दिव्य मार्ग प्रतीत हुआ। शूद्रोद्धार का यह महा श्रेय रामानन्द को प्राप्त हुआ। रामानन्द ने हिन्दू धर्म और जाति को बनाये (जीवित) रखने के लिए यह भगीरथ प्रयत्न किया।

इस दृष्टि से रामानन्द का एक और कृतित्व बड़ा महत्वपूर्ण है। उन्होंने कबीरदास नामक एक युवक को अपने सिद्धान्तों मे दीक्षित किया जो भविष्य मे एक बड़े भारी ऐक्य-आन्दोलन के प्रवर्तन का सूत्रधार बना। कबीर का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य और धार्मिक आन्दोलन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसने बड़ी ही सहज, सरल और स्पष्ट शैली मे अद्वैत-निर्गुण परब्रह्म का सदेश सुनाया जो हिन्दुओं के उपनिषदो मे प्रतिपादित ब्रह्म और मुसलमानो के ऐकेश्वरवाद से बहुत अश मे साम्य रखता था। कबीर ने रामानन्द से भी अधिक जोर के साथ दोनों धर्मों की बुराइयों को जनता के समक्ष व्यक्त किया। भेद भाव का बीजारोपण करने वाले पीर और पडित, मौलवी और महन्त उसके असाधारण व्यक्तित्व और फटकार के समक्ष ठहर न सके। दोषों की उसने बड़े ही निर्मम भाव से आलोचना की। मुरौव्वत और सकोच उसके पास कभी फटकने न पाया। उसने

मन्दिर और मस्जिद की चहारदीवारों मे बन्द रहने वाले कल्पित ब्रह्म की खुलकर दोनों के समक्ष निन्दा की, जाति-पॉति निःसार बताया, वाह्याचारों का रहस्योद्‌घाटन किया। कबीर का ब्रह्म आदि, अनादि, अनन्त, अलख, अगम, अगोचर, निराकार, निर्गुण और सगुण से परे सर्वशक्तिमान् और सर्व व्यापक था।

सत कबीर की परम्परा मे अनेक सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होने समय-समय पर अवतरित होकर जनता को कुछ हेर-फेर के साथ कबीर के निर्गुण परब्रह्म का सन्देश सुनाया। इन सतों मे अठारहवीं शताब्दी के सन्त कवि चरनदास भी उल्लेखनीय हैं, जिनके सन्देशो से प्रभावित होकर दिल्ली का तत्कालीन शासक मुहम्मदशाह, आक्रमणकारी नादिरशाह तथा अनेक मुसलमानो ने उसके आगे मस्तक झुकाया तथा रामरूप, सहजोबाई एव दयाबाई जैसे उस युग के प्रतिभा-सम्पन्न कवि और कवियित्रियों ने उनसे दीक्षा ली। देश की प्राकृतिक सीमाओं का उल्लघन करके उस युग-पुरुष के सदेश दूर-दूर तक फैल गए। इस युग-पुरुष ने जनता मे राम-रहीम के ऐक्य का वही प्राचीन सदेश अभिनव शैली में सुनाया जो लगभग छः सौ वर्ष पूर्व रामानन्द से प्रेरित होकर कबीरदास ने सुनाया था। यह सन्देश, यह उपदेश निर्गुण परब्रह्म का था जो उस युग (अठारहवीं शताब्दी) की सबसे बड़ी मॉग थी।

चरनदास के निर्गुण, निराकार, निर्विकार, परब्रह्म के विषय मे सविस्तार विचार करने के पूर्व, देश मे निर्गुण उपासना के विकास का अत्यन्त सक्षेप मे अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि हम समझ सकें कि कबीरदास से प्रभावित होते हुए भी चरनदास जी ने कहॉ तक प्राचीन चिन्तन-परम्परा तथा वैदिक मत को ग्रहण करके निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया है। इस विवेचन से समस्त दुविधाऍ और अस्पष्टता को छोड़कर हम चरनदास की विचारधारा का मूल्याकन करने मे समर्थ होंगे।

निर्गुण

'निर्गुण' का अर्थ होता है 'गुणो से रहित'। सस्कृत भाषा मे 'निर्गुण' शब्द का व्युत्पन्नार्थ होता है 'निर्गतो गुणेभ्यः'। 'गुण' शब्द का प्रयोग एव अर्थ अनेक प्रकार से होता है। 'गुण' के अर्थ होते हैं—प्रवीणता, शील, धर्म प्रभाव, रस्सी. प्रत्यचा एव सद्‌वृत्ति। इस शब्द का प्रयोग सद्‌गुण, दुर्गुण, सगुण आदि के रूप में भी होता है। दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र मे जब 'गुण' शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए होता है तब इसका अर्थ होता है तीन गुण 'रजस्', 'तमस्' एव 'सत्व' गुण।

इन तीनों शब्दों—'रजस्', 'तमस' एवं 'सत्व' का प्रयोग वेदों से लेकर

आज तक देश के धार्मिक साहित्य मे बारम्बार हुआ है। ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) मे इस शब्द का प्रयोग चार प्रकार से उपलब्ध होता है :—

१. सत् २. असत् ३ रजस् ४ तमस्[१]।

सॉयणाचार्य ने उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या अपने भाष्य में निम्नलिखित प्रकार से की है :—

१. सत्—आत्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम्।

२. असत्—शशविषाणवन्निरुपाख्यम्।

३. रजस्—लोका रजास्युच्यन्ते इति यास्कः।

४. तमस्—आत्मतत्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञभावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्ते।

'अथर्ववेद' मे भी स्थान-स्थान पर त्रिगुणात्मक प्रकृति का उल्लेख हुआ है।[२] अतएव वैदिक युग मे 'सत्व', 'रजस्' एव 'तमस' इन तीनों गुणों की कल्पना अपने मौलिक रूप में हो चुकी थी। 'ऋग्वेद' मे निर्गुण सत्पुरुष की भावना की स्थापना पुरुष से पहले ही हो चुकी थी। यही पुरुष भावना 'अथर्ववेद' में 'व्रात्य-भावना' के रूप में पल्लवित हुई है।

'वैदिक-साहित्य' मे गुण वो पुरुष भावना पर विचार कर लेने के अनन्तर अब 'उपनिषद्-साहित्य' इस दृष्टि से हमारा आलोच्य साहित्य है। इस साहित्य में गुण-भावना के विकास एव स्वरूप के विषय पर मत स्थिर करना दुरूह कार्य है। फिर भी 'कठोपनिषद्' एव 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इसके उल्लेख यत्र-तत्र हुए हैं। 'श्वेताश्वतर' मे पुरुष गुणों से शून्य या परे माना गया है साथ ही उसके लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग भी असंदिग्ध रूप से मिलता है। प्रस्तुत उपनिषद् में सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कहकर जहां एक पुरुष के प्रति सर्वात्मवाद की स्थापना

---

१. नासदासीन्नोसदासत्तिदानीं नासीद्राजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहन गभीरम् ॥१॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥२॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥३॥

२. पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ १०।८।४२

हुई है वहा उसके साथ ही उसे सूक्ष्म ब्रह्म के रूप मे भी ग्रहण किया गया है। अन्तर्यामी होता हुआ भी वह सूक्ष्म है। उदाहरणार्थ :—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षीचेतो केवलो निर्गुणश्च ॥ अध्याय ६।११

'श्वेताश्वतर' में उस पुरुष के मूर्त्त, व्यक्त अथवा साकार रूप का स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। वह चक्षु-इन्द्रिय ग्राह्य नहीं वरन् मनसा व ध्यान के द्वारा ग्राह्य सिद्ध किया गया गया है।[1] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' मे उस पुरुष को अक्षर कहा गया है। यह न स्थूल है, न बृहद्, न अल्प; न रूप-रङ्ग सयुक्त, न वायु, न आकाश। वह अमर, अप्राण, न सूक्ष्म, अमुख, अतेज, अबाह्य, अश्रोत्र, अनागमन, अरूप, अनादि तथा अनन्त है।[2] 'श्वेताश्वतर' मे इस पुरुष के लिए कई स्थान पर निरजन शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3]

'कठोपनिषद्' में गुण के आधार पर सृष्टि के विकास का सिद्धांत निर्धारित किया गया है :—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था पर मनः।
मनस्तु परा बुद्धिबुर्द्धेरात्मा महान् परः ॥ २।३।१०

आगे चलकर उपनिषदो से प्रतिपादित गुण के आधार पर सृष्टि के विकास की भावना साख्यदर्शन मे और भी अधिक व्यापक रूप मे प्रस्फुटित हुई। सांख्य-दर्शन में प्रकृति की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा गया है:—

"सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति."

अर्थात् सत्व, रज एव तम की स्थिरावस्था ही अव्यक्त प्रकृति है। यही तीन गुण प्रकृति के विकास के मूल कारण हैं। यही सृष्टि की समस्त विषमताओं

---

1. वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ३।८

× × ×

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्चत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ॥ ३।१९

2. बृहदारण्यक ब्राह्मण ८,७,२

3. निष्फल निष्क्रिये शात निरवद्य निरञ्जनम्।
अमृतस्य पर सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ ५।१९

का कारण है। सांख्य का 'पुरुष' निर्गुण एव त्रिगुणादि विपर्यय है। प्रकृति एव पुरुष नितात भिन्न गुण वाले पदार्थ हैं। फिर भी दोनों के योग से ही सृष्टि की स्थिति है। यह सयोग या ससर्ग अज्ञान का द्योतक है। 'सांख्य' का तो मूल सिद्धांत है कि "असगोह्यय पुरुषः", अर्थात् 'पुरुष' सग रहित है। साथ ही साख्य मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के लिए होता है। साख्य की इन दोनों धारणाओ मे पारस्परिक विरोध है। प्रकृति अधी और पुरुष अपग है, गति हीन है। एक दूसरे की सहायता के बिना अधकारपूर्ण अज्ञान के बन से बाहर निकलना असम्भव है। कारण कि अधे मे चलने की शक्ति है, पर मार्ग का उसे ज्ञान नहीं और दूसरी ओर लगड़े मे दृष्टि है, पर गति नहीं। दोनों का साथ ही एक-दूसरे के अभाव का पूरक है। इसी प्रकार पुरुष एव प्रकृति का सम्बन्ध भी है। पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति मे विकारो की उत्पत्ति होती है।[1] 'साख्य कारिका' मे त्रिगुणों का निम्नलिखित विश्लेषण मिलता है :—

सत्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रजः।
गुरुवरणकमेवतमः प्रदीपवच्चार्थवचो वृत्तिः ।।१३।।

अर्थात् सत्व गुण का धर्म प्रकाश, रजस् का प्रगति तथा तमस् का आवरण गुण है।

सत्व रजस् और तमस् गुणों का उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे कई बार हुआ है। एक स्थान पर भगवान ने इन तीनों गुणों को त्यागने का उपदेश दिया है।[2]

ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर मे बाँधते हैं।[3] साख्य की भाँति गीता का भी मत है कि कार्य एव कारण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख दुःखो के उपभोक्तापन मे अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।[4] प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। राग द्वेषादि

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये—मेरा ग्रन्थ 'सुन्दर दर्शन' पृष्ठ ७२,८६

२. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्दो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। २।४५

३. सत्व रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। १४।५

४. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। १३।२०

विकारो तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही समुत्पन्न जानना चाहिए।[1] ससार त्रिगुणात्मक है, परब्रह्म निर्गुण और गुणों से परे :—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिद जगत्।
मोहित नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ ७।१३

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, प्रथम यह कि गुण की कल्पना से अतीत परब्रह्म का प्रतिपादन भारतवर्ष के प्रचीनतम ग्रन्थ गीता, उपनिषद्, शास्त्र तथा वेदादि मे बहुत पहले हो चुका था। समय-समय पर विचारकों ने इन्ही स्रोतो से प्रेरणा ग्रहण करके निर्गुण ब्रह्म का उपदेश जनता के हितार्थ दिया है। युग प्रवर्तक रामानन्द ने भी इन्हीं से प्रभावित होकर कबीर को इस दिशा मे प्रोत्साहित और दीक्षित किया। द्वितीय बात यह है कि चरनदास की सगुण निर्गुण से परे, निराकार और निर्विकार ब्रह्म-विषयक धारणा बहुत-कुछ इसी परम्परा मे प्रतिपादित हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण 'चरनदास का साहित्य' मे इस बात का उल्लेख हो चुका है कि अपनी साधना के विकासावस्था और प्रारम्भिक वर्षो मे चरनदास सगुण ब्रह्म के उपासक थे। उनके ग्रन्थों मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है। 'ब्रजचरित्र वर्णन', 'अमरलोक अखड धाम वर्णन', 'दान-लीला', 'माखन-चोरी', 'कालीनथन-लीला', 'मटकी-लीला', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'नासकेत-लीला वर्णन', 'श्रीधर ब्राह्मण लीला', तथा 'चीर-हरण लीला' आदि ग्रन्थो में जिस परब्रह्म का वर्णन हुआ है वह सगुण वपुधारी, लीलाधाम, योगेश्वर श्रीकृष्ण का रूप है। परन्तु इन ग्रन्थों की रचना के अनन्तर जिस ब्रह्म का उनके ग्रथों मे प्रतिपादन हुआ है, वह निराकार और निर्गुण ब्रह्म है।

चरनदास से बहुत पूर्व सत कबीरदास ने जनता की बहुदेवोपासना की प्रवृत्ति की कटु आलोचना करते हुए हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया था। कबीर ने कहा कि जिन साधकों ने एक ब्रह्म के दर्शन किये हैं उनकी साधना सफल और सच्ची है।[2] एक ही शरण में जाने से उद्धार होता है परन्तु अनेक की शरण मे जाकर भव-सागर पार उतरने वाले की वही दशा होती है, जैसी दो नावों पर चढ कर सागर पार करने की आकांक्षा करनेवाले मनुष्य की होती

[1]. प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसभवान्॥ १३।१६

[2]. एक-एक जिनि जाणियाँ, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन, मन ते बहुरि न आया॥ क० ग्र०, पृष्ठ १२६।१८१

है ।[1] चरनदास के मतानुसार चाहे मस्तक कटकर धराशायी हो जाय परन्तु राम के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के समक्ष मस्तक न झुके ।[2] सन्तों ने निर्गुण एकेश्वरवादी को आलंकारिक भाषा मे पतिव्रता नारी के रूप मे सम्बोधित किया है । कबीर ने बहुदेवोपासक को जार (व्यभिचारिणी) के सदृश्य माना है जो गर्व के साथ एक व्यक्ति को अपना पति नही कह सकती है ।[3] बहुदेवोपासक, वेश्या के पुत्र के समान है जो अपने पिता से अनभिज्ञ है ।[4] चरनदास ने कबीर के साथ स्वर मिला कर कहा कि, साधक को अपने एकेश्वर ब्रह्म की सेवा सभी देवो को छोड़ कर करना अपेक्षित है । पति ब्रह्म के समान है । उसे अपने पति से प्रयोजन है न कि अन्यान्य व्यक्तियों से । कवि के शब्दों मे :—

पति की ओर निहारिये, औरन सू क्या काम ।
सबै देवता छोड़ि के, जपिये हरि का नाम ॥
आज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के सग ।
तन मन सू सेवा करै, और न दूजो रग ॥[5]

चरनदास ने हिन्दू और मुसलमानो को सम्बोधित करके कहा कि यह तो बताओ कि "दो ब्रह्म कहाँ से आये ? उनका कौन निर्माता है, उनकी शक्ति के कौन-कौन पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं ?"

दो करता कहु कैसे उपजे को उनका करतार ।
उनकी शक्ति कहा है फैली काइ बतलावै सरदार ॥

तथा,

सब भाडे में इक माटी जु पिछानिये ।
कनक के बरतन बहुत जु सोना एकिये ॥
सब बसनन के माहिं जु सूतहि देखिये ॥

---

1. केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना । क० ग्र०, पृष्ठ ९८।११४
2. यह सिर नवे तो राम कू, नाहीं गिरियो टूट ।
आन देव नहि परसिये, यह तन जाओ छूट ॥ स० बा० स० १।१४७
3. नारि कहावै पीव की, रहै और सग सोय ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ॥ स० बा० स० १।१८
4. राम पियारा छाड़ि कर, करै आन को जाप ।
वेस्वा केरा पूत ज्यू, कहै कौन सू बाप ॥ क० ग्र०, पृष्ठ ६।२२
5. स० बा० सग्रह, भाग १।१४७

ऐसेहि आदिरु अत ब्रह्म सब मांहि है।
कहिये याहि अनन्त भेद कछु नाहि है ॥[1]

जब एक ही मृत्तिका के सभी पात्र बने हुए हैं तो उन पात्रों को पृथक् करने वाला विभाजन तत्व क्या है। इसी प्रकार कबीर ने कहा था कि "अरे भाई! यह तो बताओ कि दो जगदीश कहाँ से उत्पन्न हो गये। सच तो यह है कि अल्लाह, राम, करीम, केशव, हरि और हजरत सभी उस एक ब्रह्म के नाम हैं। एक ही स्वर्ण से अनेक आभूषण तैयार किये जाते हैं, पर विविध रूपों मे प्रस्तुत होते हुए भी तत्व तो उनमे एक ही है।"[2]

चरनदास का यह एकेश्वर परब्रह्म निःअक्षर है। गीता के अनुसार जीव अक्षर है, माया क्षर है तथा ब्रह्म निःअक्षर है। यहाँ पर कवि गीता से भाव साम्य स्थापित करता हुआ कहता है कि ब्रह्म, माया एव जीव दोनों से ही पृथक् है। विनाशशील और क्षयवान् तत्वों से ही परे ब्रह्म की स्थिति है। ब्रह्म की सत्ता माया और जीव दोनों ही से ऊपर है। कवि के शब्दों में :—

माया जीव दोउ ते न्यारा। सो निज कहिये पीव हमारा ॥
क्षर अक्षर निःअक्षर तीनों। गीता पढ़ि सुनि इनको चीन्हो ॥
गीता अक्षर जीव बतावै। क्षर माया सोइ दृष्टि दिखावै ॥
निःअक्षर है पुरुष अपारा। ज्ञानी पडित ल्योह विचारा ॥[3]

---

1. सर्वोपनिषद् वर्णन अष्टपदी

2. दुइ जगदीस कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना ता मे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक नमाज एक पूजा ॥
तुलना कीजिए चरनदास की निम्नलिखित पक्तियों से :—
सोने को गहनो गढ़ै, कहन सुनन को दोय।
गहनो ना सोनो सबै, नेक जुदो नहि होय ॥
झूठ साच दोनांव है, झूठ मिटै इक साँच।
नाम मिटै सूरत मिटै, भूषण को लग आँच ॥
खेल खिलौना खाड के, कीजै लाख पचास।
सकल खिलौना खाड है, ऐसे गहि विश्वास ॥
चरनदास खिलौना खाड के, भाजन राखे खांड।
बिन विनशे भी खांड है, विनशि जाय तो खाड ॥ —ब्रह्मज्ञान सागर

3. अमरलोक अखड धाम वर्णन

उपर्युक्त पंक्तियो से स्पष्ट है कि चरनदास का ब्रह्म निःअक्षर है जो क्षर एवं अक्षर से भी परे है।

चरनदास का निःअक्षर एकेश्वर परब्रह्म सर्वव्यापक है। ससार का कोई भी तत्व, जीव, घट, पदार्थ, जड़, शून्य वा चैतन्य उससे शून्य नहीं है। वह प्रत्येक अणु-परमाणु मे परिव्याप्त है। वही परमेश्वर और परमात्मा है। कवि के मत से वह अलख और निराकार होते हुए भी सब वस्तुओं मे उसी प्रकार रमा हुआ है यथा तिल मे तेल, पुष्प मे सुगन्धि, दुग्ध मे घृत तथा लकड़ी मे अग्नि सन्निहित रहती है :—

एक सवतन रमि रह्यो, चेतन जड़ के माहि।
माता दर्शत है सभी, ब्रह्म लखत है नाहि॥
जैसे तिल मे तेल है, फूल मध्य ज्यो बास।
दूध मध्य जो घीव है, लकड़ी मध्य हुतास॥
थावर जगम चर अचर, सबमे एकै होय।
ज्यो मन को मै डारिहै, बाहर नाहा कोय॥[1]

वेदात के इन दृष्टातों को लेकर ब्रह्म की सर्वव्यापकता प्रकट करना सतो को प्रिय रहा है। सुन्दरदास[2], मलूकदास[3], तथा दादू[4] ने इसी शैली मे उसकी सर्व-व्यापकता व्यक्त की है।

ब्रह्म आवागमन और अवतार ग्रहण करने से परे है। चरनदास के मतानुसार गुणधारी वस्तु विकारशील है। जो ब्रह्म गुणों को धारण करता है वह माया से आवृत है। ब्रह्म तो अजर, अमर, अजात, अमृत है। वह इस विश्व में मूर्तरूप नही धारण करता है। माया उत्पन्न और विनष्ट होती है परन्तु वह क्षीण और वृद्धि को नहीं प्राप्त होती है।[5] चरनदास, ब्रह्म के अवतार ग्रहण करने की कल्पना

---

१. ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन

२. देखिये मेरा ग्रन्थ—'सुन्दर दर्शन' में 'सुन्दर दास का राम'।

३ देखिये मेरा ग्रन्थ—'मलूकदास' में 'मलूकदास की आध्यात्मिक साधना।'

४. घीव दूध मे रमि रहा पावक सबही ठौर—दादूदयाल की वानी, १।३२

नोट—कबीर के अनुसार "खालिक खलक खलक मे खालिक सब घट रह्या समाई"।

५. घटो बढो तुम नाहिं सदा पूरन रहो।
आदि अत सब सृष्टि के पुरुष अनन्त जू।
नित ही इकरस रहत तुमही भगवन्त जू॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

भी नहीं कर पाते हैं। वह स्वतः पूर्ण है और अविनाशी है।[1] जिस प्रकार जल में बुलबुला बनकर फिर विनष्ट हो जाता है और जल मे ही समाहित हो जाता है, उसी प्रकार अवतार निःसार है।[2] तत्व ही अविनाशी है। निराकार ब्रह्म अक्षय है, उसकी सत्ता अमर है।[3]

माया उपजै विनशै अति ही।
चेतन ब्रह्म अमर है नित ही ॥[4]

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के अनुसार ब्रह्म को ऊपर से, इधर-उधर से, अथवा मध्य मे भी कोई ग्रहण नहीं कर सकता है। ब्रह्म ऊर्ध्वादि दिशाओ से रहित है। निरवयव होने के कारण वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है। उसकी कोई उपमा नहीं है। वह महद्यशः है :—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥—अध्याय ४।१९

चरनदास का ब्रह्म भी आदि, अंत, मध्य, वर्ण, रूप आदि से रहित है। कवि के शब्दो मे ही :—

आदि अंत मध्य नहि जाका। दहिना बावा पीठ न आगा।
हरा पीत श्वेत नहिं काला। नारी पुरुष न बूढा बाला ॥
रूप न रंग मिहीं नहि मोटा। नया पुराना बडा न छोटा।
नाम रूप किरिया सू न्यारा। नहि हलका नहिं कहिये भारा ॥

---

१ आप आप मे आप है, आप आप मे आप।
आप अपन मे जपत है, आप आपनो जाप।
अविनाशी नाशै नही, नाश न कबहू होय।
स्वरूपी एक है, कभी होय नहिं दोय ॥

२. आप ब्रह्म मूरति भयो, ज्यों बुदगल जल माहिं।
सूरति विनशै नाम सग, जल विनशत है नाहि ॥
बुदगल देखो जल सबै, बुदगल कहूँ न होय।
कहवे को दूजो कहो, जल बुदगल नहि दोय ॥
भयो नेक मे बुलबुलो, नाच कूद मिटि जाय।

३. निराकार रहि जायगो, मूरति ना ठहराय।
निराकार आकार घर, खेलौ कै इकवार।
स्वप्नों है है मिटि गयो, रहो सार को सार ॥—ब्रह्मज्ञान सागर

४. अमरलोक अखड धाम वर्णन

वानी चार परै निवाना। काहू विधि वह जाप न जाना।
पुहुप गध नाद तै झीना। गुरु शुकदेव सुनाय जु दीना॥
कौन लखै को कहि सकै, अचरज अलख अभेव।
ज्ञान ध्यान पहुँचै नहीं, निर्विकार निर्लेव॥[1]

वह निरुपाधि और वर्ण गुणों से भी रहित है :—

है निहरूप अडोल अखड अगाध ही।
है तौ निस्सन्देह पहुँचे न उपाध ही॥
करि न सकै परवेश वरण गुण रूप ही।

कबीर दास निर्गुण भगवान् का स्मरण करते हैं "तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान् के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है।[2]" परन्तु निर्गुण से वे केवल निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है।' हे सन्तो, मैं धोखे की बात किससे कहूँ। गुण ही मे निर्गुण है और निर्गुण मे गुण। इस सीधे रास्ते को छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय? लोक उसे अजर कहता है, अमर कहता है, पर असल बात कोई कहता ही नहीं। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखा है। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घट में समाया हुआ है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि उन सबसे परे है। वह अगुण और सगुण दोनों के ऊपर है, अजर और अमर दोनो से अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनों के परे है, पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों से अगम्य है।"[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रस्तुत विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण से कबीर के "सगुण निर्गुण ते परे तहाँ हमारो राम" का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। चरनदास ने भी ब्रह्म मे गुण की भावना की कल्पना नहीं की है। उनका ब्रह्म गुणातीत है। सर्वत्र

---

१. भक्तिपदार्थ वर्णन

२. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२२

३. सन्तौ धोखा कासू कहिये।
गुन मै निरगुन, निरगुन मैं गुन, बाट छांड़ि क्यू बहिरै।
अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहि जाके घटि-घटि रह्यौ समाई।
प्यड ब्रहड कथै सब कोई, वाके आदि अरु अंत न होई।
प्यड ब्रह्मांड छॉड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई॥—क० ग्र० पद, १८०

व्याप्त होते हुए भी वह सबसे परे हैं। चरनदास ने बारम्बार "निराकार नहि ना आकारा" लिख कर उसी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जो कबीर ने "प्यड ब्रह्माड छांडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई" कह कर अपने हृदय के भार को हलका किया था। चरनदास के शब्दो मे :—

निराकार नहि ना आकारा। नहिं अडोल नहि डोलन हारा।
पाच तत्व तिरगुण ते आगे। अद्भुत अचरज ध्यान न लागे ॥
नहिं परगट नहि गूपन ठाऊँ। समझ सकौ नहि थकि थकि जाऊँ ॥
जो कुछ कहिया नाहीं नाहीं। सो सब देखा वाके माहीं।

× × ×

वै निरगुण सरगुण ते न्यारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे ॥
अकथ कथा कछु कथिय न जाई। जो भापू सोई मुरखाई ॥

× × ×

निर्गुण ना सर्गुण नही, उपजै ना मिटि जाय।
सब कुछ है अरु कछु नही, सदा ब्रह्म थिरथाय ॥

जहाँ साँच जहँ झूठ है, जहाँ झूठ जहँ साँच।
झूठ साँच दोनों नहीं, तहँ कुछ सील न आच ॥

"निर्गुण ना सर्गुण नहीं" के भाव को और भी सरल भाषा में प्रकट करते हुए चरनदास जी कहते हैं कि "वह ब्रह्म न हद्द है न बेहद्द। ब्रह्म हद्द और बेहद दोनों ही सीमाओं से परे है" :—

हद्द कहूँ तौ है नहीं, बेहद कहौ तौ नाहिं।
हद्द बेहद दोनौ नही, चरणदास भी नाहिं ॥

वह न दूर है न निकट[1], न एक है न दो[2]। साधना के क्षेत्र में चिन्तन के द्वारा चरनदास इस अवस्था पर पहुँच गए कि ब्रह्म को दो क्या, एक कहने मे भी उन्हें सकोच का अनुभव होने लगा। स्थूल की भावना तो मस्तिष्क मे कभी आ ही नहीं सकती। चरनदास ब्रह्म को सूक्ष्म कहने मे भी सकोच का अनुभव करते हैं। चरनदास का ब्रह्म तो 'केवल' है। वह एक भी नहीं है। इसी प्रकार कबीर ने कहा

---

[1] अद्वै अचल अखड है, अगम अपार अथाह।
नही दूर नहिं निकट है, सतगुरु दियौ बताय ॥

[2] भूल हुती जब दो हुते, अब नहि एक न दोय।
अटक उठी धोखो मिटो, आपनहू गयो खोय ॥ —ब्रह्मज्ञान सागर

था कि "अगर उस ब्रह्म को एक कहा जाय तो असत्य है और दो कहें तो उसे अपमानित करना होगा। वह जैसा है वैसा ही उसे जानना चाहिए।[१]" सन्त दादू ने चरनदास और कबीर के इस भाव को और भी सुन्दर ढग से कहा है। उनके अनुसार, "चर्म दृष्टि से ब्रह्म अनेक दिखाई देते हैं आत्म दृष्टि से वह केवल एक दिखाई देता है परन्तु ब्रह्म दृष्टि से तो वह इन दोनों के परे है।[२]"

चरनदास का ब्रह्म सर्वशक्तिवान् तथा सर्वसामर्थ्यसम्पन्न है। असम्भव भी उसके लिए सम्भव है। वह अग्नि मे तृण को सुरक्षित रख सकता है। उसकी इच्छा से सागर में गिरिराज सतरित रहते हैं, मूक वेद का पाठ करते हैं, ज्योतिहीन को ज्योति प्राप्त हो जाती है। राई को पर्वत, बिना जल की वृष्टि, रक को छत्रधारी और छत्रधारी को रक बना देना उसी ब्रह्म की सामर्थ्य है।[3]

ब्रह्म अनाम है। उसको किसी शब्द-विशेष से सम्बोधित नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक मत और सम्प्रदाय मे उसे भिन्न-भिन्न आदरसूचक शब्दो से सम्बोधित करने का प्रयत्न किया गया है।[४] चरनदास के शब्दों मे ब्रह्म का

---

१ एक कहू तो है नहीं, दोय कहू तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥

२. चर्मदृष्टी देखै बहुत करि, आतम दृष्टी एक।
ब्रह्म दृष्टी परिचय भया, तब दादू बैठा देख॥

३. अग्नि मांहि तृण घास बचावै। घट मे सगरो सिन्धु समावै॥
पावक राखै पानी माही। जल राखै जह धरती नाही॥
गिरिवर सागर माहि तरावै। चाहै हलका काठ डुबावै॥
सुई के नाके हस्ती काढ़ै। मूल पात बिन लकड़ी बाढ़ै॥
चाहे गूगे वेद पढ़ावै। अधरे आखै खोलि दिखावै॥
चाहे बिन बादल बरसावै। बिन सूरज दिनकरि दिखलावै॥
रकन कू करै छत्तरधारी। चाहै भूपन देइ उजारी॥
चाहै जल का थल करि डारै। राई कूं परबत करै भारै॥

४. य शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रताः कर्मेति मीमासकाः।
सो मा वो विदधातु वांछितबलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

कोई नाम नहीं है और यदि नाम की कल्पना की जा सकती है तो वह है ओंकार :—

> नाम ब्रह्म का है नहीं, है तो ॐकार।
> जानै आपन को वही, मै हौ तत्व अपार ।।—हसनाद उपनिषद्
> ॐकार बड़ नाम है, हिरदै ध्यान करै ।
> शुकदेव कहै चरनदास सू, सब ही व्याधि टरै ।।—तत्वयोग उपनिषद्

प्रणव

शास्त्रों एव उपनिषदो मे ओकार अथवा प्रणव मत्र को मत्रराज कहा गया है। प्रणवोपासना से गुणातीत ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। ओकार प्रत्येक आत्मा का प्रतीक है। प्रणव मंत्र के जप से साधक की आत्मा और ब्रह्म के साथ ऐक्य समुपस्थित होता है। इसके जप से ब्रह्म और आत्मा मे अन्योन्य तादात्म्य स्थापित होता है। माया की सहायता अथवा प्रेरणावश अज्ञान के कारण मनुष्य तीन शरीरो—स्थूल, सूक्ष्म एव कारण का आरोप करता है। परन्तु प्रणवोपासना के माध्यम से बोध ज्ञान के द्वारा इस प्रकार की भ्राति स्वतः विनष्ट हो जाती है। कहा गया है कि इस प्रकार की भ्राति के विकास अथवा आरोप के समय ओकार अथवा प्रणव का स्मरण करके नाद के अन्तिम चरण पर चित्त को ध्येयाकार वृत्ति करना अपेक्षित है।

'माड्डूक्योपनिषद्' के अनुसार ओम् अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रपिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओकार से अभिन्न होने के कारण सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर ॐ है, उसका उपव्याख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपव्याख्यान है, वही यहा प्रस्तुत जानना चाहिए। इस वाक्य मे "प्रस्तुत वेदितव्यम्" यह वाक्यशेष है। भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालो से जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्याय से ओकार ही है। इसके सिवा जो तीनो कालो से परे, अपने कार्य से ही विदित होने वाला और काल से परिच्छेद्य अव्याकृत आदि, वह भी ओंकार ही है :—

ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यान भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योकार एव। —मांडूक्योपनिषद १

'माण्डूक्योपनिषद्'[1], 'कठोपनिषद्'[2] तथा 'प्रश्नोपनिषद्'[3] का मत है कि ओंकार ही परब्रह्म है और ओंकार ही अपरब्रह्म है। वह ओंकार अपूर्व, अकारण, अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य एव अव्यय है।

समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपो को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते हैं, जिसकी इच्छा से (मुमुक्षुजन) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यह ॐ वही पर है।[4] यह अक्षर ही श्रेष्ठ आलम्बन है। इस आलम्बन को जान कर पुरुष ब्रह्मलोक मे महिमान्वित होता है।[5] जो पुरुष तीनो स्थानो मे तुल्यता अथवा समानता को निश्चयपूर्वक जानता है, वह महामुनि समस्त प्राणियों का पूजनीय और वन्दनीय होता है।[6] साधक चित्त को ओंकार मे समाहित करे, ओंकार निर्भय ब्रह्मपद है। ओंकार मे नित्य समाहित रहने वाला पुरुष कहीं भी भय को नहीं प्राप्त होता है।[7] प्रणव को ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर जाने, इस प्रकार सर्वव्यापी ओंकार को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता है।[8]

---

१. प्रणवो ह्यपर ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरो बाह्योऽपर प्रणवो व्ययः॥ २६॥

२. एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

३. तस्मै स हो वाच एतद्वै सत्यकाम पर चापर च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वति॥ २॥

४. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
—कठोपनिषद् १५

५. एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बन परम्।
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥—वही, १७

६. त्रिषु धामसु यस्तुल्य सामान्य वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः॥—माण्डूक्योपनिषद् २२

७. युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भय विद्यते क्वचित्॥—वही, २५

८. प्रणव हीश्वर विद्यात्सर्वस्य हृदि सस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकार मत्वा धीरो न शोचति॥—मांडूक्योपनिषद् २८

त्रिकाल मे, अमर और वर्तमान रहने वाला जगत ॐकार रूप है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में ओंकार की अ, उ, म मात्राओं के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस एव प्रज्ञा का उल्लेख करते हुए उनका समष्टि अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एव ईश्वर के साथ अभेद किया गया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इनकी अभिव्यजना की तीन अवस्थाये हैं। इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म एव आनन्द हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था मे जीव क्रमशः दक्षिण नेत्र, कठ और हृदय में रहता है। वास्तव मे इसी का नाम प्रपच है। परमार्थतत्व की स्थिति, इन सभी में श्रेष्ठ और विलक्षण है। इसमें अनुगत तथा इसका अधिष्ठान और साक्षी है। उसे प्रणव के चतुर्थपाद अमात्र तुरीयात्म रूप मे वर्णित किया गया है। कोई भी भ्रम बिना अधिष्ठान के नही हो सकता, अतः इस प्रपच भ्रम का भी कोई अधिष्ठान होना चाहिये। वह अधिष्ठान तुरीय ही है। तुरीय नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, सर्वात्मा और सर्वसाक्षी है। वह प्रकाशस्वरूप है, उसमें अन्यथाग्रहण रूप स्वप्न और तत्वग्रहण रूप सुषुप्ति का सर्वथा अभाव है। जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है उसी समय उसे इस अजन्मा तथा स्वप्न और निद्रा से रहित अद्वैत तत्व का बोध होता है।[1] 'मांडूक्योपनिषद्' मे कहा गया है :—

अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है। वह मात्राओं को विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं :—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥—माडूक्योपनिषद् ॥८॥

आत्मा के चार पाद माने गये हैं। इन चार पादों मे से विश्व नामक अध्यात्म और वैश्वानर नामक अधिदैवदेही प्रथम पाद कहे गए हैं। इस प्रथम पाद का स्थान जागरित अवस्था है। तैजस नामक अध्यात्म तथा सूत्रसज्ञक अधिदैव-देही द्वितीय पाद के रूप मे उल्लिखित है। द्वितीय पाद का स्थान स्वप्नावस्था माना गया है। इसके द्वारा सूक्ष्म विषय ग्रहण किये जाते हैं। इसी कारण इसे अन्तः प्रज्ञ या सूक्ष्मभुक् भी कहा गया है। आत्मा का तृतीय पाद सुषुप्तिस्थ प्राज्ञ और ईश्वर या ब्रह्म है। इस अवस्था में साधक की बुद्धि का नितात लय हो जाता है और तभी द्वैत की भावना विलीन हो जाती है। इसी स्तर पर साधक की आत्मा

1. मांडूक्योपनिषद्, पृष्ठ ५

भी एकीभूत हो जाती है। इसी अवस्था मे ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। सुषुप्ति के भी निम्नलिखित चार प्रकार है :—

१. सुप्ति जागरण २. सुप्ति स्वप्न ३. सुप्ति सुप्ति, तथा
४. सुप्ति तुरीय।

आत्मा का चतुर्थ पाद तुरीया है। यह तुरीयापाद शब्दों के वर्णन मे अतीत है। कहा गया है कि यह पाद न तो अतःप्रज्ञ है न वहिष्प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ न अप्रज्ञ। इन षट् निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यही है आत्मा तथा यही जिज्ञासु साधकों का ज्ञेय वा साध्य है। आत्मा ओंकार का अक्षर रूप माना गया है तथा ओंकार अधिमात्रा रूप।

यह तो हुआ ओंकार अथवा प्रणव की परम्परागत स्वरूप और दर्शन, जो प्राचीन भारतीय साहित्य मे चिरकाल से मान्यता प्राप्त करता चला आ रहा है। अब कवि चरनदास के ओंकार वर्णन और दर्शन पर विचार करना अपेक्षित है। चरनदास जी ने अपने ग्रन्थ तत्वयोग उपनिषद् मे ओंकार अथवा प्रणव के महत्व, उसकी व्याख्या, ओंकार जप का प्रभाव, ओंकार जप की शैली और विधि पर सविस्तार विचार प्रकट किया है।

चरनदास जी के अनुसार प्रणव अथवा ओंकार तीन अक्षरों से—'अकार', 'उकार', 'मकार' द्वारा विनिर्मित है। इन तीनों अक्षरों मे ही अखिल ब्रह्माड, तीनों लोक, भूलोक, आकाश लोक, एव बैकुठ लोक समाहित है।[1] 'प्रश्नोपनिषद् मे कहा गया है कि यदि साधक एक मात्राविशिष्ट ओंकार का ध्यान करता है तो उसी से बोध को प्राप्त कर तुरन्त ही ससार को प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्य लोक में ले जाती हैं। वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमा का अनुभव करता है।[2] यदि वह द्विमात्राविशिष्ट ओंकार के चिन्तन द्वारा मन से

---

१. ॐ कार के अक्षर कहिये तीन हैं।
अकार उकार मकार जानै परवीन है॥
तीनों अक्षर माह तीनों हैं थोक ही।
पहले अक्षर मे जुरहै भूलोक ही॥
दूजे अक्षर बीच जानौ आकाश ही।
तीजे अक्षर माहि बैकुठ निवास ही॥

२. स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव सवेदितस्तूर्णमेवजगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमान-मनुभवति॥ ३॥

एकत्व को प्राप्त हो जाता है तो उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्षस्थित सोम लोक मे ले जाती हैं। तदनन्तर सोम लोक मे विभूति का अनुभव कर वह फिर लौट आता है।[1] जो उपासक ॐ जप के द्वारा परमपुरुष की उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार कवि द्वारा वर्णित ओंकार के तीनों अक्षरो की महत्ता का 'प्रश्नोपनिषद्' मे लिखित महत्ता से पूरा भाव-साम्य है।

चरनदास के मतानुसार ओंकार के इन तीनों अक्षरों मे तीनों वेद ('ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' एव 'सामवेद'), त्रय महान् शक्तियाँ (ब्रह्मा, विष्णु एव महेश), त्रय अग्नि (सूर्य, जठर और अग्नि का वह रूप जो काष्टादि मे प्रदर्शित होता है) तथा त्रय गुण (रजस्, तमस, सत्व) सन्निहित है।[3] ससार के समस्त मन्त्रो और अक्षरों मे यह श्रेष्ठ और सर्वाधिक कल्याणकारी है। ससार की समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ, समस्त शक्तियाँ और समस्त वस्तुएँ इसी मे समाहित हैं। इससे भिन्न कुछ भी नही है। ओंकार मे सब कुछ उसी प्रकार निहित है यथा तिल मे तेल और दुग्ध मे घृत अदृश्य होते हुए भी वर्तमान है।[4]

---

१. अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्ष यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

२. यः पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः ॥५॥

३. तीनो अक्षर माहि जो तीनों वेद हैं।
ऋगयजुर्वेदरु साम तिहू जो भेद हैं॥
तीनों अक्षर माहि तिहू जो देव हैं।
ब्रह्मा विष्णु महेश बड़े जो अभेव है॥
तीन प्रकार की आग्न तीन अक्षर महीं।
एक अग्नि यह ज्ञान दिखै प्रत्यक्ष ही॥
दूजी अग्नि प्रचण्ड सूर्य की भासई।
तृतिय अग्नि सब मांहि जठर परकासई॥
तीनो गुण तिन माहिं समझ जानो यही।
रजगुण, सतगुण और तमागुण है सही॥

४. सब वस्तू वा माहि वाह्य कछु नाहि है॥
ऐसे रह वा माहिं पुष्प मे गध ज्यों।
जैसे तिल मे तेल दूध मे घीव त्यों॥
जैसे पाहन माहिं जु कनक बताइये।
ऐसे ही ॐकार मे सबको पाइये॥

कवि के अनुसार ओंकार के प्रथम अक्षर 'अ' के जप से हृदय को शुद्धता प्राप्त होती है। द्वितीय अक्षर 'उ' के ध्यान से हृदयरूपीकमल की कलिका विकसित हो जाती है और तृतीय 'म' के जप से नाद प्रकट होता है जिसके श्रवण से आनन्द प्राप्त होता है।[1]

चरनदास ने प्रणव की महत्ता और विशेषता पर अधिक ध्यान दिया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि ने जो कुछ प्रणव के विषय मे कहा है शुद्ध है, परन्तु कवि के विषय-प्रतिपादन में गम्भीरता और व्यापकता नहीं है।

आत्मा

मानव शरीर में चेतना की स्थिति अथवा सत्ता सर्वमान्य है। यह शरीर चेतना विशिष्ट है। अस्मत् चेतना है। चैतन्यता ही अस्मत् का अस्मत्पन है। चेतन ही समस्त वासनाओं एव अन्तर्द्वंद्वों का आस्पद है और चेतन के इस आस्पद-भाव का ही नाम चेतना है। चेतना, आत्मा, जीव, क्षेत्रज्ञ, एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न मत है। प्रथम मत यह है कि आत्मा ही चेतना युक्त है। यह चेतनाश शरीर में सस्थापित होते हुए भी शरीर से भिन्न है। जिस क्षण यह चेतनाश पार्थिव शरीर से पार्थक्य ग्रहण कर लेता है उसी क्षण शरीर जड़ और अनुभूति सामर्थ्य से विहीन हो जाता है। यह चेतन, अभेद्य और अमर है। यह चेतन ही अहम् है। शरीर के विमुक्त हो जाने के अनन्तर भी मै अथवा अहम् स्थायी रहता है। यह आत्मा दिव्यशक्ति है और शरीर में जन्म ग्रहण करती है। आत्मा उसी क्षण तक ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है जब तक चित्त के साथ उसका सम्पर्क या योग है। आत्मा षड्विकारो से रहित है। वह जन्म और मृत्यु को नहीं प्राप्त करती है। हन्यमान् शरीर में कभी उसका हनन सम्भव नहीं है। वह अविकार, अदाह्य, अशोष्य और अक्लेद्य है। सक्षेपतः वह नित्य और समान है। समस्त मूलतत्व क्षर है और पर्वत की भाति जो स्थित है, वह अक्षर (अथवा जीवात्मा) है। इन दोनों से इतर उत्तम-पुरुष परमात्मा है। यही

---

१. अक्षर ॐकार के पहिला है जु अकार।
ताहि कहे सों होत है हिरदा शुद्ध विचार॥
दूजा जपै उकार कमल विकसै कली।
शनै शनै खुलि जाय बसै तामें अली॥
तीजा जपै मकार प्रकट हो नाद ही।
सुनि सुनि आनन्द होहि जु परम अगाध ही॥

अविनाशी है। वही तीनों लोको मे परिव्याप्त है।[1] गीता मे कहा गया है कि अष्टधा प्रकृति और पुरुष या जीवात्मा ये दोनो अनादि है तथा विकार और गुण प्रकृति से समुत्पन्न है। जीवात्मा प्रकृति ही मे रहकर उसके गुणों का भोक्ता है, विविध गुणों के सग वश उसका अच्छे अथवा बुरे शरीरों मे जन्म होता है।[2] परमात्मा जीवात्मा का निरीक्षक है और वही जीवात्मा मे व्यापक है। जीवात्मा का अस्तित्त्व पृथक् नहीं माना गया है। अतःकरणचतुष्टय मे जीवात्मा का बड़ा प्रमाण माना गया है। यदि आत्मा न होती तो मन, बुद्धि, चित्त और अहकार का आधार अप्राप्त रहता।

'सिद्धातविन्दु' के अनुसार आत्मा देश और काल से अपरिच्छिन्न है। आत्मा के ध्वस और प्रागभाव का विचार ग्रहण नहीं हो सकता है। आत्मा से भिन्न पदार्थ जड़ है। आत्मा से भिन्न कोई दूसरी आत्मा नही है। आत्मा के एक होने पर भी सुख-दुख आदि के आश्रय अतःकरणों के भेद के स्वीकार से सुख-दुख की व्यवस्था बन जाती है। इसीलिए आत्मा मे प्राग्भाव और प्रध्वसाभाव नहीं हो सकता।[3] चरनदास के अनुसार भी आत्मा विनाशशील और विकारशील नहीं है। वह स्थिर और अमर है। वह ब्रह्म का अश है।[4]

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरा।—गीता, प्र० १५, स० १६, १७

२. प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकाराश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सभवान्॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारण गुण सगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥—गीता १३।१६।२१

३. आत्मनो देशकालापरिच्छिन्नत्वात् तत्परिच्छिन्नानां घटादिवदनात्मत्वात्, तदध्वसप्रागमावयोश्च ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अनात्मनांजडत्वात्, स्वभिन्नस्य चात्मत्वाभावात्, आत्मन् एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयमाणामन्तःकरणाना.... न तस्य ध्वसप्रागभावौ।—पृष्ठ २६

४. ना वह उपजै बीनसै ना कबहूँ भरमाय।
अश ब्रह्म का होइ रहै ना आवै ना जाय॥
ना कुछ आया न गया, ज्यों का त्या रहि जाय।
सबही हिरदय के मिटै वही एक ठहराय॥

मानव देह आत्मा से सर्वथा भिन्न है। शरीर परिच्छिन्न होता है, आत्मा नही। आत्मा शरीर के समान युवावस्था और वृद्धावस्था को नहीं प्राप्त होती है। इस कथन के समर्थन मे 'सिद्धातविन्दु' का निम्नलिखित उद्धरण पठनीय होगा :—

विकारिणः परिच्छिन्नत्वेनानात्मत्वापत्तेः, स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कृतृकर्मभावा विरोधात् दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः, भेदेनाभेदेन वा धर्मिधर्मवानुपपत्तेश्च।

चरनदास जी की निम्नलिखित पक्तियो मे यही भाव परिपोषित हुआ :—

सूक्ष्म शरीरस आतमा, भिन्नलखै नहि कोय।
यही जु मन की गाठ है, खुले मुक्ति ही होय
जाने जाननहार ही, और तीसरी जान।
इन तीनौ को जो लखै, सो साक्षी परधान॥

आत्मा स्व प्रकाश है, वह स्वतः आनन्द स्वरूप है। 'सिद्धान्तविन्दु' के अनुसार वह प्रकाशपुज है। जिस शरीर से उसका सम्बन्ध रहता है, वह शरीर ज्योति से प्रकाशमान् रहता है।[1] कवि ने भी उसे स्वतः प्रकाश तथा स्वप्रकाश माना है। चरनदास के शब्दों मे :—

अपने ही परकास मे आप रहा परकास।
सोई साक्षी जानिये कहै चरणहि दास॥

क्रोध

धर्मशास्त्र मे मन के छः विकारों की गणना हुई है। ये षट्विकार हैं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एव मत्सर। सामान्यतया ये सभी विकार शरीरस्थ षट् जाग्रत शत्रु हैं। जिसके शरीर में इनमे से कोई एक भी प्रबल है उसे बाहर अपना शत्रु खोजने की आवश्यकता नही है। जिस मनुष्य ने स्वतः अपने इन विकारों पर विजय प्राप्त कर लिया है उसकी आत्मा ही श्रेष्ठ मित्र है।[2] इन समस्त विकारों मे प्रथम दो, काम एव क्रोध सर्वाधिक प्रबल हैं। यही दो विकार अन्य समस्त विकारों के जन्मदाता हैं। ये मनुष्य के रजोगुण अथवा अज्ञान मूलक स्वार्थ से समुत्पन्न होते हैं और मनुष्य के अस्तित्व के लिए बड़े घातक हैं। राक्षस के सदृश्य

---

१. सिद्धांतविन्दु, पृष्ठ ५६

२. बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥—गीता, अध्याय ६

ये दोनों ही मनुष्य का भक्षण करने वाले हैं।[1] गीता मे क्रोध, काम और मोह की उत्पत्ति का रोचक शब्दो मे उल्लेख हुआ है :—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
> संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥—गी० अ० २ श्लोक ६२
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥—वही, ६३

अर्थात विषयों के चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों मे आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना के विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति मे भ्रम हो जाता है तथा बुद्धि का नाश हो जाने से मनुष्य अपनी स्थिति से अधःपतित हो जाता है। अतः क्रोध का जन्मदाता काम है। इसीलिए मनुष्य को क्रोध रहित बनना चाहिए। क्रोध उत्पन्न होने पर विवेक के साथ मनुष्य को उसे अपने अन्दर ही रोक लेना चाहिए।[2] ऐसा मनुष्य तत्वदर्शी तथा तेजस्वी कहलाता है। यह तेजस्विता मनुष्य के लिए बड़ा वरदान है। तेजस्विता ही शौर्य एवं निर्भयता की जननी है। जिसकी बुद्धि पाप से रहित है उसका क्रोध भी शुद्ध एवं दूसरों के हेतु कल्याणकारी होता है।[3] क्रोध को वश मे करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। परन्तु दूसरे के क्रोध को भी अपनी आत्म-शक्ति और संयम के द्वारा वश में किया जा सकता है। दूसरे द्वारा किए गए क्रोध के प्रतिक्रिया स्वरूप मनुष्य को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। उचित अवसर पर क्रोध करने वाले के प्रति सहिष्णुता का प्रदर्शन करने से दूसरे का क्रोध भी स्ववश हो जाता है। महाभारत मे कहा गया है कि शांति से क्रोध को जीतो, तथा दुष्टता को सज्जनता के द्वारा।[4] क्रोध एवं कालकूट मे महत् अंतर है। क्रोध जिसके पास रहता है उसी को जलाता है परन्तु जहर जिसके पास रहता है, उसको हानि कदापि नहीं

---

[1]. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥—वही, अ० ३, ३७

[2] यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः ॥—महाभारत, वनपर्व

[3]. क्रोधेऽपि निर्मलधिया रमणीयतास्ति।

[4]. अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।—महाभारत, उद्योगपर्व

पहुँचता ।[1] क्रोध शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक दौर्बल्य का प्रतीक तथा द्योतक है । क्रोध शरीर एव मस्तिष्क को विकृत कर देने वाला होता है । तथ्य तो यह है कि हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य मे सलग्न हो वह माधुर्यपूर्ण हो । हम मधुर वाणी का उच्चारण करें, हमारा सभी कुछ मधुमय हो ।[2]

चरनदास ने 'अथ क्रोध अग' शीर्षक के अन्तर्गत चौबीस छन्दों मे क्रोध के विषय मे स्वविचारों को अभिव्यक्त किया है । इन छन्दों मे कवि ने केवल क्रोध के लक्षण एव उसके विषाक्त प्रभाव का वर्णन किया है ।

कवि के शब्दों में क्रोध, बुद्धि को भ्रष्ट करने वाली प्रवृत्ति है । यह मनुष्य को हिंसा की ओर प्रवृत्त करती है और दया से रहित कर देती है ।[3] क्रोध मनुष्यों को सद्‌गुरु, साधु सत तथा ईश्वर से सम्बन्ध और नैकट्य विच्छिन्न करके उसे नरक द्वार मे प्रविष्ट करा देता है ।[4] क्रोध आत्मघाती प्रवृत्ति है । इसके कारण मनुष्य मदमतिवान हो जाता है और स्थान-स्थान पर अपमानित होता है ।[5]

क्रोध एक प्रकार का भूत है जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने अस्तित्व को विसर जाता है । उसे स्वतन, मन और व्यक्तित्व का ध्यान नहीं रह जाता है । इसके उद्रेक होने पर नेत्र रक्तवर्ण तथा मुख काला पड़ जाता है और हिंसात्मक वृत्ति वृद्धि को प्राप्त हो जाती है ।[6] क्रोध के जाग्रत होते ही मनुष्य की मानसिक एव

---

१. कोधस्य कालकूटस्य विद्यते महदन्तरम् ।
स्वाश्रय दहति क्रोधः कालकूटा न चाश्रयम् ॥

२. मधुमन्मे निक्रमण मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसन्हशः ॥—अथर्ववेद

३. वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै । वह मारहि मार पुकारै ॥
वह सब तन हिंसा छावै । कहिं दया न रहने पावै ॥

४. वह गुरु से बोलै बेडा । साधों सू डोलै ऐंडा ।
वह हरसू नेह छुटावै । वह नरक मांहि लै जावै ॥

५. वह आतमघाती जानौ । वह महामूढ़ पहिचानौ ॥
सोटौं की मार दिलावै । कबहूँ कै सीस कटावै ॥
वह नीच कमीना कहिये । ऐसे सू डरता रहिये ॥

६. क्रोध भूत के चरित सुनाऊँ । भिन्न-भिन्न परगट दिखलाऊँ ॥
क्रोध भूत जब तापर आवै । तन मन की सब सुधि विसरावै ॥
नैना लाल बदन सब कारो । रोम रोम व्यापै हत्यारो ॥
महाचडाल नीच अति घोरी । अति विपरीत बुद्धि करि औरी ॥

शारीरिक स्थिति मे महान् परिवर्तन हो जाता है। उसे सद्-असद्, उत्कृष्ट-निकृष्ट महान् निम्न किसी बात का न तो ध्यान रह जाता है न विवेक ही।[1]

क्रोध का प्रभाव मानव जीवन एव शरीर पर बड़ा विकृत पड़ता है। इसीलिए कवि का उपदेश है :—

वह निकट न आवन दीजै। अरु छमा अक भर लीजै ॥
जब छमा आय किया थाना। तब सबही क्रोध हिराना ॥
कहैं गुरु शुकदेव खिलारी। सुनु चरणदास उपकारी ॥

कबीर के शब्दों मे :—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानव की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभाति ॥

अत. इस क्षणिक जीवन मे क्रोध, रोष तथा प्रतिहिंसा के लिए कोई अवसर और अवकाश नही है। 'बोधसार' के रचयिता के अनुसार क्रोधी मनुष्य स्वय अपना ही रक्त पीता है। राक्षस तो दूसरों का रक्त पीते हैं। उन्हें चाहे कभी दया आ भी जाय परन्तु अपना ही रक्त पानेवाले क्रोधी को दया कहाँ? क्रोधी दिन मे ही क्रोधान्धकार में नाचता है। वह स्वत. अपने आपको डराता है। अतः क्रोधी मानव राक्षस से भी निम्न और तुच्छ है :—

रुधिर पिवति स्वीय दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मान क्रूरः क्रोधी न राक्षसः ॥—बोधसार, पृष्ठ २२, श्लोक १

---

१. अपने हाथ आपको मारै। अपने कपड़े आपहि फारै।
मुहड़े भाग मरोड़ै हाथा। कहै बतकही फूहर बाता ॥
हाफै बहुत आपको गाली। जेवत आवै पटकै थाली ॥
कबहु शस्त्र सो मारन लागै। कबहूँ कुये मे पड़ने लागै ॥
भली कहै ताहि भोग सुनावै। बुरे भलै पर ईंट चलावै ॥
सबल देख शीला हो जावै। निबल देखि बहु ददि मचावै ॥
याका यतन करो मन भावै। चरणदास शुकदेव बतावै ॥

बोधसार मे 'अथक्रोध विडम्बना' प्रकरण मे लिखा है कि क्रोधी मनुष्य अपना ही रक्त पीता है। क्रोधी दिन मे ही क्रोधांधकार में नाचता है और स्वतः अपने विनाश का कारण होता है :—

रुधिर पिवति स्वीय दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मान क्रूरः क्रोधी न राक्षसः ॥—बोधसार, पृष्ठ २२

मोह

संसार मे जीवात्मा के हेतु समस्त विपत्ति का उत्पादक मोह है। मोह, अविद्या माया की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। मोह सब प्रकार के दारुण दुःखो का मूल विधायक है। मोह एक प्रकार का मधुर विष है, जो शनैः-शनैः मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट करता हुआ अंधकार मे रख कर उसका जीवन समाप्त कर देता है। माया के सहायकों मे मोह का विशिष्ट स्थान है।

कवि के मतानुसार माया ने मोह रूपी जाल को बड़े यत्नपूर्वक बिछा रखा है जिसमे अनेक पुरुष और नारियाँ स्वतः फँसकर अपने अस्तित्व को विनष्ट कर देते हैं। एक बार फँस जाने के अनन्तर मनुष्य उससे उन्मुक्त नहीं हो पाता चाहे कोटिशः प्रयत्न किये जायँ। यह मोह-जाल बड़ा रहस्यात्मक है। एक बार फँस जाने के अनन्तर उससे मुक्त होने के लिए मनुष्य जितना ही प्रयत्न करता है, उतना ही उसी में उलझता जाता है। मोह, शहद के समान है जिसमे जीव रूपी मक्खी स्वतः आकर फँस जाता है। वाह्यतः वह जितना आकर्षक है उतना ही अन्ततोगत्वा कष्ट-दायक है। मोह समस्त सद्प्रवृत्तियो का विनाशक एव निम्नप्रवृत्तियो का उत्पादक है। इसी के प्रभाव से मनुष्य चौरासी लक्ष योनियों मे भ्रमा करता है।[1]

त्रिया, बन्धु-बान्धव, सन्तान, कुटुम्ब एव परिवार आदि मोह के प्रमुख साधन हैं, जो मानव को सदैव अज्ञानी एव विवेकहीन बनाए रहते हे। मनुष्य इन्हीं में भ्रमता हुआ जीवन के दिनो को व्यर्थ ही विनष्ट कर देता है। मानव महल, धरती, द्रव्य, ऐश्वर्य एव वस्त्र-भूषणादि के मोह में पड़कर अपने जीवन के लक्ष्य को विसर जाता है। इतना ही नहीं। उसे अपने नाम एव रूप का मोह सतत व्यथित

---

1. माया मोह बिछाइया, जाल सभारि सभारि।
आय आय तामे फँसे, बहुत पुरुष बहु नारि॥
फँसे आय करि चाव सू, लेन गया नहि कोय।
चरणदास यों कहत हैं, पछिताये कह होय॥
छूट सकै नहिं जाल सू, मिरगा ज्यो अकुलाय।
कूद कूद निकसो चहैं, ज्यो ज्यों उरझत जाय॥
मोह शहद सम जानिये, मक्खी सम जिय जान।
लालच लागे जित फँसे, शीश धुनै अज्ञान॥
बन्दी खानो भवन है, सब दिन धधे जाइ।
मोह छुड़ावै राम सू, डारै नरक मझाइ॥
लख चौरासी योनि मे, फिर वह भरमे जाय।
ह्वांसे निकसै कठिन सू, कबहूँ औसर पाय॥

करता रहता है ।[1] सत्य तो यह है कि ये समस्त नाम एव रूप कृत्रिम एव आरोपित हैं। इनसे मनुष्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शरीर के विनाश से आत्मा का कुछ भी विकार नहीं होता है। नाम की बदनामी या ख्याति से भी आत्मा सदैव निर्विकार बनी रहती है। मानव की आत्मा अजर है, अमर है, शुद्ध है, निष्कलक है, सनातन है तथा अक्षय एव एकरस है। शरीर के वैभव और सौन्दर्य से आत्मा का सौन्दर्य न बढता है न घटता है। सासारिक परिवर्तन और क्षय नाम रूप मे घटित होते हैं। नाम रूप से आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। नाम रूप आरोपित वा कल्पित मात्र है। जीवन इन्हीं को अपना वास्तविक स्वरूप समझ कर इनके लाभ-हानि मे निरतर सलग्न रहता है। शरीर को सुख-सौख्य के साधन उपलब्ध हो तथा नाम की कीर्ति वा ख्याति सुरभि चतुर्दिक प्रसारित हो, यही सबके जीवन का लक्ष्य है और अतिम अभिलाषा है। यह भावना महान् मोह, अज्ञान और माया है। जिस क्षण मनुष्य नाम रूप को मिथ्या प्रकृति की वस्तु मान लेगा बस उसी दिन, उसी क्षण, वह प्रकृति जन्म सुख-दुख से उन्मुक्त हो जायगा। समस्त कार्य प्रकृति मे सम्पन्न हो रहा है, और आत्मा निर्लेप है। आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसीलिए कहा गया है कि जो आत्मा मे स्थित है, वह स्वस्थ है, एवं जो प्रकृति मे स्थित है वही अस्वस्थ है। इन मोह बन्धनादि से दूर रहना, जाग्रत रहना एक महान साधना है।[2]

मोह दुख का पुजीभूत रूप है। इसीलिए ससार मे वासना से रहित होकर विचरण करना चाहिए। मनुष्य को ससार मे उसी प्रकार रहना चाहिए जैसे मुख मे जिह्वा का निवास होता है अथवा उसे "पद्मपत्रमिवाम्भसः" जीवन व्यतीत करना चाहिए। कवि के शब्दों मे निम्नलिखित भाव पठनीय होंगे :—

---

१. तिरिया मोह महाबल दायी। मोह सतान सदा दुखदायी ॥
मोह कुटुम्ब अरु भाई बधा। समझै नही मूढ मति अधा ॥
देव भूत जिहि कारण धावै। ठग चोरी करि खोट कमावै ॥
बस्तर भूषण वाहन मोहा। सब मिलि किया जीव सद्रोहा।
द्रव्य लाल अरु हीरा मोती। सब मिलि मोह लगावैं गोती ॥
मोह महल धरती अरु गाऊ। बड़ा मोह जू अपना नाऊ ॥
जा मे फसे रक अरु राजा। तिहि कारण धन्धा दुख साजा ॥
परकाजे बहुतै दुख पाया। अपना सबहीं भूल गवाया ॥

२. बड़े बड़े खेद उठाये सबही। भूले ध्यान राम का जबहीं ॥
जीते मोह शूरमा कोई। मिलै राम कूं साधू सोई ॥
होय मुक्ति जब बहुरि न आवै। चरणदास शुकदेव बतावै ॥

मोह बड़ा दुख रूप है, ताकूं मार निकास।
प्रीति जगत की छोड दे, जब होवै निरवास ॥
जग माही ऐसे रहो ज्यो, अम्बुज सर माहि।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहि ॥
ऐसा हो जो साधु हो, लिए रहै वैराग।
चरण कमल मे चित धरै, जगये रहै न पाग ॥

मोह के दो विशेष सहायक हैं। इनमे से प्रथम है द्रव्य तथा द्वितीय है नारी। नारी का सम्पर्क अनेक बन्धनों एव दुखों का उत्पादक है। इसीलिए साधना मे सफलता, जीवन मे सुख और कल्याण की आकांक्षा रखनेवाले मनुष्य को नारी का स्पर्श ही नही वरन् दर्शन से भी दूर रहना आवश्यक है। द्रव्य के माध्यम से भी नाना दुखो की उद्भावना होती है। कवि के शब्दों मे 'द्रव्य के आवत, दुख राखत दुखी, जात प्राण की हानि।' इनके सम्पर्क मे आते ही साधना एव ईश्वर-भक्ति विनष्ट हो जाती है।[1] मनुष्य चोबीस घन्टे मे तीन प्रहर नारी के साथ व्यतीत करता है, एक प्रहर धन के हेर-फेर मे तथा शेष समय वह तृष्णा तथा माया के अन्य अगो की सेवा मे। इन दोनो की खोज और प्राप्ति के लिए मनुष्य श्वान के समान यत्र-तत्र सर्वत्र भटका करता है।[2]

१. तिनमे दो बलवन्त हैं, एक द्रव्य इक नार॥
नारि किये दुख बहुत है, बन्धन बन्धै अनेक।
जो सुख चाहै जीवका, तिरिया कू मत देख॥
द्रव्य माहि दुख तीन हैं, यह तू निश्चय जान।
आवत दुख राखत दुखी, जात प्राण की हान॥
ताते इनकी प्रीति मन, उठै तभी निरवार।
ये दुर्जन दुख रूप है, ऐसों करो विचार॥
जो कोई इनमे पगै, तिनसे छूटै राम।
चरणदास यो कहत हैं, क्यों पावै हरिधाम।—भक्तिपदार्थ वर्णन

२. नारी के फैलाव को, दीखै ओर न छोर।
द्रव्य माहि तृष्णा रहै, चाहै लाख विरोर॥
द्रव्य जोरि मरिजाय जब, हो बैठे तह नाग।
नारी मे जो चित रहै, ह्वै है कूकर काग॥
ऐसे ही भरमत फिरै, लख चौरासी देह।
कनक कामिनी कूं तजै, जब लग नांही नेह॥
मूरख त्याग न करि सकै, ज्ञानवन्त तजि देह।
कनक कामिनी कूं तजै, जब लग नांही नेह॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

मोह का एक और बड़ा स्रोत है कुटुम्ब। कुटुम्ब की ममता और प्रेम मे मनुष्य अहर्निशि भटकता फिरता है। यह ममता बेड़ियो के समान पैर में पड़ी हुई है। मनुष्य इससे किसी प्रकार भी निस्तार पाने मे समर्थ नहीं हो पाता। कवि के मत से :—

बाहर कलकल करत है, भीतर लम्बहि लाव।
ऐसो बाधौं खैचकरि, छुटै हाथ नहि पाव॥
लाज तौक गल मै पड़ा, ममता बेरी पाय।
रसरी मूरख नेह की, लीन्है हाथ बधाय॥
डारि दियो अज्ञान मे, परो परो विललाय।
निकसन कू जबही चहै, कुतका मोह लगाय॥
रखवारे जह पांच हैं, इन्द्रिन के रस जान।
तबही देह भुलाय कै, जो कुछ उपजै ज्ञान॥
कुटुब और इन पाच को, एक मतो ही जान।
प्राणी कू जग मे फसा, चहै खान अरु पान॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कुटुम्ब के चार प्रमुख प्राणी हैं, माता, पिता, सुत एव नारी। इनकी ममता और इनके प्रति मनुष्य का प्रेम भाँति-भाँति से दुखदायी बना रहता है। ये चारों प्राणी उसी प्रकार अपना प्रेम-जाल फैलाते हैं जैसे बधिक बहेलिया अथवा हिरण एव मछली का शिकारी विभिन्न प्रकारों से अपने शिकार को फासने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इनकी प्रीति एव ममता कल्याण के हेतु नहीं वरन् दुख देने के लिए होती है।[1] चरनदास ने पिता, माता, नारी एवं सुत को मोह एव माया का

1. ये सब स्वारथ ही लगैं, इनका सगा न कोय।
जो शिर मार धरणि पर, कल्प-कल्प करि रोय॥
मात पिता सुत नारि की, इनकी उलटी रीति।
जग में देह फसाय कै, करिकै प्रीतिहि प्रीति॥
जैसे बधिक बिछाय कै, जाल माहिं कण डार।
प्रीति करै पत्ती गहै, पाछे करै जुख्वार॥
जैसे ठग बहु प्यार करि, भोलापन ही देह।
पहिले लड्डू खवाय कै, पाछे सरबस लेह॥
हित सू हिरण बुलाय कै, गोली मारै तान।
चरण दास यों कहत है, ऐसे इन कू जान॥
जल में वशी डारिया, अटकाया जहा मास।
मछरी जानै हित कियो, लखै न अपनो नास॥

सहायक माना है। ये सभी प्राणी छल करके मनुष्य को साधना के दुर्गम मार्ग से च्युत करते हैं। कवि ने इन सभी व्यक्तियों के छलों का रोचक वर्णन पृथक्-पृथक् किया है। कवि के शब्दों मे सर्वप्रथम आप पिता का छल पढ़े :—

अब इनके छल कहि समझाऊं। भिन्न-भिन्न परगट दिखलाऊ ॥
पिता कहै तुम पुत्र हमारे। बहुत भरोसे मोहिं तुम्हारे ॥
अब तुम ऐसी विद्या पढो। अपने कुल मे ऊचे चढो ॥
सत सगति मे कभी न जइये। अपने घर मे चित्त लगइये ॥
हमतो हैं दुनिया के कूते। जाति वरण मे होहि सपूते ॥
कृत्य करौ पालौ सुत वाम। कथा कीरतन सू क्या काम ॥
अब तुम ठौर हमारी हूजै। हमने किये सो तुमहू कीजै ॥
ऐसी बुद्धि बडाई दीन्ही। इनहू हिरदय मे धरि लीन्ही ॥
चरणदास कहै देखो यार। मुये नरक जीवित हौ ख्वार ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

अब कवि के शब्दो मे माता का छल पढिये :—

अब सुन माताहू की बातै। अपना ज्ञान खियावै तातै ॥
द्रव्य काज उद्यमही कीजै। ला माता की गोदी दीजै ॥
करै कमाई सोई सपूता। नाहीं तौ वह पूत कपूता ॥
नारी कू भूषण पहिनावो। सुत पुत्री को ब्याह रचावो ॥
पूजौ पितर देवी देवा। सकल कुटुम्ब की कीजै सेवा ॥
अपने कुल की न्योति जिमावो। तातै बहुत बड़ाई पावो ॥
बहु विधि स्वारथ ही सिखलावै। परमारथ की राह भुलावै ॥
बार बार जग मे उरझावै। ऐसे तो नित ही चलि आवै ॥
जित का तित ह्वाई रखि लीन्हा। चरणदास कहै ज्ञान न दीना ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

नारी का छल कवि ने निम्नलिखित शब्दो मे वर्णन किया है :—

अब नारी की गति सुनि लीजै। तामे चित कबहु नहि दीजै ॥
छल बल करि वश अपने राखै। मधुर वचन रस सने जु भाखै ॥
कहै कि शिर के छत्र हमारे। हम तो लागी शरण तुम्हारे ॥
तुमतौ बहुतै लगौ पियारे। मोको तजि मत हूजौ न्यारे ॥
ऐसे कहि कहि बाधा चाहै। आठौ अग काम के बाहै ॥
बस्तर भूषण देह शिगारै। नाना विधि करि रूप सवारै ॥
करै कटाक्ष बहुत ही मारै। वश करने को टोना डारै ॥

काजल भरी आख सू जोहै । अंग विषे रस दै दै मोहै ॥
ह्यासूं निकसन कैसे पावै । चरणदास शुकदेव सुनावै ॥
तिरिया ही के जाल मे, आय फसै जो कोय ।
तलफि तलफि ह्वाई रहै, निकसि सकै नहि कोय ॥

सुत पुत्री बनिता सू जानौ । समधाने वासू पहिचानौ ॥
और बधै बहुतै बधवार । नाई ब्राह्मण बहु परिवार ॥[१]

कवि के मत से सुत का छल निम्नलिखित है :—

सुत की बोली तोतली, करै चोचलै चाव ।
मन मोहै बाधे घनौ, छूटै को न उपाव ॥
हसि गोदी मे आय करि, बहुत बढावै नेह ।
तामे घने विकार है, अतकाल दुख देह ॥
मोह लगा मर जाय जब, तन मन लागै आग ।
चरणदास यो कहत हैं, सुख चाहै तौ त्याग ॥
जिहि कारण चिन्ता लगै, जब लग घट में प्रान ।
हरि गुरु हिये न आवई, यही जु पूरी हान ॥
तन छूटै सुत मे रहै, एक नर तेरी आस ।
जनम जु शूकर कौं लहै, मुयै नरक ही जास ॥[१]

इन समस्त छलो और प्रपचों के फलस्वरूप अब कवि का निष्कर्ष यह है:—

कुटुम्ब बध ऐसे करि जानो । फासी गर तिनकू पहिचानौ ॥
तोकू डारै नरक मझार । ताते होहि सबन से न्यारा ॥
बहुतक दुर्जन हैं घटमाही । तू उनकू जानत है नाही ॥
है बैरी तू जानत मीता । स्वपन हू इनकी नहिं चीता ॥
काम क्रोध लोभ अरु मोहा । सबही राखैं तो सू द्रोहा ॥
जिनसे गर्व मछरता भारी । जक्त बडाई तिनकी नारी ॥
आपा लिये सदा हीर है । टेढे बचन झूठे बहु कहै ॥
इनके सग सग घनै ही दुष्टी । तेरे तन मे रहै अदृष्टी ॥
नित ही करै अकारज तेरा । चरणदास कहै यह विधि मेरा ॥[२]

यह है जगत परिवार एव बन्धु-बान्धवो के प्रेम एव स्नेह का महान् रहस्य ! मनुष्य इन्हीं असत सम्बन्धों और काल्पनिक प्रेमादि मे पड़कर आत्मा के वास्तविक

---

[१]. भक्तिपदार्थ वर्णन
[२]. भक्तिपदार्थ वर्णन

रूप को भूल जाता है और मोहादि मे सलग्न रहकर जीवन यापन कर देता है। मानव मोह, माया, मया, सुख, दुख तथा हर्ष-विषाद आदि के चक्र मे पड़कर जीवन निस्सार वस्तुओ मे व्यतीत कर देता है। मृत्यु के भयकर स्वरूप को देखते ही रुदन कर उठता है और एक दिन जब मनुष्य पचतत्त्वो मे मिल जाता है तो ससार के ये सम्बन्ध, ये बन्धु बाधव, ये वैभव और यह अहम् भावना यहीं छूट जाती है। साथ में जानेवाला कोई नही रह जाता। इसीलिए सतों ने इन सासारिक विनाशशील तत्त्वों से दूर रहने के लिए बार-बार चेतावनी दी है। मानव इन सब रहस्यों को समझता हुआ भी उन्हीं तत्त्वो मे सलग्न रहता है। उसकी स्थिति बन्दर, मछली, पक्षी, गज, मृग से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है जो लोभ, लालच और मोह के जाल मे फँसकर अपने प्राणा का उत्सर्ग कर देते हैं।[1] मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् एव चेतन प्राणी है। उसे पशुओं की भाँति व्यवहार न करके अपनी मति से काम लेना आवश्यक है। इस प्रसग के अत में कवि का निम्नलिखित चेतावनी मिश्रित उपदेश अत्यन्त प्रभावशाली प्रतीत होता है। कवि का कथन है :—

> ताते सुन मन मेरे मीत। जक्त छुटावन की राखो चीत ॥
> ऐसा अवसर फिर नहिं पावो। काहे मानुष देह गवावो ॥
> सगी तेरा नहि धनधाम। तू क्यों पचै मूढ बेकाम ॥
> पिछली गई तास कू रोय। आगे रही ताहि मत खोय ॥
> इक-इक घड़ी अमोलक जान। चेत-चेत मत होय अजान ॥
> अपने घर का करो सभाल। ललकारत आवत है काल ॥
> याते कीजै यही विचार। डारि सिदौसी जग जजार ॥
>
> —भक्तिपदार्थ वर्णन

ससार का समस्त प्रेम, स्नेह और ममता आदि का आधार है स्वार्थ।

---

१. जैसे बादर आपहि फसिया। समझावन मन माहीं हसिया ॥
मूद चनों की जो वह तजता। तौ काहै कू फसा जु रहता ॥
ज्यों काटे सू मच्छी लागी। आपहि आई चली अभागी ॥
सरवर में तेरवर की छाही। अजया देखि गिरी वा माही ॥
जैसे पक्षी जाल मझारा। आपहि आय फसा बजमारा ॥
खन्दक मे हाथी आ परिया। लेन गयो कोउ आपहि गिरिया ॥
बाजत वीणा मृगा चलि आया। पकर कौन चचल कू ल्याया ॥
यों ही तुम अपनी गति जानौ। आपहि बधे यही पहिचानौ ॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

स्वार्थ भाँति-भाँति से प्रेम और मोह के रूप मे प्रकाशित होता है। चरनदास के उपर्युक्त विचारों का समर्थन गुरु नानक के निम्नलिखित पद से होता है :—

अपने ही सुख सो सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत है, हित सो बाध्यो चीत।
अतकाल सगी नहिं कोऊ, यह अचरज की रीत ॥
मन मूरख अजहू नहिं समुझत, सिख दै हारयो नीत ॥
नानक भव जल पार परै, जो गावे प्रभु के गीत ॥

मोह से आवृत बुद्धि कभी भी वैराग्य एव साधना नही ग्रहण कर सकती है। गीता में बार-बार इसी पर जोर दिया गया है।[1]

लोभ

मानव की ध्वसात्मक प्रवृत्तियो मे लोभ का प्रमुख स्थान है। लोभ, मोह का सहायक तत्व माना जाता है। इन दोनों का मानव पर समान रूप से विनाशकारी प्रभाव पडता है। अविद्या माया की प्रेरणा से ये दोनो प्रवृत्तियाँ निस्पृहता और सन्तोषी भावना का विनाश कर देती है। इसीलिए जीव मात्र का जीवन मृग-तृष्णाओं से परिपूर्ण रहता है। लोभ जीवन मे एक ऐसा विष घोल देता है कि आकाक्षाओ, आशाओं और अपेक्षाओं की कोई सीमा नहीं रहती है और इसके फलस्वरूप मनुष्य श्वानवत् दर-दर पर भ्रमता फिरता है। समृद्धि मे भी उसे अभाव प्रतीत होता है। जो अकिंचन है, जिसने अपनी इन्द्रिया पर विजय प्राप्त कर लिया है, जिसका हृदय शात है, चित स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसको सम्पूर्ण दिशाए सुखमय हैं।[2] लोभ का कोई अन्त नहीं है। धन की इच्छा रखनेवाला दैन्य दिखाता है, जो धन कमा लेता है वह अभिमान से चूर रहता है तथा जिसका

---

१. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥—गीता २।५२

तथा,

तस्मात्तत्साधन नित्यमाचेष्टव्य मुमुक्षुभिः।
यतो माया विलासाद्वै निवृ्त्ति परमश्नुते ॥

२. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥

धन नष्ट हो जाता है वह शोक करता है। अत' जो निस्पृह है, सन्तोषी है, वही सुख मे रहता है।[1]

सत चरनदास के मतानुसार मोह पाप की खानि है। लोभ के सहायक अथवा सहचर बड़े ही दुष्कर्मी हैं। इसका मन्त्री असत्य है एव तृष्णा इसकी अर्द्धांगिनी है। तृष्णा मनुष्य को लक्ष्य विहीन और आदर्श रहित तथा धर्मच्युत कर देती है। इसके अन्य अभिन्न मित्रों मे दम्भ, मत्सर एव छल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी, मनुष्य को जीवनपर्यन्त शाति नहीं लेने देते और मृत्यु के अनन्तर उसे नर्क मे ठेल देते हैं। ये समस्त तत्त्व मिलकर धर्म के राजमार्ग से मनुष्य को हटा देते है।[2]

समस्त साधु एव पुराणो का अभिमत है कि लोभी प्राणी भक्ति के क्षेत्र मे कभी भी स्थिर नहीं रह सकता है। इन दोनों मे महान् अन्तर है। लोभी, सती, दाता और हितैषी कभी भी विश्वसनीय और एकमत नहीं हो सकते हैं। ये सदैव स्वार्थान्ध और वासना के दास बने रहते हैं। उसकी समस्त चेतना धन पर केन्द्रित रहती है। वह सदैव कपटशील व्यवहार में सलग्न रहता है। पापाचार उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। वह अपने अस्तित्व को विनष्ट करके दूसरो को भी पतनोन्मुख बनाता है।[3]

---

१. अर्थी करोति दैन्य लब्धार्थो गर्व परितोषम्।
नष्टधनश्च स शोक सुखमास्ते निस्पृहः पुरुषः॥

२. लोभ नीच वर्णन, करूमहापाप की खानि।
मन्त्री जाका झूठ है, बहुत अधर्मी जानि॥
तृष्णा जाकी जोय है, जो अधा करि देय।
घटी बढी सूझै नहीं, नहा कालका मेय॥
दभ मकर छल मगल, जो रहत लोभ के सग।
मुये नरक लै जायगे, जीवत करै उदग॥
देहै धर्म छुटाय ही, आन धर्म ले जाय।
हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच लोभ लगाय॥
चहुँ देश भरमत फिरै, कलह कलपना साथ।
लोभ काज उठ-उठ लगै, दोउ पसारै हाथ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

३. लोभी भक्त होय नहिं कबहीं। साधु पुराण कहत है सबहीं॥
लोभी सती न होवे शूरा। लोभी दाता सत न पूरा॥
लोभी हितू न होवे सॉचा। लोभी रहै जगत में रांचा॥

मनुष्य को चींटी, बन्दर तथा पक्षियो से लोभ के विषय मे उपदेश ग्रहण करना चाहिए। लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य उच्च-नीच हर प्रकार के कृत्य करता फिरता है जिससे उसके मान-प्रतिष्ठा में अतर पड़ता है।[1] सतोष जीवन के लिए एक महान् वरदान है और लोभ अभिशाप के रूप मे है। लोभ के स्थान पर सन्तोष का मानव के चरित्र और बुद्धि पर कितना महान् प्रभाव पड़ता है। यह कवि के ही शब्दों मे पठनीय होगा :—

लोभ गये ते आवई, महाबली सतोष।
त्याग सत्य कू सगले, कलह निवारण शोक॥
घट आवै सतोष ही, कहा चहै जग भोग।
स्वर्ग आदि लो सुखजिते, सबकू जानै रोग॥
सन्तोषी निश्चल दिशा, रहै राम लवलाय।
आसन ऊपर दृढ रहै, इत उत कू नहि जाय॥
काहू से नहिं राखिये, काहू विधि की चाह।
परम सतोषी हूजिये, रहिये बेपरवाह॥
चाह जगत की दास है, हरि अपना न करै।
चरणदास यो कहत है, बाधा नाहि टरै॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

सत्य तो यह है कि सन्तोष ही मानव का परम धन है। सस्कृत के एक नीतिकार ने ठीक ही लिखा है :—

सर्पाः पिबन्ति पवन न च दुर्बलास्ते।
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवति॥

लोभी रहे द्रव्य के माहीं। तन छूटै पै निकसै नाहीं॥
लोभी करै जीव की घाता। लोभी करै कपट की बाता॥
लोभी पाप न करता डरै। लोभी जाप कष्ट मे परै॥
लोभी बेंचै अपना शीसा। लोभी डूबै बिसवै बीसा॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

१. चींटी बादर खगन कू, लोभ बहुत दुखदीन।
याकू तजि हरि कू भजै, चरणदास परवीन॥
लोभ घटावै मान कू, करै जगत आधीन।
बोझ घटा मिष्टल करै, करै बुद्धि को हीन॥
लोक गये ते आवई, महावली सतोष।
त्याग सत्य कू संगले, कलह निवारण शोक॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कन्दैः फलैर्मुनिवाराः क्षपयन्ति काल ।
सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥

ससार मे दरिद्र वही है जिसमे तृष्णा बलवती है । जहाँ मन सन्तुष्ट है, वहाँ कौन धनवान् और दरिद्र है ?

वस्तुतः लोभ मन का ही विकार है । अतः मनुष्य को चाहिए कि मन का ही दमन कर ले । इस साधना से मन मे किसी प्रकार का विकार नही समुत्पन्न होता है । मनुस्मृति में कहा गया है :—

न जातु काम॰ कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ —मनुस्मृति, अ० २

अर्थात् विषयो के भोग की इच्छा, विषयो के भोग से शात नहीं हो सकती है वरन् और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है । यथा आग मे घी डालने से आग बढती है, ठीक इसी प्रकार लोभ करने से मन लोभ मे अधिक प्रवृत्त होता है ।

लोभ की व्याख्या पठनीय और विचारणीय होगी :—

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजगा न वृश्चिकाः ।
सभ्रान्तयन्ति मनुज यथा लाभो धिय रिपुः ॥१॥
मेरुो घृतबिन्द्वाभा दुराशादावपावके ।
कथ सहस्रलक्षाद्यै स्तर्हितृप्यतु लोभवान् ॥२॥
न लोभस्यापचाराय मणिमन्त्रौषधादयः ।
मणिमन्त्रोषधश्लाघी सोपि लोभपरायणः ॥

अर्थात् पिशाच, डाकिनी, सर्प एव वृश्चिक ये समस्त पृथक्-पृथक् अथवा कुल एक साथ मिलकर मानव को उतना अधिक विचलित नहीं कर सकते जितना कि लोभ बुद्धि को भ्रात बना देती है । विषयाशारूपी दावाग्नि मे सुवर्ण मेरु सदृश्य महान् पर्वत भी एक घृत विन्दुवत तुच्छ प्रतीत होने लग जाते हैं । फिर भला हजार लाख आदि द्रव्य का लोभी किस प्रकार तृप्त हो सकता है । लोभ नामक रोग को हटाने मे मणि मत्र तथा औषध भी समर्थ नहीं होते । कारण कि यदि इनसे लोभ की निवृत्ति हो जाया करती, तो इनके जानने वाले लोभी क्यों होते ?

अभिमान

चरनदास के मतानुसार साधक के मार्ग मे चार महान् बाधाएँ हैं । ये बाधाएँ मानव के हृदयस्थ चार महान् शत्रु—क्रोध, मोह, लोभ एव अहकार या

अभिमान हैं। ये समस्त प्रवृतियाँ मानव की स्थिति वा आधार को विनष्ट करने मे व्यस्त रहती हैं। आधुनिक सभ्य समाज मे भी इनमे से क्रोध एव अहकार की भावना अत्यन्त निम्न और हेय मानी गई है। अभिमान एक प्रकार की मिथ्या भावना है।

कवि के मत से अभिमानी व्यक्ति मुक्ति एवं भक्ति दोनों से दूर रहता है। उसकी मति कभी भी स्थिर एवं स्थायी नही रहती है। मिथ्या गर्व भावना से प्रेरित होकर वह सदैव निम्नकोटि के कृत्यो मे सलग्न रहता है। वह झूठ, कपट, दभ और छल आदि में सदैव प्रवृत्त रहता है।[1]

अभिमान विविध प्रकार का होता है। किसी को धन, किसी को जन किसी को विद्या और किसी को शरीर का गर्व होता है। परन्तु ये सब विनाशशील और ससार में अस्थायी वस्तुए हैं। इनका गर्व नि.सार और महत्त्वहीन है। इस प्रकार की प्रवृत्ति ससार में कभी भी सहायक नहीं हो सकती है। इस प्रवृति से हीन और युक्त सभी एक दिन यम के भय से त्रस्त होकर पश्चाताप करते हुए इस पापी ससार से विदा हो जाते हैं।[2] अभिमानी व्यक्ति आजीवन मिथ्या गर्व की ज्वाला मे दग्ध रहता है और पचत्व प्राप्ति के अनन्तर नर्क मे वास करता। इसीलिए मानव

---

१. अभिमानी की मुक्ति न होई। अभिमानी मति अपनी खोई॥
ऐंड अकड़ अभिमानी माही। अभिमानी नीचा हो नाहीं॥
विनष्ट नान्हपन सुख नहि पावै। आनन्द पद कू कैसे जावै॥
झूठ कपट अभिमानी खेलै। कचन बरतन माटी मेलै॥
भगल दभ नितही मन माही। निकट सांच कभु आवै नाहीं॥
इन लच्छण जीवत दुख पावै। नरक माहि तन छूटै जावैं॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

२. रूपवन्त गरबावै। कोइ मरिनम दृष्टि न आवै॥
तरुणा पा गरबाना। वह अधरा हो बौराना॥
कहै धन मधि मेपरवीना। सब मेरे हो आधीना॥
कहै कुल अभिमानी सूचा। मैं सब जातिन मे ऊचा॥
वह विद्या गर्व जु मारी। करै वाद विवाद अनारी॥
अरु भूप करै अभिमाना। उन आपै ही कू जाना॥
उन काल नहीं पहिचाना। सो मार करै घमसाना॥
गुरु शुकदेव चितावै। तोहि परगट नैन दिखावै॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

को मत्सरता (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) का परित्याग करके ब्रह्म के चरणो मे आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।[1]

जीवन मे सफलता एव आनन्द का सचार करने के हेतु दीनता धारण करना चाहिए। क्षुद्रता, मानव मे आत्म-बल और साहस का समावेश करता है। कवि के शब्दो मे इस नन्हापन का महत्त्व पठनीय होगा :—

मन मे लाय विचार कू, दीजै गर्व निकार।
नान्हापन जब आय है, छूटै सकल विकार ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कबीर साहब की निम्नलिखित पक्तियो मे इसी नन्हापन के भाव का समर्थन हुआ है :—

क दीन लखै मुख सबन को, दीनहि लखै न कोय।
भली विचारी दीनता, नरहु देवता होय ॥
ख. कबीर न वैसो आपको, पर को नवै न कोय।
घालि तराजू तोलिये, नवै सो भारी होय ॥
ग. ऊचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय ॥
घ. सब ते लघुताई भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय ॥

यही दीनता का भाव चरनदास की एक अन्य साखी मे भली प्रकार व्यक्त हुआ है :—

दया नम्रता दीनता, छिमा सील सतोष।
इनकू लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख ॥ —स० बा० स० १।१४७।१

गरीबदास जी के शब्दो मे भी यह भाव पठनीय होगा :—

सुरग नरक बाछे नहीं, मोच्छ बध से दूर।
बड़ी गरीबी जगत मे, सत चरन रज धूर ॥—स० बा० स० १।२०६।१

शील

शील का अर्थ है उत्तम स्वभाव, सदाचरण, सद्वृत्ति, एव सद्चरित्र।[2]

---

1. फिर डारै नरक मझारी। सुनि चेतौ नर अरु नारी ॥
तौ मद मत्सरता तजि दीजै। साधौ के चरण गहीजै ॥
हरि भक्ति करौ चितलाई। जब सकल व्याधि छुटि जाई ॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

2. सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ १०४७

स्वभाव, आचरण, आचार, वृत्ति एव चरित्र का मानव जीवन पर बड़ा व्यापक एव गभीर प्रभाव पड़ता है। वातावरण एव कृत्यों का प्रभाव न केवल सामाजिक जीवन पर पड़ता है वरन् समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर इनका प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। स्वभाव आचरण तथा आचार का मानव जीवन पर एव साधना पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानव की जैसी वृत्ति होती है तद्नुकूल उसकी बुद्धि का निर्माण एव प्रवृत्तियों का विकास होता है। कहा गया है :—

"आचारो प्रथमो धर्मः"

अर्थात् सदाचार धर्म की प्रथम सीढी है। मनु के मतानुसार आचार से भ्रष्ट वेद का ज्ञाता विद्वान एव धार्मिकता मे सलग्न व्यक्ति वेद के फल को नहीं प्राप्त कर पाता। जो आचार से युक्त है वही सम्पूर्ण सिद्धि या फल प्राप्त करता है। इसी हेतु ऋषियों ने धर्म के श्रेष्ठ आधार या मूल, आचार को ग्रहण किया। जो मनुष्य स्वधर्मानुकूल रहता है वही सब प्रकार से सुखी और प्रसन्न है :—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु सयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचार जगृहुः परम्॥

दुराचारी सर्वत्र निंद्य तथा अपदस्थ समझा जाता है :—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च॥—मनु०

सत् आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित चौदह बातें आवश्यक मानी गई हैं। साधना के क्षेत्र मे इनका परिपालन परमावश्यक है :—

१. ब्रह्मचर्य	२ यज्ञ
३. सत्य	४. दान
५. तप	६. परोपकार
७. शौच	८. ईश्वर भक्ति
९. गुरु भक्ति	१० देश भक्ति
११ अतिथि सत्कार	१२. प्रायश्चित्त
१३. अहिंसा	१४. गोरक्षा।

इनकी पृथक्-पृथक् विवेचना करने के लिए यहाँ न अवसर है और न अवकाश। इन विषयों की व्याख्या एव विवेचन स्वतः एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय

है। संक्षेपतः शील मानव का श्रेष्ठ गुण है। बिना शील मानव की समस्त साधना व्यर्थ है। कबीर के शब्दों में :—

सीलवत सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील मे आनि ।।—स० वा० स० १।५०।१

सत चरनदास शील को मानव का अनिवार्य गुण मानते हैं। तप, एव दान जैसे शुभ कार्यो मे सलग्न मानव यदि शील से विहीन है तो उसकी समस्त साधना व्यर्थ है। मनुष्य की वास्तविक शोभा शील है :—

रूप गुणी कुलवत जो, अरु होवै धनवन्त।
शील बिना शोभा नहीं, मिष्टै नरक पडन्त ।।
शील बिना जो तप करै, करै शील बिन दान।
योग युक्ति करै शील बिन, सो कहिए अज्ञान ।।
पूजा सयम नेम जो, यज्ञ करै चितलाय।
चरणदास कहै शील बिन, सभी अकारथ जाय ।।

शील केवल आध्यात्मिक जीवन ही नहीं वरन् लौकिक एव व्यावहारिक जीवन मे भी उसकी व्यक्तिगत महत्ता और उपयोगिता है। शील के अभाव में मनुष्य को प्रशसा और स्वागत नहीं प्राप्त होती है। वह सर्वत्र श्वान के समान अपमानित जीवन व्यतीत करता फिरता है। शील के विनष्ट होने पर गुरु, ब्रह्म, नाम सभी कुछ दूर हो जाता है। शील ही चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमता हुआ आवागमन की यातनाओं को भुगता करता है।[1] वही स्त्री सती है और वही पुरुष

---

[1] शील बिना नरकै परै, शील बिना यम दड।
शील बिना भरमत फिरै, सात द्वीप नौ खड ।।
शील बिना भटकत फिरै, चौरासी के माहि।
पहिले होवै प्रेत ही, यामे सशय नांहि ।।
ज्ञानी शील न सीखिया, बिगड़ गई सब देह।
अब पछतावा क्या करै, मुख पर उड़िया खेह ।।
शील गये शोभा घटै, या दुनिया के मांहि।
कूकर ज्यों झिड़क्यों फिरै, कहीं भी आदर नाहि ।।
शील गये गुरु सू फिरै, हरि सू बेमुख होय।
चरणदास कहाँ लौ कहै, सर्वस डारै खोय ।।
धिक जीवन ससार मे, ताको शील नसाय।
जग में फिट-फिट होत है, मुये यातना पाय ।।—भक्तिपदार्थ वर्णन

सूरमा है जो शील से सम्पन्न है।[1] शील मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना किसी शासक के लिए फौज। दूसरे शब्दों मे शील मनुष्य की दृढ शक्ति है।[2] शील का स्थान सत्य से भी उच्च एव महान् है।[3] कसैले आवले अथवा कड़वी नीम की भाँति शील का प्रभाव होता है। पहले तो उसे व्यावहारिक रूप मे परिणत करने मे कठिनाई होती है एव चित्त मलीन होता है, परन्तु बाद मे इसका प्रभाव बड़ा स्वस्थ होता है।[4] शीलवान् का ससार मे बड़ा महत्त्व है। उसका सत्सग करने से समस्त लौकिक रोग और पातक विनष्ट हो जाते हैं।[5] कवि के शब्दो मे शील का महत्त्व निम्नलिखित है :—

शील बड़ा ही योग है, जो कर जानै कोय।
शील विहीना चरनदास, कबहु मुक्ति नहिं होय ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

दया

क्षमा, सत्य, शौच, धृति एव दया मानव के विशेष गुण माने गये है। प्रत्येक मानव मे इनका होना अपेक्षित है और साधक मे इनकी उपस्थिति अनिवार्य

---

1. साइ सती सोइ शूरमा, सोइ दाता अधिकाय।
शील लिये नित ही रहै, तौ निष्फल नहि जाय ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

2. शील रहेते सब रहै, जते है शुभ अंग।
ज्यों राजा के रहेते, रहै फौज को सग ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

3. सत्य गया तो क्या रहा, शील गया सब झाड़।
भक्त खेत कैसे बचै, टूट गई जब बाड़ ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

4. शील कसैला आवला, और बड़ों के बोल।
पाछे देवै स्वाद वै, चरणदास कहि खोल ॥
शील निरोगा नींव सा, औगुण डारै खोय।
पहिले करुवा दुख लगै, पाछे गुण सुख होय ॥
लाख यही उपदेश है, एक शील कू राख।
जन्म सुधारै हरि मिलौ, चरणदास की साख ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

5. शीलवत के चरण का, जो चरणोदक लेय।
रोग दोष मिटि जाय सब, रहै न यम का भेय ॥
आठ अग सू शील ही, जा घट माहीं होय।
चरणदास यो कहत है, दुर्लभ दर्शन सोय ॥
शीलवंत दर्शन बड़े, देखत पातक जाय।
वचन सुनै मन शुद्ध हो, खोटी दृष्टि रिसाय ॥—वही

मानी गई है। धर्मसाधना और योग-प्रक्रिया की साधना के क्षेत्र मे इनकी जो उपयोगिता है, वह तो है ही परन्तु इनके अतिरिक्त इन गुणो की महत्ता समाज मे अत्यधिक है। इन उपर्युक्त गुणो मे से यदि समस्त समाज एक से भी रहित हो जाय तो मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाय। आज वतमान समाज मे हमारे सामाजिक सभ्यता के नाम पर इन सद्वृत्तियों का उपहास करते हुए मनुष्य सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं परन्तु यह तथ्य किससे छिपा है कि इन गुणो के अभाव से ही हमारा समाज अभिशाप की ज्वाला मे दग्ध है।

दया, मानव के मन का दुःखपूर्ण वेग है जिसका उद्रेक दूसरो के कष्ट को देखकर होता है तथा उस दु:ख को दूर करने का प्रयत्न एव प्रेरणा करता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द करुणा एव रहम माने गये हैं।[1] दया, परोपकार की जन्मदात्री है। इसीलिए परोपकार एव दया सन्तो का स्वभाव माना गया है।[2] दया धर्म का कारण होने से दैवी सम्पत्ति एव मानव के लिए अमूल्य वरदान मानी गई है।[3] तथ्य तो यह है कि दु:ख से पीड़ित मानव के प्रति महापुरुषो के हृदय मे दया का सचार सदैव से ही होता रहा है।[4] साधक के पास दया ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिससे वह ब्रह्म को अपने प्रति द्रवीभूत कर सकता है।[5] जैन कवि मुनि रामसिंह के शब्दो मे :—

दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह विण जोइ।
बहुए सलिलविरोलियइ करु चोप्पडाण होइ ॥[6]

अर्थात् "हे ज्ञानी जोगी! दया से रहित धर्म किसी प्रकार से भी नहीं कहा जा सकता है। अत्यधिक जल विलोडने से मनुष्य का हाथ कभी भी चिकना नहीं हो सकता है। अतः दया से विहीन धर्म, धर्म नही वरन् अधर्म कहा जायगा।" जीवन और समाज के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है। कहा गया है कि दया समस्त धर्मों का मूल है, समस्त प्रकार के सद्भावों और व्यवहार का आधार है।

---

१. सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ५३४
२. रामचरित मानस, पृष्ठ ११०७
३. तुलसी सतसई २१२ तथा,
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुत्वमार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ गीता १६।२
४. रहीम दोहावली, दोहा १२२
५. मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ १८, शब्द ७ पं० ५
६. पाहुड दोहा, पृष्ठ ४४, दोहा १४७

दया के सहायक तत्त्व अथवा प्रवृत्तियाँ हैं क्षमा, दान, अक्रोध, परोपकार तथा अहिंसा। ये सभी दया के प्रकाशन मे सहायक होते हैं। इनमे पारस्परिक रूप से बडा निकट सम्बन्ध है। ये सभी अन्योन्याश्रित हैं। दया से ही उद्भूत होकर मानव क्षमाशील वृत्ति को धारण करता है, दान मे प्रवृत्त होता है, क्रोध की भावना अन्तर्भूत हो जाती है, तथा परोपकार एव अहिंसा की ओर आकाक्षा जाग्रत होती है। सक्षेपतः ये सभी धर्म एव सदाचार के अंग हैं। इसी ससार के प्रत्येक धर्म मे दया को आवश्यक ही नही अनिवार्य माना गया है।

अब चरनदास के दया विषयक विचारो पर ध्यान दीजिए। कवि के मतानुसार दया के अग हैं सहृदयता, कोमलता, भावनाओं तथा हृदय की परपीरता, सज्जनता तथा निर्दोषता। इनको धारण वा ग्रहण किये बिना मानव के लिए मोक्ष का प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है।[1] दया ज्ञान का आधार है तथा भक्ति का प्राण है। दया वास्तव मे परब्रह्म का बड़ा भारी वरदान है।[2] दया के अभाव में समस्त कथन, ज्ञान और आराधना निःसार है।[3] समस्त वाह्याडम्बरो को धारण करता हुआ साधक, धर्म और आचार-शास्त्र के समस्त नियमों का पालन करता हुआ अपनी साधना एव लक्ष्य की प्राप्ति मे कभी भी सफल नहीं हो सकता है, यदि वह दैवी गुण दया से विहीन है।[4] कवि के शब्दों में :—

दया बिना नर पतित है, दया बिना नर दुष्ट।
दया बिना सुनवत बने, सबही थोथी गुष्ट ॥

---

1. कोमलता परपीरता, सज्जनता निर्दोष।
सबही दया के अग है, इनहे पावै मोष ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

2. दया ज्ञान का मूल है, दया भक्ति का जीव।
चरणदास यों कहत है, दया मिलावै पीव ॥—वही

3. दया नहीं तौ कुछ नहीं, सबही थोथी बात।
बाहर कथनी सोहनी, भीतर लागी घात ॥

4. छापे तिलक बनाय कै, माला पहिरी दोय।
दया बिना बक सम वही, साधु रूप नहिं होय ॥
पडिताई बहुतै करी, दया न राखी जीव।
छांछि छाछि तै लै लई, डारि दिया तत घीव ॥
तोहिं पडित मैं कह कहू, मूरख कै परवीन।
लिया न तैं मत सूप का, चलनी का मतलीन ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

जन्म मरण छूटै नहीं, नाही कर्म्म नशाहि ।
दया बिना[१] बदला भरै, चौरासी के माहिं ।।
काम क्रोध मोह लोभ ये, गरब आदि भजि जाहि ।
चरणदास कहै दया जो, घट मे पहुँचै आहि ।।
जितने बैरी जीव के, तिनमे रहै न एक ।
चरणदास यो कहत है, दया जो आवै नेक ।।—भक्ति पदार्थ वर्णन

चरनदास की दया का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और व्यापक है । उसकी दया का प्रसार केवल चेतन जगत् तक ही सीमित नही है, वरन् वह ससार के जितने भी तत्त्व हैं, उन सभी के प्रति दयालु बनने के समर्थक तथा प्रतिपादक हैं । स्थावर-जगम, चर-अचर, जड-चेतन आदि सभी उसकी दया के पात्र हैं । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु और रचना मे उसकी दया का प्रसार होना अत्यावश्यक है । इसीलिए कवि का कथन है :—

थावर जगम चर अचर, या जग मे हो कोय ।
सबही पै हित राखिये, सुख दानी ही होय ।।
भोजन करौ सभाल करि, पानी पीजै छान ।
हरा वृक्ष नहि तोड़िये, कर्म बचैयों जान ।।
खावै वस्तु विचारि कै, बैठे ठौर विचार ।
जो कुछ करै विचारि करि, किरिया यही अचार ।।

प्रस्तुत उद्धरण की चतुर्थ पक्ति विशेष विचारणीय है । कवि ने वृक्ष, पक्षी तथा ससार के समस्त जड़-चेतन मे अपनो दया का प्रसार दिखाया है । जब मानव वृहत्तर भावनाओ को ग्रहण कर लेता है, उदार वृत्ति को अपने स्वभाव का एक अग बना लेता है और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त को स्वजीवन मे कार्यान्वित करना सीख जाता है तो ससार में कौन शत्रु रह जाता है और कौन मित्र, उसकी दृष्टि मे सभी समान और सभी महान् बन जाते हैं । वह समस्त संसार को ही अपने कुटुम्ब के रूप मे ग्रहण करता है । इस स्थिति मे उसकी दया की भावना सभी को सुखी और लाभान्वित करती है । इस दृष्टि से कवि की निम्नलिखित पक्तियाॅ विशेष विचारणीय होगी :—

मन सों रहु निर्वैरता, मुख सू मीठा बोल ।
तन सू रक्षा जीव की, चरनदास कहि खोल ।।
करुवा बचन न बोलिये, तनसू कष्ट न देहु ।
अपना सा जी जानिकै, बनै तौ दुख हरिलेहु ।।

मुखसू जो करुवा कहै, तन सू देवै कष्ट।
यही जु हिंसा जानिये, दया धर्म जा नष्ट ॥
काहू दुख नहिं दीजिए, दुर्जन होकै भीत।
सुखदायी सब जगत को, गहो दया की रीत ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

माया

अज्ञान के कारण मानव को नामरूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है। दार्शनिकों ने अज्ञान का मूलाधार या मूल उत्पादक माया को ही माना है। माया कश्चित् काल के लिए सत्य को भी अपने आवरण मे छिपा लेती है। आत्मा एवं परमात्मा के सम्मिलन मे माया का आवरण बड़ा बाधक हे। आचार्यों ने जगत् की प्रतीयमानता का आधार माया मे खोज निकाला है। माया के विषय मे वेदों मे भी बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु उस अर्थ मे नही जिस अर्थ मे वह हिन्दी काव्यधारा में सिद्ध-युग से प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद मे माया शब्द का प्रयोग वेश-परिवर्तन के अर्थ मे हुआ है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है :—

"इन्द्रो मायाभिपरूप ईयते"—ऋग्वेद ६।४७।१८

अर्थात् इन्द्र अपनी माया के बल से अनेक रूप धारण करता है। यहा इसका प्रयोग रूप-परिवर्तन के अर्थ मे ही हुआ है। उपनिषदों मे माया का प्रयोग नामरूप के अर्थ मे हुआ है। इसके अनन्तर बौद्ध-साहित्य का उल्लेख आवश्यक है। बौद्ध साहित्य मे वैदिक मायावाद, स्वप्नवाद, क्षणिकवाद तथा शून्यवाद के रूप में व्यक्त हुए हैं। कालान्तर मे मायावाद ने बौद्धों के स्वप्नवाद तथा शून्यवाद से प्रभावित होकर स्वप्नवाद के दर्शन को ही धारण कर लिया। बौद्ध दर्शन मे यह विषय बड़े विस्तार और गभीरता के साथ प्रतिपादित हुआ है। अनेक आचार्यों ने बौद्ध धर्म, हीनयान तथा महायान मे, इनके विषय मे विविध ग्रन्थों की रचना करके विषय के स्पष्टीकरण का निरन्तर प्रयत्न किया। योगाचार मत के अन्तर्गत सत्ता माध्यमिक मत के सदृश्य ही दो प्रकार की मानी गई है। प्रथम पारमार्थिक तथा द्वितीय व्यावहारिक है। विज्ञानवादी आचार्यों ने व्यावहारिक सत्ता का विभाजन दो भागो मे किया है। इसमें प्रथम परिकल्पित सत्ता है और द्वितीय परतन्त्र सत्ता। विज्ञानवादी अद्वैत वेदान्तियों के समान ही इस सिद्धांत के समर्थक हैं कि जगत् का समस्त व्यवहार आरोप पर निर्भर है। वस्तु मे अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहा गया है, यथा रज्जु मे सर्प का आरोप। 'लकावतार सूत्र' मे परमार्थ और सवृति मे अन्तर व्यक्त किया गया है। 'लकावतार सूत्र' मे कहा गया है कि सवृति का अर्थ है बुद्धि। यह सवृति दो प्रकार की मानी गई है—(१) प्रविचय बुद्धि तथा (२) प्रतिष्ठापिका

बुद्धि । प्रविचय बुद्धि से पदार्थों के वास्तविक रूप को ग्रहण किया जाता है। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद प्रपच आदि का आभास मिलता है तथा असत् पदार्थ सत् रूप मे आभासित होता है। इसी प्रतिष्ठान विषय को समारोप भी कहा गया है। यह आरोप लक्षण, इष्ट हेतु एव भाव का होता है। आचार्य असंग ने 'महायान सूत्रालकार' मे सत्य के तीन प्रकारो का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन किया है। ये तीनों सत्य हैं—परिकल्पित सत्ता, परतत्र सत्ता तथा परिनिष्पन्न सत्ता। इन तीनों के विषय मे आचार्य असग के मत को उद्धृत कर देना असगत न होगा :—

१ परिकल्पित सत्ता—

यथा नामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या ।
असकल्प निमित्त हि परिकल्पितलक्षण ॥—महायान सूत्रालकार ११।३६

२. परतंत्र सत्ता—

त्रिविध त्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षण ।
अभूत परिकल्पो हि परतत्रस्य लक्षणम् ॥—महायान सूत्रालकार ११।४०

३. परिनिष्ठपन्न वस्तु :—

अभाव भावता या च भावाभावसमानता ।
अशातशान्ता कल्पा च परिनिष्पन्न लक्षणम् ॥—महायान सूत्रालकार ११।४१

आचार्य असग के मतानुसार परम तत्व पच प्रकार से अद्वैत रूप है :—

१. सत्-असत् २. तथा-अतथा ३. जन्म-मरण ४ ह्रास-बुद्धि
५. शुद्धि-अविशुद्धि ।

यह तत्व इन समस्त कल्पनाओं से विमुक्त हैं। उक्त आचार्य के अनुसार शून्यता तीन प्रकार की है :—

१. **अभाव शून्यता**—अभाव से अभिप्राय उन समस्त लक्षणों से ही न होने का है जिनको हम अपनी साधारण कल्पना मे किसी विशिष्ट वस्तु में सन्निहित या उससे सम्बद्ध मानते हैं। इसी को परिकल्पित भी कहते हैं।

२. **तथाभाव शून्यता**—वस्तु का वह स्वरूप जो हम सामान्यतया देखते, जानते और मानते हैं, निताल असत्य है। ससार मे घट का न तो कोई वास्तविक अस्तित्व है न कोई निश्चित वास्तविक रूप। इसी को परतन्त्र भी कहते हैं।

३. **प्रकृति शून्यता**—ससार के समस्त पदार्थ शून्य रूप है। यही परिनिष्पन्न है।

सम्यक् सम्बोधित का विकास तब सम्भव है जब बोधिसत्व इन त्रिविध सत्यों के ज्ञान से सम्पन्न होता है :—

अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथा भावस्य शून्यताम् ।
प्रकृत्या शून्यता ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥ —महायान सूत्र १४।३५

गौडपादाचार्य का मायावाद भी स्वप्नवाद का दूसरा रूप है। दोनो की आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है।[1] आचार्य शङ्कर ने वैदिक मायावाद को इतने प्रकार के विभिन्न रूप धारण करते हुए देखकर उसे पुनः शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित किया। उनके ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी मे बौद्धो के स्वप्नवाद की कटु आलोचना की गई है और मायावाद की स्थापना शङ्कराचार्य के प्रयत्न से वैदिक मायावाद पुनः देश की विचारधारा मे व्याप्त होने लगा। शङ्कराचार्य ने माया को भ्रम रूप माना है। अतद् मे तद् को मान लेना ही अध्यास है। अध्यास ही भ्रम का दूसरा रूप है :—

"अध्यासो नाम अतस्मिँस्तदबुद्धिः"—ब्रह्म-सूत्र १।१।१

माया के विषय मे साख्य दर्शन का मत भी विचारणीय है।[2] साख्य दर्शन के मतानुसार ससार मे पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने माया जाल मे सदैव भ्रमाती रहती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप है। वह ज्ञाता और उदासीन है। वह प्रकृति के मायाजाल मे तब तक भ्रमता रहता है जब तक उसे अपने इस विशुद्ध चेतन स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। प्रकृति का विकास जगत् मे चतुर्दिक् प्रसारित है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसीलिए समस्त ससार चार भागों मे विभाज्य है :—

१ प्रकृति[3] २ प्रकृति विकृति[4] ३ विकृति[5] ४ न प्रकृति न विकृति[6]।

---

1. माडूक्य कारिका ४।३०)३१
2. देखिये, मेरा ग्रन्थ—सुन्दर दर्शन, पृष्ठ ७३, ८०
3. वह तत्व जो सबका कारण तो होता है पर स्वतः किसी का कार्य नहीं होता है।
4. वे तत्व जो कार्य ही होते हैं। किसी से उनकी उत्पत्ति तो होती है पर स्वय किसी अन्य को नही उत्पन्न करते हैं।
5. वे तत्व जो कार्य भी होते हैं और कारण भी। ये किन्हीं तत्वो से उत्पन्न होते हैं और किन्हीं को जन्म देते हैं।
6. वह तत्व जो कार्य एव कारण उभयविधि से शून्य रहता है। न वह कार्य ही है न कारण ही। इन तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

स्वरूप	सख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति
विकृति	१६	५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन एव महाभूत
प्रकृति विकृति	७	महातत्व, अहकार, तन्मात्रा
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

प्रकृति ही समस्त प्रपचों की नियामक है। पुरुष वस्तुत. निर्लेप है। इस विषय मे साख्य का गीता से मत-साम्य है। जिसने यह समझ लिया है कि समस्त कर्मों को करने वाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है उसने कर्ता को पहचान लिया है :—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियामाणानि, सर्वशः।
य पश्यति तथात्मानमकर्तार स पश्यति ॥ —गीता १३।२६

प्रकृति जिस समय माया का विस्तार स्थगित कर देती है, तभी पुरुष कैवल्य प्राप्त करता है। पुरुष की सिद्धि भी प्रकृति की भाँति अनुमान से ही होती है। साख्यकारिका के मत से पुरुष को स्थिति की निम्नलिखित चार युक्तियाँ हैं :—

साघतपरार्थत्वात् निर्गुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च ॥१७॥

साख्य के अनुसार जिस समय प्रकृति अपनी माया का विस्तार स्थगित कर देती है, उसी समय आत्मा का पुरुष कैवल्य पद प्राप्त करता है। साख्य मे पुरुष की इसी स्वाभाविक स्थिति को मुक्तावस्था कहा गया है।

भारतीय धर्मो और विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत माया के व्यक्तित्व और रूप के विषय मे बड़े रोचक उल्लेख मिलते हैं। कबीर के अनन्तर सतो ने माया की बडी कटु आलोचना और छीछालेदर की है। कबीर से पूर्व, नाथ-सम्प्रदाय मे भी माया के विषय मे विचारको के मत पठनीय होंगे। इसके विषय मे आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'नाथ-सम्प्रदाय' का यह रोचक एव विद्वत्तापूर्ण उल्लेख पठनीय होगा—"शिव के सिसृक्षु होने पर शिवा और शक्ति ये दो तत्व उत्पन्न होते हैं। परम शिव निर्गुण और निरजन है, शिव सगुण और सिसृक्षा रूप उपाधि से विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है, धर्मी और धर्म अलग-अलग नही रह सकते हैं। इसीलिए मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के बिना शिव नहीं होते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती। ""पहले बताया गया है कि समस्त जगत् प्रपच का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किए रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था में इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मै ही शिव हूँ। यही सदा शिव तत्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न रूप मे जानते हैं। इनका यह मै का भाव ही पराहन्ता या पूर्णाहन्ता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वर तत्व कहते हैं। 'सो जगत अह' रूप समझने वाला तत्व ।३। सदा शिव है और इदं रूप मे समझने वाला तत्व ।४। ईश्वर है। सदाशिव जगत् को अहरूप में देखते हैं।

"जगत् मै ही हूँ," इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (५) शुद्ध विद्या कहते हैं और यह जगत् मुझसे भिन्न है—इस प्रकार ईश्वर की वृत्ति का नाम (६) माया है। शुद्ध विद्या को आच्छादन करनेवाली को अविद्या कहते ह—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हे। यह सातवा तत्व है। इस सातवें तत्व स आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को किंचिज्ञ अर्थात् थोड़ा जानने वाला समझने लगता है। फिर क्रमश· माया के बन्धन से शिव की सब कुछ करने की शक्ति सकुचित होकर कुछ करने की शक्ति बन जाती है, इसे कला कहते हैं, फिर उनका नित्यतृप्तता""सकुचित होकर छोटी सीमा मे बध जाती है, इसे काल तत्व कहत हे और उनकी सर्वव्यापकता भी सकुचित होकर नियत देश मे सकीर्ण हो जाती है, इसे नियतितत्व कहा जाता है।"[1]

अब सत-साहित्य मे माया का स्वरूप देखिये तदनन्तर चरनदास के काव्य मे माया के स्वरूप का विवेचन होगा। सामान्य रूप से सन्त साहित्य मे सतों की धारणा है कि ससार की स्थिति माया के कारण ही है। प्रकृति की भाँति माया जगत् का उपादान है। यह जगत् माया ही का पूर्णरूपेण परिणाम है। माया अपनी आवरण शक्ति के कारण आत्मा के वास्तविक रूप और गुण को उसी प्रकार ढक लेती है, जिस प्रकार बादल निर्मल चन्द्र को कुछ काल के लिए आच्छादित कर लेता है। माया का एक और रूप है। इस दूसरे रूप का नाम सन्तों के अनुसार सत्य माया अथवा विद्या माया है।[2] यह विद्या माया आत्मा और ब्रह्म के मिलन मे सहायक रहती है।

माया के दो रूप हैं, प्रथम अविद्या माया है और द्वितीय विद्या माया। अविद्या माया अज्ञान की प्रसारिका है। यह जीवात्मा और परमात्मा मे ऐक्य नहीं स्थापित होने देती। भाँति-भाँति के प्रलोभनो और बाधाओं को समुपस्थित करके यह साधक को मार्ग से विचलित करती रहता है। द्वितीय विद्या माया है। यह ज्ञान की प्रसारिका और ब्रह्म की प्रेरक शक्ति मानी गई है। यह साधना के क्षेत्र में प्रेरणा प्रदान करती है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे भी भगवान् की शक्ति स्वरूप माया के यही दो रूप बताए गए है :—

१· नाथ सम्प्रदाय—पृष्ठ ६६-६७

२· माया के दुइ रूप हैं, सत्य मिथ्या ससार।
माया है दुइ भाँति की, देखी ठोक बजाय।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय॥

विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिता ।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्व चाप्यनीशता ॥[१]

—वल्लभाचार्य तत्वदीय निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ६६-१००

तथा,

माया च द्विधाभ्रम जनयति, विद्यमान न प्रकाशयति अविद्यमानच प्रकाशयति देश कालव्यत्यासेन । प्रमाणभूतो वेदः सर्वखल्विद ब्रह्मैवेत्याह ब्रह्मविदा प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रीतिस्तु नार्थनियमकत्वमन्यथा भ्रमदृष्टि ग्रहीत भ्रमःस्यात् । अतो ऽन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः माययापुरःस्थिते विषये समानीयते विषयता मायाजन्या विषयो भगवान् अतो विषयताजन्य ज्ञान भ्रात विषयजनित प्रमात ॥[२]

—सुबोधिनी, भागवत २, ६, ३३

सतो ने भी माया के इन्ही दो रूपो का उल्लेख किया है । उन्होंने अविद्या माया की दिल खोल कर निन्दा और आलोचना की है, परन्तु साथ ही विद्या माया की वन्दना और स्तवन भी की है । कबीर के अनुसार :—

माया के दुइ रूप है, सत्य मिथ्या ससार ।
× × ×
माया है दुइ भाति की, देखी ठोकि बजाय ।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय ॥

दादू के अनुसार :—

माया दासी सत की, साकत की सिरताज ।
साकत सतों भाडणी, सतौ सेती लाज ॥[3]
× × ×
माया तेरी सत की, दासी उस दरबार ।
ठकुरानी सब जगत की, तिन्यू लोक मझार ॥[४]

रज्जब साहब उसे शत्रु और मित्र दोनो ही मानते हैं :—

रज्जब माया मन समि, बैरा मीत न कोइ ।
कुकृत उपजै इन्दु सौ, इनसौ सुकृत होइ ॥

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४५५
२. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४५६
३. दादूदयाल की वानी—भाग १, पृष्ठ १२५।६८
४. दादूदयाल की वानी—भाग १, पृष्ठ १२५।६७

इसी प्रकार चरनदास ने माया के परम्परागत दोनों रूपों के प्रति सविस्तार 'माया अग वर्णन' प्रकरण मे अपने विचार प्रकट किये हैं। इस प्रसग में कवि की निम्नलिखित दो पक्तियाँ यहाँ पर उद्धृत करना असगत न होगा :—

माया की अस्तुति करू, होय रही समार।
अद्भुत लीला कर रही, शोभा अगम अपार॥
—भ० प० वर्णन।

माया की स्थिति स्वप्न या छाया-सी है। वह पूर्णतया विनाशशील है। वह भ्रमो की उत्पादिका है। असत्य का मान कराने वाली है। वह क्षणिक है। चरनदास के शब्दो मे इस माया की स्थिति रैन के स्वप्न-दर्पण मे आभासित प्रतिविम्ब तथा तरुवरो की छाया के समान है। इसकी स्थिति स्थायित्व नहीं है। कवि के शब्दो मे :—

जैसे सुपना रैन का, मुख दर्पण के माहिं।
भासै है पर है नहीं, ज्यों तरवर की छाहि॥
—भक्तिपदार्थ, वर्णन

कवि की प्रस्तुत विचारधारा का कबीर की निम्नलिखित साखी से भी समर्थन होता है। कबीर ने भी माया को छाया का पर्यायवाची माना है :—

माया छाया एक सी, बिरला जानै कोय।
भगता के पाछे फिरै, सनमुख भागै सोय॥
—स० वा० स०, भाग १, पृ० ५७

सत कवि दादू की निम्नलिखित साखियों मे चरनदास के 'सुपना रैन का', 'मुख दर्पण के माहि' तथा 'भासै है पर है नहीं' भाव बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त किया गया है :—

साहिब है पर हम नहीं, सब जग आवै जाइ।
दादू सुपिना देखिये, जागत गया बिलाइ॥
माया का सुख पच दिन, गर्व्यौ कहाँ गँवार।
सुपिनै पायो राज धन, जान न लागै बार॥
—स० वा० स०, भाग १, ६७

रात्रि के स्वप्न अथवा वृक्षों की छाया के समान स्थिति वाली माया अव्यक्तता के कारण ही तो वह सर्वव्यापक है। सांख्य दर्शन तथा वेदात मे भी प्रकृति या माया को अव्यक्त निर्धारित किया गया है। अव्यक्त रूप मे ही वह ससार की प्रत्येक

वस्तु मे चाहे वह जड़ हो वा चेतन, वर्तमान रहकर उन्हें विनाशशील और अस्थायित्व प्रदान करती है। चरनदास के शब्दो मे :—

माया सकल पसार है, नाना रग बहु क्रान्ति।
जहँ लग यह आकार ही, चचल मिथ्या भ्रान्ति ॥

—भक्ति पदार्थ, वर्णन

माया की व्यापकता एव अव्यक्त स्थिति का जो वर्णन चरनदास ने सूत्र रूप मे, दो पक्तियों मे कर दिया है उसकी अभिव्यक्ति कबीर ने सविस्तार निम्नलिखित पक्तियो मे किया है :—

जल महि मीन माया के बेधे, दीपक पतग माया के छेदे।
काम माया कुजर को व्यापे, भुअंगम मृग माया महि खापे।
माया ऐसी मोहनी भाई, जेते जीय तेते डहकाई।
पाखी मृग माया महि राते, साकर माखी अधिक सतापे।
तुरे अष्ट माया महि मेला, सिध चौरासी माया महि खेला।
छिय जती माया के बन्दा, नवे नाथ सूरज और चन्दा।
तपे रखीसर माया महि सूता, माया महि काल और पच दूता।
स्वान स्याल माया महि राया, बानर चीते अरु सिघाता।
माजार गाडर अरु लुबरा, विरख भूल माया महि परा।
माया अन्तर मीने देव, सागर इन्द्रा अरु धरतेव ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३३

दादू भी उसे सर्वत्र व्याप्त पाते हैं :—

घट माहैं माया घरणी, बाहरि त्यागी होइ।
फाटी कथा पहरि करि, चिहन करै सब कोइ ॥

—दादूदयाल की वानी, भाग १, पृ० १२३।७४

तथा,

माया सब गहले किये, चौरासी लख जीव।
ताका चेरी क्या करै, जे रग राते पीव। —वही १२५।१०१

माया प्रकृति से व्यभिचारिणी है। अपने प्रपची रूप मे वह सभी को फँसाने का प्रयत्न करती रहती है। सांसारिक उसके इन्द्रजाल मे बँध कर जीवन के उच्च लक्ष्य और साधना के सत् पथ से विचलित हो जाते हैं। भेदभाव एव निजत्व-परत्व की भावना का सर्जन करके वह अज्ञानरूपी अंधकार का प्रसार करती

है । माया की व्यापकता और क्षेत्र बड़ा विस्तृत है । वह ससार की प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान है । गोस्वामी जी के शब्दों मे :—

गो गोचर जह लगि मन जाई ।
सो सब माया जानहु भाई ॥

इस दृष्टि से कबीर की विचारधारा गोस्वामी जी से बहुत साम्य रखती है । कबीर की दृष्टि मे माया से शून्य जल, थल, आकाश आदि कुछ भी नही है । कबीर से साम्य रखते हुए विचार चरनदास के हैं । कवि के शब्दों मे :—

सन्तो माया जार बहुत डहकाई ।
आगे पीछे दहिने बांये तल ऊपर अधियारी।
यहाँ वहाँ सर्वत्र विराजी सबही की मति भरमारी ॥
स्वप्न को भूप द्रव्य सपने को अरु जगल को दार ।
गणिका शील नाच भूतन को नारि सों व्याहत नार ॥
ऐसहि भूठ जगत सच नाहीं भेद विचारो पायौ ।
माया जार जगत मा सबही बहुतै अधिक छकायौ ॥

× × ×

समझै नहिं माया का मतवार ।
भूलि रहो धन धाम कुटुम्ब मे हरि गुरु दियो विसार ॥
पाप दुकान लीपि औगुण सो पूजी रची विकार ।
काम के दाम क्रोध थैली धरि बैठा हाट पसार ॥
छल काटे बिच कपट रूपइया निरख तौल निर्धार ।
कर्म ढेर कौडिन कौ करिकै गिनि गिनि धरत सुधार ॥
कह लाया कह लै निकसैगा अपने जीव विचार ।
कोइ ८म अचरज देखि तमाशा छण इक राम सभार ॥
नर देही है लाल अमोलक ताकी लखी न सार ।
अन्त समय ज्यो हारो ज्वारी दोऊ कर चालै भार ॥
यह जग स्वप्ना जान बावरे आखिर यम सो रार ।
भुगतै कष्ट महादुख पावै सो जीवन धिरकार ॥

मन ही समस्त सकल्प-विकल्प, आशा-निराशा एव महत्वाकाक्षाओं आदि का आधार है । मन ही समस्त भ्रम तथा मायादि का मूल कारण है । मन के विनाश से सृष्टि विलीन हो जाती है । विभिन्न शास्त्रों और योग दर्शनों मे मन के लय की विविध रीतियो का उल्लेख किया गया है । मन इन्द्रियो के अनुकूल होते

ही विविध आकार-प्रकार, रूप-स्वरूप और आकृतिया धारण करता रहा है। इसकी गति बड़ी विचित्र है। यह काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि विकारो से सयुक्त और ओतप्रोत है :—

मन इन्द्रिन के वश भयो, होय रह्यो बेढग।
आपा विसरो जग रलो, हुवो जो नाना रग ॥
आवै तरग क्रोध की, होत जुवा के रूप।
काम लहर कबहू उठै, ताके होत स्वरूप ॥
लोभ कामना जब उठै, जभी लोभ रग होय।
मोह कलपना के उठै, मोह वरण से सोय ॥
मन ही खेलै खेल सब, मन ही कर अभिमान।
मन ही जग-जग है रहो, अब सुनि मन का ज्ञान ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

प्रस्तुत उद्धरण की अन्तिम दो पक्तियॉ विशेष रूप से विचारणीय है। ये दोनो ही पक्तियॉ कवि के मन विषयक विचारा का सार अश है। विचारो को बड़ी सफलता के साथ प्रकट कर देता है। मन माया का विशेष सहायक है। माया के प्रपन्चों और वाह्य रूप को देखकर मन अत्यधिक लुब्ध होता है। लोभ, मोह आदि रोगो से वह सदैव ग्रस्त रहता है। त्रिविध तापो से वह सदैव सन्तप्त रहता है। मन ही के आधार पर ससार के विभिन्न प्रतिमान, और मानदड निर्धारित होते है। असुदर वस्तु मे सौन्दर्य का आरोप, निःसार वस्तु मे सार की प्रतिष्ठा, जीवन को क्षण भगुर जानते हुए भी उसे गहरी नीव देने का प्रयत्न करना, सृष्टि का कुल मर्यादादि की दृष्टि से विभाजन, यह सभी कुछ तो माया और मन के कर्तव्य हैं। कवि के शब्दों में :—

बहुरूपी बहुरगिया, बहुतरंग बहु चाव।
बहुत भॉति ससार मे, करि करि धने उपाव ॥

कबहू यह मन होवै गिरही। कबहू यह मन होवै विरही ॥
कबहू यह मन होवै रोगी। कबहू यह मन होवै शोगी ॥
कबहू यह मन होवै नारी। कबहू यह मन राखै ख्वारी ॥
कबहू यह मन कुल का ऊपा। कबहू यह मन नकटा बूपा ॥
कबहू यह मन दुन्द मचावै। कबहू क्षमा शील घर आवै ॥
यह मन राजा होवै भोगी। यह मन त्यागी होवै योगी ॥
यह मन होवै हरि का भक्ता। यह मन होवै योगरु युक्ता ॥
या मन कू कीजै वैरागी। याकू कीजै सर्वस त्यागी ॥

मानव के शरीर की एक मात्र सचालक शक्ति है, मन । शरीरस्थ समस्त इन्द्रियॉ और अग मन का ही अनुमान करती है । इतना ही नहीं वे मन के ही अनुकूल स्वरूप भी धारण कर लेती हैं । इसीलिए सन्तों एव विचारकों ने इसे वासना रहित और निर्मूल कर देने का उपदेश बारम्बार दिया है । इन्द्रिय और मन के ससर्ग तथा एकमत होने पर मानव जीवन मे मृग मरीचिकाओं का विकाश होता है । सत चरन दास ने इन्द्रियों को मन से पृथक रखने तथा उन्हें सयमशील बनाने पर बड़ा जोर दिया है । इस दृष्टिकोण से कवि की निम्नलिखित पक्तिया पठनीय होंगी—

जगत वासना के तजे, माया की न बसाय ।
कर्म्म छुटै मिटै जीवता, मुक्त रूप हो जाय ॥
फसे न इन्द्री स्वाद मे, चरणकमल मे ध्यान ।
पर आशा कोइ ना रहै, लगै न माया बान ॥
इन्द्रिन के वश मन रहै, मन के वश रहै बुद्ध ।
कहो ध्यान कैसे लगै, ऐसा जहा विरुद्ध ॥
जित इन्द्री मन हू गया, रही कहा सू बुद्धि ।
चरनदास यों कहत है, करि देखो तुम शुद्धि ॥
इन्द्री मन मिल होत है विषय वासना चाह ।
उपजै जैसे कामही, नारी मिल अरु नाह ॥
चलौ करै थिर ना रहै कोटि यतन करि राख ।
यह जबही वश होयगा, इन्द्रिन के रस नाख ॥
न्यारे न्यारे चहत हैं, अपने अपने स्वाद ।
इन पाचौ मे प्रीति है, कछू न वाद विवाद ॥

इसीलिए मन और इन्द्रियों को पृथक-पृथक रखने की बड़ी आवश्यकता है । कवि के शब्दो मे :—

जित जित इन्द्री जात है, तित मनकू ले जात ।
बुधि भी सगहि जात है, यह निश्चय कर बात ॥

अतएव,

न्यारे न्यारे तत रहे, होता न कछू उपाध ।
जुदे राख मन इन्द्रियन, गुरु गम साधन साध ॥
इन्द्री सू मन जुदा करि, सुरत निरत करि शोध ।
उपजै न विष वासना, चरनदास को बोध ॥

—भक्ति पदार्थ वर्णन

मनुष्य की इन्द्रियों मे आंख, कान, जिह्वा आदि ससार के विविध प्रपचो मे विशेषतया सलग्न रहते हैं। ये सभी माया की श्री वृद्धि और प्रसार मे विशेष सहायक रहते हैं। आख, वाह्य प्रपचो को हृदयगम करने, कान, पर निन्दा और विवाद सुनने और जिह्वा, विविध स्वादो के आस्वादन करने मे सलग्न रहते है। ये तीनों ही विभिन्न प्रकार से मानव का सत्पथ मे विचलित करके माया मे सलग्न कर देती है। इन तीनों के प्रति कवि के विचारों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण विषय को अधिक स्पष्टता प्रदान करेगा। यहा पर इन तीनों विषयों से सबधित कवि के मत को अविकल उद्धृत कर देना असगत न होगा। माया के सहायक के रूप मे नेत्र इन्द्रिय का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दो मे किया है :—

यह इन्द्री ऑख विचारो। सो देत महादुख भारो ॥
वह राग द्वेष उपजावे। अरु हरष शोक लै आवै ॥
सो रूप माहि फस जावै। तन मन मे व्याधि उठावै ॥
वह देह और के हाथा। करि डारै बहुत अनाथा ॥
वह फदे माहीं -डारै। अरु काम अगिनि मे जारै ॥
कोइ साधु शूरमा मोडै। जग सेती नैना तोडै ॥
दीपक त्रिया निहारि करि, गिरै पतग ज्यो जाय।
कछू हाथ आवै नही, उलटी आप जराय ॥
उन तन मन सभी जराया। कछु भोदू हाथ न आया ॥
अरु विषय वासना फैला। जब छूता राम का गैला ॥
तौ मुक्ति कहा सो होई। दिया जन्म अकारथ खोई ॥
वह माया मोह लगावे। अरु चौरासी भरमावे ॥
ऐसी इन्द्री आख की, सा अपनी नहि होय।
गुरु शुकदेव बतावई, चरणदास सुन लोय ॥

—भक्ति पदार्थ वर्णन

कर्णेन्द्रिय माया के प्रपच का प्रसार किस प्रकार करती है यह वर्णन कवि ने निम्नलिखित पक्तियो मे किया है :—

जब सुनै काम रस रीता। तब भूलै पढ सुन गीता ॥
मन उपजै काम तरगा। जब होत ध्यान में भगा ॥
फिर लोभ वचन सुन औरै। जब तृष्णा चहुदिशि दौरै ॥
कहिं द्रव्य हाथ लगि जावै। यो शोचि शोचि दुख पावै ॥
कहै ठग चोरी कर लाऊ। कहिं गड़ा दबाहो पाऊं ॥
काहू सुनै जु दौलत बधा। मनही मन रोवै अधा ॥

फिर सुनै बडाई कुल की । जब पुलक हसत है मुलकी ॥
जो अपनी सुन बडाई । जब अहु होत अकडाई ॥
परनिन्दा बहुत सुहावै । नहि और बड़ाई भावै ॥
कभी सुनै मोह के बैना । लगै हर्ष शोक दुख दैना ॥
जो हिरन कान वश हुवा । तौ तीर लाग करि मुवा ॥
शुकदेव कहैं यह जानौ । सब कान विकार पिछानौ ॥

जिह्वा भी नेत्र और कर्णेन्द्रियों के समान ही माया की सहायिका है । कवि के शब्दों मे :—

जिह्वा के जीते बिना, गये जन्म सब हार ।
चरणदास यो कहत है, भये जगत मे ख्वार ॥
बशी डारी ताल मे, मछरी लागी आय ।
जिह्वा कारण जिय दियो, तलफि-तलफि मरि जाय ॥
तजा न जिह्वा स्वाद कू, वा सग दीन्हे प्रान ।
जो कोइ ऐसा जगत में, सो अज्ञानी जान ॥
यासू ले हरनाम ही, गुणवाद ही भाख ।
जो बोलै तौ साच ही, नाही मुख मे राख ॥

अब त्वचा का रूप देखिये :—

त्वचा स्वाद सब वश भये, फसे जगत के माहि ।
जो कोई निकसो चहै, सो भी निकसै नाहिं ॥
धोखे की हथिनी लखी, आयो गज ललचाय ।
खदक माहीं रुकि गयो, शीश धुनै पछिताय ॥
कछू हाथ आयो नही, परो फन्द में जाय ।
मैन महावत वश भयो, शिर मे अकुश खाय ॥
ऐसे ही यह नर फसो, देखि कामिनी रूप ।
जन्म गवायो दुख भरो, पड़ो अविद्या कूप ॥

नासिका का सुगन्धि लोभ भी माया के बन्धनों मे डालने मे सहायक होता है । कवि ने इसी भाव का निम्नलिखित पक्तियों मे वर्णन किया है :—

त्वचा अग पूरो कियो, कहूँ नासिका अंग ।
तावश अलि सुत जी दियो, जाको कहूँ प्रसग ॥
बास आस गुजत फिरो, बैठो कमल मझार ।
सूर छिपे से मुदि गयो, अब शिर दै दै मार ॥

कुञ्जर आयो तालयै, जल पीनन के काज।
प्यास बुझी करने लगो, खेल करिन को साज॥
खेल करत कमलहि गह्यो, लीन्ह्यो ताहि उपाडि।
फेरि दियो मुख माहि ही, चाबि गयो देजाडि॥
ऐसे ही ये नर फसे, परे काल मुख जाय।
चरणदास यों कहत हैं, चाले जन्म गवाय॥
जो इन्द्रिन के वश भयो, बाधा नरके जाय।
चौरासी भरमत फिरै, गर्भ योनि दुख पाय॥
जो इन्द्रिन के वश भयो, पावै ना आनन्द।
बार बार जग मांह ही, छूटै ना सम्बन्द॥
भक्ति माहि चित ना लगै, सबही बिगड़ै काम।
जो इन्द्रिन के वश भयो, ताको मिलै न राम॥

—भक्ति पदार्थ वर्णन—माया प्रकरण

उपर्युक्त पक्तियो मे नेत्र, कर्ण, जिह्वा, त्वचा तथा नासिका के रस-लोलुप एव भ्राति प्रसारक रूप तथा प्रभाव की अभिव्यक्ति की गई है। कवि ने इन सभी इन्द्रियों को माया का प्रसारक माना है।

विगत पृष्ठों में माया के विनाशकारी एव साधना में बाधक रूप का उल्लेख हो चुका है। सन्तों ने माया के इस रूप की बड़ी तीव्र निन्दा की है। कबीर, दादू, नानक, मलूक, चरनदास, सुन्दरदास, गरीबदास, सहजा, दरिया साहब आदि ने जी भर कर माया को कोसा है। इन सन्तों की चेतावनियों में माया के विषाक्त रूप की अभिव्यजना बड़े व्यापक रूप में हुई है। कवियों ने उसे भाति-भाति के सम्बोधनों से तुच्छ सिद्ध करने और अनादृत प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। सन्तों ने ठगिनी, पाविनी वेश्या, रूखड़ी, स्वप्न, मीठी मिश्रीजार, मृगजल, मगहर, ऊसर, सर्पिणी, नटिनी आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। कबीर ने माया को ठगिनी[1], पापिनी[2], वेश्या[3], और रूखड़ी[4] कहा है। दादू ने माया को

[1]. माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस।
जा ठग या ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस॥—स० वा० स० १।५७।६

[2]. कबीर माया पापिनी, ताही लागे लोग।
पूरी किनहुं न भोगिया, याका यही वियोग॥ —वही, १।५७।३

[3]. कबीर माया बेसवा, दोनों की इक जात।
आवत को आदर करै, जात न पूछै बात॥—वही १।५७।४

[4]. कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति दे, सचत नरक दुवार॥—वही १।५७।५

स्वप्न[1] तथा मीठी बोलणी[2] बताया है। मलूकदास ने इसे मिश्री की छुरी माना है।[3] जगजीवन साहब के अनुसार वह जार है।[4] दादू ने उसे मृगजल[5], मगहर[6], ऊसर[7], सापिन[8] तथा नटी[9] कहा है। चरनदास जी ने भी परम्परागत सम्बोधनों का माया के लिए प्रयोग किया है। उन्होने उसे कभी ठगिनी[10] कहा है और कभी उसे जार, पापिनी तथा वेश्या आदि सम्बोधनों से पुकारा है। विगत पृष्ठों मे कवि के उद्धरणों में इस प्रकार के अनेक शब्दों का उल्लेख हो चुका है।

---

1. संतवानी सग्रह, भाग १,६७।१ तथा दादूदयाल की बानी, पृष्ठ ११६।१०
2. सतवानी सग्रह, भाग १।६७।६
3. माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
   इन सारे रसबाद के, ब्रह्मादि ब्रह्म लड़ाय ॥ —वही १।१०३।१
4. कठिन अहै माया जार,
   जाको नहि बार बार ॥ —वही २।१४४।५
5. यहु सब माया मिर्ग जल, झूठा झिलिमिल होइ।
   दादू चिलका देखि करि, सति करि जाना सोइ ॥—दा० द० की वानी, ११६।७
6. माया मगहर खेत खर, सद गति कदे न होइ।
   जे बचै ते देवता, राम सरीखे होइ ॥—वही १२१।४८
7. कालरि खेत न नीपजै, जे बाहै सो बार।
   दादू हाना बीज का, क्या पचि मरै गंवार ॥—वही १२१।४६
8. वही, १२३।६६
9. वही १३२।१६६
10. माया ठगिनी ठगे सबही बेच गुरु शुकदेवा।—शब्द-सग्रह

षष्ठम अध्याय

चरनदासी सम्प्रदाय

प्रवर्तक एवं सम्प्रदाय—चरनदासी सम्प्रदाय के सस्थापक वा प्रवर्तक सत कवि श्री चरनदास जी थे। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थितियो के फलस्वरूप देश, समाज एव काल की आवश्यकता को दृष्टि मे रखकर चरनदास ने प्रस्तुत सप्रदाय को जन्म दिया। सत कबीर के सम्प्रदाय के अनन्तर जिन नानक पथ, दादू पथ, प्राणनाथी सम्प्रदाय, मलूकदासी सम्प्रदाय, जगजीवनदासी सम्प्रदाय, पलटूदासी सम्प्रदाय, धरनीदासी सम्प्रदाय, तथा दरिया पथी आदि के सम्प्रदायो को महत्वशाली निर्धारित किया गया है, उनमे चरनदासी सम्प्रदाय एक है। निर्गुण सन्तो के जो सम्प्रदाय भारतवर्ष मे आज भी जीवित हैं, उनमें चरनदासी सम्प्रदाय का अपना प्रमुख स्थान है। यह बात सत्य है कि दादू एव नानक के सम्प्रदायो के समान यह बहुत व्यापक और विस्तृत सम्प्रदाय नहीं है, परन्तु फिर भी दरियादासी, पलटूदासी, धरनीदासी, मलूकदासी तथा प्राणनाथी सम्प्रदायों की तुलना मे यह आज भी अधिक सजीव और महत्वशाली है। इस देश के उत्तराखड के प्रायः प्रत्येक बड़े नगर वा शहर मे आज भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं।

सम्प्रदाय स्थापना काल—चरनदासी सम्प्रदाय की जन्म तिथि अज्ञात है। इसके विषय में सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे न तो अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होती है न बहिस्साक्ष्य अथवा किंवदन्ती ही इस विषय पर कोई सहायता कर सकती है। प्रस्तुत सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त को भी इस विषय पर कोई ज्ञान नहीं है। चरनदास अथवा चरनदासी सम्प्रदाय पर छानबीन या खोज करने वाले लेखकों ने भी इसके विषय में अपना कोई मत नहीं प्रकाशित किया है। चरनदास के विषय में अंग्रेजी लेखकों मे सर्वश्री क्षिति मोहन सेन, एच० एच० विल्सन, फर्कुहर, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, जेम्स हेस्टिंग्ज, डब्ल्यू० क्रुक्स, पी० डब्ल्यू० पावेल, जी० ए० ग्रियर्सन तथा ई० डी० मैक्लायन एव हिन्दी लेखकों मे सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, रामकुमार वर्मा, मिश्रबन्धु, हरिऔध, भुवनेश्वर, माधव, परशुराम चतुर्वेदी, गणेश प्रसाद द्विवेदी, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा शिवशकर मिश्र प्रभृति भी चरनदासी

सम्प्रदाय की जन्मतिथि के विषय मे नितात मौन हैं। चरनदास जी तथा उनके आदर्शों पर प्रकाश डालने वाला सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' भी आलोच्य विषय पर कोई सहायता करने में समर्थ नहीं है परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि प्रस्तुत सम्प्रदाय का जन्म चरनदास के जीवन-काल मे ही हुआ था। श्रीराम रूप जी ने अपने ग्रन्थ 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' मे सत चरनदास द्वारा शिष्य बनाये जाने का सर्वप्रथम उल्लेख निम्नलिखित शब्दो में किया है :—

अस्थल मे रहने लगे, वाही विध वही रीत।
आवे दर्शन करे जो, तिन सों राखें प्रीत ॥
एक सिद्ध दिल्ली मे आयो। वाने बहु अभिमान बढ़ायो ॥
बहुतक नर दर्शन को धावें। जाय चरण मे शीश नवावें ॥
माला तिलक न कठी राखे। मुख सों कभी गुरु न भाखे ॥
कोई पूछे कहाँ गुरु तुम्हारे। कौन सम्प्रदा कौन दुआरे ॥
कठी माला तिलक न राखो। सतगुरु का कभी नाम न भाखो ॥
जब सिद्ध वह ऐसे बोले। अपने मन का भेद जो खोले ॥
हमारा सतगुरु राम प्यारा। जाने यह सब जग विस्तारा ॥
जग मे सतगुरु करिहो वाको। कठी बाधे ज्यो मै भाखो ॥
कुवें पर चादर जु बिछाऊँ। ता ऊपर जा आसन लाऊँ ॥

हा जो आकर बैठकर, कठी बांधे मोर।
ताहि करूँ मै सतगुरु, गहूँ चरण कर जोर ॥

ऐसे ही कहे सबके आगे। जो टोके तेहि कहने लागे ॥
नगर माहि यह बात जु छाई। चली चली अस्थल मे आई ॥
जो कोई दर्शन को आवै। भक्ति राज ढिग बात चलावै ॥
महाराज बोले मुसकाई। वाके कठी बाधू जाई ॥
दूजे दिन गए वाके पासा। वासों कही कि पुरऊँ आसा ॥
बात तुम्हारी सुन मैं आया। देखो यह कठी भी लाया ॥
कुवें पर चादर बिछवावो। चारौ कोने ईंट धरावों ॥
वा पर बैठो हा मै आऊँ। कठी बाधू मन्त्र सुनाऊँ ॥

जो तुम पूरे वचन के, तो कठी बधवाय।
नौता याही नगर सू, वेग उठो भग जाव ॥

सिद्ध कही मै नाहिं डराऊँ। कुवें पर चादर बिछवाऊँ ॥
मे बैठू हा तुम भी आवो। कठी बाधों मन्त्र सुनावो ॥
भक्ति राजे जब यों ही कीनी। वांही सिद्ध को दीक्षा दीनी ॥

जो जो लोग तमाशे आये । अचरण देख बहुत हरषाये ॥
वाही सिद्ध को लेके साथा । अस्थल आये फुल्लत नाथा ॥
फिरवा सिद्ध को रुखसत कीना । टोपी सेली चोला दीना ॥
ऐसे सतगुरु पर उपकारी । खुशी रहें अस्थान मंझारी ॥
आनन्द लेना आनन्द देना । सब सों बोले मीठे बैना ॥
आवें दरशन करन को, रामरूप नर लोय ।
देखत दुख बिसरैं सबै, मन खुसी जु होय ॥

—गुरुभक्ति प्रकाश, पृष्ठ ७६-८१

प्रस्तुत उद्धरण में कश्चित् तथाकथित सिद्ध को दीक्षा देने का वृतांत वर्णित है । इस उद्धरण में विशेष ध्यान देने योग्य रेखांकित अंश है । इन पंक्तियों में टोपी, सेली और चोला प्रदान करके दीक्षित बनाने की प्रक्रिया वर्णित है । सम्प्रदाय में नये व्यक्ति को दीक्षित करने की यही प्रक्रिया आज भी प्रचलित है । 'गुरु भक्ति-प्रकाश' में दीक्षा प्रदान करने का यह सर्वप्रथम उल्लेख है । अतः यह निश्चित हो जाता है कि चरनदास ने अपने जीवन काल में ही शिष्य बनाने और दीक्षा देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था ।

अब सम्प्रदाय की जन्म-तिथि या सन्-संबत् पर ध्यान देना अपेक्षित है । 'गुरु भक्ति प्रकाश' में दीक्षा देने की प्रस्तुत प्रक्रिया के उल्लेख के पश्चात् तुरन्त ही रामरूप जी ने चरणदास द्वारा नादिरशाह के अभिमान की भविष्यवाणी का सविस्तार उल्लेख किया है । इस भविष्यवाणी का उल्लेख "नादिरशाह को परचा देना तथा मुहम्मद शाह का दर्शन को आना" शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है । कवि ने भविष्यवाणी की थी कि नादिरशाह अभियान करके देश में रक्तपात करेगा—

करनाल खेत में होय लड़ाई । मारे जांय बकसी दोऊ भाई ॥
और नवाब दोय मिल जावे । छिपे छिपे ही भेद लगावे ॥
हारे बादशाह पकड़ा जावे । जीते नादरशाह सुख पावे ॥
गहकरि नादरशाह ही, आवे दिल्ली माहिं ।
तहसील कतल ह्यां होयगी, क्यों ही छूटे नाहिं ॥
दसमी फागुन सुदी करे, दाखिल ह्वै है आय ।
आठैं सुदी वैशाख को, वतन आपने जाय ॥
दोय मास रहे शहर में, ज्यारा रहे न कोय ।
माल बहुत ले किले सों, कूंच देश को होय ॥
मुहम्मदशाह को मुलक दे, फिर करके बादशाह ।
नायब आपना थापके, जैहैं नादरशाह ॥

नादिरशाह के अभियान से सम्बन्धित इस भविष्यवाणी की सत्यता का समर्थन इतिहास-सम्मत है। नादिरशाह का आक्रमण मार्च (फाल्गुन मास) सन् १७३६ ई० में हुआ था। इस भविष्य के कुछ ही समय पूर्व कवि ने अपने सम्प्रदाय को जन्म दिया था, अतः यह निश्चित है कि चरणदासी सम्प्रदाय की स्थापना सन् १७३८ के अंत या सन् १७३६ के प्रारम्भिक महीनो मे हुई है। इस समय चरनदास की अवस्था लगभग ३५ वर्ष की थी और वे साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। कवि की जीवनी में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि शुकदेव जी ने सवत् १७७६ में चरनदास जी को दीक्षा दी थी। अतः यह भी सिद्ध हो जाता है कि लगभग १७ वर्ष की सतत और सच्ची साधना के अनन्तर चरनदास ने अपने आदर्शो को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए सम्प्रदाय की स्थापना की।

सम्प्रदाय की परम्परा—धर्म के क्षेत्र मे सम्प्रदाय कुलपरम्परा दो प्रकार की मान्य हुई है। १. बिन्दुकुल परम्परा, २ नाद कुल परम्परा। पिता का पुत्र से सम्बन्ध बिन्दु के द्वारा होता है अतः पुत्र बिन्दुपुत्र कहाता है और पुत्र बिन्दुकुल परम्परा में आता है। भक्ति उपदेश में सद्गुरु शिष्य को पुनर्जन्मप्रदान करता है। इसी कारण शिष्य नादपुत्र कहा जाता है। इस प्रकार शिष्य नादकुल परम्परा में आता है।

चरणदासी सम्प्रदाय की नादकुल परम्परा श्रीमन्नारायण से आरम्भ होती है। सम्प्रदाय में नादकुल परम्परा के विषय में निम्मलिखित श्लोक प्रचलित है'—

पुराणसहितामेता ऋषिनारायणो व्ययः।
नारदाय पुराप्राह कृष्णाद्वैपायनायसः॥
सर्वे मह्य महाराज भगवान् बादरायणः।
इमा भागवतीं प्रीतः सहिता वेदसम्मिताम्॥

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध, २ अध्याय

अर्थात् इस पुराण सहिता (श्रीमद्भागवत) का उपदेश अव्यय, अमर ऋषि नारायण ने प्राचीन काल में नारद को दिया। नारद ने कृष्ण द्वैपायन श्रीवेदव्यास से उसी उपदेश को कहा। वेदव्यास ने इस वेद-सम्मित वेदाश्रित श्रौति सहिता भागवत को मुझ (श्री शुकदेव) को सुनाया। इस प्रकार श्री चरनदासी-सम्प्रदाय के नादकुल वृक्ष की रूप-रेखा इस प्रकार होगी :—

श्री श्यामा चरणदास। श्री चरणदास

चरनदासी-सम्प्रदाय के इन नादकुल परम्परा का उल्लेख श्री रामरूप जी ने गुरु भक्ति-प्रकाश मे निम्नलिखित शब्दों मे किया :—

ऐसी माया सग ले, भयो पुरुष अभिराम।
ईश्वर नारायण वही, ताही को परणाम॥
जिनसों ब्रह्मा जू भये, उपजावन जगदीश।
पर दच्छिण तिनकी करू, चरणन राखू शीश॥
जिनके श्री वशिष्ठ मुनि, बोध रूप आनन्द।
तिनके श्री शक्ति तनय, नमो नमो सुख सिंध॥
पराशर तिनकी कला, तपसी अति निष्काम।
रामरूप जन करत है, बारम्बार प्रणाम॥
बेदव्यास तिनसो भये, सो ईश्वर अवतार।
तीन काड परगट किये, प्रणमों बारम्बार॥
जिनके श्री शुकदेव हैं, जानत सब ससार।
सो मेरे मन मे बसो, उनहीं को आधार॥
परिकर्मा हित सों करूँ, बहुत करूँ दडौत।
तीन लोक विचरत रहे, तिन बस कीन्ही मौत॥
जिनके चरणहि दास हैं, नाद पुत्र ही जान।
तिनकी सत्सगत किये, मिटे तिमिर अज्ञान॥—गुरुभक्ति-प्रकाश

सम्प्रदाय सस्थापन का लक्ष्य—प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद मे कवि के युग की सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक एव आर्थिक परिस्थितियों की विवेचना हो चुकी है। इस परिच्छेद मे कहा जा चुका है कि चरनदास का समय विषमताओ का युग था। चतुर्दिक् अशांति, वर्ण-वैषम्य, वर्ग-सघर्ष, वर्ग-भेद, राज्य लिप्सा, महत्वाकांक्षा, रक्तपात, विद्रोह, अविश्वास, धार्मिक अविश्वास के तीव्र वात्याचक्र, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, प्रतिकार, मानवता का आमूल प्रतिलोप नैतिकता का सम्पूर्ण विनाश इस युग का सक्षिप्त शब्दों मे साराश है। इन परिस्थितियो के मध्य चरनदास का जीवन-वृक्ष पनपा और बढ़ा। अतएव युग की परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार और देश की आवश्यकता के अनुकूल सत चरनदास ने अपने सम्प्रदाय को सस्थापित किया। इस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा लक्ष्य था संकीर्ण मानव समाज को वृहत्तर बनाना। जन-जन में व्याप्त भावभेद को मिटा कर उनमे समता की भावना का बीजारोपण चरनदास ने किया। मानव-मानव मे उच्च नीच का भेद भाव ब्रह्म द्वारा रचित नहीं है वरन् आर्थिक आधार पर निर्मित समाज का प्रसाद है—चरनदास की बानिया इसी भाव से ओतप्रोत हैं। भौतिकता मे अत्यधिक

सलग्न, महत्त्वाकाक्षा से अत्यधिक उत्पीड़ित, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा और प्रतिकार की ज्वाला मे दग्ध मानवता को उन्होंने प्रेम, त्याग, करुणा, मैत्री, विश्वबन्धुत्व की भावना का मधुर सदेश सुनाया और उनमे जीवन को निर्मल बनाये रखने की चाह जाग्रत की। चरनदास ने अपने नवीन सम्प्रदाय के द्वारा युग-युग मे चिर उपेक्षित अन्त्यज वर्ग मे भी स्वाभिमान की भावना जाग्रत की। चिरकाल से अन्त्यजों के हेतु बन्द मन्दिरों के द्वारा की गई अवहेलना से प्रेरित होकर चरनदासी सम्प्रदाय ने उन्हें निराकार ब्रह्म की उपासना का पाठ पढ़ाया। सामाजिक व्यवहार और पारमार्थिक साधना, उभय क्षेत्रों मे पूर्णरूपेण ऐक्य एव समानता का आदर्श समुपस्थित करके चरनदास ने अपने सम्प्रदाय को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया।

सम्प्रदाय की जनप्रियता—प्रस्तुत सम्प्रदाय अपने समय मे बड़ा जनप्रिय सम्प्रदाय रहा। प्रवर्तक के जीवन काल मे इसका बड़ा प्रचार रहा। चरनदास के सीधे सादे, सरल आदर्शों से भारतीय जनता बहुत प्रभावित रही। हिन्दू, मुसलमान, कुलीन, अन्त्यज, सज्जन, दुष्ट, बालक, वृद्ध, धनी, निर्धन सभी प्रकार के व्यक्ति युग-विचारक के सन्देश से प्रभावित हुए। चरनदास के कल्याणकारी सिद्धांतों के लिए मानव और प्रकृति-कृत सीमाए निस्सार हो गये और वे देश-विदेशो में मान्यता तथा श्रद्धा के विषय बने। आधुनिक महन्त श्री गुलाबदास का कथन है कि "चरनदास के जीवन काल में यह सम्प्रदाय ससार के चारो कोनो में पूज्य हुआ।" प्रस्तुत कथन मे से अत्युक्ति की मात्रा को छान कर यदि हम विचार करें तो यह असगत नहीं प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में यह सम्प्रदाय अपने समय मे सर्वाधिक जनप्रिय सम्प्रदाय था। चरनदास की जीवनी के सम्बन्ध मे सबसे अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ 'गुरुभक्ति-प्रकाश' का विचार भी इस दृष्टि से पठनीय होगा :—

एक दृष्टि सब ओर निहारे। सब सों प्यार करै इक सारे॥
राव रक दोऊ चल आवै। हित सो सब की ओर लखावै॥
हाथी और पालकी वारे। हिन्दू तुरक भीड़ हो भारे॥
जो कोइ दुष्ट कहै इन आगे। ताकी चित्त दै सुननै लागे॥
सब विधि वाकी करै सहायी। तन मन सों सबकै सुख दायी॥

'गुरु-भक्ति-प्रकाश' के अनुसार दिल्ली का तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह चरनदास का बड़ा भक्त था। द्वितीय परिच्छेद मे उल्लेख हो चुका है कि नादिरशाह भी चरनदास से बहुत प्रभावित था। रामरूप जी ने लिखा है कि "नादिरशाह ने चरनदास की बहुत विनती की और माफी के रूप मे बहुत-सी जागीर प्रदान की।[1]"

---

[1] हाथ जोड़ यौ कहने लागा। मै दुर्मति मे पगा अभागा॥
तुम्हरी महिमा कछू न जानी। मै मन मे कुछ औरे ठानी॥

गुरु-भक्ति प्रकाश मे अनेक अन्य स्थल हैं जिनमें कवि की सर्वप्रियता और उसके उपदेशों की जनप्रियता का रामरूप जी ने सविस्तार उल्लेख किया है। समद्रष्टा चरनदास के उपदेश उनके दिवंगत होने के सैकड़ों वर्ष पश्चात् आज भी जनता मे आदर के साथ गाए एव स्मरण किये जाते हैं।

चरनदासी-सम्प्रदाय के जनप्रियता का एक और भी कारण है। चरनदास ने भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक साहित्य की अकारण आलोचना वा निंदा न करके उसे अपने उपदेशा का अंग बनाया और इसीलिए अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यह अधिक जनप्रिय और व्यापक बन सका। डाक्टर पीताम्बर दत्त बडथ्वाल के शब्दों मे "यदि भागवत का भलीभाति अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि रहस्य-भावना से ओतप्रोत होने के कारण वह सत-साहित्य का सबसे महत्वशाली महाकाव्य है, जिसमें कथानक के बहाने प्रेम को प्रतीक बनाकर ज्ञान की शिक्षा दी गई है। चरनदासियों के लिए भागवत का नायक श्रीकृष्ण समस्त कारणों का कारण है। गीता के भावों को उन्होंने स्वच्छन्दता से अपनाया है और स्थान स्थान पर साहस के साथ उससे उद्धरण भी दिए हैं—साहस इसलिए कहते हैं कि निर्गुणी सतो ने प्राचीन ग्रन्थो से अकारण घृणा प्रदर्शित की है, परन्तु चरनदासियों मे प्रेमानुभूति की वह विशेषता भी है जिसके कारण हम उन्हें निर्गुण सत-सम्प्रदाय से अलग नही कर सकते।"[१] इसी कारण चरनदास देश के रूढिवादी, प्रगतिशील और प्राचीन ग्रन्थो के प्रेमी, सभी व्यक्तियो में समान रूप से जनप्रिय बन सके।

शिष्यो की सख्या—वर्तमान महन्त का कथन है कि चरनदास के जीवनकाल में शिष्यों की सख्या अगणित थी। इसका ब्यौरेवार उल्लेख चरनदास जी से सम्बन्धित किसी भी ग्रथ मे नही उपलब्ध होता है। चरनदास की मृत्यु (१७८२) के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् सन् १८६१ ई० के जनसख्या रिपोर्ट मे चरनदासियों की सख्या १६१ लिखित है। डब्ल्यू० क्रुक्स महोदय ने अपने ग्रन्थ 'ट्राइब्स एड

अब मैं जानो तुम दरवेश। तुमको दुनिया सा नहि लेश॥
तुम फक्कर हो खुदा रसीद। मेरे गुनाह करो बकसीस॥
मैं सब अजमावन को कीना। इतना दुख जो तुमको दीना॥
अब मै समझा विसुआ वीस। मेरे हक में करो असीस॥
तन कापे मन मे डर लागै। करो मिहर मेरा भय भागै॥

× × ×

वातन ही मे अरु कही बाता। नादरशाह जोड़ दोउ हाथा॥
गांव परगना अब कुछ लीजै। करो निजात यही खुशी कीजै॥

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सप्रदाय, पृष्ठ ८७

कास्ट्स ग्राफ एन० डब्ल्यू० प्रोविंसेस एंड अवध' में जन-संख्या रिपोर्ट की तालिका को उद्धृत किया है। अविकल रूप में वह यहां उल्लिखित है :—

जिला	संख्या	जिला	सं०	जिला	सं०
मुजफ्फरनगर	११	बिजनौर	२२	पटन	७
मेरठ	४७	मुरादाबाद	६	हमीरपुर	१०
बुलन्दशहर	२५	शाहजहांपुर	२	जालौन	१०
आगरा	७	कानपुर	४	तराई	२
					१६१

प्रस्तुत-तालिका जन-संख्या-गणना (सेंसेज रिपोर्ट) की अपूर्णता और अशुद्धि की सूचक है। अवध तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी जिलों में चरनदासियों की संख्या आज भी हजारों में है। इस सूची या तालिका में अनेक शहरों एवं नगरों का उल्लेख नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ लखनऊ, फैजाबाद, बनारस, उन्नाव, इटावा, दिल्ली, जयपुर आदि शहरों में चरनदासियों की संख्या का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार कवि के जन्म-स्थान अजमेर, डेहरा आदि का भी कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल लखनऊ में आज भी चरनदासियों की संख्या डेढ़-हजार से ऊपर है। अतएव १६१ की संख्या भ्रामक और अशुद्ध प्रतीत होती है। इस विषय पर कोई प्रामाणिक सूचना नहीं प्राप्त है। स्वयं सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त को इसका कोई ज्ञान नहीं है। अतएव हमें अपने सीमित साधनों और विवशताओं के कारण मौन ग्रहण कर लेना पड़ता है।

श्री रूपमाधुरीशरण के मतानुसार "श्री महाराज के लाखों जीव स्त्री-पुरुष शिष्य भये तिनमें ५२ तो बड़े ही सिद्ध और महाराज के परम कृपापात्र भये। जिनको श्री महाराज ने सब नामी शहरों मे पीला चोला टोपी बाना देके महन्त स्थापित करके किसी के साथ सौ संत किसी के साथ दो सौ संत देके भक्ति-प्रचार करने को भेजे। जैपुर मे भी आत्माराम जी तथा अखैराम जी इत्यादिक कई संत भेजे। जिनके-जिनके मंदिर बने हैं एक मोती कटले श्री विहारी जी का मंदिर है। दूसरा बारह गान गोर आतम कुंज का स्थान है। जीविका राज की तरफ से लग रही है।[1]" डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में "चरनदास के बहुत शिष्य थे जिनमे से बावन शिष्यों ने अलग-अलग स्थानो पर चरनदासी मत की शाखाएं स्थापित की जो आज भी वर्तमान है।[2]"

---

1. महन्त गंगा दास के पास सुरक्षित अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु महिमा' से।
2. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ८७

५२ शिष्यो ने विभिन्न ५२ स्थानो पर जिन गद्दियों की स्थापना की वे निम्नलिखित हैं :—

१ स्वामी रामरूप जी (गुरु भक्तानन्द जी), २ श्री राम सखी जी, ३. श्री सहजोबाई, ४. श्री हरि प्रसाद जी, ५. श्री गगा विष्णु दास, ६ श्री दास कुवर जी, ७. श्री हरिनारायण जी, ८ श्री आत्माराम जी, ६. श्री गुसाई जुक्तानन्दजी, १०. श्री गुरु झौना जी, ११ श्री नन्दराम जी, १२. श्री मुक्तानन्द जी, १३. श्री गुरुप्रसाद जी, १४. श्री हसमुखदास जी, १५. श्री गुरुमुख दास जी, १६. श्री हरिदेव दास, १७. श्री रामप्रताप जी, १८. श्री पूरन प्रचाप जी, १६. श्री भगवान दास जी, २० श्री त्यागी राम जो, २१. जै देवदास जी, २२. श्री श्यामशरन बड़भागी जी, २३. श्री निर्मल दास जी, २४. श्री दूसरे नन्दराम जी, २५ श्री डडोती राम जी, २६. श्रो घनश्याम दास जी तथा बालगुपाल जी, १७. श्री सुखविलास जी, २८ श्री जैराम दास जी, २६ श्री दाताराम जी, ३०. श्री जसराम उपगारी जी तथा वल्लभ दास जी, ३१. श्री दाऊ मब गतिराम जी, ३२. श्री सहजानन्द जी, ३३. श्री हरिविलास जी, ३४. श्री प्रेम गलतान जी, ३५. श्री परम स्नेही जी, ३६ श्री मुक्तानन्द जो, ३७ श्री स्वामी ठडी राम जी, ३८. श्री श्याम रूप जी, ३६. श्री दौलत राम जी, ४०. श्री नूयी बाई जी, ४१. श्री दया बाई जी, ४२ श्री जोगी विद्या जी, ४३. श्री राम मौला जी, ४४ श्री राम धडल्ला जी, ४५. श्री जीवन दास जी, ४६. श्री गुपालदास जी, ४७ श्री निरमलदास जी, ४८. श्री गुसाई नागरी दास जो, ४६ श्री चरनरज जी, ५०. श्री चरनधूर जी, ५१. श्री चरन खाक जी, ५२. श्री माधुराम जी ।

इन बावन शिष्यो को चरनदास ने दीक्षा देकर अपने सिद्धातो के प्रचारार्थ भिन्न-भिन्न दिशा मे भेजा । बाद मे इन्हीं बावन शिष्यों ने स्थान-स्थान पर चरनदासी-सम्प्रदाय की गद्दिया स्थापित की । परन्तु इसका कही पर उल्लेख रामरूप जी ने 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' नहीं किया है । इस स्थान पर यह लिखना असगत न होगा कि 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' मे चरनदास की व्यक्तिगत साधना, चमत्कारा और जीवनी पर अधिक जोर दिया गया है । इस प्रकार के वर्णनो का सर्वथा अभाव है ।

इन बावन प्रमुख शिष्यो के उल्लेख के अनन्तर श्री रूपमाधुरीशरण जी ने (अपने अप्रकाशित ग्रन्थ) 'गुरु-महिमा' मे इकत्तीस अन्य शिष्यो का उल्लेख किया है जो साधना मार्ग पर दृढता के साथ सलग्न रहने के कारण चरनदास जी को विशेष प्रिय थे । इनको सच्चाई और लगन ने उन्हें चरनदास के विशेष निकट ला दिया था । उक्त 'गुरु-महिमा' ग्रन्थ से इन प्रमुख शिष्यों के नाम उद्धृत कर देना असंगत न होगा । ये नाम निम्नलिखित हैं :—

१. श्री हरि सेवक जी, २. श्री राम हेत जी, ३ श्री दोऊ राम दास जी, ४. श्री रामकरन जी, ५. श्री सुखराम जी, ६. श्री आसानन्द जी, ७. श्री अमरदास जी, ८. श्री निगमदास जी, ६. श्री हरिसरूप जी, १०. श्री राम सनातन जी, ११. श्री लालदास जी, १२. श्री स्वामी परमानन्द दास जी, १३ श्री मधुवन दास जी, १४. श्री हरीदास जी, १५. श्री गुरु सेवक जी, १६ श्री मुरली मनोहर जी, १७. श्री मुरली विहारी जी, १८. श्री राम गलतान जी, १६. श्री प्रेमदास जी, २०. श्री जुगलदास जी ब्रह्मचारी, २१ श्री प्रेमधन जी, २२. श्री सेवक दास जी, २३. श्री नन्दलाल जी, २४. श्री निरजन दास जी, २५. श्री अतीत राम जी, २१ श्री हरिकृष्ण दास जी, २७. श्री सागर दास जी, २८. श्री भय्यादास जी, २६ श्री हरिदास जी, ३० श्री गिरधरदास जी, ३१. श्री ध्यानेश्वर जोगजीत जी ।

इन इकतीस शिष्यो मे से भी किसी का उल्लेख 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' मे नहीं हुआ है ।

चरनदास जी के इन ८३ विशेष प्रिय शिष्यो मे सभी हिन्दू हैं, कोई मुसलमान नही है । वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास जी का कथन है "कि इन ८३ मे से कई एक शिष्य अन्त्यज वर्ग के थे ।" वस्तुतः श्री सरस माधुरीशरण जी ने इस बात का कहीं पर उल्लेख गुरु-महिमा ग्रन्थ मे नहीं किया है । नामो से इस प्रकार का भेद कर लेना असम्भव होगा ।

ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास जी के शिष्यो का ब्यौरेवार उल्लेख या सख्या अज्ञात है । 'गुरु-महिमा' ग्रन्थ मे केवल इन्हीं तिरासी शिष्यों का वर्णन है । चरनदासी-सम्प्रदाय मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मुसलमान सभी दीक्षित हुए । वर्तमान महन्त गुलाबदास जी का कथन है कि महाराज के जीवन-काल मे सम्प्रदाय के शिष्यों मे अन्त्यजों की सख्या अधिक थी । आज भी अन्त्यजों मे अधिकतर कोरी और चमार चरनदासी-सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं । आज कुलीन शिष्यो की अपेक्षा अन्त्यज अनुयायियों की सख्या बहुत कम है । ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त्यजों में धार्मिक एव साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के सम्यक् प्रचार के अभाव में अन्त्यज शिष्यों की सख्या क्रमशः क्षीण होती जा रही है । वर्तमान काल मे चरनदासी-सम्प्रदाय का प्रसार वैश्य वर्ण के भार्गव कुल में अधिक उपलब्ध होता है । इसके अनन्तर ब्राह्मण वर्ण में भी चरनदासियों की सख्या पर्याप्त है । क्षत्रियों मे इनकी सख्या बडी हीन है । लखनऊ, बनारस, प्रयाग, दिल्ली, अलवर, अजमेर, उन्नाव तथा कानपुर चरनदासी अनुयायियो के केन्द्र हैं । चरनदासी गद्दियों के अध्यक्ष या महन्त भी अधिकतर भार्गव अथवा ब्राह्मण ही हैं । आज के चरनदासी अनुयायियों मे अधिकांश बड़े धनी मानी व्यक्ति हैं । इस प्रकार यह सम्प्रदाय वर्तमान-काल मे

अन्त्यजों अथवा दीन-हीन समाज का पोषक एव पथ-प्रदर्शक न रहकर उच्च कुल का आभूषण बन गया है। इस बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म केवल एक विडम्बना मात्र रह गया है। जब धर्म, शोषण मे सहायक साधन के रूप मे ग्रहण किया जा रहा है, इस समय चरनदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी अपने सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों को शनैः-शनैः विकृत कर डाला है और उस महान् आत्मा द्वारा प्रचारित सत्य, शिव, सुन्दर तथा निराकार ब्रह्म के उपदेशों को स्वेच्छानुसार अपने जीवन मे बर्तते हैं।

आज चरनदासी सम्प्रदाय ह्रासोन्मुख सम्प्रदाय है। सद् प्रचारको, विद्वान्-चिन्तकों, एव प्रतिभावान् श्रद्धालु व्यक्तिया के अभाव मे इसकी वही दशा हो रही है जो किसी भी सम्प्रदाय की हो सकती है। चरनदास ने जीवन पर्यन्त समता, एकता, सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार किया किन्तु आगे चलकर आज के जीवन मे ये समस्त सिद्धात पुस्तको के पृष्ठों तक ही सन्निहित रह गए हैं। आज चरनदासियो मे विषमता ने समता का स्थान ग्रहण कर लिया है और सत्य का सूर्य अस्त-गत है। आज चरनदासियो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भाव सर्व प्रचारित है।

सम्प्रदाय मे शिष्य बनाने की रीति—चरनदासी सम्प्रदाय में गुरु-दीक्षा के प्रति बहुत महत्व रखा गया है। इस सम्प्रदाय मे यह सामान्य विश्वास है कि जिसने गुरु से उपदेश नहीं लिया और अपने आप ही ज्ञानवान् बन बैठा है उसकी ऐसी दशा होती है, कि जैसे गगा पार करने के लिए गाय की पुच्छ त्याग कर बकरी की पूछ ग्रहण करता है।[1] जो दीक्षित नहीं है उसका धर्मादिक किया हुआ सभी कुछ निष्फल जाता है। दीक्षा से हीन मानव मृत्यु प्राप्त करने पर पशु योनि को प्राप्त करता है।[2] गुरु-दीक्षा लेने मे तिथि, वार, नक्षत्र, मास आदि का विचार नहीं करना चाहिए। जब भी सद्गुरु प्राप्त हो जाय तब ही कर लेना चाहिए।[3] महाकुलोत्पन्न समस्त यज्ञो मे रत गुरु-दीक्षा के अभाव में कभी भी सफल नहीं हो पाता है। कृष्ण सेवा परायण, दम्भादि रहित, श्रीभागवत के तत्व के ज्ञाता गुरु का जिज्ञासु शिष्य सदैव आदरपूर्वक सेवन करता रहे।[4]

---

१. गुरूपदेश रहितस्स्वीय प्रज्ञा समन्वितः।
धृताजपुच्छ सत्यक्त गोपुच्छ इव मज्जति॥ नारदपचरात्रे ४४

२. अदीक्षितस्यवामोरु कृत सर्वं निरर्थकम्।
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनोमृतोनरः॥ नारदपचरात्रे ४५

३. न तिथिर्नच नक्षत्र न मासादिविचारणा।
दीक्षायाः करण तत्र स्वेच्छाप्राप्ते च सद्गुरौ॥ नारदपचरात्रे ४८

४. कृष्णसेवा पर वीक्ष्य दभादिरहित नरम्।
श्रीभागवत-तत्वज्ञ भजेज्जिज्ञासुरादरात्॥ पद्मपुराण ४६

चरनदासी-सम्प्रदाय मे दीक्षोत्सव बड़े उत्साह और बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सवो मे इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार कुल वा वश मे बालक उत्पन्न होने पर सभी प्रसन्नतापूर्वक अवसर को समारोह के साथ मनाते हैं, उसी प्रकार चरनदासी सम्प्रदाय मे नव-दीक्षित व्यक्ति नवजात-बालक के समान सर्वप्रिय और समादरित होता है तथा सम्प्रदाय मे उसका आगमन विशेष प्रसन्नता का अवसर माना जाता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय में दीक्षार्थी को 'शरणागत' कहा गया है। शरणागत' षट्विद्या माना गया है। सम्प्रदाय के आचार्यों का कथन है कि "शरणागत अनुकूल सकल्प करके प्रतिकूल का परित्याग कर दे। वह गुरु का ही मन मे सकल्प करे। उसे गुरु की अभिरुचि, तथा इच्छा के प्रतिकूल समस्त वस्तु व्यक्ति और प्रवृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए। उसमे यह विश्वास होना चाहिए कि शरण मे जाने पर गुरु मनसा, वाचा, कर्मणा उसकी रक्षा अवश्यमेव करेगा—इसमे तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए। उसमें यह धारणा दृढ होनी चाहिए कि गुरु ही उसके सदृश पतित व्यक्ति के रक्षक और उद्धारक हैं। इस समस्त विचारधारा के साथ उसे गुरु के चरण कमलों मे अपना तन-मन-धन, सभी कुछ न्योछावर कर देना चाहिए। शरणागत के हृदय में कृत-पापों तथा कुकर्मों के प्रति ग्लानि की भावना होना भी आवश्यक है।[1]"

दीक्षोत्सव-कर्म का श्रीगणेश क्षौर-कर्म से होता है। दीक्षार्थी, शरणागत में समस्त षट् आवश्यक बातों को देखकर अपने मन को सन्तुष्ट कर लेने के अनन्तर दीक्षार्थी शिष्य का क्षौर कर्म होता है। क्षौर के पश्चात् दीक्षार्थी स्नान करके गुरु के पास जाता है। गुरु उसे पचगव्य देकर शुद्ध करता है। इसके अनन्तर गुरु, शिष्य के गले में तुलसी की कठी बाँधता है। तुलसी की कठी बध जाने पर दीक्षा-क्रिया आधी समाप्त मानी जाती है। इसीलिए तुलसी की कठी का बड़ा माहात्म्य माना गया है। चरनदासी-सम्प्रदाय में सामान्य विश्वास यह है कि "जो कठ मे तुलसी की माला धारण करते हैं, जिनके बाहुमूल मे शख और चक्र के चिह्न हैं, मस्तक पर तिलक वर्तमान है, वे ससार को पवित्र करने वाले होते हैं। तुलसी की माला को देखकर दूर ही से यमदूत भाग जाते हैं। ठीक उसी प्रकार यथा, पवन के प्रभाव से मेघ दूर हो जाते हैं। जो हेतुवादी पापबुद्धि तुलसी की माला नहीं धारण करते हैं वे श्रीहरि की

---

1. आनुकूलस्य सकल्पः प्रतिकूलस्य वर्ज्जनम्।
   रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरण तथा॥
   आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाशरणागतिः॥

कोपाग्नि से दग्ध होकर नरक से नहीं लौटते हैं। ब्राह्मण के लिए यथा सध्या है, गृहस्थो के लिए यथा पित्रीश्वरो का तर्पण आदि, यज्ञ मे यथा दक्षिणा है, उसी प्रकार वैष्णवो के लिए यथा तुलसी की कठी है। स्नान-काल मे जिसके अग मे तुलसी की माला धारण रहती है, उसने गगादिक सर्व तीर्थो मे स्नान कर लिया है, इसमे सन्देह नही है।[१]" कठी बाधने के अनन्तर गुरु शिष्य को मद्य, मास, कचन और कामिनी से दूर रहने, नित्य स्नान, मनसा शुद्ध रहने का उपदेश देता है। इसके अनन्तर दीक्षार्थी के सर पर स्वच्छ, श्वेतवस्त्र डाल कर गुरु-मत्र सुनाता है। गुरु का दीक्षा-मन्त्र, दो प्रकार का होता है। प्रथम है, विरक्त शिष्यो के लिए जो आश्रम का परित्याग कर देते हैं। द्वितीय दीक्षा-मन्त्र वह है जो गृहस्थ को सुनाया जाता है। दीक्षा-मन्त्र का बडा माहात्म्य माना गया है। चरनदासी-सम्प्रदाय के महन्त दीक्षा-मन्त्र का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए प्रायः कहा करते हैं कि "यथा महान् गुणो से सम्पन्न बड़ी शक्तिवाली दवा बिना जाने भी सेवन करने से अपना गुण अवश्य प्रकट करती है, उसी प्रकार मन्त्र भी बिना अर्थ जाने जप करने से भी अपना निश्चय प्रभाव प्रकट करता है।[२]"

मन्त्र सुना देने के पश्चात् गुरु केसर और चन्दन का श्री-तिलक दीक्षार्थी के मस्तक पर लगा कर दीक्षा-क्रिया समाप्त करता है। इस श्री-तिलक का बड़ा माहात्म्य माना गया है। इसके अनन्तर दीक्षित शिष्य को पीले वस्त्र, पीली टोपी और पीला चोगा पहनाकर दीक्षोत्सव समाप्त किया जाता है। समारोह के अत में

---

१. ये कठलग्नतुलसी नलिनाक्षमाला ये बाहुमूलपरिचिह्नित शखचक्रा।
ये वा ललाटपटलेलसदूर्ध्वपुड्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥
तुलसी काष्टसभूता प्रेतरास्ये दूतकाः।
दृष्ट्वा नश्यति दूरेण वातोद्भूतो यथा घनः॥
धारयन्ति न ये माला हेतुकाः पापबुद्धयः।
नरकान्न निवर्तन्ते दग्धाः कोपाग्निनाहरेः॥
कठे शिरसि बाहुभ्या कर्णयोः करयोस्तथा।
बिभृयात्तुलसीं यस्तु सज्ञयोः विष्णुनासम॥
ब्राह्मणाना यथा सध्या गृहिणा पितृतर्पणम्।
अदक्षिणो यथा यज्ञो मालाहीनातु वैष्णवा॥
स्नानकालेषु यस्याङ्के दृष्यते तुलसीशुभे।
गगादिसर्वतीर्थेषु स्नातो सः न सशय.॥

२. यथा गदवीर्यतमुपयुक्त यदृच्छया।
अजानतोप्यात्मगुण कुर्यान्मत्रोप्युदाहृतः॥

शिष्य गुरु के चरणों में मस्तक रख कर उसकी कृपा और दया के हेतु आत्मसमर्पण करता है। गुरु उसे धर्म और सन्मार्ग पर सलग्न रहने का उन्मुक्त कंठ से आशीर्वाद देता है।

इसके अनन्तर शिष्य अपनी परिस्थिति के अनुसार दीन-हीनों के सहायतार्थ तथा सम्प्रदाय के प्रचारार्थ श्रद्धापूर्वक कुछ द्रव्य समर्पित करता है। इसी अवसर पर अर्धरात्रि तक कीर्तन तथा जागरण होता है और अत में चरनदास की जय-ध्वनि के साथ उत्सव समाप्त होता है।

सम्प्रदाय का वार्षिकोत्सव—चरनदासी-सम्प्रदाय की गद्दियों पर वर्ष भर मे एक बार एक महान् उत्सव होता है। इस उत्सव को वार्षिकोत्सव कहा जाता है। यह वार्षिकोत्सव प्रत्येक वर्ष बसन्तपचमी के दिन होता है जो चरनदास की जन्मतिथि है। इस दिन प्रत्येक गद्दी केले के पत्तों, पुष्पों, अगर-धूप तथा इत्रादि से खूब सुवासित किया जाता है। प्रातःकाल से ही कीर्तन होने लगता है और भजन मडलियाँ चरनदास के भजनों का गान करती हुई नगर भर का परिक्रमा करती-फिरती हैं।

प्रायः ग्यारह बजे दिन से हवन-यज्ञ प्रारम्भ होता है। इस हवन-यज्ञ में उच्चारित मत्रादि वेदोक्त होते हैं। इस हवन-यज्ञ के पश्चात् फिर गद्दी की आरती होती है। गद्दी पर प्रायः प्रत्येक स्थान मे चरनदास जी का चित्र रखा रहता है। इस चित्र पर पुष्प, चन्दनादि समर्पित करके पकवानादि का भोग लगाया जाता है।

सायकाल भडारा और कड़ाह प्रसाद होता है। भडारा के पूर्व चरनदास जी के जीवन-चरित्र, चमत्कारों तथा सिद्धातों पर महन्तों के प्रवचन और भाषण होते हैं। तदनन्तर प्रसाद वितरण होता है। रात्रि में तीन-चार-सौ व्यक्तियों का भडारा होता है। इस अवसर पर पहले सभी जातियों के शिष्य साथ ही बैठ कर भोजन करते थे। कोई जाति-भेद नहीं माना जाता था, परन्तु अब यह स्थिति नहीं रही। आज प्रत्येक वर्ण पृथक्-पृथक् प्रसाद पाते हैं।

वार्षिकोत्सव में व्यय होने के लिए केन्द्रीय गद्दी (दिल्ली) से प्रत्येक गद्दी को आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। परन्तु अब जमींदारी-उन्मूलन के अनन्तर स्थिति विकृत हो गई है। जागीरों से धन न प्राप्त होने के कारण सम्प्रदाय के प्रचार-कार्य और वार्षिकोत्सव को बहुत बड़ी क्षति पहुँचने की आशका है। प्रायः इन उत्सवो के आयोजन के लिए शिष्यों से भी धन प्राप्त हो जाता है। परन्तु इसके लिए कोई प्रतिबध और दबाव नहीं डाला जाता है। श्रद्धा की वस्तु मे नियत्रण कहाँ सफलीभूत हो सकता है ?

सम्प्रदाय के निषेधात्मक नियम—सम्प्रदाय मे प्रत्येक शिष्य को कुछ विशेष नियमो का पालन करना अनिवार्य रहता है। इन नियमों के दो प्रकार हैं। प्रथम निरोधात्मक नियम हैं। प्रत्येक शिष्य को दश कर्मों का परित्याग करना चाहिए, ये दश कर्म लेखक को वर्तमान महन्त से छन्दबद्ध रूप मे प्राप्त हुए। उन्हे यहाँ अविकल रूप से उद्धृत कर देना रोचक होगा :—

तीन कर्म तन के कहे, समझो सन्त सुजान।
चोरी जारी जीवकी, हिंसा की तजवान॥
मन के कर्म सो तीन है, तिनको त्यागै जान।
खोटी चितवन बैरही, अरु कहियत अभिमान॥
मिथ्या बोलन दुरबचन, हरिचरचा बिन आज।
परनिन्दा नहि कीजिए, बचन कर्म पहचान॥

दुर्व्यसन परित्याग के सम्बन्ध में :—

भग तमाखू अरु अमल, सुल्फा चर्स प्रमाद।
इनको पीवे अधम नर, जन्म गुमावे बाद॥
लहसन गाजर प्याज पुनि, कहियत दाल मसूर।
ये अभक्ष्य वस्तू कही, इनसों रहिये दूर॥
काम क्रोध अरु मोह मद, लोभ दीजिए त्याग।
शुभ लच्छन धारन करै, भक्ति ज्ञान वैराग॥

चरनदास जी के इन उपदेशों को सुन्दर शब्दों में छन्द-बद्ध करने वाला कौन कवि हैं, यह तो नहीं ज्ञात है; पर परम्परा से ये दोहा उपदेश के रूप मे सहस्रों बार शिष्यों को सुनाये जाते हैं। इसी प्रकार सम्प्रदाय में कतिपय नियम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक शिष्य के लिए अनिवार्य है। इन नियमों को भी यहाँ अविकल रूप से उद्धृत किया जा रहा है :—

श्रीगुरु पद बन्दन करे, उठत प्रात ही काल।
आचारज निज सम्प्रदा, श्री शुकमुनी दयाल॥
पुनि बदन कर प्रेमयुत, चरनदास हित भान।
रस आचारज संप्रदा, जिनको करिये ध्यान॥
श्री गुरु भक्तानन्द जी, स्वामी रामहि रूप।
प्रन में तिनके पद कमल, आनन्दमई अनूप॥
परम्परा से आदिले, आश्रित गुरु परियत।
प्रथक प्रथक बहु भांति सों, वन्दन को अनन्त॥

आचारज भूतल विषे, कुंज सहचरी रूप।
लखे रूप की एकता, भावहि माँहि अनूप।।
कठमाल तुलसी लसे, सो निरखे निज नैन।
गावे पद श्री गुरुन के, श्री जमुना रस अैन।।
मंगल आदिक आरती, गावे हिय हुलसाय।
सरस माधुरी रीति यह, किये प्रेम सरसाय।।
पाछे निजकृत देहकर, पुनि कीजे अस्नान।
रचे तिलक निज अंग मे, शुभ द्वादश स्थान।।
श्री तिलक मस्तक रचे, चिह्न चन्द्रिका भाल।
पीताम्बर अंग अरना, ओढे होय निहाल।।
सेवा राजस मानसी, गुरु को देइ बताय।
सावधान हो कीजिए, तन मन प्रेम लगाय।।
प्रथम आचमन तीन करि, बैठे आसन आय।
भूमि देह निज शुद्धि हित, मंत्रित जल छिरकाय।।
ताके पीछे कीजिए, बिधिवत प्राणायाम।
बहुरि कीजिए ध्यान ही, श्रीमत श्यामा श्याम।।
मौन होय फिर जप करे, श्रीगुरु मंत्र सुमाल।
बास अमरपुर को लहै, छूटै जग जंजाल।।

इसी प्रकार चरनदासी-सम्प्रदाय में चरनदासी के बयालीस कर्तव्य माने गए हैं। ये कर्तव्य निम्नलिखित हैं :—

१. गुरुनिष्ट एवं आज्ञाकारी होना, २ साधु सेवा परायण होना, ३. सम्प्रदाय सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करना, ४ कंठी, तिलक निष्ठा, ५. परत्रिया, परधन निषेध, ६. हरि, गुरु, जन्म-कर्म उत्सव करने की दृढ़ भक्ति, ७. जाती-विजाती परीक्षा, ८. सजाती का सत्संग और विजाती का परित्याग करना, ९. गुरु-वाणी का नित्य पाठ, १०. गुरु मंत्र में दृढ़ निष्ठा, ११ सद्शास्त्र का आज्ञावती होना, १२. विश्वासघात, मिथ्यावाद का परित्याग, १३. अन्नवस्त्रादि का यथा-शक्ति दान, १४. नित्य नियम किये बिना अन्न जल न ग्रहण करना, १५. भगवत अनर्पित वस्तु भक्षण-परित्याग, १६. साधु-गुरु सेवा, १७. परनिन्दा, परद्रोह-परित्याग, १८. निरभिमान रहना तथा सबसे प्रेमपूर्ण आचरण करना, १९. यथा लाभ, सन्तोष, भगवत इच्छा में प्रसन्न रहना, २०. जगत को अनित्य मानना, २१. मादक-द्रव्य परित्याग, २२. हिंसा से दूर रहना, २३. दुर्वचन-परित्याग, २४. कपट, छल, अहंकार, दुराग्रह-परित्याग, २५. कथनी जैसी करनी,

२६. नामापराध-त्याग, २७. सेवापराध-त्याग, २८. श्री इष्टदेव-दर्शन का नियम, २६. मान-बड़ाई परित्याग, ३० अनन्यता व्रत रखना, ३१ जो भाव गुरु से प्राप्त हुआ हो, उसी भाव से प्रकट एव मानसी पूजा करना, ३२. तन-मन से परोपकारी बनना, ३३. आत्मवत् सर्वभूतेषु मानना तथा ३४. ससार को क्षीण मानना ।

सम्प्रदाय के परम्परागत आचार-विचार—सम्प्रदाय के परम्परागत आचार-विचारों का सूक्ष्म आभास नित्य-नियम निषेधात्मक नियम आदि प्रसगों मे आ चुका है; परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कतिपय प्रसग अवशेष हैं जिनका सम्प्रदाय की विचार-धारा पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है । और इसीलिए उनका सविस्तार उल्लेख आवश्यक है । इन विषयों वा प्रसंगो में वेशभूषा सर्वप्रथम है ।

चरनदासी-सम्प्रदाय मे शिष्यों की वेशभूषा दो प्रकार की होती है । प्रथम गृहस्थ-शिष्यों की और द्वितीय विरागी-शिष्यों की । गृहस्थ-शिष्य सामान्य गृहस्थो की भांति धोती, कुरता और जूता पहनते हैं । इन सम्प्रदाय में चमड़े का जूता पहनना वर्जित तो नहीं है परन्तु फिर भी लोग जहा तक हो सकता है उनके उपयोग के स्थान पर बिना चाम के जूतों का उपयोग करते हैं । इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के शिष्यों का पगड़ी पहनना भी आवश्यक है । कुछ शिष्य स्वेच्छा से दाढी रख लेते हैं । पर इसके विषय में कोई साम्प्रदायिक नियन्त्रण नहीं है । कुरता और पगड़ी का रग अनिवार्यतया हलका पीला होना चाहिए । जाड़े मे शिष्य किसी रंग का ऊनी या रूई का कोट पहन सकते हैं, परन्तु साथ ही पगड़ी का प्रयोग अनिवार्य है । वेशभूषा-विषयक युद्धोत्तर कठिनाइयां इस सम्प्रदाय के शिष्यों को बहुत झेलनी पड़ी हैं परन्तु फिर भी उनकी पगड़ी का प्रयोग किसी प्रकार नहीं छूटा है । सत्य है, कठिनाइयां श्रद्धा और विश्वास की कसौटी हुआ करती हैं ।

विरागी या साधु शिष्यों की वेशभूषा साधारण विरागियों की-सी होती है । पगड़ी, रग अथवा अन्य किसी वस्तु-विशेष का प्रतिबन्ध विरागी शिष्यों के लिए नहीं निर्धारित किया गया है । इस विषय मे कारण पूछने पर वर्तमान महन्त ने कहा कि, जो ससार का ही त्याग कर चुका है उसे नियंत्रणों मे बॉधने से फायदा क्या है ? अतएव विरागी शिष्य की कोई निश्चित और निर्धारित वेशभूषा नहीं है ।

कमंडल और श्री-तिलक का अनिवार्य रूप से धारण करना दोनों ही प्रकार के शिष्यों के लिए निश्चित है । तिलक तो साम्प्रदायिक आचार का सबसे महत्वपूर्ण अंग है । इसलिए इसका धारण करना अनिवार्य ही है । कमंडल धारण करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है । यात्रादि मे स्वच्छ, शुद्ध या पवित्र जल प्राप्त करने के लिए तथा स्वावलम्बी बनने के लिए व्यक्ति को कमडल धारण करना आवश्यक है ।

सम्प्रदाय के त्यौहार—सम्प्रदाय में हिन्दू धर्म के प्रायः सभी महत्वपूर्ण

त्यौहार मनाये जाते हैं। होली, दीवाली, विजयादशमी, गंगास्नान इन त्यौहारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त चरनदास की जन्मतिथि और दिवगत तिथि भी त्यौहार के रूप में ही मनाई जाती है। अतिम दो त्यौहार जिनका सम्प्रदाय के प्रवर्तक से विशेष निकट सम्बन्ध है विशेष उत्साह और मनोयाग से मनाये जाते हैं। इन दोनों उक्त अवसरो पर भडारा और कड़ाह-प्रसाद होता है।

सम्प्रदाय में प्रणाम करने की विधि—सम्प्रदाय मे प्रणाम करने की दो विधियॉ प्रचलित हैं। जब कोई शिष्य अपने से वयोवृद्ध व्यक्ति, महन्त अथवा दीक्षा-गुरु से मिलता है तो वह साष्टाग प्रणाम करता है। चाहे वह मार्ग हो अथवा भवन, जहॉ भी दर्शन होते हैं उसे साष्टाग प्रणाम करना चाहिए। दूसरे समान-वय वाले जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो दोनों हाथों को जोड़ कर जय गुरु या जय महाराज कहते हैं।

सम्प्रदाय मे भिक्षा वृत्ति—चरनदासी-सम्प्रदाय में शिष्यों द्वारा भिक्षा याचना वर्जित है। सामान्य विश्वास है कि जो ब्रह्म जन्म देता है वही पोषण की चिन्ता भी करता है। अतः भिक्षा-याचना इस दृढ विश्वास के प्रति विद्रोह है। चरनदासी-शिष्य को भिक्षा-मागना इसी दृष्टि से मना है। यदि कोई दाता स्वेच्छा से कुछ भी श्रद्धावश दान करता है तो उसे ग्रहण करने में कोई हानि भी नहीं मानी गई है।

सम्प्रदाय में सूतक निर्णय—सम्प्रदाय में सूतक-विषयक निर्णय का आधार-ग्रन्थ पराशर स्मृति है। इस स्मृति के आधार पर ही सम्प्रदाय में सूतक का निर्णय चिरकाल से प्रचलित है।

सतान जन्म के समय दश दिन अशौच रहता है। दूध पीने वाले बालक के मरने पर दिन भर का अशौच रहता है। आठ-दश वर्ष के बच्चे की मृत्यु पर ३ दिन का अशौच माना जाता है। दश से अधिक अवस्था वाले की मृत्यु पर दश दिन का अशौच माना गया है।

स्त्री-शौच में ब्राह्मण दश दिन से शुद्ध हो जाता है। क्षत्रिय बारह दिन में शुद्ध होता है। वैश्य की शुद्धि पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास मे शुद्ध होता है।[1]

दांत जम जानें पर या चूड़ाकर्म हो जाने के अनन्तर यदि बालक की मृत्यु हो जाय तो उसका अग्नि-सस्कार करना चाहिए तथा तीन दिन तक अशौच मनाना चाहिए। बिना दांत के बालक की मृत्यु पर केवल स्नान से ही नित्य शुद्धि हो

१. जातौविप्रो दशाहेन द्वादशाहे भूमिपः।
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति॥

जाती है। चूडाकर्म से पहले ही बालक के मर जाने पर एक दिन मे शुद्धि हो जाती है। यज्ञोपवीत बिना हुए तीन दिन के अनन्तर शुद्धि होती है और यज्ञोपवीत हो जाने पर दश दिन में।[१]

जो द्विज पवित्र भाव से व्रत और यज्ञ करता है वह केवल मन्त्र-जाप से ही पवित्र हो जाता है। नित्य अग्निहोत्र करने वाले ब्राह्मण तथा राजा को सूतक-स्पर्श नही करता है। वह स्नान मात्र से पवित्र हो जाता है।[२]

यह सूतक-निर्णय आज चरनदासी सम्प्रदाय में पूर्णरूप से प्रचलित है। इसमे ध्यान देने योग्य कुछ बातें हैं। प्रथम सूतक निर्णय मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का भेद-भाव किया गया है। चरनदास ने जीवन-पर्यन्त इस भेद-भाव के विरुद्ध उपदेश दिया है। उनका साहित्य भेद-भाव विषयक कटु-आलोचनाओं से भरा पड़ा है। फिर इस सूतक-निर्णय मे जाति-भेद का प्रतिवाद क्यों किया गया है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि यह सूतक-निर्णय बाद का विकास है। यह निश्चय ही चरनदास द्वारा प्रतिपादित नहीं है। चरनदासी-सम्प्रदाय आज इस प्रकार के अभिशापों से भले ही ग्रस्त हो पर पहले नहीं था।

अन्त्येष्टि क्रिया—चरनदासी-सम्प्रदाय मे उन्ही अन्त्येष्टि क्रियाओं को मान्यता प्रदान की गई है जा सनातन धर्म मे मान्य है। जिन छोटे बालकों का चूडाकर्म नहीं होता है उनकी अन्त्येष्टिक्रिया जल-प्रवाह के रूप मे होता है। जिनका चूड़ाकर्म हो जाता है वे मृत्यु प्राप्त होने पर गाड दिये जाते हैं और जिनका यज्ञोपवीत हो जाता है उनका, मृत्यु प्राप्त होने पर दाह-सस्कार होता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय मे दिवगत की शाति के लिए घट भरना या श्राद्ध करना नही प्रचलित है। सम्प्रदाय मे आवागमन-सिद्धात मान्य न होने के कारण तेरही, वर्षी, श्राद्ध आदि के प्रति महत्व नही दिया जाता है। दाह-सस्कार अथवा प्रवाह-सस्कार गंगा जी में उत्तम समझा जाता है।

मृत्यु के सत्रह दिन बाद सत्रहवीं मनाई जाती है। सत्रहवीं के दिन हवन और भडारा होता है। इसके पश्चात् रात्रि के समय सब शिष्य एकत्र होकर दिवगत आत्मा की शाति और मोक्ष के लिए चरनदास जी से प्रार्थना करते हैं।

---

१. दतजातेऽनुजाते च कृतचूडे च सस्थिजो।
अग्निसस्कारणा तेषां त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥
आदताज्जन्मतः सद्य आचूडानैशिकीस्मृता।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमत परम्॥

२. सव्रतोमन्त्रपूतश्च आहिताग्निश्च यो द्विजः।
राज्ञश्चसूतक नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः॥

सम्प्रदाय मे व्रत और जागरण का माहात्म्य—सम्प्रदाय मे किसी विशेष व्रत का पालन करने का नियम नहीं है। फिर भी अधिकतर शिष्य एकादशी, महा-शिवरात्रि, कृष्ण जन्माष्टमी तथा रामनवमी का व्रत रखते हैं। इन सभी व्रतों में एकादशी का बड़ा माहात्म्य माना जाता है। एकादशी का माहात्म्य वर्तमान महन्त से निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध हुआ है। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इसकी कोई साम्प्रदायिक मान्यता नहीं है :—

ग्यारस व्रत से ऐसे रहिये। जैसे धर्म नीक को चाहिये ॥
साचा व्रत बताऊ तो ही। गुरु शुक देव बताया मोही ॥
नवमी नेम करे चितलाई। दशमी सयम युक्ति बताई ॥
ग्यारस व्रत बताऊ नीका। सबही व्रत शिरोमणि टीका ॥
निर्जल करे नीर नही परसै। पोह फाटे जब सूर्य दरसै ॥
एक पहर के तड़के जागै। जब ही सुमरण करने लागै ॥
करे विचार शुद्ध कर काया। जाकर बैठे भवन मझाया ॥
कोठे के पट देकर राखै। नर नारी सों बचन न भाखै ॥
कुड काढ बैठे तिहि माहीं। ताकै बाहर निकसे नाहीं ॥
कर आवाहन आसन मारे। व्रत करै वैराग्यहि धारे ॥
जब गुरुमत्र और हरिध्याना। जाको नेक नही विसराना ॥

जो तेरे गुरु ने कहा, जाका करतु ध्यान।
बैठो अस्थिर नौ पहर, करो व्रत पहचान ॥
व्रत करै त्योहार सा, नाना रस के स्वाद।
भोग करै तप ना करै, सब करनी बरबाद ॥

पांचों इन्द्री व्रत करीजै। पलक झाप नैनन पट दीजै ॥
इत उत मनवा नाहि चलावै। आंखन को नही रूप दिखावै ॥
श्रवण शब्द न खईये भाई। त्वचा स्पर्श न अग लगाई ॥
षटरस स्वाद न जिह्वा दीजै। नासा गन्ध सुगन्ध न लीजै ॥
ऐसा व्रत करे सो वर्ता। मुक्त होय ग्यारस का कर्ता ॥
ऐसा व्रत उतारे पारा। छौनां तिरत लगे नहिं बारा ॥
बहुर द्वादशी बाहर आवै। अपनी श्रद्धा मन भुगतावै ॥

श्री चरनदास के समय में व्रतादि रखने का प्रचलन था अथवा नहीं, इसके सम्बन्ध में महन्त जी से कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिल सकी है।

सम्प्रदाय मे सत्गुरु—निर्गुण-पथ मे सत्गुरु के महत्व का बड़ा व्यापक गान हुआ है। कबीर ने उसे गोविन्द से भी शक्तिशाली माना है। चरनदास के

सत्गुरु सम्बन्धी विचारों का उल्लेख दार्शनिक विचारधारा के विवेचन के साथ हो चुका है। चरनदासी-सम्प्रदाय में भी सत्गुरु का बड़ा माहात्म्य माना गया है। सत्गुरु रहस्य का उद्घाटक है। वह अज्ञान-अंधकार का निवारक है। वह हरिनाम-रूपी पोत का कुशल केवट है। वह घट, औघट, दुर्गम और सुगम सभी मार्गों का ज्ञाता है। वह गोविन्द और सन्त की ही प्रतिमूर्ति है। उसके निर्देशन मे ससार की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। वही आवागमन से मोक्ष दिलाने वाला है। गुरु कायिक, मानसिक तथा भव-तापों को विनष्ट करके अक्षय आनन्द की वर्षा करता है। वही दैवी आपत्तियो से शिष्य की रक्षा करता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय मे गुरु को 'आचार्य भी कहा गया है। सम्प्रदाय का आचार्य स्वतः धर्माचरण करता हुआ अन्यो को शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्त मार्ग पर अग्रसर करता है। शास्त्र के तत्वों से परिचित होने के कारण तथा चराचर की समता से एव यमादियोग की सिद्धता से उनको आचार्य कहना उचित भी माना मया है।[1]

सम्प्रदाय में शिष्य की दिनचर्या—चरनदासी-सम्प्रदाय में अनुयायी की दिनचर्या बड़े ही रोचक ढग से निश्चित की गई है। यह दिनचर्या जहाँ तक साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्वयुक्त है, वहाँ इसका स्वास्थ्य और जीवन के लिए भी उपयोगिता है। यह दिनचर्या वर्तमान महन्त के द्वारा लेखक को प्राप्त हुई। चरनदासी-शिष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है ब्राह्म-वेला में जग जाना। जो शिष्य सूर्योदय से पूर्व नहीं जग जाता वह मोक्ष का अधिकारी नहीं। चरनदास जी ने भक्तिसागर में स्वतः लिखा है :—

जागैना पिछले पहर, करे न हरि मुख जाप।
पोह फटे सोवत रहे, ताको लागत पाप॥
जन्म छूटै मरना छुटै, आवागमन छुट जाय।
एक पहर की रात सों, बैठा हो गुणगाय॥—भक्ति सागर

श्रीमद्भागवत में भी ब्राह्मवेला मे जगने के प्रति बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है :—

---

[1] स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि।
आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचार्यस्ते न कथ्यते॥
आम्नायतत्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्यस्ते न कथ्यते॥

उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात् ॥

—श्रीमद्भागवत, अष्टम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, श्लो० २४

अतएव ब्राह्म-वेला मे उठकर शिष्य कुल्ला करके, हाथ पैर धोकर, सद्गुरु, ब्रह्म और उसके द्वारा विरचित प्राकृतिक तत्व सूर्यचन्द्रादि की स्तुति करे।

सप्तम अध्याय

चरनदास की काव्य-दृष्टि

काव्य का जन्म अथवा उद्‌भव किस प्रकार एव किन परिस्थितियो में होता है, यह एक विचित्र एव कौतूहलवर्द्धक प्रश्न है। कभी-कभी पाठक आश्चर्य से चकित होकर सोचता है कि इतने सुन्दर भाव, इतने रमणीय विचार, इस प्रकार की अमर कल्पनाएँ, इतनी दिव्य एव स्मरणीय सूक्तियाँ, इतनी सरलता से कैसे लिखी जाती हैं। अपनी भावनाओं को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए कवि को न जाने कितना सोचना पड़ता होगा और एकांत में बैठ कर एकाग्रता के साथ कितनी गभीर साधना करना पड़ता होगा। काव्य को जन्म देने वाला कलाकार भी प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ ही नहीं वरन् असफल होगा। भावोद्रेक होते ही उनके प्रबल प्रवेग को वह रोक नहीं पाता है। चन्द्र की सुरम्य ज्योत्स्ना मे, बालारुण की विकासोन्मुख प्रभा मे, विद्युत की दमक में, प्रकृति के दिव्य क्रोड मे विचरते हुए कवि के हृदय मे मनोहारी काव्य स्वतः अपने रूप का निर्माण कर लेता है। परन्तु कवि हो या महाकवि इसके उद्रेक का वैज्ञानिक कारण बताने में वह असमर्थ है। मानस के प्रारम्भ मे लिखित महाकवि तुलसीदास का निम्नलिखित कथन पठनीय प्रतीत होगा :—

"कवित विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहौ लिखि कागद कोरे।"

"कवित विवेक एक नहि मोरे" को स्वीकार करने वाले महाकवि तुलसीदास ने मानस जैसे महाकाव्य की रचना करके इस रहस्य का उत्तर बड़ी ही रहस्यपूर्ण शैली मे दे दिया है। कविता के सर्वप्रथम जन्मदाता आदि कवि वाल्मीकि थे। क्रौंच के दुःख से कातर आदि कवि के हृदय तथा नेत्रों से काव्य एव अश्रु की धारा एक साथ बह निकली थी। ससार मे कविता की सृष्टि उस समय से आरम्भ हो गई होगी जब करुणा, आकर्षण और आत्मसमर्पण की तीनों भावनाओं ने कवि के हृदय में एक ऐसी विह्वलता भर दी होगी जिसे वह अपने हृदय में सभाल नहीं सका होगा और ये तीनों भावनाएँ त्रिवेणी की भाँति एक होकर भाषा के पथ पर बढी होंगी। सच तो यह है कि घटना या परिस्थितियाँ जब मन पर आघात करती हैं और जीवन की यह वास्तविकता कला का आधार खोजने लगती है, तभी काव्य का जन्म

होता है। भावों के क्रम मे कल्पना इसी स्तर पर बिना प्रयास आगे बढने लगती है। इस स्तर पर चित्र वैसे ही पूर्ण हो जाता है जैसे शैशव के कोमल-चरणों मे यौवन की मादकता आ जाती है। जिस प्रकार समय की गति अप्रतिहत रूप से बिना किसी को जतलाए हुए चलती जाती है और हम चौक कर कह देते हैं कि अरे, इतनी जल्दी इतने वर्ष बीत गए, उसी तरह कविता शैशव की चपलता से उठकर अनायास यौवन मे सुसज्जित हो जाती है। यहाँ मै उन कवियों की बात नहीं कहता जो यमक को जमाने के लिए या श्लेष का प्रवेश कराने के लिए शब्दों की बनावट और उनकी ध्वनि को मन की तराजू पर तौलते रहते हैं और शब्दों की प्रदर्शिनी सजाने के लिए घटों प्रयास करते हैं। जो कविता का वरदान उसके स्वाभाविक रूप में पाते हैं, वे तो कविता में उसी प्रकार बहते चले जाते हैं जैसे दीप-दान में सजोया हुआ दीपक, प्रवाह मे नाचता हुआ चला जाता है।[1] कविता का परिश्रम से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कविता निर्झर के समान हृदय से फूट निकलती है। परिश्रम-साध्य कविता (Labuored Composition) उसी प्रकार की क्रिया है जैसे घास काटने का काम। उद्धव के प्रति कथित गोपियों के प्रस्तुत कथन मे यदि "प्रेम कथा" शब्द के स्थान पर काव्य शब्द रख दिया जाय तो परिश्रम-साध्य काव्य की निःसारता प्रकट हो जायगी :—

> "हम ते हरि कबहूँ न उदास,
> तुमसों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास ॥"

काव्य-रचना और काव्य के जन्म के विषय में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पक्तियाँ पठनीय हैं :—

> हृदयसिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना।
> जो बरषै बरबारि विचारू। होहि कवित मुक्ता मनि चारू ॥

साहित्य (काव्य) जीवन का सुसस्कृत एवं साध्य रूप है। साहित्य का आधार मानव जीवन है। साहित्य, जीवन की आलोचना एवं मापदड है। साहित्य के प्रयोजन एव जीवन के हेतु में बड़ा साम्य है। साहित्य के प्रयोजन के विषय मे आचार्यों में मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार "काव्य का प्रयोजन यश, द्रव्य, व्यवहार ज्ञान, दुखनाशादि[2] के लिए तथा भामह के मत से काव्यधर्म, अर्थ, काम

---

१. विचारदर्शन, पृष्ठ ६५

२. काव्य यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृत्तये कातासम्मिततयोपदेशयुजे ॥—काव्यप्रकाश

और मोक्ष का साधन है।"[1] भामह के दृष्टिकोण से साम्य रखता हुआ मत साहित्य-दर्पणकार का है।[2] भरत, आनन्दवर्धन एव अभिनव गुप्त आदि विचारक नैतिकता एव धार्मिकता के विकास के लिए इसे प्रयोजनीय नहीं मानते हैं। पाश्चात्य लेखक स्पिनगार्न के मत से "काव्य का उद्देश अभिव्यक्ति है।"[3] ब्रेडले के मत से "काव्य स्वय अपना साध्य है वह धर्म सस्कृति, शिक्षा आदि का साधन नहीं है।" टाल्सटाय, नीति और धर्म को काव्य की कसौटी मानते हैं।[4] टी० यस० ईलियट के अनुसार "कविता का नैतिकता, धार्मिक भावना और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध है अवश्य, यद्यपि हमे नहीं ज्ञात है कि वह सम्बन्ध क्या है। मैथ्यू आर्नाल्ड, "नैतिकता के प्रति विद्रोही एव उदासीन काव्य को जीवन के प्रति विद्रोही और उदासीन मानता है।" आई० ए० रिचर्ड्स का मत अशतः मम्मट से मिलता है।[5] पाश्चात्य विचारक प्लेटो, आरिस्टाटिल, होरेस, दाते, मिल्टन एव भारतीय विचारक भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त से अधिक निकट है। स्पष्ट है कि एक वर्ग नैतिकता को काव्य का प्रयोजन मानता है और द्वितीय इसके विरुद्ध है। एक वर्ग स्वातः सुखाय काव्य को प्रयोजनीय मानता है, दूसरा वर्ग बहुजन हिताय। जो भी हो, काव्य हमारी अनुभूतियों को तीव्र करने के लिए अत्यधिक प्रयोजनीय है।

भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानों के काव्यादर्श एव काव्य प्रयोजन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दी के संत कवियों में से किसी ने उपर्युक्त आदर्शों एव प्रयोजनों में से एक को भी नहीं स्वीकार किया। सतों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एव यश की लालसा नहीं थीं। सतों ने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श नहीं ग्रहण किया। सन्तों ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रान्ति की। काव्य, काव्य-शास्त्र, छन्द, पिंगल आदि के नियमों का न उन्होंने अध्ययन किया था, न इनके प्रति इन सब की कोई आस्था ही थी। इसके विरुद्ध उन्होंने काव्य और काव्य-शास्त्र के अन्य आवश्यक तत्वों की निन्दा एव आलोचना की। परन्तु काव्य-शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ भी काव्य की रचना कर सकता है, यह बात सन्तों ने प्रमाणित कर दी। सन्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि भाव ही काव्य की आत्मा है और जब काव्य की आत्मा दृढ़ और उच्च है तब फिर बाह्यावरण और अन्य उपकरण

१. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलितवेद्यांतरमानन्दं।—'सिद्धांत और अध्ययन,' पृष्ठ ४५

२. सिद्धात और अध्ययन, पृष्ठ ४५

३. संत दर्शन, पृष्ठ २०७

४. वही, २०७

५. वही, २०८

स्वतः जुट जॉयगे। संतों ने काव्य की रचना सचेष्ट होकर नहीं की, न उन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन ही किया था। ध्यानपूर्वक संत-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि संतों के साहित्य में उनके काव्यादर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। सन्तों ने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा। न उन्होंने कवि को समाज का सम्मान्य व्यक्ति ही माना है, पर उन्होंने काव्य को स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। संतों के सरदार कबीर ने कवि और कविता के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा है, पर वे समाज मे कवि को सम्मान्य व्यक्ति नहीं मानते हैं कारण कि वह तत्व को त्याग कर सारहीन पदार्थों मे रमा रहता है। कबीर कवि को मृतात्मा समझते थे।[1] कबीर काव्य-लेखन को व्यर्थ परिश्रम समझते थे। उनकी दृष्टि में वही वास्तविक कवि है जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा रचना करे।[2] उन्होंने स्पष्ट कहा कि "पढ़ि-पढ़ि पोथी जग मुआ पंडित भया न कोई।" गुरु नानक सब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने मे बाधक मानते हैं। उनके मत से शब्दों तथा साखियों मे अभिव्यक्त प्रेम वास्तविक नहीं है, वह केवल बाह्य दिखावा है। छन्दों में हृदय के सच्चे भाव की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं है।[3] मलूक के अनुसार वही काव्य श्रेष्ठ है जिसमे ब्रह्म की महत्ता वर्णित हो।[4] जगजीवन के मत से पुराणों का पारायण करता हुआ अहर्निश कविताई करता हुआ मानव, बिना ब्रह्म ज्ञान के निःसार है।[5] शिवनारायण साहब के शब्दों मे ब्रह्म की स्तुति से पूर्ण भाषा ही कविता है।[6] दुःखहरनदास का काव्यादर्श उपर्युक्त संतों से मिलता-

---

१. कवि कवी ने कविता मुये।

२. जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी॥

३. शब्दन साखी सची नहीं प्रीति।
जमपुर जाहिं दुखा की रीति॥

४. अदम कवित्त का जिसकी कविताई करू,
याद करू उसको जिन पैदा मुझे किया है।
गर्भबास पाला आतप में नहि जाला,
तिसको मै बिसारू तो मैं किसकी आस जिया हूँ॥

५. पढ़ै पुराण ग्रन्थ रात दिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कथै शब्द कहै बहु तबहू भक्ति न होई॥

६. कविता अस्तुति पूरन भाखा। शिवनारायन चित से राखा॥

जुलता है।[1] पलटू[2], रैदास[3], बुल्ला साहब[4] तथा दरिया साहब मारवाड़ वाले[5] का कबीर साहब से मत-साम्य है। इन्हीं सत कवियों की भाति सत चरनदास भी जोवन को निष्फल प्रयत्न मानते है। उनकी दृष्टि मे साखी और सब्दी को सवारने और सुधारने मे ही मानव जीवन का बहुमूल्य समय विनष्ट हो जाता है, फिर सुमिरन के लिए कहा अवकाश रह जाता है। जीवन का प्रत्येक क्षण नाम-जप और साधना मे नियोजित करना चाहिए अन्यथा कुत्तों की भाति भूकता हुआ कवि एक दिन काल के कराल-मुख मे पहुँच जाता है।

सगीत का प्राणियों पर बड़ा चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिको ने भी इस कथन का अनुमोदन किया है। नाद के माधुर्य से ही रीझ कर मृग बहेलियों का लक्ष्य बनता है। सगीत मे बड़ी शक्ति होती है। साधारण बोलचाल की भाषा में कही गई बात का उतना प्रभाव नहीं पड़ता है, जितना कि पद्यमयी भाषा में अभिव्यजित भावो को गाकर कहने का पड़ता है। कवियो के एक छोटे से क्राति-गान का जनता पर वह प्रभाव पड़ता है, जो कहानीकार, निबन्ध-लेखक तथा मच पर वक्ताओं का बहुत दिनो तक प्रयत्न करने पर भी नहीं हो पाता। उपदेशकों के लम्बे-लम्बे भाषणों का जनता में वह स्वागत नहीं होता है जो मधुर पदो मे अभिव्यक्त उपदेशों का। उपदेशों को गेय तथा पदो का स्वरूप प्रदान करने के कारण उनका अच्छा प्रचार होता है। देहातों मे खझरी एव करताल पर सतों के पद गाते हुए

---

१. मोहि जस ग्यान रहा हिय मांही। कहेउ सभै कीछु छाड़ेयु नाही॥
एक एक अच्छर खोजी बनावा। गुरुखन दुख पडितन सुख पावा॥

२. एक भक्ति मै जानो और झूठ सब बात।
और झूठ सब बात कौ हठ जोग अनारी।
ब्रह्म दोष बोलेय काया को राखै जारी।
प्रान करै आयाम कोई। फरि मुद्रा साधै।
धोती नेती कौ कोई लै स्वासा बाधै॥
उनमुनि लम्बे ध्यान करै चौरासी आसन।
कोई साखी सबद कोई तप कुस कै डामन॥

३. थोथा पडित थोथी बानी। थोथी हरि बिनु सभै कहानी॥

४. का भयो सब्द के कहै बहुत करि ज्ञान दे।
मन परतीत नहीं तो कहा जम आनदे॥

५. सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात॥

ग्रामीणों के बृहद् समूह की तल्लीनता देख सुनकर उपदेशों को गेय बनाने का लाभ ज्ञात हो जाता है। दूर तक जाती हुई उनकी ध्वनि तथा राग, हजारों नर-नारियों के हृदय में सद्भाव एव भक्ति उत्पन्न कर देते हैं। बात-बात पर कबीर और तुलसी आदि कवियों की उक्तिया आज भी हमारे घरों में किसी बात का समर्थन करने के लिए उद्धृत की जाती हैं। इन कवियों की यह व्यापकता केवल इसीलिए है कि इन्होंने उत्तम भावों को अत्यन्त सक्षेप तथा पद्यमयी भाषा में अभिव्यक्त कर दिया है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर चरनदास तथा अन्य संत कवियो ने अपने उपदेशों को गेय बना दिया था।

चरनदास के कवित्व का ध्येय ब्रह्म का गुणगान एवं जनता को उपदेश देकर उनमें आशा का दीप जाज्वल्यमान और एक सच्चे नागरिक के सदृश जीवित रहने की आकांक्षा को जाग्रत कर देना था। इसीलिए चरनदास के काव्य में केशवदास का आचार्यत्व, मतिराम का पदलालित्य, विद्यापति का-सा माधुर्य, नन्ददास का शब्द-सचय, बिहारी का-सा काव्यसौष्ठव, देव की-सी नायिकायें, कालिदास की-सी सुन्दर उपमाओं का खोजना, कवि के साथ अन्याय होगा। परन्तु इतना तो दृढ़ सत्य है कि हमारे कवि के सरल काव्य में जनता के हृदय एवं मस्तिष्क को प्रभावित करने की पूर्ण शक्ति है। उनका काव्य मानव-समाज को प्रभावित करता है और सहस्रों नर-नारियां, वृद्ध-बालक, उनके पद तथा भजनों को गाकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

कवि चरनदास और उनकी काव्य-दृष्टि का अध्ययन करने के लिए उनके साहित्य को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित कर लेना उपादेय होगा :—

१. कथावस्तु या वर्ण्य-विषय
२. भाव—(१) रस, (२) चित्रण (३) कल्पना का उत्कर्ष
३. चरित्र-चित्रण
४. रचना शैली—(१) अभिव्यंजना शक्ति (२) शब्द (३) छन्दों का प्रयोग (४) अलकार
५. लेखन-शक्ति
६. व्यग एव आलोचना

वर्ण्य विषय :—चरनदास के साहित्य के वर्ण्य-विषय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन निम्नलिखित प्रकार से सभव होगा :—

(१) आध्यात्मिक
  (क) रचनात्मक
  (ख) आलोचनात्मक

(२) सामाजिक

(क) रचनात्मक

(ख) आलोचनात्मक

चरनदास ने आध्यात्मिक भावनाओ के अन्तर्गत दो विषयों पर विशेष रूप से अपने विचारों को प्रकट किया है। इनमे से प्रथम है परब्रह्म परमात्मा की कल्पनातीत महान् एव दिव्य सत्ता। इसके अन्तर्गत उस महान् अलख शक्ति की महत्ता का गुणगान और सर्वशक्तिमत्ता वर्णित हुई है। इसी वर्णन में ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सार्वभौमिकता, तथा भक्तवत्सलता का वर्णन और उल्लेख हुआ है। इन विषयों पर कवि ने बारम्बार अपनी लेखनी चलाई है और प्रत्येक बार अभिनव भाषाशैली में एक ही भाव को अनेक बार व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय विषय है साधना, जिसका परब्रह्म का साक्षात्कार कराने अथवा अनुभूति कराने मे विशेष योग रहता है। इस विषय की सीमा बड़ी विस्तृत और व्यापक है। आध्यात्मिक जीवन में उपयोगी और उत्थान मे सहायक उपकरणों—योग, साधु, गुरु, भक्ति, ससार से विराग, सतसंगीत, ज्ञान आदि पर कवि ने प्रचुर गंभीरता एव मनोयोग से अपने विचारो को प्रकट करने का प्रयास किया है। काव्य-विषयों के समस्त अगों से इस पर कवि का मन अधिक रमा है।

कवि की आध्यात्मिक भावनाए दो रूपों मे पल्लवित हुई हैं। इनमे से सर्वप्रथम है उसका रचनात्मक रूप अथवा भावनायें। ये रचनात्मक भावनाए मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास एव उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होती हैं। इन तत्वो मे नाम, सद्गुरु, क्षमा, दया, अहिंसा, सत्यप्रियता, औदार्य, सन्तोष, दैन्य, विवेक, ज्ञान, भक्ति, योग, विश्वास तथा सुख आदि की परिगणना सरलता से की जा सकती हैं। ये तत्व एव प्रवृत्तियाँ मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए वरदान हैं। ये भावनाए मानव-हृदय मे मानवता के स्तर पर पल्लवित होती हुई भी ब्रह्म से निकट और दैवी भावनाओ से सयुक्त हैं। इन भावनाओं का मानव के सामाजिक एव आध्यात्मिक जीवन मे समान रूप से महत्व है। इन्हीं मे योग के यम, नियमादि के विभिन्न भेदों की भी गणना हुई है जो एक मनुष्य को उपयुक्त और योग्य सामाजिक बनाने के लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं। इन आध्यात्मिक भावनाओं का द्वितीय रूप वह है जिसे हम आलोचनात्मक भावनाए कहते हैं। ये आलोचनात्मक भावनाए वे हैं जिनकी सहायता से दूषित बातों को विनष्ट करके और उनका परित्याग करके आध्यात्मिकता के उच्चादर्शों का पारिपालन किया जा सके। इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम सिद्धयुगीन कवि सरहपा ने किया था। उनके अनन्तर यह धारा सिद्धों से होती हुई जैनियों, नाथों और सन्तों में आई।[1]

[1] देखिए, मेरा ग्रन्थ—'सत दर्शन' में सन्तों की चेतावनी प्रकरण।

इस प्रवृत्ति की दृष्टि से कबीर सबसे महान् आलोचक सिद्ध होते हैं। सतों द्वारा आलोचित ये विषय शास्त्रों द्वारा बहुत पहले निषेधात्मक निर्धारित किये जा चुके थे। उदाहरणार्थ, आलोचनात्मक भावनाएं निम्नलिखित हैं :—

कनक, कामिनी, पर-निन्दा, परदोष-वर्णन, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, कुसग, आशा-तृष्णा, मासाहार, आदि सामाजिक एव आध्यात्मिक जीवन मे अभिशाप के समान हैं। ये सर्वथा प्रत्येक दशा मे त्याज्य हैं।

आध्यात्मिक भावनाओं के सदृश सामाजिक वर्ण्य-विषय के भी दो भेद किये जा सकते हैं। इसका भी प्रथम रूप है रचनात्मक और द्वितीय है आलोचनात्मक। आध्यात्मिक भावनाओं के रचनात्मक स्वरूप की भाँति ही सामाजिक भावनाओं का भी रचनात्मक स्वरूप है। रचनात्मक रूप सामाजिक जीवन के विकास मे सहायक उपकरण है। इसी से समाज की अभिवृद्धि और उन्नति है। विश्वबन्धुत्व, समदृष्टि, राम-रहीम का एकत्व आदि सामाजिक भावनाओं का क्रियात्मक रूप है। सामाजिक भावनाओं के आलोचनात्मक रूप के द्वारा समाज क्षय को प्राप्त होता है और इस दशा में उसकी अन्तिम सीमा है, विनाश। इनके कारण समाज न तो स्वस्थ रह सकता है और न विकासशील। कलह, भेद-भावना, आचार, असत्य सम्भाषण आदि इसके प्रमुख अंग हैं।

कथावस्तु या काव्यवस्तु—काव्यवस्तु की दृष्टि से चरनदास के साहित्य का विभाजन हम चार प्रकार से कर सकते हैं—१. चारित्रिक, २ कथानक, ३. दार्शनिक एवं ४. स्फुट।

चरनदास की चारित्रिक रचनायें वे हैं जिनमें कवि ने विभिन्न चरित्रों का वर्णन किया है। इनके अन्तर्गत कवि की निम्नलिखित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :—

१. ब्रज-चरित, २. चीरहरण-लीला, ३. माखनचोरी-लीला, ४ दान लीला, ५. कालीनथन-लीला, ६. मटकी-लीला, ७. श्रीधर-ब्राह्मणलीला, ८ नासकेत-लीला।

इन ग्रन्थों में कवि ने विभिन्न चरित्रों का वर्णन किया है। इन अधिकांश ग्रन्थों में श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित हुआ है। इनके चरित्र-चित्रण मे कवि ने अपनी ओर से यत्र-तत्र नवीनता अथवा परम्परागत कथाओ मे परिवर्तन कर दिए हैं। ये परिवर्तन स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें कथानको का समावेश किया गया है। इसके अन्तर्गत 'नासकेत-लीला', 'धर्म-जहाज', 'जागरण-माहात्म्य', 'कुरुक्षेत्र-लीला' उल्लेखनीय हैं। इनमें कवि ने भक्ति के विचार को पुष्टि देने वाली

कथाओ का वर्णन किया है। कवि-कृत 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला' की गणना भी हम इसी कोटि मे कर सकते हैं। ये कथाएँ परम्परागत होती हुई भी कवि की मौलिकता से सम्पन्न हैं। इन ग्रन्थों मे अनेक भक्तो की कथाओ का सक्षिप्त वर्णन है। कथाओ के द्वारा मत-प्रतिपादन भारतवर्ष की प्राचीन प्रथा रही है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों मे यदि देखा जाय तो सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही साथ कथाओं का भी उल्लेख हुआ है। इसका बहुत ही सुन्दर तथा सम्यक् रूप हमे सूफियों की रचनाओं में मिलता है। जायसी के ग्रन्थों मे कथाओं के द्वारा ही मत-प्रतिपादन हुआ है। इससे प्रतिपादित विषय वा सिद्धान्त मे केवल स्पष्टता ही नहीं वरन् ग्रन्थों की स्वाभाविकता और रोचकता भी बढ़ जाती है। कथात्मक शैली में वर्णित विषय की उपयोगिता और प्रभावित करने की शक्ति भी बढ जाती है। इस प्रकार के ग्रन्थों मे चरित तथा कथा का क्रम साथ ही साथ बढ़ता रहता है।

तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिन्हें हम दार्शनिक काव्य-विषय कहते हैं। इस श्रेणी में 'अष्टाग-योग', 'पचोपनिषद् सार,' 'ब्रह्मज्ञान-सागर,' 'मनविरक्तकरण-सार,' 'भक्ति-सागर', 'भक्ति-पदार्थ' ग्रन्थ आते हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डाला है। योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन कवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। इन दार्शनिक विचारों का आधार प्राचीन ग्रन्थ है जिनका उल्लेख प्रस्तुत-ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में ग्रन्थों के परिचय के साथ दिया जा चुका है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर लिखित होते हुए भी इनमें कवि की अपनी मौलिकता है जिसका सकेत ग्रन्थ परिचय के साथ दिया जा चुका है।

चतुर्थ कोटि की रचनाए वे हैं जिन्हें हम स्फुट-साहित्य कहते हैं। स्फुटपद-साखी तथा अन्य ग्रन्थ जिनमें न चरित्र-चित्रण ही हुआ है और न जिनकी रचनाओं में कथाओं का ही समावेश किया गया है, वे इस कोटि में आती हैं। इस प्रकार की पुस्तकों मे ज्ञान, साधना तथा अन्य उपदेशपूर्ण बातों का उल्लेख हुआ है। इसके अन्तर्गत स्फुट पदसाहित्य का उल्लेख होता है।

वर्ण्य-विषय एव कथावस्तु के विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि प्रायः इन विषयों की पुनरुक्तियाँ एक ही ग्रन्थ में अनेक बार हुई हैं। साहित्य के आचार्यों ने ग्रन्थ में पुनरुक्ति को दोष माना है परन्तु इन भक्त कवियों में यदि पुनरुक्ति को दोष न माना जाय तो अधिक न्यायसगत होगा। कारण यह है कि इन भक्तकवियों ने अपने समय की त्रस्त अशिक्षित जनता के लिए काव्य की रचना की थी। निरक्षर जनता पर बारम्बार कही जाने वाली बात का अधिक प्रभाव पड़ता है। उनके हेतु पुनरुक्तियाँ विषय अथवा उपदेशों को अधिक प्रभावशाली

तथा सरल बना देती हैं। चरनदास अन्य संतों के सदृश सारग्राही व्यक्ति थे। इनके विषय में नाना प्रसंग, प्रकरण, एवं विषयों की अभिव्यंजना मिलती है। संत-साहित्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अन्य संतों की भांति चरनदास का साहित्य और वर्ण्य-विषय दोनों ही विविधता से पूर्ण है। लौकिक एवं अलौकिक, भौतिक एवं दार्शनिक, सभी प्रकार के विषयों की विवेचना गंभीरतापूर्वक कवि की रचनाओं में उपलब्ध है। वर्ण्य विषयों की विविधता का केन्द्र-बिन्दु केवल ब्रह्म और उसकी अनादि सत्ता है।

चरनदास का वर्ण्य-विषय वेदांत, योग तथा भक्ति के प्राचीन साहित्य से प्रभावित है। इन वर्ण्य विषयों से कवि की काव्यकला की विकासावस्था का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कवि के वर्ण्य-विषय में अनेक मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी प्रसंगों की अभिव्यंजना हुई है जिनकी ओर संकेत, ग्रन्थों की विवेचना के साथ किया जा चुका है।

वर्ण्य-विषय स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने उदाहरण और दृष्टांतों का भी प्रयोग किया है। इन उदाहरणों और दृष्टांतों का संकलन या चयन लेखक ने सामान्य जीवन में आने वाले प्रसंगों तथा वस्तुओं से किया है। परिचित दृष्टांतों के संकलन से कवि ने अपने विषय को जनता के और भी निकट लाकर रख दिया है। जनता से परिचित रूपक, उदाहरण और दृष्टांतों को काव्य का विषय बनाकर साहित्य को कवि ने और भी अधिक जनप्रिय बना देने का प्रयत्न किया है।

साहित्य के जिन प्रयोजनों का मूल्यांकन हमने प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में किया था उस दृष्टि से भी विचार करने पर हमारे कवि का वर्ण्य-विषय आर्त्त जनता को उचित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है।

भाव-विन्यास—संतों के काव्यादर्श की विवेचना से स्पष्ट है कि सबद, साखी आदि की रचना करना उनकी दृष्टि में निःसार था। प्रश्न यह होता है कि जब सन्तों ने कवि की और काव्य की इतनी निन्दा की तो फिर स्वयं ही काव्य की रचना क्यों की? कहा जा सकता है कि सन्तों ने जिस काव्य की रचना की वह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में सर्वथा सहायक है। सम्भवतः इसीलिए काव्य के विरुद्ध होते हुए भी वे इस ओर उन्मुख रहे। इसके अतिरिक्त काव्य गेय होता है, और गेय होने के कारण वह चिरस्मरणीय भी होता है। सन्तों ने सम्भवतः इसीलिए अपने भावों को सहज भाषा का परिधान पहनाकर काव्य का स्वरूप प्रदान किया। सन्तों के काव्य में कला का अभाव-सा है, पर उसमें भाव-सौंदर्य, संदेश की महत्ता और प्रभावशालीनता का अभाव नहीं है। संतकवियों का साधक और उपदेशकरूप,

कवि के रूप से अधिक मधुर है। सहज भावों की स्वाभाविक शैली मे अभिव्यक्ति ही उनका काव्यादर्श था। कविता तो उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधनमात्र थी, कवि की सीमा मे बाधने का साधन नहीं।

सन्तों के काव्य मे उनके पवित्र भक्त-हृदय के सर्वत्र दर्शन होते हैं। बाल्यावस्था से ही चरनदास के हृदय एव मस्तिष्क में ससार के प्रति विरक्ति तथा परब्रह्म के लिए अनुरक्ति उत्पन्न हो गई थी। जीवन मे अनुभव एव वय के विकास के साथ ही उनके हृदय में यह विचार घनीभूत होता गया। काव्य-सर्जन के समय अपने हृदयस्थ इन्हीं भावों को उन्होंने विश्वकल्याण अथवा लोकरजन के लिए छन्दबद्ध किया। उनकी लेखनी ने उन्हीं भावों, उन्हीं विचारो को स्वीकार किया है जिनके प्राणों मे आध्यात्मिकता के भाव, लहरे ले रहे हैं। आध्यात्मिकता के सोपान पर अग्रसर करने वाले विचार ही उनकी कविता मे छन्दबद्ध किये गए हैं। कवि ने भगवान् की अपार सत्ता, अनन्त स्वरूप तथा उनकी भक्तवत्सलता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उस अनादि पुरुष की प्राप्ति के साधन भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का भाति-भांति से हमारे कवि ने उल्लेख किया है। कवि ने इन तीनों में एकत्व प्रदर्शित करके उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए यदा-कदा नीतिकारों से गढी हुई कथाओं का समावेश कर दिया है। चरनदास के काव्य मे कुछ नीति-सम्बन्धी साखियॉ भी उपलब्ध होती हैं। यद्यपि इस प्रकार की साखियॉ कम हैं फिर भी उनकी कोटि सुन्दर है।

वर्ण्य-विषय का अवलोकन करने पर प्रकट हो जाता है कि कवि का भाव-विन्यास दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम है सगुण ब्रह्म सम्बन्धी और द्वितीय निर्गुण ब्रह्म विषयक। ब्रह्म के इन दोनो स्वरूपो की अनुभूति के लिए कवि ने दो भिन्न-भिन्न प्रकार की साधनाओं का भी वर्णन किया है। प्रथम है भक्ति और द्वितीय योग (हठयोग)। कवि के भाव-विन्यास मे यदि स्वरोदय-साधना का उल्लेख न किया गया तो यह प्रसग अपूर्ण ही रह जायगा। चरनदास ने अपनी साधना मे स्वरोदय-विज्ञान को भी प्रधानता दी है। यह स्वरोदय विषयक विचारधारा उसके ग्रन्थ 'ज्ञान स्वरोदय' मे व्यक्त हुई है। इसमें श्वास-प्रश्वास के उदय और परिवर्तन के आधार पर शुभाशुभ का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता व्यावहारिक और साधनात्मक जीवन मे समान रूप से महत्वपूर्ण है।

कवि के काव्य पर विचार करते हुए हमें उसका भावविन्यास, योग, भक्ति, तत्र, सूफी, बौद्ध तथा नाथों की साधना से प्रभावित प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरनदास एक विशिष्ट साधना-पद्धति और परम्परा में दीक्षित होते हुए भी सारग्राही व्यक्ति थे। उनमें सभी दर्शनों का सुन्दर समन्वय है।

रस—चरनदास के काव्य में शांत, शृङ्गार, करुण, अद्भुत, वीभत्स, हास्य, वीर आदि रसों की रचना हुई है। इनमें से कवि के साहित्य में शात, शृगार करुण और वीर-रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। इनमे से अब हम प्रत्येक रस की विवेचना उदाहरण सहित करेंगे। सबसे प्रथम हम शातरस को ही लेते हैं।

शांत रस—सतों के काव्य में शांत रस की पयस्विनी अविरल रूप में प्रवाहित हुई है। सत्य तो यह है कि सतों के काव्य की रचना का मुख्याधार, शात रस ही है अथवा यह कहना भी असगत न होगा कि शात रस ही सत-काव्य की आत्मा और प्रेरणा है। चरनदास ने भक्ति-प्रधान भावों की रचना प्रचुर मात्रा मे की है। कवि के प्रायः सभी ग्रन्थों मे ब्रह्म के प्रति प्रेम, ससार से विरक्ति, त्याग, क्षमा, दया, निर्वेद आदि भाव उपलब्ध होते हैं। इन्हीं भावों के आधार पर चरनदास के काव्य में शात रस का भला प्रवाह हुआ है। कवि की स्फुट रचनाओं, तथा पद साखियों में शात रस का अच्छा परिपाक हुआ है। कवि की 'भक्ति-पदार्थ', 'भक्तिसागर', 'मनविरक्तकरण-सार', 'पचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान-सागर' इस दृष्टि से विशेषरूप से समादृत रचनाए हैं। उनके विनय के पदों में तथा आत्मनिवेदन सम्बन्धी रचनाओ में शात रस के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, यहां पर कवि की रचनाओं से दो छन्द उद्धृत किये जाते हैं :—

मन में दीरघ भरे विकारा।
सतगुरु साहब बैद मिले बिनु कटै न रोग, अपारा ॥
त्रैगुन के त्रै दोष पगो है काम क्रोध ज्वर जारा।
तृस्ना वायु उठी उर अन्तर, डोलत द्वारहिं द्वारा ॥
विषै बासना पित कफ लागी इन्द्रिन के सुख सारा।
सतसगति रस करुवा लागे करत न अगीकारा ॥
सत पुरुसन को कहा न मानै सील छिमा नहिं धारा।
रसना स्वाद तजो नहिं मूरख आपन पौ न सभारा ॥
चरनदास सुकदेव मिले जब औषधि ज्ञान बिचारा।
तन मन को सब रोग मिटायो आवागमन निवारा ॥

× × × ×

अपना अरि बिनु और न कोई।
मातु पिता सुत बन्धु कुटुंब सब स्वारथ ही के होई ॥
या काया कू भोग बहुत दै मरदन करि करि धोई।
सो भी छूटत नेक तनिक सी संग न चाली वोई ॥

घर की नारि बहुत ही प्यारी तिन मे नाही दोई ।
जीवत कहती साथ चलूंगी डरपन लागी सोई ॥
जो कहिये यह द्रव्य आपनी जिन उज्जल मति खोई ।
आवत कष्ट रखत रखवारी चलत प्रान लैं जोई ॥
या जग मे कोई हितू न दीखै मैं समझाऊ तोई ।
चरनदास सुकदेव कहैं यों सुनि लीजै नर लोई ॥

इन दो पदो से कवि के शात रस का कुछ आभास प्राप्त होता है । पर कवि विरचित शात रस का उत्कर्ष उसके चेतावनी[१] साहित्य में हुआ है । इस रस की अभिव्यक्ति के लिए उसने भाति-भाति के रूपकों और उदाहरणो का भी प्रयोग किया है ।

शृंगार रस—चरनदास के काव्य मे शृगार रस के मनोहर चित्र उपलब्ध होते हैं । शृंगार रस के दोनों पक्षों—विप्रलभ एव संयोग के माध्यम से कवि ने अपने हृदय के भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयास में उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई है । परन्तु सयोग शृगार की अपेक्षा कवि-वर्णित विप्रलभ शृगार अधिक कलात्मक और चित्ताकर्षक है । यहां पर सर्वप्रथम हम कवि के विप्रलभ शृगार पर विचार करेंगे । कवि के वियोग वर्णन पर सूफी दर्शन की वियोग-पद्धति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

विरह-वर्णन ससार के प्रत्येक साहित्य का मुख्य अंग रहा है । अन्य रसों की अपेक्षा इस रस की महत्ता और उपयोगिता काव्य के लिए विशेष मान्य रही है । वियोग या विरह के पीछे प्रत्येक धर्म और साहित्य में एक दर्शन निहित रहा है । साहित्य में शृगार को रसराज कहा गया है और विप्रलभ शृङ्गार को प्राण । विरह, प्रेम का उद्दीपक है । भक्तिसूत्र मे नारद ने इस (विरह) को राजमार्ग एव प्रेम करने की एक शैली माना है ।[२] पाश्चात्य देशों के रहस्यवादियों ने इस विरहानुभूति के समय को डार्क-नाइट-आफ दि सोल या आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि के रूप में ग्रहण किया है । सूफियों की विरहानुभूति विश्व संसार मे प्रसिद्ध है । रहस्यवादी के जीवन में विरह का बड़ा महत्व है । कबीर के अनुसार 'विरहा है सुलतान' और 'जा घट विरह न सचरै सो घट जान मसान ।'

१. देखिए, सतदर्शन में 'सतों की चेतावनी' ।
२. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्ति परमविरहासक्तिरूपा एकधा ऐकादशधा भवन्ति ।—भक्तिसूत्र, ८२

साहित्य में विरह की दश दशाए मानी गई।[1] वैष्णवों के अनुसार विरह आठ प्रकार का है।[2] फारसी साहित्य में विरह की नौ दशाओं की मान्यता मिली है। उपर्युक्त इन विभिन्न दशाओं मे से प्रत्येक सत कवि मे, सभी दशाओं के दर्शन नहीं होते हैं। यह अवश्य है कि इनमे से अधिकांश दशाये प्रत्येक सत कवियो की वानियों में उपलब्ध होती है। सामान्यतया सन्तों में उपलब्ध होने वाली आठ दशायें निम्नलिखित हैं :—

१. चिन्ता, २. व्यग्रता, ३. आंसू, ४. उद्वेग ५. विस्मृति, ६. जागरण, ७. अरुचि (अन्त भोजन) ८. मृत्यु। चरनदास के साहित्य मे विरह की यही आठ दशाएँ उपलब्ध होती हैं।

'चिन्ता' चरनदास के विरह की प्रथम अवस्था है। साहित्य मे इसका द्वितीय स्थान है और यह दशा अभिलाषा के बाद आती है। इसमें दुःख की मात्रा अधिक है। इसमे दर्शन की लालसा का आधिक्य है। चरनदास के काव्य से चिन्ता का एक सुन्दर उदाहरण उद्धृत किया जाता है :—

हमारे नैना दर्श पियासा हो।
तन गयो सूखि हाय हिय बाढ़ी जीवत हूँ वहि आसा हो॥
बिछुरन थारो मरण हमारो मुख में चलै न गासा हो।
नीद न आवै रैनि बिहावै तारे गिनत आकासा हो॥
भये कठोर दर्श नहिं जानो तुमकू नेक न सासा हो।
हमरी गति दिन-दिन औरे ही विरह वियोग उदासा हो॥

इसी प्रकार सुन्दर दास,[3] कबीर,[4] धर्मदास,[5] मीरा,[6] मलूक,[7] धरनी,[8]

---

[1] अभिलाषा सुचिन्ता गुण कथन स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये होत मरण पुनि जाप।
—नवरस—श्री गुलाबराय, एम० ए०

[2] स्तम्भ, कम्प, स्वेद, आंसू, स्वरभग, वैवर्ण्य, पुलक एव प्रलय।
[3] सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृष्ठ ६८१
[4] स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२
[5] स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ४४
[6] स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ७०
[7] मलूकदास की वानी, पृष्ठ. १।८
[8] धरनीदास की वानी, पृष्ठ २।३

दादू[1], दरिया साहब[2], बुल्ला साहब[3], बुल्लेशाह[4], और पलटू[5], एव तुलसी साहब[6] के काव्य मे चिन्ता के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

'व्यग्रता' चरनदास की विरहानुभूति की द्वितीय दशा है। इसमें साधको को बड़ी व्याकुलता का अनुभव होता है। उसे कहीं शाति नहीं मिलती है। उसे इस स्थिति मे सुखदायी पदार्थ भी दुखदायी प्रतीत होते हैं। इसी स्थिति पर पहुँच कर चरनदास ने जल से निकली हुई मछली के सदृश तड़पन का अनुभव किया था। इस भावना को व्यजित करने वाली निम्नलिखित पक्तियां पठनीय होगी :—

सो बिथा मोरी जानत होअकि नाही।
नख शिख पावक विरह लगाई बिछुरन दुख मन माही॥
दिन नहि चैन नींद नहि निशि कू निश्चल बुद्धि नहि भेदी।
कासू कहू कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहू सुधि नहिं पाई।
छतिया धरकत करकं हिये मे प्रीति महा दुख दाई॥
जल बिन मीन, पिया बिन विरहिनि, इन धीरज कहु कैसी।
पछी जरै दव लगी बन में मेरी गति भई ऐसी॥

कबीर[7], मीरा[8], दादू[9], धरनीदास[10], तुलसी साहब[11], बुल्ले साहब[12] एव मलूकदास[13] आदि सन्तों ने इसी प्रकार के विरह की अनुभूति की थी। इस दृष्टि से इन सन्तों में एव चरनदास में बड़ा साम्य है।

---

१. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ६३
२. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १४८
३. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १७२
४. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १८८
५. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २२१
६. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २४५
७. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १०
८. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ६६
९. मीराबाई की वानी
१०. धरनीदास की वानी, पृष्ठ २
११. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २४४
१२. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १८८
१३. मलूकदास की वानी, १।८

'आसू' सन्तों की विरहानुभूति की तृतीय दशा है। यह दशा वैष्णवों और फारसी साहित्य मे मान्य है, हिन्दी में नहीं। प्रतीक्षा की भी कोई सीमा होती है, विरह की भी कोई अवधि होती है। पर जब नैराश्य ही साथ हो लेती है तो नेत्र बरस ही पड़ते हैं। चरनदास में विरह की इस दशा का चित्रण कई बार हुआ है।[1] दादू[2], मलूक[3], सुन्दरदास[4], दरियासाहब[5] (बिहार वाले) आदि सन्तों मे इसी कोटि की विरहानुभूति अनेक बार हुई थी।

'उद्वेग' की दशा आसू के पश्चात् आती है। इस दशा मे सुखदाई वस्तु भी दुःखदाई प्रतीत होती है। सन्तों में सुन्दरदास[6], तुलसीसाहब[7] और मीरा[8] ने इस दशा का सबसे अधिक अनुभव किया था। चरनदास की इस प्रकार की अनुभूति बहुत कम है।

'जागरण' की दशा विरह की तीव्र अवस्था मानी जाती है। इस दशा मे साधक को नीद नहीं आती है। सेज शूलवत् चुभती है। उसे खाना-पीना सभी कुछ विसर जाता है। वह अत्यन्त दुःखी होकर जीवन के लिए इन आवश्यक तत्वों की ओर से विमुख हो जाता है। साधना के क्षेत्र में असफलता और निराशा से प्रियतम प्राप्ति मे विलम्ब के कारण, वह जीवन निःसार समझने लगता है। इसीलिए वह भोजन तथा शयन का परित्याग कर देता है। इस दशा का अनुभव कबीर[9], मीरा[10] धरनीदास[11], बुल्लाशाह[12], पलटू[13], तुलसी साहब[14], दरिया साहब

१ स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १८३

२. स० वा० स०, पृष्ठ ६४

३. जिय विह्वल पिय मिलन को घरी रही ना चैन।
निशि दिन आसू वहि चलै नींद न आवै रैन॥

४. सत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १०६

५. सत वानी सग्रह, भाग २, पृष्ठ १८३

६. सत दर्शन, पृष्ठ १११.११२

७. सत वानी सग्रह, भाग २, पृष्ठ २४३

८. संत दर्शन, पृष्ठ १११

९. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १०।११

१०. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ७१

११. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२७

१२. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १८८

१३. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २२०

१४. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २४३

मारवाड़ वाले)[1], तथा सुन्दरदास[2] ने समान रूप से की थी। चरनदास के काव्य से इस दशा की व्यजक कतिपय पक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

बिछुरन थारो मरण हमारो मुख मे चलै न गासा हो।
नींद न आवै रैनि बिहावै तारे गिनत अकासा हो॥

× × ×

भवन तजो अरु धन तजो री अरी हेली तजी कुलन की रीति।
मान बड़ाई सब तजी रहा एक हारि मीत॥
भूख प्यास निद्रा तजी री अरी हेली तजि दियो वाद विवाद।
राग दोष दोऊ तजो तजो पांच को स्वाद॥

× × ×

दिन नहि चैन नीद नहिं निशि कू निश्चल बुधि नहि मेरी।
कासू कहू कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहू सुधि नहि पाई।
छतियाँ धरकत कर्क हिये मे प्रीति महा दुखदाई॥

विरह की अंतिम दशा 'मृत्यु' या 'मरण' है। जब विरह असह्य हो जाता है, निराशा निस्सीम हो जाती है, तब शरीर क्षीण हो जाता है और साधक को जीवन भार प्रतीत होने लगता है। उस समय वह आत्मघात कर लेने के हेतु प्रयत्नशील हो उठता है, मृत्यु की कामना करने लगता है। कबीर[3], मीरा[4], दयाबाई[5], तुलसी-साहब[6], मलूकदास[7], दादू[8], चरनदास[9], सुन्दर दास[10], आदि सतों मे यह भावना बड़ी तीव्र है। चरनदास के काव्य से इस कोटि का एक पद :—

ज्ञान ध्यान और सुमिरन तेरो तो चरणन चित राखू।
तेरोहि नाम जपू दिन राती तो बिन और न भाखू॥

---

१. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२८
२. सत दर्शन, पृष्ठ ११३
३. सत बानी सग्रह, भाग २, पृष्ठ १०
४. सत बानी सग्रह, भाग २, पृष्ठ ७०
५. दयाबाई की बानी, पृष्ठ ७।१८
६. स० वा० स०, पृष्ठ २२४
७. मलूकदास की बानी, पृष्ठ ६
८. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ६४
९. चरनदास की बानी, पृष्ठ १६
१०. सत दर्शन, पृष्ठ ११५

तन व्याकुल जिय रूधोहि आवत परी प्रीति गल फांसी ।
तुमतो निठुर कठोर महा पिय तुमको आवै हासी ॥
विरह अग्नि नख शिख सू लागी मन मे कल्पना भारी ।
गिरोहि परत तन सभरत नाही रहत भवन मे डारी ॥
कै विष खाय तजों यह काया कै तुम्हरे सङ्ग रहसू ।
चरनदास शुकदेव विछोहा तेरी सू नहि सहसू ॥

सयोग-शृंगार—चरनदास के विप्रलम्भ शृगार पर विचार कर लेने के अनन्तर अब उनका सयोग-शृगार विचारणीय है। कवि का सयोग-शृगार 'ब्रजचरित', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'दान-लीला', 'मटकी-लीला', 'नासकेत-लीला' आदि ग्रन्थों एव स्फुट-पदों मे प्रस्फुटित हुआ है। सयोग-शृङ्गार के वर्णन मे कवि ने मर्यादा और भाव-सौंदर्य का विशेष ध्यान रखा है। इन ग्रन्थों में कहीं अश्लीलता अथवा दूषित भावों की छाया नहीं मिलती है। 'कुरुक्षेत्र-लीला' में श्रीकृष्ण तथा ब्रज के नर-नारियो और राधा के संयोग का मार्मिक चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण के आगमन का द्योतक सयोग-शृगार विषयक निम्नलिखित स्थल पठनीय होगा :—

हमारे घर आये हो सुन्दर श्याम ।
तन की तपन मिटी देखत ही नैनन भयो अराम ॥
अगन लिपाऊँ चौक पुराऊँ फूल बिछाऊँ धाम ।
आनन्द मगलचार गवाऊ आये ये पूरण काम ॥
अब जागे सखि भाग हमारे मन पायी विश्राम ।
चरणदास शुकदेव पिया कू हित सों करू प्रणाम ॥

इस पद में मर्यादित भावों की अभिव्यजना की गई है। कवि के स्फुट काव्य में सुन्दर सयोग शृगार वर्णित हुआ है। साधना के क्षेत्र मे सफलीभूत कवि के हृदय से सयोग विषयक सुन्दर पद फूट पड़े हैं। उदाहरणार्थ एक पद उद्धृत है :—

हरि पीव कू पाइया सखि पूरन मेरे भाग ।
सुख सागर आनन्द में मै उठि नित खेलू फाग ॥
चोवा चदन प्रीति कै सखि केसर ज्ञान घसाय ।
पुष्प बास सू जो वह झीनी तागे अंग लगाय ॥
बेरगी के रंग सू सखि गागर लई भराय ।
सुन्न महल में जाय कै सखि पिय पर दई ढरकाय ॥
भरम गुलाल जब कर लियों सखि बालम गयो ढुराय ।
सतगुरु ने अजन दियो तब सन्मुख दरसे आय ॥

ताली लाई प्रेम की सखि अनहद नाद बजाय।
सर्व भई पिय पायकै हम आनन्द मगल गाय।

अद्भुत रस—कवि ने 'भक्तिपदार्थ', 'भक्तिसागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'कालीनथन-लीला', 'धर्मजहाज' एव 'अमरलोक' आदि ग्रन्थों में वर्ण्य-विषय को व्यक्त करने में यत्र-तत्र अद्भुत रस का प्रयोग किया है। 'कालीनथन-लीला' में कालीदमन और नथन का वर्णन अद्भुत रस का सचार करने मे समर्थ है। अन्य शेष ग्रन्था मे ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व, विशाल रूप आकारादि तथा माया की व्यापकता आदि का वर्णन पढकर हमारे हृदय मे अद्भुत रस का सर्जन हो जाता है। इन दोनो वर्णनो से पाठकों के हृदय मे आश्चर्य के स्थायीभाव का उद्रेक हो जाता है। इन प्रसगों के अतिरिक्त कवि विरचित स्फुट-साहित्य मे अद्भुत रस की दृष्टि से उलटवासियाँ भी पठनीय हैं। ये उलटवासियाँ पढ़ कर पाठक आश्चर्यान्वित हो जाता है। इसी प्रकार माया की विचित्रता तथा उसके विचित्र कार्यकलाप, सांसारिकों को मर्कट की भाँति नचाने की शक्ति रखने वाले वर्णन भी अद्भुत रस की निष्पत्ति मे सहायक होते हैं। कवि के अद्भुत रस के कतिपय उदाहरण निम्न हैं :—

देखो है तमाशा देह समुझिकै विचारि लेहु, मूरख नर होय जो या बात में हसैगो।
चीते को मारि मृग नख शिख सुखाय गयो, बाघनी को मारिबोक सिंह को ग्रसैगो॥
बिल्ली को मारि चूहे प्रेम को नगारो दियो, दादुर हू पाच सर्प मारिकै बसैगो।
कहै चरनदास ऐसे खेल सो लगाई आश, चिरिया के शीश टोरौ बाज को लसैगो॥

इसी प्रकार एक और छन्द है :—

"सापिन चढ़ै अकास, परवत लागी आग"

इस प्रकार के छन्दों में अद्भुत रस की उद्भावना होती है। इनके पीछे प्रत्यक्ष रूप से एक विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा सन्निहित है। इसी प्रकार एक पद और पठनीय है :—

चहुँ दिस झिलमिल झलक निहारी।
आगे पीछे दाहिने बायें तल ऊपर उजियारी॥
दृष्टि पलक त्रिकुटी है देखै आसन पद्म लगावै।
संजम साधै दृढ आराधै जब ऐसी सिधि पावै॥
बिन दामिनी चमकार बहुत ही सीप बिना लर मोती।
दीपमालिका बहु दरसावैं जगमग जगमग जोती॥

ध्यान फलै तव नभ के माही पूरन हो गति सारी ।
चाद घने सूरज अनकी ज्यों सूभर भरिया भारी ॥
यह तो ध्यान प्रतच्छ बतायौ सरधा होय तो कीजै ।
कहि शुकदेव चरण ही दासा सो हमसू सुनि लीजै ॥

वीभत्स रस — कवि के कतिपय ग्रन्थों में वीभत्स रस का भी प्रयोग है । 'नासकेत-लीला' के नरक, यमलोक आदि के वर्णनों मे वीभत्सरस से पूर्ण अनेक चित्र मिल सकते हैं जिनमे रस का अच्छा परिपाक हुआ है । प्रस्तुत ग्रन्थ से कतिपय पक्तियॉ यहॉ उद्धत की जाती हैं :—

कूप नरक है पाचवा, जाका करू बखान ।
तामे लोहू पीप है, कूवे की सम जान ।
तापै काग बहुत घिर रहिया । बड़ी चोंच लोहे सम धरिया ।
तामे पापी कू गहि डारै । तिरआवै वह चोंचहि मारै ॥
या सम पाप और कहा होई । कूप नरक में डूबै सोई ॥
महा कीट छठा जो देखा । कूप की जो ताहि बसेखा ।
तामे विष्ठा बहुतै भरिया । कुलबुलाट कीडों ने करिया ॥
बड़े बड़े कीड़े ता माहीं । पापी के तन मे चिपटाही ॥
पात झड़े खाड़े सम लागै । कटै मांस हाड़ ही ताकै ॥
त्राहि त्राहि जहा हो रही भारी । सुनकर चेतै नांहि अनारी ॥
तन माही दुरगन्ध जु आवै । लांबी काया अति डरवावै ॥
बहुतों के मुख श्वान से, बहुतो के मुख बाघ ॥
बहुतक चीते मुख बने, बहुतों के जों नाग ॥

इसी प्रकार रौरव, कुम्भीपाक, नरकादि के बड़े वीभत्स पूर्ण वर्णन कवि ने इस ग्रन्थ मे किये हैं । पापियों का पीब, रक्त, मल आदि की नदी में फेंके जाने का वर्णन क्या वीभत्स नहीं है ?

करुण रस—चरनदास के ग्रन्थों में 'नासकेत-लीला' और 'कुरुक्षेत्र-लीला' मे करुण रस का चित्रण हुआ है । 'नासकेत-लीला' मे चन्द्रावती के वनगमन, देश-निष्कासन, एव पुत्रप्रसव के प्रकरण में करुण रस का वर्णन हुआ है । इसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र-लीला' में नर-नारियों एव पशु जगत् का वर्णन हुआ है । श्रीकृष्ण के विरह में उदासीन और व्याकुलता का वर्णन करुण रस का सचार करने मे समर्थ है । 'कालीनथन-लीला' में काली की पत्नी का विलाप और निवेंदन भी करुणा जाग्रत करने में समर्थ होता है । स्फुटपद साहित्य में भी आत्म-

निवेदन प्रसग के अन्तर्गत करुण रस की उद्भावना हुई है। इन सभी प्रसगों का वर्णन बड़ा सक्षिप्त है। कवि इतनी शीघ्रता तथा सक्षेप के साथ इन घटनाओं का वर्णन कर जाता है कि न तो उन प्रसगो मे रस का उद्रेक ही होता है न रसाभास ही।

हास्य रस—शान्त और हास्य दो विरोधी रस हैं। भक्ति एव साधना के क्षेत्र मे हास्य के लिये अवसर नहीं है। स्वामी के समक्ष भक्त को हसने का साहस नहीं होता है। इसीलिए मानस जैसे महाकाव्य में गोस्वामी जी को हास्य का सृजन करने के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम अवसर मिला है। सम्भवतः इसीलिए चरनदास के साहित्य में भी हास्यपूर्ण बहुत कम स्थलों की रचना हुई है। कवि के दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला ग्रन्थों में व्यग्यात्मक हास्य का सृजन भी हुआ है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी स्थल मर्यादित हास्य से सयुक्त है। इन्हीं ग्रन्थो में गोपियों के यशोदा के प्रति उलहने रोचक और सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ एक छन्द उद्धृत किया जाता है। इस प्रसग में गोपियाँ माखन चुराते हुए कृष्ण जी को पकड़ लेती हैं और उनकी बाँह पकड़ कर माता यशोदा के पास ले जाती हैं। मार्ग मे कृष्ण जी अपना रूप बदल लेते हैं और यशोदा के पास जाने पर ये गोपियाँ हास्य की पात्र बनती हैं—

अपनो हाथ छुटाय दौर माता ढिग आये।
लीला अद्भुत देख परम सुख मैया पाये ॥
तब हँस यशोदा ने कह्यो, कहो ग्वारिनी बात।
किह कारण आई सबै, घर में है कुशलात ॥
जो देखें कर और कहै यह बालक काको।
हम गहलाई कुवर कान्ह भयो अचरज जाको ॥
सब मिलि खिसियानी भई, कहन लगी मुख मोर।
ना जाने इन कहा कियो, ढोटा चित्त के चोर ॥

वीर रस—वीर तथा भयानक रसों का हिंसा एवं शक्तिमत्ता से निकट सम्बन्ध है। भक्ति का शांत रस से सुदृढ़ सम्बन्ध है, अतः भक्ति और वीर या भयानक रस एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। चरनदास का भक्त-हृदय इसी कारण इन दोनों रसों से सर्वथा भिन्न है। कवि के स्फुटकाव्य प्रसंग में यत्र-तत्र वीररस की अभिव्यजना हुई है। 'सूरमा को अंग प्रकरण' में भी वीरतापूर्ण भावों की व्यजना हुई है। परन्तु

यह व्यञ्जना रस-निष्पत्ति की दृष्टि से अधिक सफलीभूत नहीं है। सच तो यह है कि वीररस का सत-साहित्य में पूर्णतया अभाव है।[1]

चरनदास के ग्रन्थों में प्रयुक्त रसों की तालिका निम्नलिखित है :—

१. अष्टाग योग—शान्त रस
२. योगसन्देह सागर—शान्त रस, अद्भुत रस
३. पचोपनिषद्सार—शान्त
४. ब्रह्मज्ञान-सागर—शान्त, अद्भुत
५. मनविरक्तकरण-सार—शान्त
६. ज्ञानस्वरोदय—शान्त
७. भक्तिपदार्थ—शांत, शृगार (विप्रलभ)
८. भक्तिसागर—शान्त, अद्भुत, शृगार (विप्रलंभ)
९. नासकेत-लीला—शांत, शृगार, करुण, अद्भुत, वीभत्स
१०. कुरुक्षेत्र-लीला—शांत, शृगार, करुण
११. श्रीधर ब्राह्मणलीला—शान्त
१२. धर्मजहाज—शान्त
१३. अमरलोक—शान्त, अद्भुत
१४. ब्रजचरित—शान्त, शृगार
१५. जागरण-माहात्म्य—शान्त, अद्भुत
१६. दानलीला—शान्त, हास्य, शृगार
१७. माखनचोरी-लीला—शान्त, हास्य, शृंगार
१८. मटकी-लीला—शान्त, हास्य, शृगार
१९. कालीनथन-लीला—शान्त, करुण, अद्भुत
२०. चीरहरण-लीला—शान्त, हास्य, शृगार

संक्षेप मे चरनदास के ग्रन्थों में शांत, शृगार, हास्य, करुण, अद्भुत, वीभत्स आदि रसों की रचना हुई है। रसों की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित होगा :—

शान्त रस—अष्टाग योग, योगसन्देह सागार, पचोपनिषद्सार, ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्तकरणसार' ज्ञानस्वरोदय, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, नासकेत-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, श्रीधर ब्राह्मण-लीला, धर्मजहाज, अमरलोक, ब्रजचरित, जागरण-

[1] देखिये, सत दर्शन में 'सन्तों के सूरमा', पृष्ठ ७४

माहात्म्य, दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, कालीनथन-लीला और चीरहरण-लीला।

श्रृंगार रस—दानलीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, कालीनथन लीला, चीरहरण-लीला, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, नासकेत-लीला, एवकुरुक्षेत्र-लीला।

अद्भुत रस—कालीनथन-लीला, भक्तिपदार्थ, योगसन्देह सागर, ब्रह्मज्ञान-सागर, नासकेत-लीला एव अमर लोक।

हास्य रस—दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, एव चीरहरण लीला।

करुण रस—नासकेत लीला एव कुरुक्षेत्र-लीला।

वीभत्स—नासकेत-लीला।

कल्पना का उत्कर्ष—काव्य जीवन का आधार और प्रतिबिम्ब है। वह हमारे जन-जीवन एवं समाज का प्रतिबिम्ब है। वह किसी भी जाति के उत्कर्षापकर्ष का विस्तृत लेखा है। काव्य या साहित्य का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज से विलग साहित्य की कोई महत्ता नहीं रहती है। आज का आलोचक साहित्य का आधार मानव जीवन ही मानता है। उसका कथन है कि साहित्य की धारा जनता के धरातल पर प्रवाहित होना चाहिये। जिस काव्य मे मानव-जीवन की सच्चाईयाँ, अनुभूतियाँ, सुख-दुख की भावनाए नहीं व्यक्त होती हैं। वह केवल मनोरजन का साहित्य है, आज हमारे कलाकार को जनता के अधिकाधिक निकट जाना होगा। जनता के जीवन मे उसकी अन्तर्दृष्टि का प्रवेश वाञ्छनीय है। दूसरे शब्दों मे आज हमारे कलाकार की कला को यथार्थ की भूमि पर पनपना चाहिये। उसे अत्यधिक यथार्थवादी बनना होगा। कल्पना लोक के कोमल कुसुमों के साथ खेलने की अपेक्षा उसे ससार और अपने चारों ओर फैले हुए समाज के प्रति चेतनशील रहना पड़ेगा। उसके साहित्य में जनता के हृद्तत्री के तारों की झनकार गूजती रहनी चाहिये। इस प्रकार यथार्थ और सत्यता के साथ उसे पूर्णरूप से अपना गठबन्धन रखना चाहिए। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि-सुलभ कल्पना का द्वार उसके लिए सदैव के हेतु अवरुद्ध हो गया है। यथार्थवादी होते हुए भी हमारा कलाकार अपने भावों को व्यक्त करने के लिए कल्पना का माध्यम ग्रहण कर सकता है। परन्तु कल्पना का भाग यथार्थ की तुलना में असन्तुलित नहीं रहना चाहिए। हिन्दी के सत कवि आज के प्रगतिवादियों के समान अत्यधिक यथार्थवादी हैं। उनके काव्य की प्रेरणा जनता

और तत्कालीन समाज है, परन्तु फिर भी उनका साहित्य कल्पनोत्कर्ष से विहीन नही है। उनके साहित्य मे सुन्दर कल्पनाओ का उत्कर्ष हुआ है।

चरनदास के भक्त हृदय ने उन्हे समाज-सुधार तथा कवित्व की भावनाए प्रदान की थी। वे भाव-प्रधान प्राणी थे। उनकी भावुकता केवल स्वातः सुखाय ही नहीं थी वरन् लोकरजन के लिए भी थी। उनके भाव एव विचार विश्व कल्याण के रग में अनुरजित थे। भावुकता और कल्पनोत्कर्ष मे निकट सम्बन्ध है। अतएव चरनदास के साहित्य मे हमे सुन्दर कल्पनाओ का उत्कर्ष उपलब्ध होता है। इन कल्पनोत्कर्षों का महत्व केवल आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही नहीं वरन् साहित्य की दृष्टि से भी है। कवि कल्पनाओं के सुन्दर दर्शन उनके ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्त-करणसार, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, धर्मजहाज, आदि ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि के सहस्रो स्फुट पद तथा साखियो मे भी कलात्मक कल्पनाए उपलब्ध होती हैं। इन कल्पनाओं को व्यक्त करने मे लेखक ने अनेक रूपकों, और उदाहरणो का सहारा लिया। अब यहाँ पर कतिपय कल्पनाओं और भावों के उत्कर्ष का परीक्षण आवश्यक है।

इन्द्रियाँ मानव की सबसे बडी शत्रु हैं। इन्ही के कारण मानव के हृदय में लोलुपता, स्वादुप्रियता समुत्पन्न होती है और भ्रम, इनके वशीभूत होते ही वह जीवन को मिट्टी मे मिला देता है। शरीर मे निर्बलता, चरित्र में दोष पाने वाला और आध्यात्मिकता से पतित करने वाली यही इन्द्रियाँ ही तो हैं। कवि ने शरीर की इन्द्रियों से समुत्पन्न काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहकार को पॉच प्रबल चोर होने की कल्पना की है। ये कवि के शब्दों में :—

पाचौ चोर महा दुख दाई। सो या जग मे देहि फसाई ॥
तन मन कू बहु व्याधि लगावैं। कायक वाचक पाप चढावै ॥

भ्रम, मानव की बुद्धि पर एक प्रकार का पर्दा डालता है और वह सद्-असद् सोचने मे समर्थ नहीं रह जाता। भ्रम बुद्धि मे द्विविधा उत्पन्न कर देता है। किंचित् काल के लिए भ्रम, बुद्धि को उसी प्रकार आच्छादित कर लेता है यथा बादल सूर्य को अथवा माया सत्य को। अन्ततोगत्वा सत्य उद्भासित ही होकर रहता है और बुद्धि निर्मल होती है। कवि ने इसी भ्रम को एक घूघट की सज्ञा प्रदान की है। यह कल्पना कितनी सुन्दर और सत्य है, साथ ही मनोवैज्ञानिक भी :—

साधो घूघट भर्म उठाय होली खेलिये।
बेद पुरान लाज तजिबे री इन मे ना उरझैये।
सिर सू सकुच उतारि चदरिया पिय सू रग बढैये ॥

रूप न रेख है सूरति मूरति ताके बलि-बलि जैये ।
अचल अजर अविनासी सोई सनमुख दरसन पैये ॥
सत चेतन आनन्द सदा ही निरभय ताल बजैये ।
पाप पुन्य की सका त्यागो जह मर्याद न पैये ॥

भर्म घूघट उठाकर "सिर सू सकुच उतारि चदरिया' अविनाशा प्रियतम के दर्शन पाने की कल्पना कितनी सुदर है ।

होली का नाम लेते ही पिचकारी, रङ्ग, गुलाल, कबीरें, उफर आदि का ध्यान आ जाता है और साथ ही मस्ती के साथ फाग गाने वाला के चित्र सामने अकित हो जाते हैं । इन पंक्तियों मे इन्हीं समस्त वस्तुओ को लेकर कवि ने सासारिक तत्वों पर रूपक घटित किया है । कवि की कल्पनाओ का सुन्दर उत्कर्ष इन पंक्तियो मे देखिये :—

साधो चलो तुम सभारी जग होरी मति रहि भारी ॥टेक॥
दभ पखंड गहे करमे डफ हूबड हूबड की तारी ।
त्रैगुन तार तंबूरा साजै आसा तृष्ना गतिधारी ॥
पाप पुन्य दोउ ले पिचकारी छोड़त हैं बारी बारी ।
सनमुख ह्वै करि जो नर खेलो ताके चोट लगी कारी ॥
लोभ मोह अभिमानी भरी लै माया गागरि डारी ।
राजा परजा जोगी तपसी भींज रहे संसारी ॥
कुबुधि गुलाल डारि मुख मींजो काम कला पुटली मारी ।
जुग जुग खेलत यौ चलि आई काहू ते नाहीं हारी ॥
जड़ चेतन दोउ रूप सवारे एक कनक दूजी नारी ।
पाच पचीस लिये सग अबला हसि हसि मिल गावत गारी ॥
चतुरा फगुवा दै है छूटै मूरख को लागी प्यारी ।
चरनदास शुकदेव बतावै निर्गुन ज्ञान लगी न्यारी ॥

इस ससार मे मन समस्त सकल्प-विकल्पों का उत्तरदारी है । आशा, तृष्णा आदि उसी की सन्तान हैं । मन दिन भर भाँति-भाँति की कल्पनाएँ करता रहता है। भाँति-भाँति के ससार की सृष्टि करता रहता है । प्रस्तुत पद मे कवि ने मन के माली होने की कल्पना की है। इस कल्पना के आधार पर देखिये कितना बड़ा रूपक खड़ा किया गया है और हमारा कवि अपने प्रयास मे कितना सफल हुआ है :—

करि ले प्रभु सू नेहरा मन माली यार ।
कहा गर्व मन मे धरै जीवन दिन चार ॥

ज्ञान बेलि गहु टेक की दया क्यारी सवार।
सतसत दृढ के बीज ही बोवो तासु मझार ॥
सील छिमा के कूप को जल प्रेम अपार।
नेम डोल भरि खैचि कै सीचों बाग विचार ॥
छल कीकर कू काटि कै बाधो धीरज बार।
सुमति सुबुद्धि किसान कू राखौ रखवार ॥
धर्म गुलेल जु प्रीति की हित धनुष सुधार।
झूठ कपट पच्छनि कू ता सू मार बिडार ॥
भक्ति भाव पौधा लगै फूलै रग फुलवार।
हरि रस माता होय के देखै लाल बहार ॥
सत सगति फल पाइये मिटै कुबुधि विकार।
जब सतगुरु पूरा मिलै चाखै अमृत सार ॥

निम्नलिखित पक्तियों मे मन को राम नाम का व्यापारी माना गया है:—

मनुवा राम से व्यौपारी।
अब की खेप भक्ति की लादी वनिज कियो तै भारी ॥
पाचो चोर सदा मग रोकत इनसू कर छुटकारी।
सतगुरु नायक के संग मिलि चल लूट सकै नहि धारी ॥
दो ठग मारग माहिं मिलैगे एक कनक इक नारी।
सावधान हो पेंच न खैयो रहियो आप सभारी ॥
हरि कें नगर मे जा पहुँचोगे पैहौ लाभ अपारी।
चरनदास तो कू समझावै हे मन बारम्बारी ॥

ससार विनाशशील एव क्षणिक है। राम और नाम के अतिरिक्त इसमे सभी कुछ शून्य है। यह प्रासाद, यह भवन, यह झिलमिलाता हुआ सुन्दर यौवन और रूप, सभी कुछ तो मिट्टी मे मिल कर पचतत्व को प्राप्त हो जाता है। यह शरीर जिस पर इतना गर्व और अहकार है, ओले की भाँति गल कर विकृत हो जायगा। ओले की भाँति शरीर का गल जाना कवि की मौलिक और निजी कल्पना है :—

या तन को कह गर्व करत है, ओला ज्यो गलि जावै रे।
जैसे बरतन बनो काच को, ठपक लगै विनसावै रे ॥
झूठ कपट अरु छलबल करि कै, खोटे कर्म कमावै रे।
बाजीगर के बादर साज्यों, नाचत नाहि लवावै रे।
जब लौ तेरी देह पराक्रम, तब लौ सवन सो हावै रे ॥

निम्नलिखित पक्तियो मे तन के पिजड़ा होने की कल्पना की गई है। यह कल्पना परम्परागत होते हुए भी प्रिय लगती है :—

दम का नही भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिजरे सू निकल जायगो बल मे पछी प्रान ॥

मानव जीवन को कवि ने अवधि माना है। इस ससार मे ठहरने की अवधि धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है और फिर-फिर वही प्रस्थान का दिवस आजायगा। प्रस्तुत पद मे इसी कल्पना का प्रसार देखिए :—

अजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात।
स्वास पूँजी गांठि तेरे, सो घटत दिन रात॥
साधु सगत पैठ लागी, ले लगै सोइ साथ।
बड़ो सौदो हरि सभारौ, सुमिरि लीजै प्रात।
काम क्रोध दलाल है, मत बनिज कर इन साथ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे है तेरी घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदय, तौ दगा नहि खात॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की कल्पनाओं का उत्कर्ष सुन्दर और सफल है। इन कल्पनाओं मे कतिपय परम्परानुगत है और शेष मौलिक तथा सर्वथा अभिनव।

अलंकार योजना—विगत पृष्ठों में सन्तों के काव्यादर्श पर विचार किया जा चुका है। दरिया साहब के अनुसार संतों का काव्यादर्श निम्नलिखित है :—

सकल कवित का अर्थ है, सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात॥

स्पष्ट है कि सन्तों ने कला प्रदर्शन के लिए काव्य नहीं लिखा। इन सतो को काव्य-रचना के आधारभूत सिद्धान्तों, छन्द, पिंगल, रस और अलकार का ज्ञान नहीं था। जिन सन्तों ने काव्य और कवि को सम्मान्य नहीं माना है उन्हें पिंगल से क्या प्रयोजन ? जिन्हें प्रदर्शन और बाह्याडम्बर से घृणा है उन्हें अलकरण से क्या सम्बन्ध ? फिर भी सन्तों ने काव्य की रचना की और उनके काव्य मे अलकारों के दर्शन होते ही हैं। सच तो यह है कि भावों के वेग के साथ ही सन्तों के काव्य में अलकारों का सहज सौन्दर्य सर्वत्र दृष्टिगत होता है। अलकारों का प्रयोग करके काव्य का सौन्दर्य बढ़ाना हमारे कवि का लक्ष्य नहीं था। जीवन, साधना और काव्य—तीनों में ही हमारे कवि को सहज और सरलता प्रिय थी। इसीलिए स्वाभाविक रूप से आए हुए अलकार उनके काव्य के वहिरग को सुशोभित कर रहे हैं।

चरनदास के काव्य मे शब्दालकारों मे अनुप्रास तथा अर्थालकारों मे उपमा, रूपक तथा अतिशयोक्ति अलकारो का प्रयोग बारम्बार हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य अलकारों का प्रयोग नहीं हुआ है।

चरित्र चित्रण —सन्तों के काव्यादर्श का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। उससे स्पष्ट है कि इन्होने काव्य को केवल हेतु माना है। चरनदास ने अन्य सन्तो के स्वर से स्वर मिलते हुए कहा है :—

पढन लिखन सब नाम है री, अरी हेली नाम ग्रह सब देव।
जो कुछ है सो नाम ही, नाम हमारा मेव॥

इन सन्तों ने काव्य को केवल ब्रह्म-गुणगान और उपदेश देने का माध्यम माना था। प्राकृत विषयों से सम्बद्ध चरित्रों के गुणगान को ये वाणी या सरस्वती का अपमान समझते थे। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन को उच्च करना था। इसीलिए न उन्होंने किसी महाकाव्य की रचना की न उनके काव्य में अनेक प्रकार और भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले पात्रों का चरित्र-चित्रण ही हुआ है। चरनदास के चारित्रिक ग्रन्थों में 'नासकेत-लीला,' 'चीरहरण-लीला,' 'दान-लीला' 'ब्रजचरित' 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला' आदि ग्रन्थों का उल्लेख होता है। इन ग्रथों के नामों से ही स्पष्ट है कि इनमें अलौकिक वा पुण्यात्मा व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं। 'नासकेत-लीला' में ऋषि उद्दालक एव चन्द्रावती के पुत्र नासकेत का उज्ज्वल चरित्र वर्णित हुआ है। इसके साथ ही उद्दालक, चन्द्रावती, इन्द्र एव प्रजापति के चरित्रों का वर्णन किया गया है। 'चीरहरण-लीला,' 'दान-लीला' एव 'ब्रजचरित' ग्रन्थों में कवि ने श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया है। इन महान् व्यक्तित्व के साथ श्री राधा, गोप कुमारियों और ब्रज की अनेक दिव्यागनाओं का चरित्र स्वय प्रकाश मे आ गया है। इन तीनों ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के चरित्र से ही अन्य पात्रों के चरित्र प्रकाशित होते हैं। अंतिम ग्रन्थ मे श्रीधर ब्राह्मण के कपट चरित्र का चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में बालक श्रीकृष्ण के चरित्र का क्षीण प्रकाश भी व्यक्त हो गया है। इन समस्त पात्रो का चरित्र-चित्रण प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।

कवि ने उपर्युक्त ग्रन्थों में चरित्र-चित्रण के प्रति कम ध्यान दिया है। उसके ध्यान और वर्णन का केन्द्र-विन्दु है चरित्रों और कथाओ से निकला हुआ निष्कर्ष और असत्य पर सत्य की विजय, अधर्म पर धर्म की स्थापना। कवि ने चरित्र-चित्रण को प्रायः उपेक्षित ही रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य कथा-वर्णन की ओर अधिक है। कथा कहने की जल्दी मे वह चरित्र-चित्रण को भी भूल जाता है। सत्य तो यह है कि कवि चरित्र की ओर ध्यान न देकर कथा

के निष्कर्ष के प्रति अधिक ध्यान देता है। ब्रजचरित्र, दानलीला, चीरहरणलीला आदि बड़े ही मनोरम और चित्ताकर्षक प्रसग है। इनमे श्रीकृष्ण के चरित्र की सरसता, मनमोहकता, रमणीयता आदि के प्रति लेशमात्र भी कवि का मन नही गया है। कथा का प्रवाह चरित्र-चित्रण की विशेषताओं को अपने साथ बहा ले जाती है। इन ग्रन्थो मे श्रीकृष्ण के लोकरजक मधुर चरित्र की अभिव्यक्ति भी नही हुई है। केवल कृष्ण के चरित्र की अलौकिकता के प्रति कवि का ध्यान सर्वत्र गया है।

'नासकेत-लीला' मे भी नासकेत के चरित्र का बहुत ही क्षीण प्रकाश हमे प्राप्त होता है। लेखक का मन विविध नरको की यातनाओं, पापियों के पाप-भोग तथा दुष्कृत्यो के कुफल और कर्मयोग के प्रति जितना गया है उतना अन्य किसी बात मे नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि नासकेत का चरित्र इन आदर्शों और फलो के वर्णन करने के लिए व्यक्त किया गया है।

सक्षेप मे कवि, चरित्र-चित्रण मे अधिक सफल नही हुआ है। सम्भवतः यह उसका लक्ष्य भी नहीं था।

रचना शैली—प्रत्येक लेखक की निजी शैली होती है। इसी शैली के आधार पर वह अपने भाव अथवा विचारो की अभिव्यजना करता है। शैली के लिए बहु-पठित होने की उतनी आवश्यकता नही जितना लिखित साहित्य होना अनिवार्य है। साहित्यकार विद्वान् हो या अल्पज्ञ, यदि उसका साहित्य लिखित है तो उसकी शैली स्पष्ट हो जायगी। सत कवि न बहु-पठित थे न विद्वान्, फिर भी उनकी अपनी शैली है। बात कहने का ढग ही शैली है। शैली के विभिन्न अग होते हैं। किसी भी कवि की शैलीगत विशेषताओं पर ध्यान देने या उनका मूल्याकन करने के लिए हमें शैली के समस्त अगों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। चरनदास की शैली का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों मे करेंगे :—

१. अभिव्यजना शक्ति, २. छन्दो का प्रयोग, ३ भाव, शब्द और मुहावरों का प्रयोग ४ विभिन्न प्रकार के साहित्य रचना की शक्ति तथा ५ शैलीगत विशेषताए। शैली की दृष्टि से चरनदास का साहित्य निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

१ सर्वप्रथम वह साहित्य है, जिसकी रचना कवि ने जनहित से प्रेरित होकर की। इसमे उनकी साधना की अनुभूति व्यजित है। इसी कोटि मे कवि-विरचित अन्य सहस्रों पद एव साखियां भी आ जाती हैं जिनकी रचना जनता के उपदेशार्थ हुई है। कवि की 'अष्टाग योग,' 'पचोपनिषद्-सार,' 'ब्रह्मज्ञान-सागर,' 'भक्तिपदार्थ,' 'भक्तिसागर,' 'योगसन्देह-सागर, 'मनविरक्तकरण-सार' आदि रचनाए इसी कोटि में

आ जाती हैं। यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये ग्रन्थ कवि की प्रतिनिधि-रचनाए हैं। इनमे कवि की प्रतिनिधि विचार-धारा के दर्शन होते हैं। योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और स्वरोदय-साधना सभी का परिचय इनसे प्राप्त हो जाता है।

२ वह साहित्य है, जिसकी रचना कवि ने केवल भगवत भजन और ब्रह्म के गुणगान के लिए की है। इस कोटि के ग्रन्थों मे श्रीकृष्ण चरित्र विषयक ग्रन्थ अमर लोक, भक्तिसागर आदि ग्रन्थ आते हैं।

३ स्फुट-साहित्य, जिसकी रचना कवि ने स्वान्तः सुखाय की थी। इस कोटि मे अनेक पद एव साखियॉ आती है जिनमे न तो उपदेश की भावना है और न अनुभूति की व्यजना ही हुई है। इन पदो की सख्या प्रचुर है।

इन तीनो प्रकार के साहित्य का महत्व अपने-अपने स्थान पर सुरक्षित है। साधना, अनुभूति और उपदेश की यह त्रिवेणी किसी भी पाठक को आनन्द-विभोर कर देने की सामर्थ्य रखती है।

अभिव्यंजना शक्ति—'भक्ति सागर' के अन्त मे कवि ने लिखा है :—

ऐसे ही पांच हजार बनाई। नाम गुरू के गग बहाई ॥
फिर भइ बानी पाच हजारा। हरि के नाम अगिनि में जारा ॥
तीजै गुरु आज्ञा सो कीन्ही। सो अपने साधुन को दीन्ही ॥
अद्भुत ग्रन्थ महासुख दाई। ताकी शोभा कही न जाई ॥
तामे ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जाये अनुरागा ॥
निर्गुण सर्गुण सबही कहिया। फिर गुरु चरण कमल मे रहिया ॥
जो कोई पढि पढ़ि अर्थ विचारै। आप तरै औरन को तारै ॥
ना मै किया न करने हारा। गुरु हिरदे मे आप उचारा ॥

इन आत्मकथात्मक पक्तियों से ज्ञात होता है कि भक्ति-सागर के रचना-काल तक (अन्तस्साक्ष्य के अनुसार इस ग्रन्थ का रचना-काल सवत् १७८१ है) कवि ने इसकी रचना इक्कीस वर्ष की अवस्था में की थी। कवि ने १५००० पदो की रचना की थी। इनमे से ५,००० पदो को गुरु के नाम पर उसने गगा मे समर्पित कर दिया, ५००० पदों को उसने हरि के नाम पर अग्नि मे समर्पित कर दिया, शेष पांच हजार गुरु की आज्ञा से कवि ने सन्तों की सेवा मे समर्पित किया। इस प्रकार १५००० पदो की रचना के विषय मे हमे कवि का अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होता है। 'भक्ति-सागर' ग्रन्थ के अनन्तर कवि ने अन्य ग्रन्थो की भी रचना की जिनमे 'अष्टाग योग', 'योग सन्देहसागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'सर्वोपनिषद् सार', 'मनविरक्तकरण-सार', आदि उल्लेखनीय हैं। अतएव निश्चय ही कवि ने इन

१५,००० छन्दो के बाद ५,००० अन्य महत्वपूर्ण सारगर्भित छन्दो की रचना की होगी। चरनदास का बहुत-सा साहित्य सम्प्रदाय के महन्तो की कृपा से कीटाणुओं की खाद्य सामग्री बन गई है। पता नहीं है कि कितनी हस्तलिखित प्रतियाँ महन्तों की कृपा और अज्ञान के कारण विनष्ट होकर मानव की पहुँच के बाहर हो गई है।

चरनदास का उपलब्ध साहित्य मार्मिक और विस्तृत है। वह अभिव्यजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण और सराहनीय है। हमारा कवि अभिव्यजना की सराहनीय शक्ति लेकर अवतरित हुआ था।

जैसा कि कवि के आत्मकथात्मक अन्तस्साक्ष्य पद्य से प्रकट होता है, कवि की प्रतिभा सम्पन्न-लेखनी से सगुण तथा निर्गुण, ज्ञान योग तथा भक्ति वैराग्य तथा सरोदय, अनुराग तथा विराग, प्रेम तथा घृणा, सत्सग तथा दुर्जन, मूर्ति उपासना तथा वाह्याडम्बरों का खडन, सामाजिक दोष तथा धार्मिक आडम्बर जैसे विविध विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। कवि की लेखनी से नीतिविषयक छन्दो की भी रचना हुई है, जिसमे वही स्वाभाविक प्रवाह तथा भाषा परिष्कार उपलब्ध होता है, जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, नीतिविषयक कतिपय साखिया यहा उद्धृत की जाती हैं :—

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अम्बज सर माहि।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवै नाहि॥

× × ×

जग माहीं न्यारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वी पर देही रहै, परमेसुर मे प्रान॥

× × ×

अबकै चूकै चूक है, फिर पछतावा होय।
जो तुम जक्त न छोड़िहौ, जन्म जायगो खोय॥

× × ×

जनम चलो ही जात है, ज्यों कूवै सैलाव।
दौरत मृग की छाह को, नेक नहीं ठहराव॥

कवि ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म का गुणगान एक ही समान कौशल से किया है। उसने जिस माधुर्य और कलापूर्ण ढंग से दानलीला, मटकी लीला आदि प्रसगों की रचना की, उसी प्रकार सांसारिकता से विराग एव माया से दूर रहने का उपदेश दिया है। जिस सुचारु रूप से उसने अपने हृदय के सरलतम भावों को परब्रह्म के चरण-कमलों मे अर्पित किया है, उसी प्रकार उन्होंने विविध कथाओं

का भी वर्णन किया है। उनकी लेखनी से गहन तथा सरल, गूढ एव स्पष्ट, महत्वपूर्ण एव साधारण, उत्तम तथा मध्यम, सभी प्रकार के भावों की रचना हुई है।

कवि की लेखनी अथवा शैली की एक और विशेषता है। उसने एक ही भाव, एक ही विचार को अनेक बार छन्द-बद्ध किया है परन्तु उस प्रसग को पढ जाने के अनन्तर, कही उसमे पुनरुक्ति दोष नहीं उपलब्ध होता है। प्रत्येक छन्द उसी अभिनवता के साथ हमारे समक्ष व्यक्त हुआ है जैसा कि पहले का छन्द हमे अभिनव प्रतीत हुआ था। उदाहरणार्थ. आप ससार की नश्वरता से सम्बन्धित भाव को ही ले लीजिए। इस भाव पर लेखक ने सैकडो छन्दो की रचना की है परन्तु पाठक का मन कहीं पर उनको पढ़कर ऊबता नहीं है। यहॉ इस आशय की कतिपय पक्तियॉ उद्धृत की जाती हैं :—

घरी दो मे मेल विछुरै साधो देखित मासा चलना।
जो ह्या आकर हुए इकट्ठे तिनसू बहुरि न मिलना॥

× × ×

दो दिन का जग जीवना करता है क्यो गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥

× × ×

दम का नही भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिंजरे सू निकस जायगो पल मे पछी प्रान॥

× × ×

तन का तनिके भरोसा नाही, काहे करत गुमाना रे।
ठोकर लगे नेकहूँ चलतै करिहै प्रान पयाना रे॥

× × ×

यह तन का कह गर्व करत है ओला ज्यो गलि जावै रे।
जैसे बरतन बनो कांच को ठयक लगे विनसावै रे॥

इन पॉचों उद्धरणों मे एक ही भाव बारम्बार दोहराया गया है। परन्तु प्रत्येक उद्धरण में हमे नवीनता उपलब्ध होती है। कबीर, दादू आदि सतों की भॉति हमारे कवि ने भी अपने कथनों को दृष्टात देकर उन्हें रोचकता और लोकप्रियता प्रदान करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त उद्धरणो में कवि ने जिन-जिन दृष्टांतों का प्रयोग किया है वे हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसी कारण इनमें स्वाभाविकता और प्रभावित करने की शक्ति है।

कवि का मन योग एव स्फुट-काव्य मे अधिक रमा है। उसका सम्पूर्ण

साहित्य पढ जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसकी शैली की सुष्ठुता इन दो प्रसगो मे विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।

सिद्धान्तो का प्रतिपादन – चरनदास के ग्रन्थो मे सिद्धान्तो का प्रतिपादन प्रायः प्राचीन ढग से हुआ है। प्रायः अधिकतर ग्रन्थो की रचना शिष्य एव गुरु के प्रश्नोत्तर मे हुई है। शिष्य के मस्तिष्क मे प्रश्न अथवा शका जाग्रत होती है और वह जिज्ञासा भाव से अपने गुरु से प्रश्न करता है। गुरु, शिष्य की जिज्ञासा को शान्त अथवा निवारण करने के लिए सविस्तार उदाहरण सहित उत्तर देता है। इन्ही प्रश्नोत्तरो मे दर्शनशास्त्र के दुरूह और नीरस विषयो—माया, जीव, जगत्, ब्रह्म, सृष्टि, प्रवृत्ति, निवृत्ति, योग, अष्टांगयोग, आनागमन, मुक्ति-भुक्ति, सत्य, शील, धर्म, त्याग, परोपकार आदि विषयो का प्रतिपादन हुआ है। इन विषयो के प्रतिपादन के साथ ही साथ कवि ने सिद्धान्तो के निर्धारण और प्रतिपादन के लिए भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार के ग्रन्थो मे यदि पुस्तक को गुरु मान लिया जाय और पाठक को शिष्य, तो पाठक के यथासम्भव प्रत्येक प्रश्न का उत्तर मिल जाता है और उसे जिज्ञासा शान्ति के लिए इधर-उधर भटकना नही पडता है। प्रश्नोत्तर के रूप मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का प्रभाव पाठको पर भली प्रकार पड़ता है। यह मनोवैज्ञानिक शैली प्रायः प्रत्येक सत कवि के साहित्य मे उपलब्ध होती है।

इस प्रकार के ग्रन्थो मे शिष्य धीरे-धीरे एक-एक प्रश्न पूछता है। प्रश्नों की शृखला के साथ ही उत्तरों की शृखला भी बनी रहती है और इस प्रकार अभीष्ट विषय का प्रतिपादन किया जाता है। दुरूह विषयो को खड-खड करके पूछने में उसकी दुरूहता विनष्ट हो जाती है और विषय रोचक बन जाता है।

प्रश्नोत्तर के रूप मे जिन ग्रन्थो मे सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है, वे हैं—'अष्टाग-योग', 'योगसन्देह-सागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'पचोपनिषद्सार' एव 'मनविरक्तकरण सार'। शेष ग्रन्थों मे साधारण ढग से कवि विषय का वर्णन कर जाता है और इस प्रकार वह सिद्धातों की विवेचना भी बीच-बीच मे करता चलता है।

संवाद—'भक्तिसागर', 'भक्तिपदार्थ' और 'योग-सन्देहसागर' के अतिरिक्त कवि की प्रायः सभी रचनाओ मे सम्वादो का समावेश किया गया है। 'अष्टाग योग', 'पचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान-सागर' आदि कवि के महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के रूप मे ही हुई है। इनके अतिरिक्त 'मटकी-लीला', 'ब्रजचरित', 'नासकेत-लीला', 'श्रीधर ब्राह्मणलीला', 'दान-लीला' 'चीर-हरण-लीला', 'मनविरक्तकरणसार' आदि ग्रन्थो के बीच-बीच मे सवादों की रचना की गई है। इन समस्त ग्रन्थो मे सुन्दर सवादो की दृष्टि से 'नासकेत-लीला' और

'मनविरक्तकरणसार' ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेखनीय है। 'नासकेत-लीला' में नासकेत और प्रजापति, इन्द्र और प्रजापति, नासकेत और उद्दालक, उद्दालक और चन्द्रावती के पिता राजा, चन्द्रावती और ऋषि के सवाद सुन्दर हैं। इनमे भाषा-प्रवाह के साथ रोचकता भी उपलब्ध होती है। शेष ग्रन्थो में सवाद-विषयक कोई आकर्षण और रोचकता नही उपलब्ध होती है।

'दान-लीला', 'चीरहरण-लीला', 'व्रजचरित', 'मटकी-लीला', 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला', 'जागरण-माहात्म्य' आदि ग्रन्थो के सवाद सक्षिप्त एव अपर्याप्त हैं। इन सवादों मे सुलभ आकर्षण एव रोचकता नहीं है। इन ग्रन्थों के सवाद नीरस और वाग्वैदग्ध-विहीन हैं। 'दान-लीला', 'चीरहरणलीला', 'मटकी-लीला' आदि प्रसगो की रोचकता और माधुर्य को पहचानने मे कवि सफल नहीं हुआ है।

'अष्टाग योग' ग्रन्थ मे से गुरु और शिष्य सवाद के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

शिष्य-वचन

सतगुरु तुम आज्ञा दई, कहूँ आपनी बात।
याग अष्टाग बुझाइये, जाते हियो सिरात॥
मोहि योग बतलाइये, जोहै वह अष्टाग।
रहनी गहनी विधि सहित, जाके आठो आग॥
मत मारग देखे घने, ह्यासियरे भये प्रान।
जो कुछ चाहौ तुम करौ, मै हौ निपट अयान॥

गुरु-वचन

योग अष्टाग बुझाइहौ, भिन्न-भिन्न सब अग।
पहिले सयम सीखिये, जाते होय न भग॥

शिष्य-वचन

सयम काको कहत है, कहौ गुरु शुकदेव।
सो सबही समुझाइये, ताको पावै भेव॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का ध्यान सवादों को सवारने के प्रति कम है। उसका लक्ष्य विषय का प्रतिपादन करना है न कि कलात्मक सवाद की रचना करना। इन संवादों की भाषा सीधी और सरल है।

छन्द—सन्तों का छन्द-ज्ञान बहुत सीमित है। तथ्य यह है कि इन्हें न पिगल का ज्ञान था और न छन्दों की शिक्षा। उन्होंने अपने हृदय के सीधे-सादे भावों को

सरलतम ढग से अत्यन्त लोकप्रिय छन्दो मे व्यक्त कर दिया है। ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य और काव्य-शास्त्र उनके लिए हेतु था, अन्तिम लक्ष्य नहीं। इसीलिए समस्त सत-साहित्य केवल कतिपय गिने-चुने छन्दो तक ही सीमित है। चरनदास इस उपर्युक्त कथन के अपवाद नहीं है। उनके समस्त ग्रन्थ पद्यात्मक और छन्द-बद्ध हैं।

चरनदास की कविता मे अन्त्यानुप्रास सर्वत्र शुद्ध है। अन्त्यानुप्रास की अशुद्धि का एक भी उदाहरण कवि की रचना मे नही मिलता है। जहाॅ कहीं अन्त्यानुप्रास नही मिलता है, वहाॅ कवि ने ध्वनि की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है :—

लोभ गये ते आवई, महाबली सन्तोष।
त्याग सत्य कू सग ले, कलह निवारन सोक ॥
× × ×
जो राखै मन माहि बिबेक विचार कू।
पावै पद निर्बान बचै जग भार सू॥
× × ×
अर्ज सुनो जगदीश गोसाई।
ग्रह नछत्र अरु देव विसार्यो चरन कवल की आयो छाही॥

कला की दृष्टि से इस प्रकार के ध्वन्यात्मक अन्त्यानुप्रास अशुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार कवि ने दो-एक स्थानों पर ड का अन्त्यानुप्रास ढ से मिला दिया है। यहाँ पर ड एव ढ के उच्चारण में भिन्नता बहुत ही अल्प है। इस कारण खटकने वाली बात नहीं है। इसी प्रकार निम्नलिखित साखी में कवि ने द और ध का अन्त्यानुप्रास मिलाया है। ध्वन्यात्मक-साम्य होने के कारण उनमे कोई दोष नहीं दृष्टिगत होता है :—

मोये भटरे के पग लागै, साधु सत की निंदा।
चेतन को तजि पाहन पूजै, ऐसा यह जग अंधा॥

चरनदास के ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्दों की तालिका निम्नलिखित है :—

१. ब्रजचरित—दोहा, चौपाई, कवित्त
२. अमरलोक—दोहा, चौपाई
३. धर्मजहाज—दोहा, चौपाई
४. अष्टांग-योग—दोहा, चौपाई, अष्टपदी
५. योगसन्देह-सागर—दोहा, चौपाई

६. पचोपनिषद्सार—दोहा, चौपाई, अष्टपदी
७. भक्तिपदार्थ—दोहा, चौपाई, अष्टपदी, कुडलिया, कवित्त, छप्पय, सवैया, अरिल्ल
८. मनविरक्तकरण सार—दोहा, अष्टपदी, कुडलिया
९. ब्रह्मज्ञान-सागर—दोहा, छप्पय, कुडलिया, सवैया, कवित्त
१०. भक्तिसागर—दोहा, चौपाई, छप्पय, सवैया, कवित्त, कुडलियां
११. जागरण-माहात्म्य—दोहा, चौपाई, छप्पय
१२. दान-लीला—दोहा
१३. माखनचोरी-लीला—दोहा
१४. कालीनथन-लीला—दोहा
१५. मटकी-लीला—छप्पय
१६ श्रीधर ब्राह्मणलीला—पद
१७. कुरुक्षेत्र-लीला—दोहा, अष्टपदी
१८. नासकेत-लीला—दोहा, चौपाई
१९. ज्ञान-स्वरोदय—दोहा, चौपाई, कुडलिया
२०. चीरहरण-लीला—दोहा
२१. स्फुट रचनाएँ—साखी, दोहा, पद, कवित्त

छन्दों की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित है :—

१. दोहा, चौपाई—नासकेत लीला, ज्ञान स्वरोदय, चीरहरण-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, ब्रजचरित, अमरलोक, धर्मजहाज, अष्टाग योग, योगसदेह-सागर, पचोपनिषद्सार, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्तकरण-सार, जागरण-माहात्म्य, दानलीला, माखनचोरी-लीला, कालीनथन-लीला।
२. कवित्त—ब्रजचरित, भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञान-सागर, भक्तिसागर।
३. कुडलियाँ—ज्ञान-स्वरोदय, भक्तिपदार्थ, मनविरक्तकरण-सार, ब्रह्मज्ञान-सागर, भक्तिसागर।
४. छप्पय—मटकी-लीला, भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर, जागरण-माहात्म्य।
५. अष्टपदी—कुरुक्षेत्र-लीला, मनविरक्तकरण-सार, भक्तिपदार्थ, पचोपनिषद्सार, अष्टांग-योग।
६. सवैय्या—भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर।
७. अरिल्ल—भक्तिपदार्थ।

इस विवेचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि चरनदास को दोहा, चौपाई, अष्टपदी, और कुडलिया विशेष प्रिय थे। इसके अतिरिक्त स्फुट-साहित्य मे 'साखी और पद का प्रयोग कवि ने अधिक किया है। चरनदास ने इस प्रकार जनता के प्रिय छन्दो मे अपने साहित्य की रचना की। सवत् १६०० से १८०० तक दोहा और चौपाइयों मे अधिकाश हिन्दी साहित्य की रचना हुई थी। अतएव समय की आवश्यकता और साहित्य की धारा के अनुसार हमारे कवि ने भी इन्हीं छन्दो के माध्यम से अपने ग्रन्थो की रचना की। कवि के ग्रन्थों मे निम्नलिखित रागो की रचना हुई है :—

१ भक्ति पदार्थ—राग सारग, भैरव, विल्लावल, सोरठा, गौरी, आसावरी, केदारा

२. कालीनथन-लीला—राग माझ

३ भक्तिसागर—अरिल्ल

४ श्रीधर ब्राह्मण-लीला—काफी, घनासरी, माझ, कल्याण, झझौटी, हेला

५. स्फुट-काव्य—कल्याण, भैरव, घनाश्री, सोरठ, काफी, करखा, परज, विभास, रामकली, विल्लावल, केदारा, कान्हरा, देवगधार, नट, सारग, गौरी, मगल, जैजैवन्ती, आसावरी, मलार, हिडोलना, हेली, अलहिया, रासविहागरा, पचम, झझौटी, विलास, ईमन, भालश्री, बरवा, ललित, जयकारी, सीठना, ललित, बसन्त, धमार।

वर्णन शक्ति—चरनदास की वर्णन-प्रतिभा सराहनीय है। यद्यपि भक्त-कवियों और विशेषकर सन्त कवियों ने अपने वर्ण्य-विषय मे आध्यात्मिक पक्ष पर ही प्रकाश डाला है, तथापि जहॉ पर कवि को थोडा बहुत अवसर मिल गया वहॉ हमारे कवि की लेखनी उस वस्तु-विशेष का वर्णन करने लगती है। कवि की निम्नलिखित सात रचनाओं से उसकी वर्णन-शक्ति तथा प्रतिभा के दर्शन होते हैं :—

१. अष्टांग योग २. नासकेत-लीला ३. अमरलोक ४. पचोपनिषद् सार ५. मनविरक्तकरण-सार ६. कुरुक्षेत्र-लीला ७. भक्तिपदार्थ।

'अष्टाग योग' मे कवि ने योग के आठ' अगों का बड़े व्यापक रूप से सविस्तार वर्णन किया है। कवि ने योग के विभिन्न आठ अंगों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद मे प्रविष्ट होकर उसका उल्लेख किया है। यम और नियमों के भेदों तथा आसनों के भेदों का सूक्ष्म रूप से उल्लेख किया है। कवि ने प्राणायाम की प्रक्रिया, विधि, बाधाएँ, लाभ, उपादेयता, चक्रों का निरूपण, कुडलिनी का जागरण, नाड़ियों की महत्ता, अष्टकुमारों की व्याख्या सविस्तार की है। इन सभी प्रसगों को अधिक

बोधगम्य और स्पष्ट बनाने के लिए कवि ने सुन्दर उदाहरणो और दृष्टातो की भी रचना की है। इसी प्रकार इस प्रसग मे कवि ने षट्कर्मो, विविध मुद्राओं, बन्धों, आदि का वर्णन भी बडे विस्तार से किया है। योग-विषयक इस वर्णन की विशेषता है रोचकता को सुरक्षित रखते हुए उसे वैज्ञानिक शैली मे स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना। अपनी प्रतिभा के आधार पर कवि ने विषय-वर्णन को सुन्दर और सुगम बना दिया है।

कवि की वर्णन-प्रतिभा का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है उसका ग्रन्थ 'नासकेत-लीला'। इस ग्रन्थ मे कवि ने नासकेत के मुख से विविध दुष्कर्मों के फलों, तज्जनित दड, नरक आदि का बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। कवि ने मनसा, वाचा, कर्मणा कृत पृथक्-पृथक् पापो के प्रतिफलो का वर्णन बडी सावधानी और मनोयोग के साथ किया है। इसी प्रकार कवि ने स्वर्ग का बड़ा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है। इनमे कवि की वर्णन शक्ति और धैर्य, दोनों की ही सराहना करना पड़ता है। नरक और स्वर्ग का यह वर्णन प्रायः ६३ पृष्ठो मे सम्पन्न हुआ है। इस वर्णन मे से कतिपय पक्तियाँ यहाँ उदाहरणार्थ उद्धृत करना असगत न होगा :—

दसवा कुल सकुल जो देखा। तामे दुख है अधिक विशेखा॥
ब्राह्मण छत्री शूदर वैशा। भारी पाप किया जिन ऐसा॥
मांस खाय मदिरा जिन पीया। सोवा नरक माहि गहदीया॥
मारा जीव मास ले खाया। जाका पातक बहुत बताया॥
मोल मगाय मास जो खावै। सो भी पापी बहु दुख पावै॥
उसी ठौर मैं यही निहारा। भ्यानक अधिकी दुख हा भारा॥
अगनरूप जलते द्रुम देखे। दस जोजन लाम्बे जु बसेखे॥
जोजन पॉच घेर विस्तारा। एक एक का न्यारा न्यारा॥
सकल सू हा बाधै पापी। हाहा शब्द कहै सतापी॥
जम लोहे की लाठी मारै। मुगदर सो सिर फोर ही डारै॥
उनका चिमटा चाम उपारै। सीसा तावै मुख मे डारै॥

प्रस्तुत उद्धरण में दसवें नरक संकुल का वर्णन हुआ है। इसमें सभी प्रकार से मास प्राप्त करके खाने वालों का वर्णन किया गया है। अब कुम्भीपाक नरक के विस्तृत वर्णन से कतिपय पक्तिया पढिये :—

पहिले कुमी पाक कहत हूँ। ता डर सू हरि ध्यान धरत हूँ॥
जा जा पापी जहाँ परत है। जम तिनकू बहु मार धरत है॥
उन पापी जो पाप कमाये। सो तुमसू अब कहू सुनाये॥
गऊ ब्राह्मण पशु बहु मारै। पच्छी आदि जीव हन डारै॥

दान करत भाजी जो मारै। अरु ब्रह्मचारी का तप टारै ॥
और गरीबन का हन डारै। और मित्र का घात विचारै ॥
सोवै कुभी नरक मझारी। जाय परत है नरकै नारी ॥
कुभीपाक कहू परवाना। जाका मुख है घड़े समाना ॥
बड़े बडे कीड़े लग जाही। महादुर्गन्ध बुरी तिह माही ॥
तामे बहुत बरस दुख पावै। पाप भुगत कर बाहर आवै ॥

अमरलोक ग्रन्थ मे कवि की वर्णन-शक्ति का अच्छा आभास मिलता है। इस ग्रन्थ मे रास प्रसग के अन्तर्गत कवि ने रासलीला भूमि का सौदर्य और वैभव बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। कवि ने सैकड़ो पुष्पों, विविध सुगन्धो और अमरलोक के अमर प्राणी, दिव्यागनाओं गोपिकाओ का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसी गन्थ मे श्रीकृष्ण और श्रीराधा के वस्त्राभूषणों का वर्णन भी बड़े विस्तार और सुदरता के साथ सम्पन्न हुआ है।

'पचोपनिषद् सार' मे कवि की वर्णन-शक्ति का केन्द्र पूर्ण रूप से ब्रह्म की विवेचना, उसकी सर्वव्यापकता, सर्व सम्पन्नता, सर्वसामर्थ्य और महत्ता है। ब्रह्म के इस वर्णन मे बहुत कुछ कहे जाने के अनन्तर भी जैसे उसे सब कुछ कहने के लिए रह ही जाता है। उसे विवश होकर ब्रह्म की महत्ता का वर्णन फिर करना पड़ता है।

'मनविरक्तकरणसार', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'भक्तिपदार्थ' कवि की वर्णन शक्ति के सुन्दर प्रमाण हैं। इनके अन्तर्गत कवि ने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक-तत्वों और सिद्धान्तो के निरूपण के साथ-साथ विविध वस्तुओं का वर्णन सुन्दर ढग से किया है।

भाषा—चरनदास का आविर्भाव सवत् १७६० विक्रमी मे हुआ था। इस समय से प्रायः १२५ वर्ष पूर्व हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अवधी भाषा में अपने गौरव ग्रन्थ की रचना कर चुके थे। मानस की लोकप्रियता के साथ ही अवधी भाषा की लोकप्रियता और उसका प्रचार व्यापक हो रहा है। अवधी की स्मृद्धि तथा व्यापकता मे रामचरित मानस का प्रमुख भाग रहा। मानस के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास की अवधी में रचित अन्य रचनाएँ भी इस समय तक जनता मे पहुँच चुकी थी। गोस्वामी जी के समकालीन अकबर के दरबारी कवियो मे बीरबल, रहीम, गगा, नरहरि महापात्र आदि अवधी मे काव्य-साहित्य की रचना कर रहे थे। गोस्वामी जी से कुछ पूर्व जायस (रायबरेली) के सुप्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी (स० १५६७) अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्यों, पदमावत और अखरावट की रचना कर चुके थे।

इन कवियों द्वारा संस्थापित परम्परा को पल्लवित और पुष्पित रखने का श्रेय हिन्दी के सन्त कवियों को है। अवधी को भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाने का कारण उसकी जनप्रियता अथवा लोकप्रियता थी। संत कवि जनता के कलाकार थे। क्या छन्द, क्या भाव, क्या भाषा, क्या रस, क्या अलंकार, सभी दृष्टियों से उनका साहित्य जनता का साहित्य था। तत्कालीन युग में अवधी जनता की भाषा थी। इसीलिए सन्तों ने अवधी के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यंजना की। चरनदास से पूर्व दादू, सुन्दरदास, हरिदास, गरीब दास, तुरसीदास निरंजनी, बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, सूफी शाह, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, बूला साहब, मलूकदास, जगजीवन साहब, दूलनदास, धरणीदास, दरिया साहब, शिवनारायण साहब आदि सन्तों ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की। इनमें से गरीबदास, जगजीवन साहब, भीखा साहब, शिवनारायण साहब और मलूक दास के काव्य में अवधी भाषा का बड़ा सुष्ठु और परिमार्जित रूप उपलब्ध होता है। इन कवियों ने अपने अधिकतर ग्रन्थों की रचना अवधी भाषा में ही की थी। इन समस्त कवियो की भाषा ग्रामीण अवधी है जिसका प्रचार मलिक मुहम्मद जायसी ने किया था और साहित्यिक अथवा परिमार्जित अवधी (जिसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास थे) का एक विचित्र एवं सुन्दर सम्मिश्रित रूप उपलब्ध होता है। इन कवियों की भाषा अवधी होते हुए भी प्रगतिशील खड़ी बोली से अत्यधिक निकट है। इनकी भाषा में खड़ी बोली के न केवल शब्दों और वाक्यों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं वरन् क्रिया-पदों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा खड़ी बोली के इतिहास और विकास को अंकित करने लिए एक बहुमूल्य साधन प्रतीत होती है। खड़ी बोली के विकास यात्रा की दृष्टि से प्रत्येक कवि एक सीमा-स्तम्भ (Mile stone) प्रतीत होता है। सन्त कवि चरनदास का आविर्भाव इसी परम्परा में शिवनारायण साहब के अनन्तर हुआ है।

सन्त चरनदास ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की थी। हमारे कवि की अवधी भाषा में साहित्यिक अवधी और ग्रामीण अवधी के रूपों का सुन्दर समन्वय है। इनके रचना काल के पूर्व के लिखित मटकी-लीला, दान-लीला, चीरहरण-लीला आदि की भाषा अव्यस्थित और ग्रामीण अवधी है। इन कृष्णचरित्र विषयक ग्रन्थों की भाषा कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों और क्रियापदों से भी प्रभावित है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं और बोलियों का भी सम्मिश्रण कवि की भाषा में उपलब्ध होता है। इन बोलियों और भाषाओं में अरबी, फारसी, संस्कृत, बैसवारी, भोजपुरी एवं बुन्देलखंडी के शब्द पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। कवि की भाषा अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है। यह जनसमाज की बोली के अनुरूप है और

समाज को प्रभावित करने की शक्ति से सम्पन्न है। कवि की यह भाषा संस्कृत की कठिन शब्दावली और समासो से उन्मुक्त है। प्रांतीय भाषाओ और बोलियों का प्रयोग आवश्यकता और प्रसग के अनुरूप किया गया है। इनके प्रयोग से भाषा की व्यावहारिकता और परिमार्जन मे अभिवृद्धि हुई है। यातायात की कठिनाइयों के उन दिनों मे भी चरनदास ने कुरुक्षेत्र, जयपुर आदि अन्य सुदूर स्थानों का भ्रमण किया था। यात्राओ मे विभिन्न देशों के वातावरण तथा भाषाओं का भी हमारे कवि पर प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य नही है। कवि के साहित्य मे उपलब्ध प्रांतीय बोलियो के शब्द इतने अधिक नहीं हैं कि उनकी भाषा उससे दबी हुई प्रतीत हो।

'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' मे चरनदास की भाषा के विषय मे विचार प्रकट करते हुए हरिऔध जी ने लिखा था "कबीर-पंथ की छाया भी उनके पथ पर पड़ी है। वे भी एक प्रकार से अपठित हैं। उनकी भाषा भी संतबानियों की-सी है। उसमे किसी भाषा का विशेष रग नहीं। परन्तु ब्रज भाषा के शब्द उसमे अधिक मिलते हैं और कहीं-कहीं राजस्थानी की झलक भी दृष्टिगत होती है। स्वरोदय की रचना जटिल है। उसमे संस्कृत के तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं भाषा का माधुर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।[1]" प्रस्तुत उद्धरण मे ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं। प्रथम आरोप यह है कि उसमे किसी भाषा का विशेष रग नही है। इस आरोप का निराकरण कवि की रचनाओं को देखने से ही हो जाता है। प्रत्यक्ष है कि कवि की भाषा खड़ीबोली से प्रभावित अवधी है। द्वितीय यह कि ब्रजभाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं। आलोचक का प्रस्तुत कथन केवल कतिपय ग्रन्थों के लिए ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इस कोटि मे कृष्णचरित्र काव्यों की परिगणना हो सकती है। तृतीय आरोप यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से भाषा-सौंदर्य विनष्ट हो गया है। इसके उत्तर में केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग अल्प संख्या मे है। दो-एक उदाहरणों के आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण नहीं कर सकते हैं।

कवि के साहित्य में प्रांतीय बोलियों के अतिरिक्त अरबी एवं फारसी के शब्दों का भी प्रयोग कौशल के साथ हुआ है। प्रथम परिच्छेद में कवि के आविर्भाव काल पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस समय तक मुसलमानों की सत्ता देश पर पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। मुगल राज्य अपने चरम सीमा पर पहुँच चुका था। देश पर उनकी संस्कृति और भाषा का बोलबाला था। फारसी एवं अरबी, राज्य-भाषा होने के कारण जनता में अधिक प्रिय थी। राज्य के कार्यालयों में भी इन्हीं भाषाओं के जानने वालों की ही खपत थी। फलतः उस समय अरबी और फारसी की

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६४

वही स्थिति थी जो आजकल अंग्रेजी भाषा की है। ऐसे वातावरण से प्रभावित होना कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दिल्ली बहुत काल तक मुसलमान-शासकों की राजनीति का लीला-क्षेत्र रहा है। दिल्ली चिरकाल तक मुसलमानों की राजधानी रही थी। फलतः उनकी सस्कृति की जड़ें दिल्ली मे जम गई थी। अपनी रचनाओ को जनता मे प्रिय बनाने के लिए हमारे कवि ने अपने ग्रन्थो मे अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग किया है। अरबी-फारसी जानने वाली जनता मे उस समय ऐसी ही भाषा की माग थी और विशेषतया उस दशा मे जब उसकी रचना त्रस्त-जनता के परित्राण एवं उपदेश के लिए हुई थी।

कवि की रचनाओं में फारसी के शब्दों का प्रयोग सामान्यतया तीन प्रकार से उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम वे रचनाए जिनमे फारसी के शब्दो की प्रचुरता है। ये रचनाये सवैया एव पदों में हैं। इस प्रकार की स्फुट-रचनाओं में प्रायः फारसी के शब्द ६० प्रतिशत प्रयुक्त हुए हैं। स्फुट-साहित्य के अतिरिक्त कवि के किमी अन्य ग्रन्थ मे फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग इस अनुपात मे नहीं उपलब्ध होता है। इन रचनाओं से कवि का अरबी-फारसी ज्ञान भी ज्ञात होता है। निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट हो जाता है कि कवि की इस प्रकार की रचनाओ मे अरबी-फारसी के शब्दो का कितना प्रयोग हुआ है :—

मुझे कृष्ण के मिलने की आरजू है। शबों रोज दिल मे यही जुस्तजू है॥
नहीं भाती है मुझको बातें किसी की। सुनी जब से उस यार की गुफ़्तगू है॥
नहीं मुझको मतलब जहॉ मे किसी से। चुभा जब से दिल में सनम खूसबू है॥
जो आशक है उसका नहीं उस्से गाफिल। तड़पता अजल से खड़ा रूबरू है॥
शराबे मुहब्बत पिई जिसने यारो। हुआ दो जहॉ मे वो ही सुर्खरू है॥
सभी आशकों पे किया कर्म तूने। मुआसी पे तेरा नहा दिल रजू है॥
जहॉ देखे रनजीत वहीं हैं वे हाजिर। हर एक गुल मे उसकी मिली मुश्क बू है॥

इसी सम्बन्ध में एक उद्धरण और पठनीय होगा :—

मुरशद मेरा दिल दरियाइ दिलगह अन्दर खोजा।
जिसके अन्दर सत्तर काबा मक्का तीसों रोजा॥
चौदह तबक औलिया तिसमें भेद न होय जुदाई।
सहस्र कमल नमाज मे ठाढे दरशन जहॉ खुदाई॥
हवा न हिर्स खुदी नहि खूबी अनलहक्क जहॉ बानी।
बिन चिराग खाने सब रौशन जिसमे तख्त सुभानी॥
बिना अबर जहॉ बहु गुल फूले बिन अम्बर जहॉ बरसें।
बिन सरोद तम्बूर बजे जहॉ चशमे होम न दरसे॥

तिस दरगाह मुसल्ला डारे बैठे कादर काजी।
न्याव करे सीने की पूछे रखें सबको राजी॥
जिसके फल दीदार किये से नादिर होय फकीर।
मारे काल कलन्दर जबलो मनवा धरे न धीर॥

इन उद्धरणों मे फारसी-अरबी के शब्दों का अनुपात क्या है, यह पाठक स्वय समझ जायगा। इन दोनों उद्धरणो मे हिन्दी के कतिपय शब्दो—फल, सहस्र, न्याय, कमल एव दर्शन का ही प्रयोग हुआ है। आज का शिक्षित व्यक्ति भी इन उद्धरणो की भाषा को समझने मे किसी प्रकार समर्थ न होगा। इन दोनों उद्धरणों से चरनदास का अरबी-फारसी ज्ञान प्रकट हो जाता है।

द्वितीय कोटि की वे रचनाए हैं जिनमे कवि ने अरबी-फारसी के लगभग ७० प्रतिशत शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से भी लगभग २५ प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो सामान्य जनता के ज्ञान मे ऊपर हैं। शेष ५० प्रतिशत शब्द फारसी-अरबी के होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा व्यवहृत हुआ करते हैं। इनके अन्तर्गत कवि की अनेक स्फुट-रचनाए आ जाती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ एक उद्धरण दिया जाता है :—

ऐसा हो दरवेश ही जग को बिसरावै।
ईमान सबूरी सांच सो सोई बकसा जावै॥
जन जर और जमीन को दिल में नहि लावै।
फिक्र फकीरी को बुरा वह जिक्र छुटावै॥
फेफा केका गुण यही राजक करै याद।
काफि कनाअत सुख घना आनन्द अगाधा॥
रे रीयाजत बलवान है हरि को अपनावै।
आखिर को दीदार ही निश्चय करि पावै॥
एजद को धारै रहै रहै सब सो नीचा।
शुकदेव कही चरणदास सो पावै पद ऊँचा॥

इस छन्द में जग, बिसरावै, साँच, सोई, गुण, याद, अगाध, आनद, सुख घना, निश्चय, धारे, नीचा, ऊँचा, बलवान आदि हिन्दी के शब्द हैं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाले फारसी-अरबी के शब्दों मे दरवेश, ईमान, दिल, जर, जमीन, फिक्र, फकीरी, जिक्र, आखिर, दीदार, उल्लेखनीय हैं। शेष फारसी-अरबी शब्दावली सामान्य पाठक के ज्ञान से परे वस्तु है। प्रथम कोटि की रचना की तुलना में यह छन्द अधिक सरल और बोधगम्य प्रतीत होता है।

जिस समय कवि ने इन छन्दों की रचना की होगी उस समय की जनता के लिए यह शब्दावली लेशमात्र भी कठिन नहीं रही होगी।

तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमे अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत ही अल्प मात्रा मे हुआ है। इस प्रकार की रचना मे कवि का ध्यान सरल और सुबोध शब्दो के प्रयोग के प्रति रहा है। इस कोटि मे कवि की समस्त स्फुट-रचना आ जाती है और साथ ही प्रायः सभी ग्रन्थ भी। उदाहरणार्थ, कतिपय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :—

दो दिन का जग मे जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़-अकड़ के जवानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥
दौलत का जौक ऐसे ज्यों आब का हुबाब।
जाता रहेगा छिन मे पछतायगा निदान॥
दिन भर खोवता है दुनिया के कार बार।
इक पलभी याद साइ की करता नहीं अजान॥
× × ×
तज के जगत की रीति को कर आपनी तदबीर।
इस जग भरोसे ख्वार होगये सार और अमीर॥
सुन यार मन यार मन॥
इक दम करारी है नहीं छिन-छिन मे फेरै रङ्ग।
कबहु तो हैरा सुख घना चल विचल बेढङ्ग॥
सुन यार मन यार मन॥
हशमत व शौकत थिर नहीं मत देख हो मगरूर।
ठहराव ता कू है नही मगाल बड़ाई धूर॥
सुन यार मन यार मन॥

इन उपर्युक्त उद्धरणों में व्यवहृत अरबी-फारसी के शब्दों के रूप बड़े सरल हैं। गुमान, बेसहूर, दावा, खुदी, मुरशिद, हुसियार, गफलत, दौलत, जौक, ख्वार, तदबीर, शौकत, हशमत, दमकरारी आदि सुगम शब्द हैं और इनसे कौन नहीं परिचित है। आज की अशिक्षित जनता मे भी इस प्रकार के शब्दों का बराबर व्यवहार

होता चला आ रहा है। ये विदेशी शब्द हमारे जीवन मे इतने अधिक पैठ गए हैं कि इनका विदेशीपन हमे बिलकुल नही खटकता है।

कवि ने अरबी-फारसी के शब्दो का प्रयोग अपनी रचनाओं मे बडी कुशलता से किया है। जहाँ कहीं फारसी के शब्द काव्य मे नही बैठ सके है, वहाँ कवि ने उनका परिष्कार कर दिया है और इस प्रकार उसने विदेशी शब्दों को पूर्णतया अपना लिया है। उनका विदेशीपन पूर्णतया विलुप्त-सा हो गया है। निम्नलिखित उद्धरणों मे ये विदेशी शब्द कुशलतापूर्वक अपना लिए गए हैं '—

१. बिना अम्बर जह गुल बहु फूलै	—	गुल
२. दिल मे यही जुस्तजू है	—	जुस्तजू
३. जो आशक है उसका	—	आशिक
४. मुरशद मेरा दिल दरियाई	—	मुर्शिद
५. फिकर फकीरी को बुरा	—	फिक्र फकीरी
६. हुसियार हो सिताब	—	होशियार
७. शौकत थिर नहीं	—	शौकत
८. गफलत को छोड़ सुहबत	—	गफलत

कवि के ग्रन्थो की अपेक्षा स्फुटकाव्य-पदों एव सवैयो मे अरबी-फारसी के शब्दो का विशेष प्रयोग हुआ है। कारण यह है कि कवि ने अपने काव्य की रचना सामान्य जनता के लिए की थी जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। अतः ऐसी जनता के लिए इस कोटि की रचना उपयुक्त प्रतीत होती है।

चरनदास की भाषा मे सस्कृत के शब्दो का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है। योगसन्देह-सागर, पचोपनिषद्-सार, ज्ञानस्वरोदय, ब्रजचरित, अमरलोक आदि ग्रन्थों में कवि ने बड़ी स्वाभाविक शैली मे सस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त मनविरक्तकरणसार, ब्रह्मज्ञानसागर, नासकेत-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, तथा भक्तिसागर इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ कतिपय पक्तियाँ उपर्युक्त ग्रन्थों से उद्धृत की जाती हैं :—

तारा मडल कैसे दरशै। त्रिकुटी सयम कैसे परशै।
कहां इकीस काया में लोक। इन्द्र करै कहां नित्त भोग ।।
षोडश चन्द्र कहां त्रिदेवा। का विधि उनको पावै मेवा।
ब्रह्म रन्ध्र का भेद लखाव। कामधेनु का वरण बताव ।।
चार अवस्था चार शरीरा। वाणी चारि नाम कहा बीरा।
षट चक्कर को जो तुम जानौ। नाम सहित सब भेद बखानौ।। —योगसन्देहसागर

नवल किशोरी गोरी सारी। सुघर सयानी चातुर नारी।
दिव्य वस्त्र अरु मधुर शरीरा। अधिक रूप छवि गहर गभीरा ॥
मन्द मन्द विहसत मुसकाई। रणजीत मीत छवि कही न जाई।
भूषण अंग संग लाजत ऐसे। चन्द्र निकट लघु तारे जैसे ॥ —ब्रजचरित

जो जीवातम सो भया, परमातम अरु ब्रह्म।
वाकी सरवर को करै, पाई परै ना गम्य ॥
पहुँचै नावा तेज को, कोटि कोटि ही भान।
चरणदास कोइ जानही, ताको निर्मल ज्ञान ॥

× × ×

अनहद शब्द अपार दूर सो दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है ॥
ताहि निःअच्छर जानि और निष्कर्म है।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है ॥

सूक्ष्म शरीररु आतमा, भिन्न लखै नहि कोय।
यही जु मन की गाँठ है, खुले मुक्ति ही होय ॥ —पचोपनिषद्सार

सूरज मडल चीरिकै, योगी त्यागै प्रान।
सायुज मुक्ति सोई लहै, पावै पद निर्वान ॥
काल अवधि बीतै तभी, जबै बीति सब जाय।
जोगी प्राण उतारिये, लोहि समाधि लगाय ॥
काल जीति हरि सो मिलै, शून्य महल अस्थान।
आगे जिन साधन करी, तरुण अवस्था जान ॥ —ज्ञानस्वरोदय

इन उद्धरणों में सस्कृत के शब्दों का शुद्ध और उपयुक्त प्रयोग भाषा के सौन्दर्य को बढा देता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग बड़े स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

कवि की रचनाओं मे सस्कृत के शब्द तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपो मे मिलते हैं। कुछ शब्द तो प्राकृत से होकर स्वय ही तद्भव बन गए हैं और कुछ को कवि ने अक्षरों के उच्चारण की सुविधा के लिए तद्भव बना लिया है। इस प्रकार के शब्दों मे ग्यानी (ज्ञानी), प्रापत (प्राप्त), विसेष (विशेष), शबद (शब्द), औगुन (अवगुण), विनास (विनाश), परमेसर (परमेश्वर), परग्यान (परज्ञान), दोश (दोष), उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः कवि ने इन शब्दो को बोधगम्य और सुगम बनाने के लिए यह तद्भव रूप प्रदान किया है।

कवि की रचनाओ में सस्कृत के तत्सम शब्दों की भी प्रचुरता है। उदाहरणार्थ ऐसे शब्दों की सक्षिप्त सूची निम्नलिखित है :—

दिव्य, वाणी, सयम, रन्ध्र, भूषण, जीवात्मा, अखीश्वर, परमेश्वर, द्वन्द्व, सर्वत्र, अजपा, हृदय, साक्षी, ज्ञानप्रकाश, अविनाशी, परमार्थ, निर्गुण, सगुण, परब्रह्म, अच्युत, तथा निराश्रय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने सस्कृत के बड़े सुन्दर शब्दो का उचित रूप से प्रयोग किया है। इससे भाषा-सौंदर्य और शैली का परिमार्जन बढ जाता है।

खड़ीबोली के विकासशील रूप के दर्शन हमे कबीर, दादू, नानक सुन्दरदास आदि कवियों के काव्य मे होते हैं। सत कवि मलूकदास के काव्य में खड़ीबोली का विकसित एव परिमार्जित स्वरूप दृष्टिगत होता है। मलूकदास की भाषा एव भावों पर उस समय का जो प्रभाव पडा सो तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पडा ही, परन्तु यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी खड़ीबोली मे जो परिमार्जन उपलब्ध होता है वह बहुत कुछ मुसलमानों के सम्पर्क और अरबी-फारसी के प्रभाव के कारण हुआ है। मलूकदास से लगभग १२५ वर्ष के अनन्तर चरनदास का आविर्भाव देश की राजधानी दिल्ली जैसे महत्वपूर्ण स्थान पर हुआ। राजनीतिक, ऐतिहासिक, सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से दिल्ली का अपना विशेष महत्व है। दिल्ली निरन्तर कई वर्षों तक यवनों की राजनीति का केन्द्र रहा है। वहाँ उस समय की प्रचलित अरबी और फारसीमय भाषा का ही प्रभाव है कि हमारे कवि की रचनाओं मे अन्य सत कवियों की अपेक्षा खड़ीबोली के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। अरबी और फारसी के जन-प्रचलित शब्दो के प्रयोग से कवि की बोली मे परिमार्जन और प्रवाह का समावेश हो गया है। कवि की भाषा में खड़ीबोली का प्रमुख-स्थान निर्धारित हो गया है। मलूकदास की भाषा की तुलना में चरनदास की भाषा अधिक विकसित, सुष्ठु एव परिमार्जित प्रतीत होती है। ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास का आविर्भाव मलूकदास से प्रायः १२५ वर्ष बाद मे हुआ। इन सवा-सौ वर्षों मे खडीबोली की क्या उन्नति और क्या विकास हुआ, यह कवि की भाषा देखने पर ही ज्ञात होता है।

कवि की रचनाओ मे खड़ी बोली का बड़ा ही सुष्ठ और सुन्दर रूप ब्रह्मज्ञानसागर, योगसन्देहसागर, पचोपनिषद्सार, नासकेत-लीला, अष्टाग-योग, भक्तिसागर, भक्तिपदार्थ और ज्ञानस्वरोदय में उपलब्ध होता है। इन रचनाओं के अतिरिक्त कवि की स्फुट रचनाओ, पदों एव साखियों में खडीबोली का बडा सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध होता है। इन उपर्युक्त रचनाओं में से कहीं पर से कोई उद्धरण ले लीजिए, उसकी भाषा के परिमार्जित स्वरूप के दर्शन हो जायेंगे। कथन के समर्थन के हेतु कतिपय ग्रन्थों से कुछ उद्धरण उद्धृत किये जाते हैं :—

१ तुम साहब करतार हो हम बन्दे तेरे।
रोम रोम गुनहगार है बकसो हरि मेरे॥
दसौ दुवारे मैल है सब गन्दम गन्दा।
उत्तम तेरा नाम है बिसरे सो अधा॥
गुन तजिके औगुन कियो तुम सब पहिचानो।
तुम सू कहा छिपाइये हरि घट की जानो॥
रहम करो रहमान सू यह दास तिहारो।
भक्ति पदारथ दीजिए आवागमन निवारो॥

२. दो दिन का जग मे जीवना करता है क्यो गुमान।
ए बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़ अकड के जवानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥

३. भक्ति गरीबी लीजिए तजिए अभिमान।
दो दिन जग मे जीवना आखिर मरि जाना॥
पाप पुन्न लेखा लिखैं जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना॥
साहब की कर बन्दगी दे भूखे दाना।

४. भाई रे अवधि बीती जात।
अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यो परभात॥
स्वास पूंजी गाठि तेरे, सो घटत दिन रात।
साधु सगत पैंठ लागी, ले लगै सोइ हाथ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे हैं तेरी घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदया, तौ दगा नहि खात॥

स्थानाभाव के कारण स्फुट-काव्य से चार ही पद उद्धृत किये गये हैं। इन पदों मे खडीबोली का परिमार्जित और विकसित रूप ध्यान देने योग्य है। इन चारों मे से तीसरे उद्धृत उद्धरण मे खडीबोली का पूर्ण विकसित रूप दृष्टिगत होताहै। अब कवि की अन्य रचनाओ से खडीबोली के उदाहरण देना अपेक्षित है :—

१. कौन कमल पर गुरु विराजै। कै प्रकार अनहद धुनि बाजै॥
कै वाणी है अनहद तूरा। जानैगा कोइ साधू पूरा॥

तीन शून्य कहाँ चौथा शून्य। जित ही भूलै पढि अरु गून्य ॥
कै कहिये काया के द्वारे। भिन्न भिन्न कहु मेरे प्यारे ॥
जल का कोठा कीधर होय। कहाँ अग्नि का कहिये सोय ॥
ब्रह्म ज्वाल कहु कैसे जागै। किम आसन से निद्रा भागै ॥
बहत्तरि हजार आठ सौ चौसठि नारी। इनका भेद बहुत है भारी ॥—योगसन्देहसागर

२ इड़ा पिंगला सुषमना, नाड़ी कहिये तीन।
सूरज चन्द विचारि कै, रहै श्वास लवलीन ॥
नवो द्वार को बन्ध करि, उत्तम नाड़ी तीन ॥
इड़ा पिंगला सुषमना, केलि करै परबीन ॥—ज्ञानस्वरोदय

३. योग तपस्या कीजिये, सकल कामना त्याग।
ताको फल मत चाहिये, तजौ दोष अरु राग ॥
चाह मिटी सब सुख भये, रहा न दुख का मूल ॥
चाहूँ तौ चाहूँ यही, तुम चरणन की धूल ॥—अष्टांगयोग

४. स्वारथ मे चिन्ता घनी, जो ह्वाकर हो गेह।
बिना आग की चिता मे, जीवत जरिहै देह ॥
आशा न दिया मे चलै, सदा मनोरथ नीर।
परमारथ उपजै वहै, मन नहि पकड़े धीर ॥—भक्तिपदार्थ

योगसन्देहसागर, ज्ञानस्वरोदय, अष्टांगयोग और भक्तिपदार्थ से उद्धृत उपर्युक्त उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं। इन अंशों से कवि की भाषा मे खड़ीबोली का क्या स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। लगभग इसी प्रकार की भाषा, कवि के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।

ब्रजचरित, मटकीलीला, चीरहरण-लीला, दानलीला आदि श्रीकृष्णचरित काव्यों मे खड़ीबोली के बहुत ही साधारण और निम्न उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अब कवि की साखियों से खड़ीबोली के कतिपय उदाहरण देना वाञ्छनीय है :—

अबके चूके चूक है, फिर पछितावा होय।
जो तुम जक्त न छोड़िहौ, जन्म जायगो खोय ॥
× × ×
छोड़ जगत की वासना, यही जु छुटन उपाव।
हे मन ऐसी धारिये, अब ही नीको दांव ॥
× × ×
खाते पीते ना भले, बैठे चलते सोय।
सदा पवित्तर नाम है, करै उजाला तोय ॥
× × ×

अजब-अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
जल थल पवन अकास मे, देखो दृष्टि उघार॥
× × ×
बाजीगर बाजी रची, सब गति पूरन आज।
किये तमासा बहुत ही, तोहिं दिखावन काज॥

इन साखियों में खड़ीबोली का भला रूप दृष्टिगत होता है। इनमे अधिकतर खड़ीबोली के शब्दो का प्रयोग हुआ है।

कवि के काव्य मे खड़ीबोली के क्रियापदो का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उद्धरणों से क्रियापदों की अच्छी सूची बनाई जा सकती है। इनके अतिरिक्त जाना है, कहता, सुनता, देखे, हुआ है, हँसी है, जात है, करते, कहते आदि अनेक क्रियापद उनके स्फुट-साहित्य मे प्रयुक्त हुए हैं।

खड़ीबोली की दृष्टि से भी कवि की रचनाओं को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वे रचनाएँ हैं जिनमें खड़ीबोली का प्रयोग बिलकुल ही साधारण और हीन रूप में हुआ है। इस कोटि मे कवि की कृष्ण-चरित विषयक रचनाएँ आजाती हैं। द्वितीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने खड़ीबोली के शब्दों तथा क्रियापदों का थोड़ा बहुत प्रयोग अवश्य किया है। इस कोटि में ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर, आदि ग्रन्थ आ जाते हैं। तृतीय कोटि की रचनाओं मे खड़ीबोली का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है। इस कोटि में गिनी जाने वाली रचनाओं में 'योगसन्देहसागर', 'अष्टागयोग', तथा 'ज्ञानस्वरोदय' आदि आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त कवि की स्फुट साखियां और पद भी इसी कोटि में आ जाती हैं। भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से कवि की रचनाओं का विभाजन हम तीन प्रकार से कर सकते हैं :—

सर्वप्रथम वे रचनाएँ, जिनका प्रणयन पूर्णतया अवधी में हुआ है। इसमें कवि की 'व्रजचरित', 'माखनलीला', 'दानलीला', 'चीरहरणलीला' 'श्रीधर ब्राह्मण-लीला' आदि ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। इसमें यत्र-तत्र ब्रज-भाषा के शब्दों की छटा भी दिखाई देती है। इसमे फारसी-अरबी और सस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इन ग्रन्थों मे कवि की भाषा में प्रौढता और स्थिरता दृष्टिगत नहीं होती है।

द्वितीय कोटि में वे रचनाएँ हैं जिनका प्रणयन खड़ीबोली से प्रभावित अवधी मे हुआ है। इस कोटि की रचनाओं में खड़ीबोली का बहुत ही विकाशशील रूप दृष्टिगत होता है। कवि की इन रचनाओं मे खड़ीबोली का सुष्ठु परिमार्जित

और विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। इस कोटि मे कवि की 'मनविरक्तकरण सार', 'अष्टागयोग', 'योगसन्देहसागर', 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'ज्ञानस्वरोदय' आदि रचनाओं की गणना की जाती है। इनकी भाषा खड़ीबोली के बहुत ही निकट है। इन कोटि मे कवि की अनेक स्फुट-रचनाएँ आ जाती हैं।

तृतीय कोटि की वे रचनाएँ हैं जो फारसी तथा सस्कृत के तद्भव शब्दो से प्रभावित है। प्रथम हम उन रचनाओ को लेते हैं जिनमे सस्कृत के तद्भव शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस कोटि मे 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'ज्ञानस्वरादय', 'योगसन्देहसागर', 'अष्टाग-योग' आदि उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थो मे कुछ ऐसे भी हैं जिनमें सस्कृत के तत्सम शब्दा का प्रयोग भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से इसी चौथी कोटि की रचनाओं में कवि का स्फुटपद-साहित्य-फारसी-अरबी के शब्दों से अत्यधिक प्रभावित है। यों तो फारसी-अरबी के शब्द अन्य ग्रन्थों मे भी आए हैं पर उनका अनुपात बहुत कम या नहीं के समान है।

अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु कवि ने अपने साहित्य की रचना तत्कालीन जनता की सरलतम भाषा मे की है। इसी सरलता के दृष्टिकोण से सस्कृत के अनिवार्य तत्सम शब्दो को भी कवि ने तद्भव बना लिया है। अरबी और फारसी के शब्दों को कवि ने इस प्रकार अपनाया है कि उनके विदेशीपन का अस्तित्व ही नष्ट हो गया है। साथ ही साथ उनके खटकने वाले उच्चारण में भी महान् परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अपनी भाषा को अधिक स्वाभाविकता तथा सरलता प्रदान करने के लिए कवि ने अपनी प्रत्येक रचना में यत्र-तत्र ग्रामीण शब्दो का भी प्रयोग किया है।

हमारे कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था। भाषा उसकी लेखनी एव भावों की अनुगामिनी-सी प्रतीत होती है। टेढे-सीधे, उलझे, योग, वैराग्य, भक्ति-साधना या दार्शनिक विवेचन जैसे भावो को भी कवि ने व्यक्त करना चाहा है और उसमें उसकी भाषा एव लेखनी का सहयोग रहा है। कृष्णचरित्र, निर्गुण व्याख्या, नीति, उपदेश, स्वरोदय-साधना जैसे सरल और दुरूह विषयो की साधना और अभिव्यजना कवि ने अपनी भाषा के माध्यम से ही किया है। शात, शृगार, करुण, हास्य, वीभत्स आदि रसों की भी अभिव्यजना मे उसकी भाषा ने पूर्ण सयोग प्रदान किया है। कवि का भाषा पर अधिकार सिद्ध करने के लिए यहाँ पर कतिपय उद्धरणो की आवश्यकता है। प्रमाण निम्नलिखित उद्धरणों से मिल जाता है :—

खाते पीते नाम लें, बैठे चलते सोय।
सदा पवित्तर नाम है, करै उजाला तोय॥

× × ×

वैसा तौर रंगरेज ना, वैसा छीपी नाहिं ।
वैसा कारीगर नहीं, या दुनिया के माहि ॥
×   ×   ×
दुखी न काहू कू करै, दुख सुख निकट न जाय ।
समदृष्टी धीरज सदा, गुण सात्विक को पाय ॥
×   ×   ×
सब सू रखु निरबैरता, गहो दीनता ध्यान ।
अंत मुक्ति पद पाइहौ, जग में होय न हानि ॥

उपर्युक्त इन चारों साखियों की रचना भिन्न-भिन्न विषयों पर हुई है । परन्तु विषय-भेद के साथ इनमे कहीं भाषा की शिथिलता नहीं उपलब्ध होती है । कवि ने अपने भावो को भाषा में व्यक्त कर देने, भाषा का स्वरूप प्रदान करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है ।

कवि के साहित्य मे भाषा-सौदर्य पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है । भाषा मे प्रभावित करने की शक्ति, भाषा-प्रवाह तथा भाषा की मधुरता आदि गुण कवि के साहित्य मे उपलब्ध होते हैं । कवि के साहित्य में भाषा-सौदर्य के निम्नलिखित कारण हैं :—

१. हमारे कवि ने अपने भावों की अभिव्यजना का माध्यम दैनिक जीवन के व्यवहृत अवधी एव खड़ीबोली को बनाया है । जिन-जिन विदेशी शब्दों का अथवा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कवि ने कहीं पर भी किया है, उन्हें आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़ कर अपना लिया गया है । यही कारण है कि उसकी भाषा मे स्वाभाविकता सर्वत्र उपलब्ध होती है ।

२. व्यावहारिक शब्दो के प्रयोग और उच्चारण की सुगमता के कारण कवि की भाषा मे सराहनीय प्रवाह उपलब्ध होता है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद उद्धृत किया जाता है :—

बिथा मोरी जानत हो अकि नाहि ।
नख सिख पावक बिरह लगाई बिछुरन दुख मन माहीं ॥
दिन नहिं चैन नीद नहिं निसकू निस्चल बुधि नहिं मोरी ।
कासू कहू कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी ॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहूँ सुधि नहिं पाई ।
छतिया दरकत करक हिये में प्रीति महा दुखदाई ।
जल बिन मीन पिया बिन बिरहिन इन धीरज कहु कैसी ।
पच्छी जरै दव लागी बन मे मेरी गति भई ऐसी ॥

इस पद मे शब्दो का चयन और भाषा का प्रवाह दर्शनीय है। कवि की भाषा, भावो से मिलजुल कर निर्झर के वेग से साहित्य-सागर मे गिरती है। इस उद्धरण मे 'दिन नहि चैन नीद नहिं निसकू', 'बिछुरन दुख मन माहीं', 'तन भयो छीन दीन भव नैना', 'छतिया दरकत करक हिये मे', प्रीति महा दुखदाई', 'जल बिन मीन पिया बिन विरहिन' आदि पक्तियां मे भाषा का प्रवाह दर्शनीय है।

३. कवि की भाषा मे शब्द अपेक्षित भावो को प्रकट करने मे समर्थ है। उनके शब्द जिस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं, उसे भलीभाति प्रकट कर देते हैं। पाठकों के लिए कवि की भाषा में भ्रमपूर्ण वाक्य अथवा शब्दो का जाल कहीं नहीं है।

४. कवि की भाषा मे सजीवता है। उसमे जनता को प्रभावित करने की शक्ति है। भाषा की सजीवता के उदाहरण विगत पृष्ठो मे पर्याप्त मात्रा मे दिए जा चुके हैं। उनमे पाठकों वा श्रोताओ को प्रभावित करने की प्रचुर शक्ति उपलब्ध होती है।

इसके अनन्तर वह दक्षिण दिशा की ओर शोच हेतु जाय। पृथ्वी को तृणादि से आच्छादित करके शौच क्रिया करे। सूर्य, अग्नि, चन्द्र, तथा वायु के सन्मुख बैठकर शौच न करना चाहिए। वृक्षादि की जड, देवालय, कूप, तालाब एव मठादि से दूर बैठकर शौच करे। इसके पश्चात् एक बार लिग इन्द्रिय को मिट्टी एव जल से धोकर तीन बार गुदा इन्द्रिय को और सप्त बार बाये हाथ तथा इक्कीस बार प्रक्षालन करे। तदनन्तर जलाशय, वापी, कूप, तालाब अथवा सरिता मे स्नान करे। कूप, सरोवर एव नदी मे स्नान श्रेष्ठ स्नान है। गृह में स्नान करना अधमस्नान है। स्नान के समय गगा-यमुनादि का आवाहन करे इसके अनन्तर पूजा, ध्यान और साधना में सलग्न हो जाय। सायकाल फिर इसी क्रम से शौच, स्नानादि करके भजन-कीर्तन मे दत्तचित हो। सूक्ष्माहार, सन्तोष, अल्पनिद्रा दुर्व्यसनों के परित्याग को कार्यान्वित करें।

अष्टम अध्याय

चरनदास का जीवन-दर्शन

श्वासों-प्रश्वासों का क्रमिक सचालन, आगमन एव प्रत्यागमन ही जीवन है। इस जीवन के अनेक आधार माने गए हैं एव अनेक दृष्टिकोणो से इसे देखने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक मनुष्य ने स्वेच्छानुसार जीवन की अपनी परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार जीवन के प्रति दृष्टिकोणों का भी बाहुल्य और उनके अन्तर्गत वैविध्य वर्तमान है। प्रत्येक युग मे समय की राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार जीवन-दर्शन की धारा मे क्राति समुपस्थित होती रही है।

इस देश के जीवन-दर्शन को परिवर्तित करने मे विशेष रूप से धार्मिक एव आर्थिक तत्व सहायक रहे। वैज्ञानिक साधनों के आविष्कारों और आर्थिक विषमताओ तथा शोषणाधिक्य के कारण आज का जीवन और जीवनदर्शन आज से सौ-वर्ष पूर्व के जीवन और जीवनदर्शन से सर्वथा भिन्न हो गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करता है। किसी का जीवन जीने के लिए जीता है और किसी का दूसरे के शोषण के आधार पर सुख सचय के हेतु। एक व्यक्ति ससार मे क्लेश, पीड़ा और मरीचिका देखता है, दूसरा पाप-पुण्य के विश्लेषण में ही जीवन यापन करता रहता है। गौतमबुद्ध ने जीवन में दु'ख को इतना महत्व प्रदान किया कि दुखवाद स्वतः एक दर्शन बन गया। इसके प्रतिकूल कुछ लोग सुख और भोगो में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। एक मनुष्य आजीवन भाग्यवाद का चेरा बना रहता है और दूसरा इस विचार के ही विरुद्ध विद्रोह करता है। इस प्रकार दृष्टिकोणों मे वैभिन्य और वैचित्र्य साधारण-सी बात रही है।

साहित्य, कलाकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। कलाकार के विचारों, मनोभावों और चिन्तन-शैली का अध्ययन करने का सबसे प्रामाणिक सूत्र एव आधार उसका साहित्य है। साहित्य, लेखक के मनोभावों का क्रमिक इतिहास है। साहित्य के आधार पर हम कलाकार के विचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसके जीवनदर्शन का भली-भाँति अध्ययन कर सकते हैं। चरनदास के पद्य-साहित्य से भी हम उनके जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण की अच्छी रूपारेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण मे चरनदास का जीवन-चरित और चरित्र में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि चरनदास का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार मे हुआ था। मध्यवर्ग का नाम लेते ही हमारे मस्तिष्क में उस वर्ग की विशेषताओं, सीमाओं, आशाओं और आकाक्षाओ का सजीव चित्र अकित हो जाता है। मध्यवर्ग का जीवन अति साधारण जीवन होता है। उसमे उत्थान-पतन तथा उन्नति-अवनति के लिए अवसर नहीं के सदृश्य होते हैं। एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन मे कौतूहल, विकास, उन्नति और उत्थान के लिए बहुत ही अल्प अवसर होते हैं। चरनदास का जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र मे फला-फूला अवश्य परन्तु भौतिक-जीवन मे उसके समृद्धि के लिए कहीं कोई अवसर नही दिखलाई पडता है।

इसके अनन्तर चरनदास का जीवन एक अभिनव दिशा में बह चला। यह दिशा थी आध्यात्मिकता को। इस नये वातावरण और नये क्षेत्र में आकर उनका जीवन नई-नई विचार-धाराओं और नये-नये महान् व्यक्तित्वों से प्रभावित हुआ। इस वातावरण मे उन्हें शान्ति, सन्तोष, सयम, सदाचार, सत्य और साम्य-भावना का सन्देश प्रतिश्रुत हुआ। निश्चय ही इन तत्वो ने हमारे कवि के जीवन-दर्शन को काफी अश मे प्रभावित किया था।

किसी साहित्यकार का जीवन-दर्शन अध्ययन करने के पूर्व, उसके जीवन की उन घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है जिन्होने उसके जीवन की धारा में परिवर्तन समुपस्थित कर दिया है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे ऐसी घटनाएँ अवश्यम्भावी हैं जो उसके हृदय तथा जीवन को प्रभावित कर देती हैं और इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप वह जीवन को एक विशिष्ट दृष्टि से देखने का प्रयत्न करने लगता है। चरनदास के जीवन मे भी इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं है। यहाँ पर उनका अध्ययन और विवेचन असगत न होगा। 'गुरुभक्तिप्रकाश' के अनुसार चरनदास के जीवन को प्रभावित करने वाली सर्वप्रथम घटना थी, अवधूत का दर्शन होना। पाँच वर्ष की अवस्था में (सवत् १७६५ वि०) में चरनदास को एक अवधूत ने दर्शन दिए। रामरूप जी के शब्दों में इस अवधूत ने बालक चरनदास को बड़े प्रेम से भक्ति का सन्देश और उपदेश सुनाया। इसी अवधूत ने बालक से उसके भविष्य में महान् व्यक्ति होने की भविष्यवाणी की। उसने बालक मे भविष्यवाणी के रूप में कहा कि, "ससार में तुम्हारी ख्याति अद्वितीय होगी, बड़े-बड़े शासक और नृप तुम्हारे चरणों मे मस्तक झुकायेंगे। तुम्हारे महान् व्यक्तित्व के प्रकाश में सासारिक कल्याण का मार्ग खोजने का प्रयास करेंगे।[1]" अवधूत की इस दीक्षा और भविष्यवाणी ने

[1]. हँस के कहा तोहि चेला कीया। कर धरि शीश भक्तिवर दीया ॥
तारणतरण जगत में ह्वै हौ। बहुत उबार जीव लै जैहो ॥

जहाँ बालक के हृदय मे भक्ति की भावना को दृढ़तर कर दिया वहाँ दूसरी ओर जगत् का कल्याण करने तथा जनता को अपने व्यक्तित्व से लाभान्वित करने की भावना को बल दिया। बालक के कोमल हृदय मं जन-जीवन के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ जो आगे चलकर लोकरजन और लोकमगल की भावना मे परिवर्तित हो गया। चरनदास के जीवन को प्रभावित करने वाली घटना थी उनके पिता मुरलीधर का जगल मे विलुप्त हो जाना। इसके अनन्तर मुरलीधर फिर न दिखाई दिए। इस घटना से बालक के हृदय पर बडा गम्भीर प्रभाव पड़ा। सात वर्ष की अल्प एव कोमलावस्था मे ही बालक ने जीवन की क्षणभगुरता तथा ससार के सम्बन्धो की नि.सारता का भाव हृदयगम कर लिया और भविष्य मे यही विचार उसके काव्य के प्रमुख अग बन गए। आगे चलकर कवि ने अपने काव्य के वर्ण्य-विषय का केन्द्रबिन्दु जीवन, और जगत् की क्षणभगुरता निर्धारित किया। इसी भाव से प्रेरित होकर उसने अपनी माता और मातामह से, विवाह करके सासारिक सम्बन्धों की स्थापना करने से से इनकार कर दिया। तृतीय घटना कवि के जीवन के उन्नीसवें वर्ष में घटित हुई। यह घटना थी श्री शुकदेव जी से भेंट और दीक्षित होने की। इस घटना ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे चरनदास के जीवन को और भी अधिक व्यवस्थित और शृखलाबद्ध कर दिया। इसने सुचारु-रूप से नियमानुकूल तथा उपदिष्ट ढग से नव-उत्साह एवं नवस्फूर्ति के साथ साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया। अलख रहस्य को प्राप्त करने का मार्ग उसके लिए उन्मुक्त हो गया। चतुर्थ घटना नादिरशाह का अभियान था। नादिरशाह के आक्रमण से देश और दिल्ली मे विशेष रूप से जो कत्ल-आम और लूटमार हुई, उसका कवि के हृदय पर व्यापक एव गम्भीर प्रभाव पड़ा। गुरुभक्ति-प्रकाश मे स्वय चरनदास से नादिरशाह की भेंट होने का वर्णन सविस्तार उपलब्ध होता है। महत्वाकाक्षा, धन तथा राज्य के लिए मनुष्य का मनुष्य के द्वारा वध देखकर, कवि के हृदय मे प्रतिक्रिया की भावना अवश्य जाग्रत हुई। इस दुर्घटना ने उसके हृदय मे करुणा, दीनता, प्रेमसाम्य और विश्वबन्धुत्व की भावना का उद्रेक कर दिया। इसी प्रकार की घटनाओं से प्रेरित होकर उसने सन्तोष और दीनता ग्रहण करने का उपदेश दिया। जब एक ही साईं सब घट में रम रहा है तो फिर भाई के द्वारा भाई का वध कैसे सम्भावित है? उसके मन मे शकाएँ उत्पन्न हुई कि क्या धन इतना प्रिय और महत्वपूर्ण है कि उसके लिए सृष्टि की सर्वोत्तम कृति मानव को तलवार के घाट उतार दिया जाय? भावना ने करवट बदली उत्तर मिला नहीं, निश्चय ही

जो कोई तुम्हरा मत्र सुनैहै। सो निहचे यमपुर नहि जैहै॥
छत्रपती अरु राजा राया। चहिहै तुम चर्णन की छाया॥
चहुँदिश फैले भक्ति तुम्हारी। नाम जपेगे बहु नर नारी॥

नहीं और इसीलिए उसके कठ से अहिंसा और विश्वबन्धुत्व के मधुर राग फूट पडे। इन विशेष घटनाओं के अतिरिक्त अन्य छोटी-छोटी घटनाओ ने भी कवि के जीवन को प्रभावित किया। उदाहरणार्थ—अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि के कारण कीडो के समान मानवता का विनाश, तत्कालीन समाज की वाह्याडम्बर-प्रियता, चरित्र-हीनत्व, सत्कारविहीनता, अविश्वास, अधविश्वास, प्रतिशोध और प्रतिकार की प्रचुरता तथा बाहुल्य आदि से कवि का जीवन-दर्शन प्रभावित अवश्य हुआ। इन सभी प्रवृत्तियो के साथ ही तत्कालीन जनता की रुढिप्रियता तथा जातिभेद-परता ने भी कवि के जीवन-दर्शन को प्रभावित किया और इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसने समता तथा एकता का उपदेश दिया।

चरनदास के अनुसार इस ससार मे मानव जीवन क्षणिक है। तूफान मे दीपक एव वर्षा मे बालू की भित्ति पर मानव भरोसा कर सकता है और उनकी स्थिरता पर विश्वास कर सकता है, परन्तु मनुष्य का जीवन इनसे भी अधिक क्षणिक और निःसार है। इस निःसारता का ज्ञान होते हुए भी मनुष्य मृत्यु की ओर से बेखबर, भौतिकता मे सलग्न है। चार दिनों के जीवन के लिए इतना प्रबध, इतना आयोजन, इतनी छीना झपटी, इतना सघर्ष कि मनुष्य और सब कुछ भूल जाय! भयानक से भयानक कार्य करने मे उसे लेश-मात्र सकोच नही है। यह सब किसके लिए ? इस क्षणिक और निःसार जीवन के लिए यह महत्वाकांक्षा और यह अभिमान ? सच तो यह है कि इनमे से कुछ भी थिर नहीं है। दारा सुत, माल, मुल्क सब अस्थिर है। यह घमड और गर्व सभी अस्थायी हैं।[1] जब जीवन ही भागते हुए हिरन की परछाईं के सदृश्य अस्थायी है तो इससे सम्बद्ध और वस्तुओं के विषय में क्या कहा जाय ? एक दिन यह शरीर ओला के समान विनष्ट हो जायगा। यह काच के बरतन के सदृश्य तनिक ठोकर लगते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसके लिए व्यर्थ ही मानव झूठ, कपट और छलबल करता हुआ बाजीगर के

---

[1] क्या दिखलावै सान यह कुछ थिर न रहैगा।
दारा सुत अरु माल मुलुक का कहा करै अभिमान ॥
रावन कुम्भकरन हरनाकुस राजा कर्न समान।
अरजुन नकुल भीम से जोधा माटी हुए निदान ॥
छिन छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरै आन ॥
विनसै जल थल रवि ससि तारे सकल सृष्टि की हानि।
अजहू चेत हेत कर हरि सू ताही को पहिचान ॥

बन्दर के सदृश्य नाचा करता है।[१] इस दम का क्या भरोसा ? जिस दिन प्राणपखेरू इस शरीर-पिंजड़े का परित्याग करके उड़ जायगा, उस दिन सब यहीं रखा रह जायगा। कवि के शब्दो :—

दो दिन का जग मे जीवना है करता क्यो गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड अकड़ के जवानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हूसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साध' की खूब जान॥

इस क्षणिक जीवन का आदर्श बड़ा महान् और बृहद् है। परन्तु मनुष्य कब इस बात को सोचने लगा ? वह तो सदैव अखड-ताडव में व्यस्त रहता है। वह विद्रोह, हत्या, सघर्ष, षड्यंत्रो में सर्वथा सलग्न रहता है। दुरभिलाषाएँ बिजली की भाति उसके हृदय मे दिनभर कौंधा करती हैं। भयानक भावुकता और उद्वेग-जनक अतःकरण लेकर वह ससार मे नितांत व्यस्त रहता है। प्रकृति का सौदर्य, पक्षियो का कलरव, निशा की निस्तब्धता, ऊषा की भव्यता, कुछ भी उसमे सरसता का सचार तथा सरलता का समावेश करने में असमर्थ हैं। वह विचारहीन, आकार-विहीन और विवेक शून्य होकर ससार में विचरण करता फिरता है। दिन-रात वह निम्न-प्रवृत्ति का चेरा, हीन मनोवृत्ति का दास और विनाशकारी तत्वों का सहायक बना फिरता है। इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य भौतिकता का विसर्जन है, इसलिए मनुष्य को मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति और स्नेह का भाव बरतना चाहिए।[२] मानव जीवन का लक्ष्य स्वार्थ का परित्याग करके परोपकार की भावना से समाज

---

१ यह तन का कॅह गर्व करत है ओला ज्यों गलि जावै रे।
जैसे बरतन बनो काच को ठपक लगे बिनसावै रे॥
झूठ कपट अरु छल बल करि कै खोटे कर्म कमावै रे।
बाजीगर कै बादर सा ज्यों नाचत नाहि लजावै रे॥

२. गुमराओ छोड़ दिवाने मूरख बावरे।
अतिदुरलभ नर देह भया गुरुदेव सरन तू आव रे॥
जग जीवन है निस को सुपनो अपनी ह्वा कौन बतावरे।
तोहि पाच पचीस ने घेरि लियो लख चौरासी भरमाव रे॥
बीति गई सो बीति गई अजहूँ मन कू समझाव रे।
लोभ मोह सू भागि के त्याग विषय काम क्रोध को घोय बहाव रे॥

की सेवा करना तथा दुःखार्त्त मानवता के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना, और सतप्त मानवता को अपनी मधुरवाणी एव सद्व्यवहार से शैतल्य और सुख प्रदान करना है। इन आदशो से प्रेरित तथा लक्ष्य से प्रभावित मानव ने यदि ससार मे एक भी जीव को सुख पहुँचाया तो समझिये उसका जन्म सफल हो गया। सद्गुणो और सद्प्रवृत्तियो के ग्रहण करने के लिए जीवन मे कभी भी समय है। आज भी इतना समय व्यतीत हो जाने के अनन्तर सत्यपथ पर आने के लिए सद्गुणो को धारण करने के लिए और सद्व्यवहार को जीवन मे व्यावहारिकता के साथ कार्यान्वित करने के लिए समय शेष है।

चरनदास जी ने जीवन को निःकपट और निम्नता से विहीन होना आवश्यक समझा था। इस चार दिन के जीवन मे छल-कपट, राग-द्वेष का क्या स्थान है। यह ससार तो वास्तव मे दो घड़ी का मेला है। जो व्यक्ति आज यहाँ साथ-साथ एकत्र दृष्टिगत हो रहे हैं वे कल एक साथ न रहें, यह बहुत सभव है। आज जिनसे हमारे भेद-भाव, वैमनस्य और शत्रुता है, सम्भव है कल हमसे ऐसे वियुक्त हो कि जीवन-पर्यन्त मिलन न हो। चरनदास जी ने इस ससार के मेले या सम्पर्क को नदी-नाव सजोग की उपमा दी है। जब ससार के सम्पर्क और सम्बन्ध इतने अस्थिर और क्षणिक हैं तो फिर पारस्परिक भेदभाव का मूल्य और महत्व क्या है। जीवन का आधार कच्चा और क्षण ही में विनाशशील है। इसके लिए अपने मन को निम्नगामी और निम्नप्रवृत्तियों से सयुक्त करना उपयुक्त नहीं है।[1]

मानव का यह जीवन जिस ससार मे वृद्धि एव क्षणिकत्व को प्राप्त होता है, वह कच्चे घड़े और स्वप्न के समान विनाशशील है। इस ससार के आदान-प्रदान, व्यवहार-रीति, सभी कुछ स्वप्न के प्रासाद के समान क्षणिक और अविलम्ब विनाशशील हैं। हमारी चक्षु-इन्द्रिय जिन व्यक्ति, वस्तु और स्थानादि को ग्रहण करती है, चाहे वे जड़ हो वा जगम, सभी स्वप्न के समान निःसार हैं। सन्तों ने इस

[1] घरी दो मे मेला बिछुरै साधो देखि तमासा चलना।
जो ह्या आकर हुए इकट्ठा तिनसू बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर बाट बटाऊ आवै।
मिलि मिलि जुदे होय पल माही आप आप को जावै॥
या बारी बिच फूल घनेरे रग सुगन्ध सुहावै।
लागै खिलै फेरि कुम्हिलावै झरै टूटि बिनसावै॥
ह्यांई मिलै और ह्या नासै ताको क्या पछितावै।
दै कुछ लै कुछ करिले करनी रहनी गहनी भारी॥

संसार को शून्य भी माना है। जब मानव जीवन का आधार ही इस प्रकार अविश्वसनीय है तो मानवजीवन की क्या स्थिति मानी जा सकती है?[1]

चरनदास ने जीवन के प्रत्येक विभाग अथवा अग को कृत्रिमता-विहीन माना है। कृत्रिमता और वाह्याडबर हमारे जीवन के उज्ज्वल पक्ष अथवा सत् आधार को आच्छादित कर लेता है। वह हमारी सत्यता और तथ्य पर आवरण डाल कर वास्तविकता को एक काल्पनिक अथवा असत्य रूप प्रदान कर देता है। जहां सत्य है वहा कृत्रिमता और वाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। जहा अतर और वाह्य एक रूप हैं, वहा किसी प्रकार की बनावट की आवश्यकता नहीं अनुभव होती। जहा कृत्रिमता और वाह्याडम्बर की आश्यकता होती है, वहां मनुष्य की शक्ति इन्हीं दोनो तत्वों को बनाये रखने में बिलीन हो जाती है। असत्य की रक्षा करना बड़ा कठिन होता है और इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा भी है 'उघरे अत न होय निबाहू'। चरनदास जी ने जीवन के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे कृत्रिमता और वाह्याचार की कटु-निन्दा की है। वाह्याचारों में सलग्न मानव को देखकर चरनदास ने कहा :—

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कवल कस्तूरि हिरन भो बौरा॥
चाद सूर्य्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिर देवा थिर नहीं नहीं माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
नरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कू दूर है॥

× × ×

भूलो जगत बकत कछु औरै बेद पुरानन ठठक।
प्रीति रीति की सार न जानै डोलत भटकै भटक॥
किरिया कर्म भर्म उरझै रे ये माया के झटक।
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाहीं राम रहीमा फटक॥

---

[1] चेतौ रे नर करो विचार। छल रूपी है यह ससार॥
सुपना माता पिता सुत बन्धू। सुपना है सबही सबधू॥
देखै कहै सुनै सो सुपना। या जग में नाहीं कोइ अपना॥
सुपना धरती और अकासा। सुपना चद सूर परकासा॥
सुपना जल थल पावक पौन। सुपना जोग भोग अरु भौन॥
सुपना माया को व्यौहार। सुपना कुल नाता परिवार॥
सुपना देस नाम अरु भेस। सुपना उतपति परलय सेस॥
सुपनै लरै भरै अरु भागै। सुपनै सोवै सुपनै जागै॥

धार्मिक जीवन के समान ही सामाजिक जीवन का भी कृत्रिमता-विहीन होना स्वास्थ्यकर है। समाज के स्वस्थ निर्माण और मर्यादित सगठन के लिए सामाजिक जीवन मे कृत्रिमता और दुराव अपेक्षित नहीं है। अपनी वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढाकर व्यक्त करने मे अनेक विपदाएँ हैं जिनका सफलतापूर्वक निर्वाह आद्योपात सम्भव नही है। सामाजिक को इस प्रकार की दूषित मनोवृत्तियों का परित्याग सदैव ही वाञ्छित रहता है।[१] सामाजिक जीवन में लोभ, काम, तृष्णा, मद, तथा मोह आदि प्रवृत्तियॉ समस्त कृत्रिमता की वाहिनी बनती है। इसीलिए कवि ने इनकी निन्दा करके समाज के लिए कल्याणकारी मनोवृत्तियो का सन्देश सुनाया है और व्यक्तिगत जीवन के लिये यही उपयोगी है कि मानव काग-कर्म का परित्याग करके हंस की गति धारण करे।

घट-घट मे एक ही ब्रह्म सर्वत्र वर्तमान है। इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से पूज्य और महान् है। जब एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है तो कुलीनता और अस्पर्शता का प्रश्न ही नहीं उठता। सन्तों की यह साम्य-भावना या समदृष्टि धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों मे समान रूप से प्रस्फुटित हुई है। समदृष्टि के कारण ही समाज के अन्तर्गत व्याप्त भेदभाव की प्रवृति सतो को असह्य प्रतीत हुई। इन सतो ने समस्त कृत्रिमता से समुत्पन्न भेदभाव को चाहे वह धार्मिक हो, आर्थिक हो या सामाजिक, उसे व्यर्थ कहकर उन्होने उसे पहचानने की चेतावनी दी। सतों ने बारम्बार कहा है कि, "समदृष्टि के बिना भ्रम का निवारण नहीं हो सकता है

१ परमसखी सोइ साध जो आपा ना थपै।
मन के दोष मिटाय नाम निर्गुन जपै॥
पर निन्दा पर नारि द्रव्य नाहीं हरै।
जिन चालन हरि दूर बीच अतर परै॥
छिन नाहि बिसरै राम ताहि निकटै तकै।
हरि चरचा बिन और बाद नाही बकै॥
झूठ कपट छल भगल ये सकल निवारिये।
जत सत सील सन्तोष छिमा हिय धारिये॥
काम क्रोध मद लोभ विडारन कीजिये।
मोह ममता अभिमान अकस तजि दीजिए॥
सब जीवन निर्वैर त्याग वैराग लै।
तव निर्भय ह्वै सत भांति काहू न भै॥
काग करम सब छॉडि होय हंसा गती।
तृस्ना आस जलाय सोइ साधू मती॥

और यह भ्रम जितने अधिक समय तक मानव हृदय में वर्तमान रहता है उतना ही उसे कष्ट और उलझनों का सामना करना पड़ता है। समदृष्टि लोक जीवन, सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के लिए समानरूपेण अपेक्षित है। संतों की इस आध्यात्मिक चेतना के अन्तर्गत हमे सामाजिक साम्य का भी यथार्थ रूप स्पष्टतया प्रकट होता है। धार्मिक दृष्टि से साम्य भावना की संस्थापना के लिए कबीर आदि संतो की भांति चरनदास ने भी कुलीन और अन्त्यज का भाव उन्मूलन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा, सच्चा ब्राह्मण वही है जो :—

ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै। बाहर जाता भीतर आनै॥
पाचौ बस करि झूठ न भाखै। दया जनेऊ हिरदै राखै॥
आतम विद्या पढै पढ़ावै। परमातम का ध्यान लगावै॥
काम क्रोध मद लोभ न होई। चरनदास कहै ब्राह्मन सोई॥

यदि यह विशेषताऍं नहीं हैं तो जैसे ब्राह्मण वैसे शूद्र। सत्य तो यह है कि 'आतमज्ञान बिना नहि मुक्त। बेद भेद करि देखा जोय।' चरनदास ने कहा है कि :—

सब जातिन में हरिजन प्यारे।
रहनी तिनकी कोइ न पावै॥
तनसू जग मे मन सू न्यारे।
भक्तन बस भगवान सदा ही॥
बेद पुरानन मे जो भाखो॥
ब्राह्मन छत्री बैस्य सूद्र घर।
कहीं होय क्यो न बासा॥

धार्मिकता के आधार पर प्रतिपादित यह भेदभाव सामाजिक अभिशाप और गलित अग बन गया है। सन्तों ने इस भेदभाव की कटु से कटु आलोचना की है। आज जब इतने महान् विश्व और बड़े-बड़े राष्ट्रो के एकीकरण का प्रश्न बडे व्यापक रूप से हमारे समक्ष उपस्थित है, उस समय समाज मे उच्च-नीच की समस्या खेदजनक है। सामाजिक ऐक्य और सगठन हमारी शक्ति का संवर्द्धक है। वह हमारे जीवन मे रस का सचार करने वाला है। चरनदास की अन्तर्दृष्टि जहाँ एक ओर सामाजिक एव धार्मिक ऐक्य और साम्य की ओर गई है, वहाँ आर्थिक वैषम्य के प्रति भी वह जाग्रत और चेतनशील है। निम्नलिखित पक्तियों में तत्कालीन युग की आर्थिक विषमता को उन्मूलित करके साम्य की भावना स्थापित करने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है :—

एकन पग पनहीं नहीं, एक चढै सुख पाल।
यही जो मोहि बताइये, एक मुक्ति को जाहिं॥

एक नरक को जाय करि, मार जमों की खाहिं ॥
एक दुखी इक अति सुखी, एक भूप इक रक ।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढे नहि अक ॥
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहिं ।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छाहि ॥
यही मोहि समझाइये, मन का धोरपा जाय ।
ह्वै करि निस्सन्देह मैं, रहो चरन लिपटाय ॥

चरनदास, जीवन मे सन्तुलन के समर्थक थे । आज सन्तुलन और समन्वय-हीनता के कारण ही सार्वभौमिक अधःपतन समुपस्थित है । असन्तुलित जीवन का प्रभाव सर्वहारा और अन्त्यज वर्ग पर अप्रत्यक्ष रूप से पडता है और अन्ततोगत्वा यही वर्ग अकारण पिसता रहा है । असन्तुलित जीवन के कारण समाज जहाँ उच्च वर्गों का प्रत्येक दशा में अभिनन्दन करता है, वहाँ दूसरी ओर उपेक्षित निम्न-वर्ग दुर्भाग्य के दिन जीवन-पर्यन्त व्यतीत करते हैं । इस प्रकार की भावनाएँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्र के लिए स्वस्थ्यकर कदापि नहीं हो सकती है । सन्तों ने असन्तुलन को समाज के लिए हेय समझा है । इसी भावना का प्रतिपादन चरनदास ने भी किया है । उन्होंने कहा है कि, "असन्तुलन चाहे सामाजिक क्षेत्र मे हो या धार्मिक क्षेत्र में, वह मानवता का अपमान है । अखिल मानव समाज उसी एक परब्रह्म की कृति है, अतः यह असन्तुलन अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म का अपमान है ।"

चरनदास को आत्मा की चेतना मे अटल विश्वास था । उनकी दृष्टि मे मानव-हृदय का विकसित रूप ही आत्मा है । सुसस्कार और धार्मिक शिक्षा तथा चिन्तन के आधार पर आत्मा मे चेतनता सजीव रखी जा सकती है । जब आत्मा ही चेतन है तो फिर अविवेक पर विवेक, असद् पर सत्य, अज्ञान पर ज्ञान सदैव विजयी होता है । मानव सद्बुद्धि से प्रेरित होकर कर्तव्य भावना के प्रति जागरूक रहता है । चरनदास को इसी आत्मा की चेतना का बड़ा भरोसा और विश्वास था । उनके साहित्य मे ऐसे अनेक भाव व्यक्त हुए हैं जो आत्मचेतना और हृदय की विशालता को बढाने तथा विपरीतगामी एव दुर्बल प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस प्रदान करते हैं । सक्षेपतः चरनदास ने जीवन के लिए आत्मा की चेतना पर जोर दिया है ।

चरनदास ने मानव जीवन में आत्म-सन्तोष को बडा महत्व प्रदान किया है । चित्त की एकाग्रता एवं शाति के लिए तृष्णा का मूलोच्छेदन परम आवश्यक है । इस बात का समर्थन प्रायः सभी सन्तों ने किया है । जहा तृष्णा है, लालसा है, इच्छा है, वहा साधना के लिए कोई अवसर और अवकाश नहीं है। मनुष्य सदैव इन्हीं कामनाओं का दास या चेरा बना हुआ यत्र-तत्र सर्वत्र विचरण करता फिरता है । धन की इच्छा

करने वाला मानव, दीनता प्रदर्शित करता है, जो धन कमा लेता है वह अभिमान में चूर रहता है, जिसका धन नष्ट हो जाता है वह शोक करता है, अतएव जो निःस्पृह और सन्तोषी है, वही इस ससार मे सुखी है।[1] जो अकिंचन है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका हृदय शात है, चित स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसके लिए सभी दिशाएं सुखमय हैं।[2] वास्तव में दरिद्र वही है जिसमें भारी तृष्णा है। जहा मन सन्तुष्ट है वहा कौन धनवान् है और कौन दरिद्र है ?[3] कहा गया है कि 'सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम्' अर्थात् सन्तोष ही मानव का परमधन है। मोह, माया, तृष्णादि लोभ के सहायक हैं। इसके विपरीत सत्य, शील आदि सन्तोष के सहायक अग हैं। सन्तोष जितना धार्मिक जीवन मे सुखप्रद है, उतना ही सामाजिक जीवन मे। उभय पक्षों मे वह एक गुण-विशेष है। समाज में जो भी अभियोग, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि प्रश्रय और प्रसारित हो रहा है उसका मुख्य कारण सन्तोष-विहीनता है। यदि मनुष्य सन्तोष-वृत्ति ही धारण करले तो फिर अपहरण, अस्तेय, छीना-झपटी और चारित्रिक अधःपतन का प्रश्न ही क्यों उठ खड़ा हो ? सन्तोष जीवन में निष्प्रयोजनता और निर्द्वन्द्वता का बीजारोपण कर देता है। चरनदास का साखी-साहित्य इस सन्तोष प्रवृत्ति की सराहना से परिपूर्ण है।[4] आत्मसन्तोष की भावना

---

१. अर्थी करोति दैन्य लब्धार्थो गर्वपरितोषम् ।
नष्टधनस्य स शोक सुखमारते निस्पृहः पुरुषः ॥

२. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥

३ स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥

४. लोभ घटावे मान कू, करै जगत आधीन ।
बोझ घटा मिष्टल करै, करै बुद्धि को हीन ॥
लोभ गये ते आवई, महाबली सन्तोष ।
त्याग सत्य कू सगले, कलह निवारण शोक ॥
घट आवै सन्तोष ही, कहा चहै जग भोग ।
स्वर्ग आदिलो सुखजिते, सबकू जानै रोग ।
सन्तोषी निश्चल दिशा, रहै राम लव लाय ।
आसन ऊपर दृढ रहै, इत उत कू नहि जाय ।
काहू से नहि राखिये, काहू विधि की चाह ॥
परम सतोषी हूजिये, रहिये बेपरवाह ॥

जाग्रत होने पर अह भावना शात हो जाती है। आत्मसन्तोषी को वास्तव मे हम बड़ा यथार्थवादी कह सकते हैं। उसे भविष्य मे जोड़कर रखने की प्रवृत्ति नहीं रहती है। समाज मे स्वार्थ, और अपहरण को समाप्त करने के लिए सन्तोष ही अमोघ अस्त्र है।

चरनदास ने सच्चे, सरल, स्वाभाविक और शातिमय सामाजिक जीवन से लिए अहिसा अनिवार्य माना है। अहिसा को हम परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि कह सकते हैं। परोपकार के द्वारा हम समाज की सेवा प्रत्यक्षरूपेण करते हैं और अहिसा के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से जीवो के प्रति अहित को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। आध्मात्मिक चेतना के अभाव मे अहिसा का भाव चिरस्थायी और व्यापक नही बन सकता है। सतों ने ब्रह्म के घट-घट व्यापी होने का सन्देश देकर अहिसापूर्ण व्यवहार की व्यापकता और प्रसाद के लिए उर्वर-क्षेत्र तैयार कर दिया। जब हमारे हृदय मे यह भाव प्रवेश कर लेता है तो हम किसी की हानि करना अपनी हानि समझते हैं। अहिसा की प्रवृत्ति का उद्रेक होने पर किसी के प्रति दुर्भाव या अपमान को हम परमात्मा का अपमान समझते हैं। मानव का मानव के हाथ व्यवहार हिंस, आतक, भय और प्रतिस्पर्धा का नहीं वरन् अहिसा, प्रेम, निर्भयता और निर्वैरता का होना चाहिए जिससे समाज मे सद्भावना का प्रसार और प्रचार हो, मानवता सुखी बने और विश्वास का वातावरण फैले।

चरनदास की दृष्टि में केवल स्थूल वस्तु-मात्र का हनन ही हिंसा नहीं है, कुविचारों का उद्रेक भी हिसा है। मिथ्या सम्भाषण भी हिसा है। ससार का आवश्यक पदार्थों पर अनावश्यक रूप से अधिकार रखना भी हिसा है। अहिसा सत्यान्वेषण के अभाव मे असभव है। अहिसा और सत्य दोनो ही अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। साधना के लिए यदि हम चिन्तित रहेगे तो साध्य किसी न किसी स्तर पर उपलब्ध हो ही जायगा। इस प्रकार अहिसा का महत्व आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन मे समान रूप से है। आध्यात्मिक जीवन मे वह योग साधना के 'नियम' के अन्तर्गत आती है और सामाजिक जीवन मे उसका महत्व सद्भावना, विवेक और विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार करने के लिए उपयोगी है। आज यदि हमारा समाज चरनदास के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर हो जाय और 'अहिसा परमोधर्मः' का सिद्धान्त हृदयगम कर ले तो फिर समाज की व्यवस्था और प्रगति निष्कटक हो जायगी। अहिसा के इस दिव्य सन्देश का प्रचार करके चरनदास ने अपने युग की बलि-प्रथा और निरपराध पशुओ के हनन की प्रथा का विरोध किया। प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण मे इस बात का उल्लेख हो चुका है कि कवि के युग मे देवी, देवताओं और भूत-प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। इस बलिदान की सीमा केवल पशु-

जगत् तक ही सीमित नहीं थी, वरन् मानव जगत् भी इसके द्वारा विनष्ट हो रहा था। अखिल ब्रह्माड के प्राणी सुख से सुखी और दुःख, जन्म, भय से पीड़ित होते हैं, इसीलिए ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिए जिससे प्राणियों को भयजन्य दुख हो।[1] कहा गया है कि दुख से कातर प्राणियों की पीड़ा देखकर दया से जिसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है उसको ज्ञान से, मोक्ष से, जटा बढ़ाने से तथा भस्म-लेपन आदि से क्या प्रयोजन है? वह तो स्वतः स्वय-सिद्ध साधु है।[2] ससार मे सब प्राणियों के रात-दिन जितने भी कार्य होते हैं वे सब प्राणो के रक्षार्थ सम्पादित होते हैं। ससार के प्राण ही सर्वाधिक प्रिय हैं। इस दशा मे जिसके हृदय मे पूर्ण दया का निवास है तथा जो सज्जन पुरुष सदैव अहिंसाव्रत धारण करते हुए दूसरे प्राणियों को, प्राणों का अभयदान दिया करते हैं, वे बड़े पुण्यात्मा हैं। ऐसे सत्पुरुषा के पुण्य की गणना नहीं की जा सकती है।[3]

चरनदास के अनुसार मानव जीवन मे त्याग, परोपकार, दया और उदारता का बड़ा महत्व है। इनके अभाव मे न तो हमे आध्यात्मिक जीवन मे सफलता प्राप्त हो सकती है और न सामाजिक जीवन में सुख और शान्ति। त्याग एवं औदार्य की भावना ही मानव-हृदय मे दया की पृष्ठभूमि का निर्माण करती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य परोपकार मे प्रवृत्त हो जाता है। परोपकार के द्वारा सामाजिक जीवन मे साम्य और ऐक्य का प्रसार होता है। सवेदनशील हृदय 'अय निजः परो वेत्ति' की भावना का परित्याग करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ग्रहण कर लेता है और तभी वह परोपकार मे प्रवृत्त होता है। त्याग एव सन्तोष जीवन में आर्थिक साम्य के साथ-साथ उपयोगी और आवश्यक है। परोपकार की प्रवृत्ति समाज मे एक-दूसरे के कल्याण, स्वार्थ और सुविधा को ध्यान मे रखने के भाव को और भी अधिक प्रोत्साहित करती है। परोपकार के समान और कोई धर्म नहीं माना गया है। परोपकारी ही वास्तविक विश्वबन्धु है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यदि वह एक-दूसरे के साथ उपकार न करे तो समाज का काम ही कैसे चल सकता है। सच्चा उपकार, निष्काम भाव से किया जाता है। दूसरों के प्रति

---

१. सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृश त्रसन्ते।
तेषा भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्धधानः॥

२. यस्य चित्त द्रवीभूत कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥—चाणक्य नीति

३. प्राणाना परिरक्षणाय सतते सर्वाः क्रिया प्राणिनाम्।
प्राणेभ्योऽप्यधिक समस्तजगता नास्त्येव किंचित्प्रियम्॥

इस प्रकार के व्यवहार से स्वतः अपनी आत्मा उन्नत और विकासशील बनती है। नम्रता तथा सेवा का भाव अभिवृद्ध होता है। परोपकारी सदैव अपने कार्य में सलग्न रहता है। उसे कभी अपने सुख-दुख का लेशमात्र ध्यान नहीं रहता है।[1] परोपकार की भावना का आधार दया है। हृदय के द्रवीभूत हुए बिना कोई भी परोपकार में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। इसलिए दया, त्याग और परोपकार-भावना की जननी है।[2] त्याग, परोपकार, दया और उदारता का सामाजिक जीवन मे बड़ा महत्व है। इनके आधार पर हमारे हृदय मे जन-जन के लिए सहिष्णुता और ममत्व की अनुभूति होती है। चरनदास के युग मे जब हिन्दू जाति भेद-भाव तथा वैमनस्य की आन्तरिक अग्नि तथा प्रतिकार व प्रतिहिंसा की ज्वाला मे झुलसी जा रही थी, उस समय इसकी बड़ी आवश्यकता थी। हिन्दू और मुसलमानों मे दिन-प्रतिदिन भेद-भाव की खाईं बढती जा रही थी। दानवीय मनोवृत्तियों का चतुर्दिक् प्रसार हो रहा था। ऐसी अवस्था में तत्कालीन जनता मे त्याग, परोपकार, दया एवं उदारता के सन्देश का जन-जन के हृदय में बीजारोपण कर देना परमावश्यक था। इनके आधार पर कवि ने तत्कालीन जनता का जीवन सुखमय बनाने का प्रयत्न किया।

चरनदास ने सन्तोष एव परोपकार के समान ही जीवन में दीनता को भी आवश्यक माना है। प्रस्तुत-ग्रन्थ के 'चरनदास का युग' प्रकरण में आर्थिक परिस्थिति के अन्तर्गत यह दिखाया गया है कि निरन्तर होने वाले युद्धों, अकालों, दुर्भिक्षों, राज्य द्वारा जनता पर निर्धारित करो और शोषणों के कारण चरनदास के युग में जन जीवन अभिशाप-ग्रस्त बन गया था। जनता की आर्थिक परिस्थिति निरन्तर ह्रासमान् ही बनी रही। निम्नवर्ग तथा मध्यवर्ग के लिए जीवनयापन करना कठिन बनता गया। जनता के अधिकाश वर्ग के पास दो समय के भोजन के लिए पर्याप्त धन नहीं था। उसके श्रम का पूरा प्रतिदान नहीं हो पाता था। इस प्रकार के

पुण्य तस्य न शक्यते गणयितु पूर्ण सकारुण्यवान्।
प्राणानामभय ददाति सुकृती येषामहिंसाव्रतः॥

1. क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्।
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः॥
क्वचित्कथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखम् न च सुखम्॥

2. दुखी न काहू कू करै, दुख सुख निकट न जाय।
समदृष्टी धीरज सदा, गुन सात्विक कू पाय॥
दया नम्रता दीनता, छिमा शील सन्तोष।
इनकू लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख॥

आर्थिक विनाश के युग मे सन्तोष और दीनता की भावना जीवन के लिए अनिवार्य थी। चरनदास द्वारा प्रतिपादित यह दीनता कहीं बाहर से थोपी हुई दीनता नहीं थी वरन् अपने हृदय मे ही समुत्पन्न दैन्य की भावना थी जिसका सन्तोष से अधिक निकट सम्बन्ध था। इस प्रकार की वृत्ति धारण कर लेने के अनन्तर हीनत्व, अभाव और कमी की भावना कभी मानसिक अशाति का कारण नहीं बन सकती है। इसलिए दैन्य-भावना को अगीकार कर लेने के लिए कवि ने बारबार उपदेश दिया है :—

भक्ति गरीबी लीजिए तजिये अभिमाना।
दो दिन जग मे जीवना आखिर मरि जाना॥
पाप पुन्न लेखा लिखै जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना॥

× × ×

रहिये साधुन सग माहीं। ध्यान भजन जहां छूटे नाही॥
है परिपक्व जहां मन रहो। गुरुमत दया दीनता गहो॥

× × ×

मन में लाय विचारकूं, दीजै गर्व निकार।
नन्हापन जब आया है, छूटै सकल विकार॥

इन पक्तियों में उसी दीनता अथवा नन्हापन की भावना का ही प्रतिपादन किया गया है। इस दीनता के व्रत को अगीकार करने से अधर्म द्वारा अर्जित धन, चोरी, घूस, तथा अन्य मिथ्याचारों से द्रव्य उपार्जन की चाह समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह एक सामाजिक गुण है जिसके प्रसार से मानवता सदैव लाभान्वित होगी।

सत्य, सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक साधना समान रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है। ससार में सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई धर्म नहीं है। झूठ के बराबर कोई पातक नहीं। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इसीलिए सत्य का आचरण सदैव महान् है। सत्य का व्यवहार करने से मानव को स्वार्थ और परमार्थ मे सफलता प्राप्त होती है। मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य का व्यवहार करने से मानव क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। धर्मग्रन्थों मे सत्य, ईश्वर का स्वरूप माना गया है। गीता मे तीन प्रकार के सत्य का उल्लेख हुआ है :—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामे मृतोपमम्।
तत्सुख सात्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

अर्थात् सत्य पहले तो विष के तुल्य कटु और दुःखमूलक प्रतीत होता है परन्तु अनन्तर अमृत के समान मधुर एव हितकारक होता है, यही सात्विक सुख है। इस प्रकार का सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। चाणक्य नीति मे कहा गया है कि "सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य मे ही सब स्थिर है।[1]—धर्म, तप, योग परब्रह्म, यज्ञ आदि जितना कुछ कल्याण स्वरूप है वह सब सत्य है।[2]" समाज की सुव्यवस्था एव समुन्नति के लिए सामूहिक रूप से सत्य ग्रहण करने की आवश्यकता है। समाज मे असत्य सभाषणो का बडा दूषित प्रभाव जनता पर पड़ता है। इसीलिए सन्तो ने बारम्बार 'साच बराबर तप नही झूठ बराबर पाप' का उपदेश दिया है। चरनदास के अनुसार जीवन के लिए मन, वचन और कर्म की सत्यता सर्वथा वांछनीय है। वचन और कर्म की एकता को कथनी और करनी की एकता कहा गया है। सच्चा व्यक्ति वही है जो मन की बात स्पष्टतया वाणी के माध्यम से व्यक्त करके कर्म के द्वारा कार्यक्षेत्र मे कार्यान्वित करे। यही कथनी-करनी की सत्यता है। सत्य ज्ञान का प्रतीक है। सत्य के शोध के पीछे तपश्चर्या होती है। मनुष्य के लिए आभ्यतरिक शुद्धि और सत्यता दोनो ही परमावश्यक है। ये दोनों सामाजिकता के लिए विशेषरूपेण उपयोगी हैं। माया सत्य को अपने आवरण मे ढक कर कुछ काल के लिए असत्यमय वातावरण का सृजन कर देती है परन्तु यह स्थायी नहीं है। कालान्तर में सत्य का पक्ष ही विजयी है। कवि के शब्दो मे :—

मिटते सूं मत प्रीति करि, रहते सू करि नेह।
झूठे कू तजि दीजिए, साचे मे करि गेह॥
सत सू रखु निरवैरता, गहो दीनता ध्यान।
अन्त मुक्ति पद पाइहौ, जग मे होय न हानि॥

कवि ने व्यावहारिक जीवन में भी सत्य को महत्वपूर्ण माना है। साधना के क्षेत्र में वाह्याडंबरों की निःसारता पर प्रकाश डाल कर कवि ने सिद्ध किया है कि यह सब माया है और माया असत्य है, अतएव हमें साधना के सत्स्वरूप में विचरना चाहिए।

———

१. सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

२. सत्यं धर्मस्तपोयोग सत्य ब्रह्मसनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥—चाणक्य नीति

परिशिष्ट—१

नामानुक्रमणिका

परिशिष्ट—२

पुस्तक नामानुक्रमणिका

परिशिष्ट—३

(योग शब्दावली)

परिशिष्ट—४

सहायक-ग्रन्थसूची

आलोचनात्मक ग्रन्थ

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा —परशुराम चतुर्वेदी

कबीर —हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर

कबीर का रहस्यवाद —रामकुमार वर्मा

कबीर साहित्य की परख —परशुराम चतुर्वेदी

कबीर की विचारधारा —गोविन्द त्रिगुणायत

कबीर साहित्य का अध्ययन —पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव

कबीर-साहित्य

गोस्वामी तुलसीदास —रामचन्द्र शुक्ल

जायसी ग्रन्थावली (भूमिका) —रामचन्द्र शुक्ल

तुलसी के राम —प्रेमनारायण टण्डन

तुलसीदास —पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

त्रिवेणी —रामचन्द्र शुक्ल

दर्शन दिग्दर्शन —राहुल

दर्शन और जीवन —सम्पूर्णानन्द

धर्म-शिक्षा —लक्ष्मीधर वाजपेई

नाथ सम्प्रदाय —हजारी प्रसाद द्विवेदी

भारतीय दर्शन परिचय —हरिमोहन

भारतीय धर्म और दर्शन —श्यामबिहारी मिश्र

मध्यकालीन धर्म साधना —हजारी प्रसाद द्विवेदी

मध्यकालीन प्रेम साधना —परशुराम चतुर्वेदी

भक्तमाल —नाभादास

भक्तमाल की टीका —प्रियादास

भारत की भाषाएँ —सुनीतिकुमार चटर्जी

भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी — सुनीति कुमार चटर्जी

भारतीय दर्शन	—बलदेव उपाध्याय
नाभादास	—प्रकाश नारायण दीक्षित
योग प्रवाह	—पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल
योग रहस्य	—नारायण स्वामी
सत-काव्य (भूमिका)	—परशुराम चतुर्वेदी
सत दर्शन	—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सुन्दर दर्शन	—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
संत कबीर (भूमिका)	—रामकुमार वर्मा
साहित्य का मर्म	—हजारी प्रसाद द्विवेदी
साहित्य समीक्षा	—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सामान्य भाषा विज्ञान	—बाबूराम सक्सेना
सूरदास	—रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि	—रामरतन भटनागर
हिन्दी कवियों की काव्य साधना	—दुर्गाशंकर मिश्र
हिन्दी काव्य की अन्तश्चेतना	—राजाराम रस्तोगी
हिन्दी के वैष्णव कवि	—ब्रजेश्वर
हिन्दी भक्ति काव्य	—रामरतन भटनागर
विचार विमर्श	—चन्द्रबली पाण्डेय
परिचई साहित्य	—त्रिलोकी नारायण दीक्षित
योग प्रवाह	—पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल
चिन्तामणि	—रामचन्द्र शुक्ल

भारतीय संस्कृति

आर्य संस्कृति के मूलाधार	—उपाध्याय
प्राचीन भारत की जनसत्ता तथा संस्कृति	—बेनी प्रसाद
भारत की प्राचीन संस्कृति	—रामजी उपाध्याय
भारतीय संस्कृति	—मोहनलाल वर्मा
भारतीय संस्कृति	—शिवदत्त ज्ञानी
भारतीय संस्कृति का विकास	—बी० एल० शर्मा

काव्य-शास्त्र

कला और सौन्दर्य	—रामचन्द्र शुक्ल
काव्य और कला निबन्ध	—जयशंकर प्रसाद

काव्य के रूप　—गुलाबराय
काव्य मीमास　—राजशेखर
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा　—डा० नगेन्द्र
साहित्यालोचन　—श्यामसुन्दर दास
सिद्धान्त और अध्ययन　— गुलाबराय

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हमारे साहित्य की रूपरेखा　—कृष्णाशकर शुक्ल
हिन्दी साहित्य का इतिहास　—रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास　—रामकुमार वर्मा
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास　—हरिऔध
हिन्दी साहित्य की भूमिका　—हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास　—चतुरसेन शास्त्री
हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास　—रामकुमार वर्मा तथा त्रिलोकी नारायण दीक्षित

संस्कृत साहित्य का इतिहास

सस्कृत साहित्य का इतिहास　—बलदेव उपाध्याय
सस्कृत साहित्य का इतिहास　—बेनीप्रसाद मिश्र

इतिहास

प्राचीन भारत　—राजबली पाण्डेय
भारतवर्ष का इतिहास　—ईश्वरी प्रसाद
प्राचीन भारत की जन-सत्ता और सस्कृति　—बेनी प्रसाद
प्राचीन भारत　—एस० एन० आई० एस० अयगर

शोध-ग्रन्थ

निर्गुण काव्य की सामाजिक एव सामूहिक पृष्ठभूमि　—डॉ० सावित्री शुक्ल
तुलसी साहित्य　—डॉ० हरस्वरूप माथुर
शकर अद्वैत-दर्शन तथा सत-काव्य पर उसका प्रभाव　—डॉ० शान्ति स्वरूप त्रिपाठी
कबीर दर्शन　—डॉ० रामजी लाल सहायक

रहस्यवादी भक्त कवि —डॉ० रामनारायण पाण्डेय
निर्गुण काव्य धारा —डॉ० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल

धर्म ग्रन्थ

धर्म और दर्शन —बलदेव उपाध्याय
ज्ञान और कर्म —रूपनारायण पाण्डेय
दर्शन और जीवन —सम्पूर्णानन्द
धर्म-शिक्षा —लक्ष्मीधर वाजपेई
मानव धर्मशास्त्र —श्यामबिहारी मिश्र

विविध-ग्रन्थ

अनुराग सागर —युगुलानन्द
आदि श्रीगुरु ग्रन्थ साहब —अर्जुन देव
कबीर ग्रन्थावली —श्यामसुन्दर दास
कबीर वचनावली —हरिऔध
गोरखबानी —पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
संत बानी संग्रह भाग १, २
बेलवीडिअर प्रेस का प्रकाशन
बीजक —विचारदास

संस्कृत-ग्रन्थ

अग्नि पुराण —महर्षि व्यास
ऋग्वेद
कठोपनिषद्
काव्यालंकार —आचार्य भामह
काव्यादर्श —आचार्य दण्डी
काव्यालंकार सूत्र —आचार्य वामन
काव्य प्रकाश —आचार्य मम्मट
कुलार्णव तन्त्रम्
गोपथ ब्राह्मण
गौड पद भाष्य —सांख्यकारिका
घेरण्ड संहिता
जाबाल दर्शन उपनिषद्

तैत्तरीयोपनिषद्
ध्वन्यालोक —श्री आनन्दवर्धन
नाट्य शास्त्र —भरत मुनि
नारद्-भक्ति सूत्र
निरुक्ति निघन्टु —महर्षि यास्क
ब्रह्म सूत्र —शकर भाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
मण्डूकोपनिषद्
मनुस्मृति
महाभारत (वन पर्व)
मुण्डकोपनिषद्
योगदर्शन —महर्षि पातञ्जलि
योगी याज्ञवल्क्य
यजुर्वेद
रस गगाधर —प० राव जगन्नाथ
वक्रोक्ति जीवितम् —आचार्य कुन्तल
विक्रमोवर्शीय —महाकवि कालिदास
वेदान्तसार
शारीरिक भाष्य
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र —सपादक गोपीनाथ कविराज
शिवसहिता
श्री मद्भागवत
श्री भाष्य
श्रीमद्भगवत गीता
श्वेताश्वरोपनिषद्
साहित्य-दर्पण —आचार्य विश्वनाथ
सौभाग्य लक्ष्युपनिषद्
हठयोग-प्रदीपिका
ज्ञान सङ्कुलिनी तत्र

ENGLISH BOOKS

A history of Muslim Rule in India Ishwari Prasad
A history of South India : K. A. Nilkantha Sashtri

A history of India — Sitaram Kohley & H L O. Garret

A history of Hindi Literature — F E Keay

Archeological Survey of India New Series, North Western Provinces, Part II

A concise history of Indian people — H G Rawlinson

A history of Maratha People, Part II — Kincaid & Parasnis

Administration and social life under Vijayanagar — T V Mahalingam

Brahminism and Hinduism — Sir Monier Williams

Encyclopaedia Religion and Ethics — Rufus H James

Gheranda Samhita — Translated by Suschandra Vasu

Gautam the Buddha — Dr Radhakrishnan

Gorakhnath and Kanpatha Yogies — Jhon Briggs

History of India — Hari Ram Gupta

History of the rise of Mohamdan Power in India — John Briggs

History of India, vol I — H G Keene

History of India's Medieval Period — Prof L Mukherjee

History of Sanskrit Poetries — Mahamahopadhya P V Kane

Hitory of Reddi Kingdoms — Mallampalli Soma Sekhara Sarma

Hindu Mysticism — Dr S N Dasgupta

Indian Chronology — S. R Pillai

Journal of the Royal Asiatic Society — Grierson

Kabir, his biography, Vol. I — Dr Mohan Singh

Kabir and the Kabir Panth — H G Westcott

Kabir and his followers — F E. Keay

Medieval India under Mohamdan Rule	Dr Stanley Lampool
Medieval Mysticism	Acharya Kshiti Mohan Sen
Mysticism	Evelyn Under Hill
New History of India	Dr Ishwari Prasad
Nirguna School of Hindi Poetry	Dr Pitamberdatt Badathwal
Outline of the Religious Literature of India	Dr J N Farquhar
Oriental biographical Dictionary	J William Beal
Oxford History of India	Smith
Sikh religion	Macaulay
Songs of Kabir	Ravindra Nath Tagore
Sociology	Lapiere
Mohamdan invaders	S Krishnaswami Aiyangar
The Cambridge History of India	Sir Wolselay Haig
The Cambridge History of India	J Allan
The bijak of Kabir	Ahmad Shah
The Mysterious Kundalini	Dr Vasant & G Rele
The Idea of Personality in Sufism	Renold A Mcolson
Vaishanavism, Shaivism and minor religions Systems	R G Bhandarkar